[प्रवचनरत्नाकर ग्रंथमाला पुष्प २]

प्रवचनरत्नाकर

[पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचन]

भाग २

(समयसार गाथा २६ से ६८ तक)

सम्पादक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए.,पीएच.डी.

अनुवादक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्रकाशक :

मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५

प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी)

प्रथम संस्करण	:	५ हजार
(जून, १९८२)		
द्वितीय संस्करण	:	३ हजार
(८ अगस्त, १९९३)		
योग	:	८ हजार

* मूल्य : १५ रुपए

मुद्रक :
डीलक्स ऑफसैट प्रिंटर्स
दया बस्ती,
दिल्ली

* इस पुस्तक का लागत मूल्य : २५ रुपये है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रवचन रत्नाकर भाग-२ के इस संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

क्र. सं.	दातार का नाम/स्थान	राशि
१.	श्री भगवानजी भाई कचराभाई शाह, लन्दन	२२७१७.००
२.	पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट (साहित्य प्रकाशन ध्रुव फण्ड के पात्र से)	२५००.००
३.	श्रीमती पतासी देवी पाटनी, लाडनूं	१५००.००
४.	श्रीमती मानकँवरजी जैन, हस्ते निहालचन्दजी जैन, जयपुर	१०००.००
५.	श्री भभूतमल जी चम्पालालजी भण्डारी, बैंगलोर	१०००.००
६.	श्रीमती आरती अतुल जैन, बम्बई	५०१.००
७.	श्री शामजी भाणजी शाह द्वारा– श्री प्रेमजी भाई, गोरेगाँव, बम्बई	५०१.००
८.	श्रीमती अमृता बहन प्रेमजी जैन द्वारा–अतुलभाई जैन, बम्बई	५०१.००
९.	विनयदक्ष चैरीटेबल ट्रस्ट द्वारा–दिगम्बर जैन कहान नगर सोसाइटी, बम्बई	५०१.००
१०.	श्री चिन्तामणी जैन एडवोकेट, कोलारस	५०१.००
११.	श्री पदमचन्दजी जैन, जयपुर	५०१.००
१२.	श्रीमान झूमरमलजी धरमचंदजी पांड्या, गोहाटी	५०१.००
१३.	दिगम्बर जैन महिला समाज, बापूनगर, जयपुर हस्ते–श्री प्रेमचन्दजी संघी	५०१.००
१४.	श्री मदनराज छाजेड़, जोधपुर	५००.००
१५.	श्री मांगीलालजी पदमचंदजी पहाड़िया लोहारदावाले, इन्दौर	३०१.००
१६.	श्रीमान हीरालालजी माणकजी पाटनी, लुहारदा	३०१.००
१७.	श्री शिखरचंदजी सोनी, अजमेर	२५१.००
१८.	श्री प्रेमचन्दजी बड़जात्या द्वारा–श्री रोशनलाल हरकचन्द कटरा शहनाई, दिल्ली	२०१.००
१९.	श्रीमती नलिनी प्रफुल्लभाई दोशी, बम्बई	२०१.००
२०.	श्रीमती राजकुमारी गोधा ध. प. श्री कोमलचन्दजी गोधा, जयपुर	२०१.००
२१.	श्रीमती सुशीला बाई ध. प. श्री जवाहरलालजी, विदिशा	२०१.००
२२.	श्रीमती कांताबाई पूनमचंद छाबड़ा, इन्दौर	२०१.००
२३.	श्रीमती कमलाबाई ध. प. श्री स्वरूपचंदजी बड़जात्या, जयपुर	२०१.००
२४.	श्री झमकलालजी बड़जात्या, रतलाम	२०१.००
२५.	श्रीमान शांतिलालजी पाटनी, रतलाम	२०१.००
२६.	श्रीमान मनोहरलालजी सुशीलकुमारजी काला, इन्दौर	२०१.००
२७.	श्रीमती सुशीलादेवी ध. प. शांतिकुमारजी जैन, अलवर	२०१.००
२८.	स्व. श्री नाथूलालजी सोनी एवं स्व. सुन्दरबाई सोनी, इन्दौर	२००.००
२९.	स्व. श्रीमती कुसुमलता बंसल एवं सुनन्द बंसल स्मृति निधि द्वारा– श्री डॉ. राजेन्द्र कुमारजी बंसल, अमलाई	१११.००
३०.	श्री जयन्तीभाई धनजी भाई दोशी, बम्बई	१११.००
३१.	चौ. फूलचन्दजी जैन द्वारा– मनोज एण्ड कम्पनी, बम्बई	१०१.००
३२.	श्री सुरेशचन्द सुनीलकुमार जी जैन द्वारा–अशोक बैंगल्स, बैंगलोर	१०१.००
३३.	पं. श्री देवीलालजी मेहता, उदयपुर	१०१.००
	कुल योग	३६,८१३.००

प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द कृत महान ग्रंथराज समयसार पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का संकलन प्रवचन रत्नाकर भाग-२ का यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

पूज्य श्री कानजी स्वामी इस युग के सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हुए हैं। वर्तमान में दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय पूज्य स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैन धर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है। स्वामीजी के उपकारों को यह दिगम्बर जैन समाज युगों-युगों तक नहीं भुला सकेगी।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत समयसार ग्रंथ ने स्वामीजी की जीवनधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है। इसी ग्रंथ को पाकर सन् १९३४ में उन्होंने स्थानकवासी साधु के वेश (मुंहपट्टी) त्यागकर दिगम्बर धर्म अंगीकार किया और दिगम्बर ब्रह्मचारी श्रावक के रूप में अपने आत्मकल्याण के साथ-साथ अध्यात्म के प्रचार-प्रसार में अपना जीवन समर्पण कर दिया। अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही। उनके द्वारा प्रतिपादित स्वानुभूति का स्वरूप, विषय एवं उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल तक स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

पूज्य गुरुदेव श्री ने ४५ वर्षों तक निरन्तर जिनशासन की अद्वितीय प्रभावना की है। यद्यपि आज वे हमारे बीच नहीं हैं, तथापि उनके द्वारा दिखाया गया शास्वत सुख का मार्ग चिरकाल तक हमें भव-दुःखों से छूटने की प्रेरणा देता रहेगा, क्योंकि उनके प्रताप से निर्मित जिन मंदिर एवं प्रकाशित सत्साहित्य उनके स्मारक के रूप में चिरकाल तक विद्यमान रहेंगे।

परम पूज्य गुरुदेव श्री के प्रवचनों को टेप के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयास तो किया गया है परन्तु उनकी दीर्घकाल तक सुरक्षा असम्भव है। अतः उनके प्रवचनों को श्रृंखलाबद्ध प्रकाशन का निर्णय बम्बई के श्री कुन्दकुन्द

कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट द्वारा लिया गया। फलस्वरूप समयसार ग्रंथाधिराज पर हुए सम्पूर्ण ग्रंथ के गुजराती प्रवचन ११ भागों में प्रकाशित हो चुके हैं तथा नियमसार के गुजराती प्रवचनों का प्रथम भाग भी प्रकाशित हो चुका है। समयसार का हिन्दी में रूपान्तर करके प्रवचन रत्नाकर के नाम से अभी तक सात भागों में प्रकाशित किया जा चुका है। आगे के भागों का भी अनुवाद कार्य चल रहा है।

प्रवचन रत्नाकर के प्रथम भाग में १ से २५ गाथाएं, द्वितीय भाग में २६ से ६८, तृतीय भाग में ६९ से ९१, चतुर्थ भाग में ९२ से १४४, पाँचवें भाग में १४५ से १८०, छठवें भाग में १८१ से २१४ तथा सातवें भाग में २१५ से २३६ गाथाओं तक प्रवचन संकलित हैं।

प्रवचन रत्नाकर के इस द्वितीय भाग के द्वितीय संस्करण की कीमत कम करने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सहयोग हमें श्री भगवानजी भाई कचराभाई शाह, लन्दन द्वारा प्राप्त हुआ है, उन्होंने इस पुस्तक की लागत का ३० प्रतिशत व्यय जो कि २२ हजार ७१७ रुपए होता है; स्वयं वहन किया है, अत: ट्रस्ट उनका विशेष आभारी है। अन्य जिन महानुभावों ने पुस्तक की कीमत कम करने में अपना सहयोग दिया है उनकी सूची आगे के पृष्ठों में प्रकाशित की गई है। मैं सभी दान दातारों का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

इस पुस्तक के सम्पादन में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का एवं अनुवाद में पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल का श्रम श्लाघनीय है। पुस्तक की मुद्रण व्यवस्था सदा की भाँति विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाली है। अत: उपरोक्त सभी सहयोगी बधाई के पात्र हैं।

आप सभी पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी का मर्म समझकर शुद्धात्मतत्त्व के आश्रय पूर्वक स्वानुभूति दशा प्रगट करें व आत्मकल्याण के मार्ग की ओर अग्रसर हों, ऐसी मेरी भावना है।

नेमीचन्द पाटनी
महामंत्री

विषय-सूची

क्रम	समयसार गाथा/कलश	पृष्ठ
१.	गाथा २६	१
२.	कलश २४	३
३.	गाथा २७	७
४.	गाथा २८	१५
५.	गाथा २९-३०	१८
६.	कलश २५	२६
७.	कलश २६	२७
८.	गाथा ३१	३०
९.	गाथा ३२	४४
१०.	गाथा ३३	५७
११.	कलश २७	६२
१२.	कलश २८	६६
१३.	गाथा ३४	७५
१४.	गाथा ३५	८६
१५.	कलश २९	१००
१६.	गाथा ३६	१०५
१७.	कलश ३०	११२
१८.	गाथा ३७	११७
१९.	कलश ३१	१२७
२०.	गाथा ३८	१३२
२१.	कलश ३२	१४७
२२.	पूर्वरङ्ग का उपसंहार	१५३
२३.	कलश ३३	१५९
२४.	गाथा ३९ से ४३	१६३
२५.	गाथा ४४	१७७
२६.	कलश ३४	१९२
२७.	गाथा ४५	१९८
२८.	गाथा ४६	२०५
२९.	गाथा ४७-४८	२१४
३०.	गाथा ४९	२१८
३१.	कलश ३५	२४३
३२.	कलश ३६	२४७
३३.	गाथा ५० से ५५	२४९
३४.	कलश ३७	२९६
३५.	गाथा ५६	३००
३६.	गाथा ५७	३०३
३७.	गाथा ५८ से ६०	३०८
३८.	गाथा ६१	३२२
३९.	गाथा ६२	३२६
४०.	गाथा ६३-६४	३३४
४१.	गाथा ६५-६६	३४४
४२.	कलश ३८	३५१
४३.	कलश ३९	३५२
४४.	गाथा ६७	३६१
४५.	कलश ४०	३६७
४६.	गाथा ६८	३७१
४७.	कलश ४१	३८६
४८.	कलश ४२	३९३
४९.	कलश ४३	४००
५०.	कलश ४४	४०२
५१.	कलश ४५	४०८
५२.	जीवाजीवाधिकार का उपसंहार	४१२

मेरी भावना

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

हम अपनी भावना व्यक्त करने के पहले एवं देव-शास्त्र-गुरु को बारम्बार नमस्कार करने के उपरान्त उन पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी को कोटि-कोटि वंदन करते हैं, जिन्होंने हम जैसे अनेक मुमुक्षुओं को अज्ञानांधकार से बाहर निकालकर अनंत-अनंत उपकार किया है ।

आज वे हमारे बीच नहीं है, उनका वियोग हम सब मुमुक्षुओं को असह्य है । अब हमें भगवान कहकर कौन बुलायेगा, पामर को प्रभु कौन कहेगा ? स्नेहासिक्त आत्मीय सम्बोधन कौन करेगा ? - जब यह विचार आता है तो हृदय भर आता है ।

यद्यपि वे आज हमारे बीच नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी हमें उपलब्ध है, शास्त्रों के रूप में भी और टेपों के रूप में भी । यदि हम चाहें तो उस वाणी के अवगाहन से अपना कल्याण कर सकते हैं । उनकी वाणी में हमारे कल्याण करने की क्षमता है, पर जब हम उसका अवगाहन गहराई से करें, तभी वह वाणी हमारे कल्याण में निमित्त हो सकती है । अपना कल्याण करने की यह पात्रता भी हमें पूज्य गुरुदेव श्री की कृपा से प्राप्त हुई है ।

आज समग्र मानव जाति भौतिक सुखों के लिए दौड़ रही है तथा सुविधामयी जीवन के सन्मुख है, ऐसे समय में हे गुरुदेव ! आपने हमें चैतन्यतत्व की महिमा समझायी तथा अर्न्तमुख पुरुषार्थ करने के लिए जागृत करके हमें चतुर्गति से उबार लिया, हम दोनों के ऊपर तथा हमारे परिवार के ऊपर आपका महान उपकार है । आपकी कृपा का पात्र बनकर हम अपने को धन्य अनुभव करते हैं ।

इस युग में पूज्य गुरुदेव श्री का जन्म मानव समाज के लिए एक आशीर्वाद था । आपने क्रियाकांड की कैद में फंसे हुए प्राणी को जैनधर्म का सच्चा स्वरूप समझाकर उसे क्रियाकांड से मुक्त करके हमें समझाया कि प्रत्येक जीव अपने अन्दर विद्यमान चैतन्यस्वरूप आत्मसत्ता की अनुभूति करके मोक्षमार्ग प्राप्त कर सकता है । इस प्रकार आपने भक्तों को भगवान बनने का उपाय बताया है । पू.गुरुदेवश्री के जीवनकाल में अपना जन्म होना अपने भवसागर के तट की निकटता का सूचक है । ऐसे महान गुरु का समागम अनेक जन्मों में संचित पुण्य के उदय से होता है तथा अपने को उनके साथ में रहकर उनकी वाणी सुनकर भवसागर पार होने की देशना

का लाभ मिला है, यह सब हमें मुक्तिपुरी के पथ पर चलने की प्रेरणारूपी दीपक बनेगा।

सम्वत् २०१५ में हमें आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव के साथ दक्षिण के तीर्थों की तथा सिद्ध क्षेत्र गिरनारजी की यात्रा करने का शुभ अवसर मिला। इसके पश्चात अनेक बार कुटुम्बी जनों के साथ श्री सम्मेद शिखरजी तथा अन्य तीर्थों की यात्रा का अवसर भी प्राप्त हुआ। इस तरह अनेक प्रकार से समय शक्ति और उत्साह पूर्वक "काम एक आत्मार्थ का अन्य नहीं मन रोग" इन पंक्तियों में व्यक्त संकल्प के अनुसार चलने का प्रयास किया।

हम आर्थिक उपार्जन और लौकिक सुखों के लिए अपना मूल वतन छोड़कर परदेश गये, पर आत्मकल्याण की चाहना अन्दर थी। एकबार सन् १९४६ में चेलाना निवासी स्व.श्री धर्मसीभाई देवसीभाई अफ्रीका आये और उन्होंने हमें पूज्य गुरुदेवश्री की बात समझाते हुए उनका परिचय कराया। परिणामस्वरूप हमें पूज्य गुरुदेव श्री द्वारा प्ररूपित तत्व में रुचि हुई। अत: हम उनके भी बहुत-बहुत आभारी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में यह तुच्छ सहयोग कर हम अपने को कृतार्थ अनुभव करते हैं। सभी धार्मिक कार्यों में मेरी धर्म पत्नी डाहीबेन का पूरा-पूरा सहयोग रहा है। दिनांक २७ नवम्बर, १९९१ को उनका स्वर्गवास हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री के उपकारों का बदला तो हम चुका ही नहीं सकते हैं। हमारी तो यही भावना है कि हमारी भावना और भक्ति भव के अन्त तक वीतरागी तत्व में ही बनी रहे।

लंदन — मोम्मबासा (केन्या)

हम हैं आपके दासानुदास

भगवानजीभाई कचराभाई शाह

हमें सन्मार्ग में लगानेवाले हमारे माता-पिता

हमें धर्ममार्ग में लगानेवाले हमारे पूज्य पिता श्री भगवानजीभाई कचराभाई शाह एवं माता स्व.श्री डाहीबेन भगवानजी शाह जब से पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के सत्समागम में आये, तब से उनके हृदय में सच्चे वीतरागी जिनधर्म की भावना विशेष जागृत हो गई। एक प्रकार से उनका जीवन ही बदल गया। आपने मुम्बासा तथा थाणा में चलनेवाले व्यवसाय से निवृत्ति लेकर पूज्य गुरुदेव श्री के चरण-सान्निध्य में अधिक समय तक रहने के लिए सोनगढ़ में मकान बनवाया तथा १६ वर्ष तक उनके सत्समागम में रहे।

आपने सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए ३० वर्ष तक सत्समागम, अभ्यास और ज्ञान-वैराग्य में यथाशक्ति अपने को लगाए रखा। उनके सोनगढ़ में रहने का एक उद्देश्य यह भी था कि हम लोग भी बारम्बार सोनगढ़ आकर आध्यात्मिक और धार्मिक संस्कारों का सिंचन करें और आत्महित के पथ में लगे रहें।

वैसे तो लोक में इसप्रकार की पद्धति है कि माता-पिता के स्वर्गवास के बाद लोग उनकी स्मृति में शास्त्रों का प्रकाशन कराते हैं, प्रकाशन में सहयोग देते हैं, पर हमारे माता-पिता की भावना को देखकर हमने उनके जीवन काल में ही यह पवित्र कार्य करना आरम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में महत्वपूर्ण सहयोग देने का संकल्प किया है। यह उनकी पावन प्रेरणा का ही परिणाम है।

उनके उपकारों का स्मरण करते हुए हम उनके बारे में दो शब्द लिखना अपना कर्तव्य समझते हैं।

सन् १९२४ में चापाबेराजा (जामनगर) ग्राम के निवासी हमारे पिताश्री १८ वर्ष की उम्र में अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए पूर्व अफ्रीका के किटाले नामक ग्राम में तथा उसके बाद मोम्बासा गये और भरपूर अर्थोपार्जन किया, हम सबको उसका उत्तराधिकारी बनाया। यह सब तो ठीक, पर उन्होंनें जो हमें धार्मिक संस्कार दिये हैं, वह हम सबकी सच्ची और सर्वाधिक महत्वपूर्ण सम्पत्ति है। आपने अपने जीवन में अनेक धार्मिक कार्य सम्पन्न किये हैं।

सर्वप्रथम ८ नवम्बर, १९५९ में उन्हें जामनगर में दिगम्बर जिन-मन्दिर का शिलान्यास करने का लाभ मिला। उनकी भावनानुसार वह जिनमंदिर शीघ्र ही तैयार हो गया और दो वर्ष बाद ही पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य में उसका पंचकल्याणक महोत्सव हुआ। आज वह भव्य जिनालय भव्यजनों को आत्माराधना और जिनेन्द्र भक्ति करने का उत्तम धर्मस्थान है।

उसके बाद मोम्बासा (अफ्रीका) में ५ मार्च, १९६७ में श्रीमद् राजचन्द्र स्मृतिग्रह बनवाया। उसमें सुन्दर सजावट सहित आत्मसिद्धि तथा योगीन्द्रदेव आचार्यकृत योगसार के अनेक दोहे दीवालों पर उत्कीर्ण कराये। उन्हें श्रीमद् राजचन्द्र के वचनामृत के निरन्तर अध्ययन से आत्महित की प्रेरणा मिली थी। इसके बाद १३ सितम्बर, १९६९ को सोनगढ़ में निर्मित भव्य महावीर कुन्दकुन्द परमागम मन्दिर का शिलान्यास करने का अवसर सम्पूर्ण परिवार सहित आपको प्राप्त हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री की आपके प्रति सदैव दयादृष्टि रहती थी और पूज्य गुरुदेवश्री के सत्संग में आपने बहुत लाभ लिया एवं गहन अध्ययन किया। आपके सोनगढ़ निवास के समय परिवार के सभी सदस्यों को पूज्य गुरुदेवश्री की भवताप शामक मंगल वाणी श्रवण करने का अपूर्व लाभ मिलता था। इसप्रकार हमें हमारे माता-पिता द्वारा जैनधर्म का सत्य स्वरुप समझने को मिला तथा अपार सम्पत्ति और जगत के भौतिक सुख होते हुए भी अध्यात्मशान्ति के मार्ग पर चलने योग्य दृढ़ संस्कार मिले। इसप्रकार उन्होंने हमें लौकिक और लोकोत्तर सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया। हम सब भी आत्महित के मार्ग पर चलेंगे।

इस प्रकार आपने अनेक लोकोपयोगी धार्मिक कार्य जीवन में किये है। आपने अपने धर्म प्रेम द्वारा कुटुम्बीजनों को धर्म में लगाया है। अपने मुम्बासा और लन्दन के घर में भी आपने एक धार्मिक स्थान बना रखा है, जिसमें जिनवाणी के साथ-साथ तीर्थंकरों, आचार्यों के भव्य चित्रों के साथ-साथ श्रीमद् राजचन्द्र एवं गुरुदेव श्री आदि के भी चित्र हैं। मुमुक्षुमंण्डल भी हमारे घर ही चलता है। प्रतिदिन गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों के टेप चलते हैं। समय-समय पर विशेष कर पर्वो के समय विशेष धार्मिक आयोजन भी होते हैं। जब गुरुदेवश्री नैरोबी पधारे थे, तब वे हमारे घर मोम्बासा पधारे थे। उनकी हमारे परिवार पर सदा ही असीम कृपा रही है।

वर्तमान में हमारे पिताश्री लन्दन में रहते हैं। वहां भी वे निरन्तर स्वाध्याय में मग्न रहते हैं एवं प्रवचन आदि भी करते हैं।

वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का आश्रय प्राप्त कर हम सब व हमारे पिता आत्महित में ही रत रहें यही पवित्र भावना है।

हम हैं आपके :

पुत्री	पुत्रवधू	पुत्र
चन्द्रमणि	सुशीला	सोमचन्द, लक्ष्मीचन्द
लीलावती	सूर्यकला	भीमजी, सुरेशचन्द
मुक्तागौरी	पुष्पा	विपिनचन्द्र

सम्पादक की ओर से

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर परम्परा में सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उन्हें ही स्मरण किया जाता रहा है। दो हजार वर्ष पूर्व लिखे गये आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के परमागम हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर उनके रहस्य को उद्घाटित करनेवाली अद्भुत टीकाएँ आचार्य अमृतचन्द्र ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले संस्कृत भाषा में लिखी थीं। यद्यपि उनके अनुवाद भी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा जैसे विद्वानों द्वारा लिखे गये थे, तथापि इस युग में उनका प्रचार व प्रसार नगण्य ही था। जनसाधारण की तो बात ही क्या करें, बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान भी उनसे अपरिचित ही थे।

आज जो समयसार जन-जन की वस्तु बना हुआ है – उसका एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी को है। उन्होंने इस पर आद्योपान्त १६ बार तो सभा में प्रवचन किए हैं, स्वयं ने तो न मालूम कितनी बार गहराई से अध्ययन किया होगा।

इस सन्दर्भ में पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का कथन दृष्टव्य है। जो कि इसप्रकार है :–

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्र सभा में शास्त्र बाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म ग्रंथों की चर्चा करनेवाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दि० जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ। अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्र० शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[1]

---

[1] जैन सन्देश, ४ नवम्बर १९७६, सम्पादकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम जसे उन लाखों लोगों पर अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने साक्षात् उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर प्रवचन सुने हैं और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है ।

आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर उनके वे प्रवचन जो उन्होंने अपने जीवनकाल में अनवरत रूप से किये थे, हमें टेपों के रूप में उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री के हजारों प्रवचन प्रकाशित रूप में भी हमें उपलब्ध थे, और हैं भी; फिर भी यह आवश्यकता गुरुदेवश्री की उपस्थिति में भी निरन्तर अनुभव की जा रही थी कि उनके उपलब्ध समस्त प्रवचन प्रकाशित होने चाहिए। एक तो टेप सबको सहज सुलभ नहीं होते, दूसरे लम्बे काल तक उनकी सुरक्षा संदिग्ध रहती है। हमारी यह निधि पूर्ण सुरक्षित हो जाने के साथ-साथ जन-जन की पहुँच के भीतर हो जानी चाहिए – इसकारण सम्पूर्ण प्रवचनों के प्रकाशन की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी।

परिणामस्वरूप पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में ही श्री कुन्दकुन्द परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना हुई। उक्त ट्रस्ट ने बड़ी ही तत्परता से अपना काम आरम्भ किया और बहुत ही कम समय में 'प्रवचनरत्नाकर' नाम से सर्वप्रथम 'समयसार' परमागम पर १८वीं बार हुये प्रवचनों का प्रकाशन आरम्भ किया। चूंकि गुरुदेवश्री के मूलप्रवचन अधिकांश गुजराती भाषा में ही हैं, अत: उनका प्रकाशन भी सर्वप्रथम गुजराती भाषा में ही आरम्भ हुआ। १६ अप्रेल, १९८० ई० को बम्बई (मलाड़) में आयोजित पूज्य गुरुदेवश्री की ९१वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर प्रवचनरत्नाकर का प्रथम भाग गुजराती भाषा में प्रकाशित होकर आ गया था तथा पूज्य गुरुदेवश्री को प्रत्यक्षरूप से समर्पित किया गया था।

उसी अवसर पर इसके हिन्दी प्रकाशन की चर्चा आरम्भ हुई। पर्याप्त ऊहापोह के उपरान्त इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल को, सम्पादन का कार्य मझे एवं प्रकाशन का भार पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर को सौंपा गया।

गुरुदेवश्री के मंगल-आशीर्वाद से ही सुगठित अनेक तत्त्वप्रचार सम्बन्धी गतिविधियों के सक्रिय संचालन में पहले से ही व्यस्त रहने के कारण यद्यपि मैं इस स्थिति में नहीं था कि कोई नया भार लं, क्योंकि

इसकारण मेरा स्वयं का अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं लेखन अवरुद्ध होता है; तथापि गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गहराई से अध्ययन करने के इस सुअवसर का लोभ-संवरण मुझसे नहीं हो सका।

इसके सम्पादन में मैंने आत्मधर्म के सम्पादन से प्राप्त अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आत्मधर्म में छः वर्ष से लगातार प्रतिमाह गुरुदेवश्री के प्रवचनों के लगभग २०-२२ पृष्ठ तो जाते ही हैं। उनके सम्पादन से गुरुदेवश्री के प्रतिपाद्य और प्रतिपादन शैली से मेरा घनिष्ठ परिचय हो गया है। तथा प्रवचनरत्नाकर भाग १ के सम्पादनकार्य के अवसर पर सम्पादन सम्बन्धी बहुत-कुछ ऊहापोह हो जाने के कारण इसके सम्पादन में यद्यपि मुझे अधिक श्रम नहीं उठाना पड़ा है; तथापि इन दोनों भागों के सम्पादन में मुझे अभूतपूर्व वचनातीत लाभ मिला है। गुरुदेवश्री के हृदय को अन्तर से जानने का अवसर मिला है। जो लाभ उनकी वाणी को पढ़ने और सुनने से भी सम्भव न हुआ था, वह लाभ इनके सम्पादन से प्राप्त हुआ है। इसका कारण यह है कि उपयोग की स्थिरता जितनी इनके सम्पादन के काल में रही है, उतनी सहज पढ़ने या सुनने में नहीं रहती है। जितनी गहराई में जाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने आचार्य कुन्दकुन्द व आचार्य अमृतचन्द्र के मर्म को खोला है, उतनी गहराई में उपयोग के न पहुँच पाने से वह मर्म सहज पकड़ में नहीं आता है। अपने इस अनुभव के आधार पर तत्त्वप्रेमी पाठकों से पुनः अनुरोध करना चाहूँगा कि वे यदि इस रत्नाकर के रत्न पाना चाहते हैं तो उपयोग को सूक्ष्म कर, स्थिर कर – इसका स्वाध्याय करें, अन्यथा उनके हाथ कुछ न लगेगा।

इसके सम्पादन में गुजराती में प्रकाशित 'प्रवचनरत्नाकर' के मूल माल को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किये गए हैं। उनका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि जिससे गजराती से मिलान करके अध्ययन करनेवाले पाठकों को कोई असुविधा न हो।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि गुजराती में जीवाजीवाधिकार को तीन भागों में बाँटा गया है, जबकि हिन्दी प्रवचनरत्नाकर में दो भागों में ही विभाजित किया गया है। इस विभाजन में विषयवस्तु को तो ध्यान में रखा ही गया है; साथ में यह भी उचित लगा कि इतने विशाल ग्रन्थ का, जो कि अनेक भागों में प्रकाशित किया जाना है, प्रत्येक भाग लगभग चार सौ पृष्ठों का तो होना ही चाहिए। छोटे-छोटे वाल्यूम बनाने में विषयवस्तु तो बार-बार टटती ही है, साथ में जिल्द का अनावश्यक खर्च भी बढ़ता है।

प्रवचन की भाषा में अनावश्यक टेढ़ें भी बहुत होती हैं तथा पुनरुक्ति भी बहुत पाई जाती हैं। सामान्य लोगों को भी सरलता से समझ में आ जाय – इस दृष्टि से जहाँ तक सम्भव हुआ, वाक्यों का गठन सीधा व सरल कर दिया गया है; पर इस प्रक्रिया में गुरुदेवश्री के प्रवचन की टोन (शैली) समाप्त न हो जावे – इस बात का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। पुनरुक्ति भी कम की गई हैं, पर बहुत कम। जहाँ बहुत अधिक पिष्ट-पेषण था, वहाँ ही कुछ कम किया गया है।

हिन्दी प्रकाशन में मूलग्रंथ संस्कृत व हिन्दी टीकासहित दिया गया है, जबकि गुजराती में संस्कृत टीका नहीं दी गई है। साथ में हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है। और भी छोटी-छोटी बहुतसी बातें हैं, जिनका उल्लेख सम्भव नहीं है। वे सब अध्ययन करने पर पैनी-दृष्टिवाले पाठकों को सहज समझ में आ जावेंगी।

मैंने इस अनुवाद को मूल से मिलान करके बहुत गहराई से देखा है। इसके मर्म की गहराई को पाने के लिए भी और इसके प्रमाणिक प्रकाशन के लिए भी। फिर भी छद्मस्थों से त्रुटियाँ रह जाना असम्भव नहीं है। अतः सुधी पाठकों से सावधानीपूर्वक अध्ययन करने का अनुरोध है।

प्रकाशन सम्बन्धी छोटी-मोटी त्रुटियों की उपेक्षा की अपेक्षा के साथ-साथ सविनय यह अनुरोध है कि यदि कोई भावसम्बन्धी भूल दिखाई दे तो मुझे सुझाने की अनकम्पा अवश्य करें, जिससे आगामी संस्करणों में आवश्यक सुधार किया जा सके।

–(डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल

शुद्धिपत्र

[नोट – कृपया ग्रन्थ का स्वाध्याय प्रारम्भ करने के पूर्व निम्नलिखित अशुद्धियाँ अवश्य ठीक कर लें।]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८९	६	अध्यात्म का	अध्यात्म के
२१३	२२	निदृचै	निहचै
२१४	२०	नकला	निकला
२७१	३०	उत्पन्न होते	उत्पन्न नहीं होते
२९१	२८	ज्ञायिकभाव	ज्ञायकभाव
३४०	१५	ही ही	ही हो

अनुवादक की ओर से

जब परमपूज्य आचार्यों के आध्यात्मिक ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के गूढ़, गम्भीर, गहनतम, सूक्ष्म और तलस्पर्शी प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिए मुझसे कहा गया तो मैं असमंजस में पड़ गया। मेरी स्थिति सांप-छछूंदर जैसी हो गई। मैंने कभी यह सोचा ही नहीं था कि यह प्रस्ताव मेरे पास भी आ सकता है।

अब एक ओर तो मेरे सामने यह मंगलकारी, भवतापहारी, कल्याणकारी, आत्मविशुद्धि में निमित्तभूत कार्य करने का स्वर्ण अवसर था, जो छोड़ा भी नहीं जा रहा था; तो दूसरी ओर इस महान कार्य को आद्योपान्त निर्वाह करने की बड़ी भारी जिम्मेदारी। मेरी दृष्टि में यह केवल भाषा परिवर्तन का सवाल ही नहीं था, बल्कि आगम के अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुए, गुरुदेवश्री की सूक्ष्म कथनी के भावों का अनुगमन करते हुए, प्रांजल हिन्दी भाषा में, उसकी सहज व सरल अभिव्यक्ति होना मैं आवश्यक मानता था। अन्यथा थोड़ी सी चूक में ही अर्थ का अनर्थ भी हो सकता था।

इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करके तथा दूरगामी आत्म-लाभ के सुफल का विचार कर, प्रारंभिक परिश्रम और कठिनाइयों की परवाह न करके 'गुरुदेवश्री के मंगल आशीर्वाद से सब अच्छा ही होगा' – यह सोचकर अन्ततोगत्वा मैंने इस काम को अपने हाथ में ले ही लिया। इस कार्यभार को संभालने में एक संबल यह भी था कि इस हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर ग्रन्थमाला के प्रकाशन का कार्य पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर ने ही संभाला था और सम्पादन का कार्य डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल को सौंपा जा रहा था।

यद्यपि गुजराती भाषा पर मेरा कोई विशेष अधिकार नहीं है, तथापि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रसाद से उनके गुजराती प्रवचन सुनते-सुनते एवं उन्हीं के प्रवचनों से सम्बन्धित सत्साहित्य पढ़ते-पढ़ते उनकी शैली और भावों से सुपरिचित हो जाने से मुझे इस अनुवाद में कोई विशेष कठिनाई

नहीं हुई। जहाँ कहीं गुजराती भाषा का भाव समझ में नहीं आया, वहाँ अपने अनुज डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल से परामर्श करके गुजराती भाषा के भाव को स्पष्ट करता रहा हूँ।

मैं अनुवाद करते समय इसलिए भी निश्चिन्त रहा कि सम्पादन का कार्य एक ऐसी प्रतिभा को सौंपा गया है, जिसके द्वारा सारा विषय हर दृष्टि से छन-छन कर ही पाठकों तक पहुँचनेवाला है।

इस अनुवाद से मुझे जो आशातीत लाभ मिला है, उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता। पूज्य गुरुदेवश्री के अभिप्राय को तथा समयसार के गम्भीर रहस्यों को 'जो गुरुदेवश्री ने खोले हैं' – उन्हें गहराई से समझने का अवसर मिला। गुरुदेवश्री के माध्यम से भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव के सूक्ष्म भावों तक पहुँचने में सहायता मिली। इस काम में अत्यधिक आत्म-सन्तोष मिला, आनन्द भी आया; अतः यह कार्य भारभूत न होकर स्वान्तःसुखाय बन गया। आत्मशान्ति व सन्तोष ही गुरुदेवश्री का परम प्रसाद है और यही जिनवाणी की सेवा का सुफल है।

अनुवाद में गुरुदेवश्री के अभिप्राय को अक्षुण्ण रखा गया है। प्रवचनों का अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है, किन्तु हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यों का गठन हिन्दी भाषा के अनुरूप करने का प्रयत्न रहा है तथा अति आवश्यक यत्किञ्चित् परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु उनसे विषय-वस्तु और भावों में कहीं कोई अन्तर नहीं आया है। जब पाठक धारा-प्रवाहरूप से इसका अध्ययन करेंगे तो भाषा की दृष्टि से भी उन्हें साहित्यिक गद्य का आनन्द आयेगा और विषयवस्तु को समझने में भी सुगमता रहेगी।

यद्यपि इसके अनुवाद में मैंने पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी से काम किया है, फिर भी **'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे'** की लोकोक्ति के अनुसार कहीं स्खलना हुई हो तो मेरा ध्यान आकर्षित करने का सानुरोध आग्रह है।

सभी पाठकगण इस ग्रन्थ का पुनः पुनः पारायण करके पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे – ऐसी आशा एवं अपेक्षा के साथ विराम लेता हूँ।

–रतनचन्द भारिल्ल

प्रवचन-रत्नाकर

[भाग २]

समयसार गाथा २६

अथाहाप्रतिबुद्ध :–

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ।।२६।।

यदि जीवो न शरीरं तीर्थंकराचार्यसंस्तुतिश्चैव ।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ।।२६।।

यदि य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्तदा –

(शार्दूलविक्रीड़ित)

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ।।२४।।

अब अप्रतिबुद्ध जीव कहता है उसकी गाथा कहते हैं :–

जो जीव होय न देह तो, आचार्य वा तीर्थेश की ।
मिथ्या बने स्तवना सभी, सो एकता जीव-देह की ! ।।२६।।

गाथार्थ :– अप्रतिबुद्ध जीव कहता है, कि – [यदि] यदि [जीवः] जीव [शरीरं न] शरीर नहीं है तो [तीर्थंकराचार्यसंस्तुतिः] तीर्थंकरों और आचार्यों की जो स्तुति की गई है वह [सर्वा अपि] सभी [मिथ्या भवति] मिथ्या है, [तेन तु] इसलिये हम (समझते हैं कि) [आत्मा] जो आत्मा है वह [देहः च एव] देह ही [भवति] है ।

टीका :– जो आत्मा है, वही पुद्गल द्रव्यस्वरूप यह शरीर है । यदि ऐसा न हो तो तीर्थंकरों और आचार्यों की जो स्तुति की गई है, वह सब मिथ्या सिद्ध होगी । वह स्तुति इसप्रकार है :–

श्लोकार्थ : – [ते तीर्थेश्वराः सूरयः वन्द्याः] वे तीर्थंकर और आचार्य वन्दनीय हैं । कैसे हैं वे ? [ये कान्त्या एव दशदिशः स्नपयन्ति] अपने शरीर की कांति से दसों दिशाओं को धोते हैं – निर्मल करते हैं,

इत्यादिका तीर्थंकराचार्यस्तुतिः समस्तापि मिथ्या स्यात्। ततो य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यमिति ममैकांतिकी प्रतिपत्तिः।

[**ये धाम्ना उद्दाम–महस्विनां धाम निरुन्धन्ति**] अपने तेज से उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादि के तेज को ढक देते हैं, [**ये रूपेण जनमनः मुष्णन्ति**] अपने रूप से लोगों के मन को हर लेते हैं, [**दिव्येन ध्वनिना श्रवणयोः साक्षात् सुखं अमृतं क्षरन्तः**] दिव्यध्वनि से (भव्यों के) कानों में साक्षात् सुखामृत बरसाते हैं और वे [**अष्टसहस्रलक्षणधराः**] एक हजार आठ लक्षणों के धारक हैं ।।२४।।

– इत्यादि रूप से तीर्थंकरों व आचार्यों की जो स्तुति है, वह सब ही मिथ्या सिद्ध होती है। इसलिये हमारा तो यही एकान्त निश्चय है कि जो आत्मा है वही शरीर है, पुद्गलद्रव्य है। इसप्रकार अप्रतिबुद्ध ने कहा।

गाथा २६, उसकी टीका एवं कलश २४ पर प्रवचन

अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी जीव कहता है कि हे प्रभु ! यदि शरीर ही जीव नहीं है तो आप तीर्थंकर और आचार्यों की जो स्तुति करते हैं, क्या वह मिथ्या सिद्ध नहीं होगी ? 'भगवान का रूप-रंग ऐसा था, उनकी दिव्यध्वनि ऐसी थी, उनका आकार-प्रकार ऐसा था' जब आप स्वयं भगवान की स्तुति में ऐसा कहते हैं, तब इस कथन से तो मैं ऐसा समझता हूँ कि जो शरीर है, वह आत्मा ही है। यद्यपि यहाँ आप वजन देकर यह कहते हैं कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु मैं तो शास्त्राधार-पूर्वक यह बात कह रहा हूँ कि शरीर और आत्मा एक हैं।

'पुद्गलद्रव्यस्वरूप यह शरीर ही आत्मा है' अर्थात् शरीर और आत्मा – दोनों एक ही हैं। और आप यहाँ दोनों को जुदा-जुदा कहते हो, सो यह बात मुझे बैठती नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो तो तीर्थंकरों व आचार्यों की जो स्तुति की गई है, वह सब मिथ्या सिद्ध होगी।

महाराज तुम कहते हो कि शरीर और आत्मा दोनों जुदे-जुदे हैं, किन्तु तुम्हारे ही शास्त्र में शरीर की स्तुति से भगवान की स्तुति की गई है। इसप्रकार अज्ञानी ने शास्त्र में सें आधार निकाला है, उसने शास्त्र का प्रमाण प्रस्तुत किया है। वह कहता है जब आप भगवान के शरीर की स्तुति करके भगवान की स्तुति मानते हो, तब यह कैसे कहते हो कि 'शरीर और आत्मा अलग-अलग हैं' ? यदि आपका यह कथन सत्य है तो आचार्यों द्वारा की गई स्तुति सत्य कैसे हो सकती है ? मिथ्या ही सिद्ध होगी।

अपनी बात की पुष्टि में अज्ञानी जीव शरीर के आधार पर तीर्थंकरों व आचार्यों की स्तुति की बानगी भी प्रस्तुत करता है, जो इस प्रकार है :–

"कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधन्ति ये,
धामोद्दाम महस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं,
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वरा सूरयः ॥२४॥

वे तीर्थंकर-आचार्य वंदना करने योग्य हैं जो कि अपने शरीर की कान्ति से दशों दिशाओं को धोते हैं, निर्मल करते हैं। अपने तेज से उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादि के तेज को भी ढक देते हैं, अपने रूप से जन-जन के मन को मोह लेते हैं, हर लेते हैं। अपनी दिव्यध्वनि से भव्य जीवों के कानों में साक्षात् सुखामृत की वर्षा करते हैं। तथा एक हजार आठ लक्षणों को धारण करते हैं।"

ये सब लक्षण तो शरीर के हैं और तुम इसे चैतन्यभगवान की स्तुति कहते हो। यदि तुमने शरीर को ही आत्मा नहीं माना तो जिसे तुम तीर्थंकर-आचार्यों की स्तुति कहते हो, वह सब मिथ्या सिद्ध होगी। अतः हमारा तो यही एकान्त मत है कि जो शरीर है वही आत्मा है।

यहाँ शिष्य का प्रश्न है कि तुम कहते हो कि शरीर और आत्मा सर्वथा जुदा हैं। परन्तु यह बात हमें बिल्कुल नहीं जमती, क्योंकि तुम तीर्थंकर की स्तुति करते हो तब उनके शरीर की और वाणी की ही स्तुति करते हो। जैसे कि देह के रूप के प्रकाश में सूर्य का तेज भी छुप जाता है और जिनकी दिव्यध्वनि से भव्यों के कानों में साक्षात् सुखामृत बरसता है, इत्यादि। यह सब किसकी स्तुति है ? शरीर की ही न ! इससे ऐसा ही तो सिद्ध हुआ कि शरीर और आत्मा एक हैं। जो देह और आत्मा एक न हों तो तुम्हारी की हुई यह स्तुति मिथ्या सिद्ध होती है। इसलिए देह और आत्मा एक ही हैं – ऐसा हमारा निश्चय है।

यहाँ शिष्य परमार्थ को भूलकर केवल व्यवहार को पकड़कर बैठा है और शास्त्र की बात सुनकर अपने को शास्त्राभ्यासी मानकर ऐसा कुतर्क करता है। उसे समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि शरीर और आत्मा एक ही स्थान पर रहते हैं, इसलिए शास्त्रों में निमित्त से कथन है कि भगवान का शरीर ऐसे वर्ण का है और उनकी वाणी ऐसी है। भाई ! यह सब व्यवहारनय का कथन है। यदि जिनवाणी को समझना चाहते हो तो नयविभाग को समझना आवश्यक है।

शास्त्रों में एक स्थान पर मुनियों के लिए ऐसा कहा गया है कि मुनि को ईर्यासमितिपूर्वक देखकर चलना चाहिए और दूसरी जगह यह कहा गया है कि यदि यह मानेगा कि शरीर की क्रिया मैं करता हूँ, जड़ की क्रिया चेतन कर सकता है तो महामिथ्यादृष्टि कहलायेगा; अरे एक डग भी तो उठाना तेरे हाथ की बात नहीं है।

जहाँ यह कहा है कि देखकर ईर्यासमितिपूर्वक चलना चाहिए, वहाँ यह समझना चाहिए कि जब आत्मा अपने निर्विकार शुद्धस्वभाव में सम्पूर्णतः स्थिर न रह सके तब अशुभभावों को दूर करने के लिए शुभभाव करना और जब शुभभाव हों अर्थात् परजीवों को दुख न देने के भाव हों, तब शरीर की क्रिया ऐसी नहीं होती कि दूसरे जीव को दुःख पहुँचे। ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध होता है।

तथा कोई ऐसा कहता है कि जो शरीर और आत्मा एक ही न हों तो शरीर में जो रोग आते हैं, उसका वेदन आत्मा क्यों करता है? तथा हलना, चलना इत्यादि शरीर की क्रिया कौन करता है?

उसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि भाई! यह आत्मा शरीर के रोग का वेदन नहीं करता, किन्तु शरीर का लक्ष्य करके अपने राग का वेदन करता है। शरीर की क्रिया तो जड़ की क्रिया है, आत्मा वह क्रिया नहीं करता। तथा जिन कर्मों के निमित्त से यह शरीर की क्रिया होती है, उन जड़कर्मों का भी आत्मा अनुभव नहीं करता, क्योंकि जड़ और चैतन्य के बीच अत्यन्ताभाव है। इसलिए आत्मा को जड़कर्मों का अनुभव नहीं होता, किन्तु इनके निमित्त से हुए मिथ्यात्व और राग-द्वेष का ही अनुभव होता है।

तथा संप्रदाय (स्थानकवासी) में तो शरीर और आत्मा अत्यन्त भिन्न हैं – ऐसा स्पष्ट लेख ही नहीं है, वहाँ ऐसी शैली ही नहीं है। वे तो ऐसा मानते हैं कि हम ब्रह्मचर्य पालते हैं, परजीवों की रक्षा करते हैं, संयम पालते हैं। उनकी समझ से यह सब आत्मा करता है, परजीव की हिंसा नहीं करना, परजीवों को बचाना – यह 'अहिंसा परमोधर्मः' है और यही सब सिद्धांतों का सार है। वे और भी कहते हैं कि इतना जिसने जान लिया उसने सब कुछ जान लिया।

परन्तु यहाँ तो यह कहते हैं कि परजीव की हिंसा व अहिंसा यह जीव कर ही नहीं सकता। समयसार के बंध अधिकार में आता है – 'पर को मैं मार सकता हूँ, जिला सकता हूँ, उन्हें सुख-दुःख दे सकता हूँ, आहार-

पानी वगैरह मैं ले सकता हूँ और छोड़ सकता हूँ; पर से मैं जीवित हूँ, सब रक्षा करने वाले हैं, इसकारण मैं जीवित हूँ।' ऐसी मान्यता जिनकी है, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि जीव का जीवन-मरण उसके आयुकर्म के आधीन है तथा परवस्तु को आत्मा न ग्रहण कर सकता है न छोड़ सकता है।

प्रवचनसार गाथा १७२ के २० बोलों में १३वाँ बोल है, उसमें आता है कि पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, स्वासोच्छ्वास और आयु – इन दस प्राणों से जीव का जीवन है ही नहीं। निश्चय से जीव का जीवन ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्यप्राणों से है। अशुद्धनिश्चय से कहा जाय तो भावेन्द्रियों से जीता है। तथा जड़-दसप्राणों से जीवन है, ऐसा जो शास्त्र में लिखा है, वह तो असद्भूतव्यवहारनय का कथन है।

यह जो एक-एक रजकण हैं, इनमें अनन्तशक्तियाँ हैं, गुण हैं। इन शक्तियों में क्रियावती नाम की एक शक्ति – गुण है। इस शरीर, मन, वाणी का जो हलन-चलन होता है, यह तो रजकणों की क्रियावती शक्ति के कारण है, आत्मा के कारण नहीं। (उंगली को हिलाकर बताते हुए) इस उंगली को आत्मा तीनकाल में नहीं हिला सकता। यह तो अपने रजकणों की क्रियावती शक्ति के कारण हिलती है। जड़ का हिलना जड़ के अस्तित्व में तथा चेतन का हिलना चेतन के अस्तित्व में है। भाई! यह तो मूल बात है। जड़ और चेतन – दोनों का स्वभाव प्रगट भिन्न-भिन्न है। यहाँ तो यह कहते हैं कि राग व दया दान के जो विकल्प उठते हैं, उनका कर्त्ता भी अज्ञानी जीव होता है। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा इन विकारों को कैसे करे? यह चैतन्यज्ञानस्वरूपी भगवान तो ज्ञाता-दृष्टाभाव से भरा हुआ है। यह पर को कैसे मारे और कैसे जिलावे? यह राग को कैसे करे? आत्मा में विकार करने की तो कोई शक्ति ही नहीं है, ऐसा कोई गुण नहीं है, जो विकार करे। जो पर्याय में विकार होता है, वह तो पर्याय की स्वयं की योग्यता से पर्याय में होता है, कर्म से भी नहीं होता तथा द्रव्य-गुण से भी नहीं होता। भाई! सूक्ष्म बात है। इस जीव ने वीतराग मार्ग को अनंतकाल से समझा ही नहीं।

तथा कोई ऐसा कहते हैं कि शास्त्र में कुन्दकुन्दाचार्य ने पुण्य को व्यवहारधर्म कहा है और व्यवहार को साधन कहा है। वे कहते हैं कि **'पुण्णफला अरहंता'** अर्थात् पुण्य के फल में अर्हन्तपद मिलता है। परन्तु यह सब अज्ञानी की मिथ्या मान्यतायें हैं। पुण्य का फल अर्हन्त पद है ही

नहीं। वहाँ तो पुण्य के फल से अरहंत के बाह्य अतिशयों की प्राप्ति की बात ली है।

प्रवचनसार की ४५वीं गाथा में 'पुण्यफला अरहंता' पद आता है। उसकी उत्थानिका को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है। उसमें तो यह लिखा है कि पुण्य का विपाक भगवान को अकिंचित्कर है – बात तो ऐसी है। गाथा के शीर्षक में **"तीर्थकृतां पुण्यविपाकोऽकिंचित्कर एव"** 'पुण्य का विपाक अकिंचित्कर है' – ऐसा कहा है। आत्मा को पुण्य का फल कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

अरहंत के जो देहादि की क्रिया, वाणी का निकलना, चलना-इत्यादि क्रियायें हैं, वे पुण्य के फलरूप हैं और इनका भी क्षण-क्षण में क्षय होता जाता है। भाई! वहाँ तो ऐसा कहा है कि भगवान ने तो अपने पुरुषार्थ से केवलज्ञान पाया है। और जो पुण्य शेष रहता है, उस पुण्य के कारण आसन, विहार होता है तथा वाणी निकलती है, ये सब जो औदयिकी क्रियाएं हैं, वे क्षण-क्षण में नष्ट होती जाती हैं, इससे उन्हें क्षायिकी क्रियाएं कहा है। वहाँ तो ऐसी बात आती है। 'पुण्णफला अरहंता' का अर्थ पुण्य के फल में अरहंत पद मिलता है – ऐसा है ही नहीं।

इस पर भी लोग ऐसा उल्टा अर्थ करते हैं, इसके लिए कोई क्या करे?

इसप्रकार अज्ञानी ने शास्त्र के व्यवहार कथनों को पकड़कर आत्मा और शरीर के एकत्व-सम्बन्धी जो उल्टी बात निकाली थी, आचार्य भगवान ने उसका निषेध किया और कहा कि तू व्यवहारनय के कथन को समझता नहीं है। तू नयविभाग नहीं जानने से ऐसी बात करता है।

वह नयविभाग किसप्रकार है – यह अगली गाथा में स्पष्ट करेंगे।

समयसार गाथा २७

नैवं, नयविभागानभिज्ञोसि –

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्य जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ।।२७।।

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः ।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ।।२७।।

इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समवर्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेकस्कंधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं न पुनर्निश्चयतः,

---

आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा नहीं हैं; तू नयविभाग को नहीं जानता। जो नयविभाग इसप्रकार है, उसे गाथा द्वारा कहते हैं :–

जीव देह दोनों एक हैं, यह वचन है व्यवहार का ।
निश्चयविषें तो जीव-देह, कदापि एक पदार्थ ना ।।२७।।

गाथार्थ : – [**व्यवहारनयः**] व्यवहारनय तो [**भाषते**] यह कहता है कि [**जीवः देहः च**] जीव और शरीर [**एकः खलु**] एक ही [**भवति**] है; [**तु**] किन्तु [**निश्चयस्य**] निश्चयनय के अभिप्राय से [**जीवः देहः च**] जीव और शरीर [**कदा अपि**] कभी भी [**एकार्थः**] एकपदार्थ [**न**] नहीं हैं।

टीका:–जैसे इस लोक में सोने और चाँदी को गलाकर एक कर देने से एक पिण्ड का व्यवहार होता है; उसीप्रकार आत्मा और शरीर की परस्पर एक क्षेत्र में रहने की अवस्था होने से एकपने का व्यवहार होता है। यों व्यवहारमात्र से ही आत्मा और शरीर का एकपना है, परन्तु निश्चय से एकपना नहीं है; क्योंकि निश्चय से देखा जाये तो जैसे पीलापन आदि और सफेदी आदि जिसका स्वभाव है, ऐसे सोने और चाँदी में अत्यन्त भिन्नता होने से उनमें एकपदार्थपने की असिद्धि है, इसलिये अनेकत्व ही है। इसीप्रकार उपयोग और अनुपयोग जिनका स्वभाव है, ऐसे आत्मा और शरीर में अत्यन्त भिन्नता होने से एकपदार्थपने की असिद्धि है; इसलिये अनेकत्व ही है। ऐसा यह प्रगट नयविभाग है। इसलिये व्यवहारनय से ही शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन होता है।

निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयोः कनककलधौतयोः पीतपांडुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेः नानात्वमेवेति । एवं हि किल नयविभागः । ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नम् ।

भावार्थ :—व्यवहारनय तो आत्मा और शरीर को एक कहता है और निश्चयनय से भिन्न है। इसलिए व्यवहारनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन माना जाता है।

गाथा २७ की उत्थानिका, गाथा व उसकी टीका पर प्रवचन

अप्रतिबुद्ध ने तीर्थंकरों व आचार्यों की स्तुति के आधार पर यह कहा था कि हमारा तो यही निश्चय है कि शरीर ही आत्मा है। उसे समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि भाई, ऐसी बात नहीं है। तू नयविभाग को नहीं जानता है—इसलिए ऐसी बात करता है।

वह नयविभाग किस प्रकार है—यह बात इस २७वीं गाथा में बताई गई है।

यह उत्थानिका हुई। अब गाथा का अर्थ कहते हैं। व्यवहारनय कहता है जीव और देह एक ही है। किन्तु निश्चयनय कहता है कि जीव और देह कदापि एक नहीं हो सकते हैं।

अब इसी बात को टीका में उदाहरण देकर विस्तार से समझाते हैं।

जिसप्रकार लोक में सोने और चाँदी को गलाकर एक करने से एकपिण्ड का व्यवहार होता है, उसीप्रकार आत्मा और शरीर के परस्पर एकक्षेत्र में रहने के कारण उनमें एकपने का व्यवहार होता है। देखो, सोना व चाँदी को गलाकर एक करने पर उसे सफेद सोना कहते हैं। किन्तु सफेद तो चाँदी है, सोना तो पीला है; दोनों जुदे-जुदे हैं। उसी प्रकार आत्मा चैतन्यलक्षणवाला है और शरीर अचेतनलक्षणवाला है। इसप्रकार दोनों जुदे-जुदे हैं।

कर्म के रजकण कर्म की पर्याय को करते हैं, आत्मा कर्म की पर्याय को नहीं करता। तथा कर्म की पर्याय आत्मा को राग नहीं कराती है। अहाहा! स्वतंत्र परमाणु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में अपने अस्तित्व से रहते हैं। ये पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में प्रवेश किये विना पर को किसप्रकार कर सकते हैं? इसीलिए तो कहा है कि आत्मा और शरीर एक है—यह तो व्यवहार का कथन मात्र है। इसीप्रकार

मात्र व्यवहार से ही आत्मा और शरीर का एकपना कहने में आता है। दोनों एक क्षेत्र में रहते हैं, इस अपेक्षा से असद्भूतव्यवहारनय से एक हैं – ऐसा कहते हैं; परन्तु निश्चय से एकपना नहीं है।

निश्चय से विचार करें तो जैसे पीलापना आदि तथा सफेदपना आदि जिसका स्वभाव है – ऐसे स्वर्ण और चाँदी के अत्यन्त भिन्नपना होने से एक पदार्थपने की असिद्धि है। देखो ! सोने और चाँदी का भिन्न-भिन्न स्वभाव है, इसकारण निश्चय से सोना और चाँदी एक नहीं हैं। अरे ! सोने के एक-एक रजकरण का दूसरे रजकरण से संबंध नहीं है। परमाणु अकेला हो तो भी अपने स्वचतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) में है और स्कन्ध में हो तो भी अपने स्वचतुष्टय में है। प्रवचनसार ८७ में कहा है कि स्कन्ध में भी जो अनन्त रजकरण हैं, वे प्रत्येक रजकरण स्वतंत्र हैं। एक-एक रजकरण अपने स्वचतुष्टय में है, एक रजकरण दूसरे रजकरण के साथ अभेद नहीं है। अनंतरजकरण अनंततत्त्व हैं। वे प्रत्येक स्वपने रहें और परपने नहीं रहें तब अनंतपने रह सकते हैं। अनंत की अनंतता का अस्तित्व सिद्ध करें तो प्रत्येक अपने में है और पर में नहीं है; इसप्रकार प्रत्येक की भिन्न-भिन्न स्वसत्ता (स्वरूप-अस्तित्व) सिद्ध हो जाती है। भाई ! पर से इसमें होता है और इससे पर में होता है – ऐसा माने तो अनंत की भिन्न-भिन्न सत्ता सिद्ध नहीं होती।

क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होनेवाला प्रत्येक रजकरण स्वयं की क्रियावतीशक्ति के कारण क्षेत्रान्तर होता है, दूसरे रजकरण के कारण नहीं और आत्मा के कारण भी नहीं। ऐसा वस्तुस्वरूप है। वस्तु पर से भेदरूप है, भिन्न है। सोने और चाँदी के अत्यन्त भिन्नपना होने से उनके एकपदार्थपने की असिद्धि है, इसकारण अनेकपना है। देखो, अनंत अनंतपने हैं; इसलिए एक का दूसरे के साथ कोई संबंध नहीं है। सोना और चाँदी दो हैं न ? ये दोनों अपने-अपनेपने से हैं, दो एक नहीं हुए, इसलिए अनेक हैं। भाई ! एक स्कन्ध में अनेक रजकरण हैं, उसमें प्रत्येक रजकरण तथा एक निगोद के शरीर में अनंतजीव हैं, उनमें प्रत्येक जीव अपने स्वचतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) को छोड़कर दूसरे के चतुष्टय में नहीं जाते। सभी अनंतपने रह रहे हैं, एकरूप नहीं हुए। भाई ! वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। वीतराग-मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई !

अज्ञानी जीव तो ऐसा मानता है कि शरीर से दया पलती है, शरीर से संयम होता है, शरीर से उपवास होता है, आत्मा हो तो शरीर की

क्रिया होती है, शरीर के दुःख का आत्मा वेदन करता है। इसलिए शरीर और आत्मा एक है। भाई ! यह मान्यता अज्ञानी जीव की है। इन सब क्रियाओं में राग मन्द हो, शुभ क्रिया हुई हो तो पुन्य हो। किन्तु इस शरीर की क्रिया से, आहार छोड़ने से या शुभक्रिया से धर्म माने तो यह मिथ्यात्व भाव है। भाई ! आत्मा में ग्रहण-त्याग की शक्ति ही नहीं है। आत्मा में त्याग-उपादान शून्यत्व शक्ति है। इसलिए पर का त्याग और पर का ग्रहण आत्मा कर ही नहीं सकता। तो फिर वह परद्रव्य को किसप्रकार ग्रहण करे व छोड़े ? सम्प्रदाय (स्थानकवासी) में तो यह बात मिलती ही नहीं है।

एक आत्मा दूसरे आत्मा के चतुष्टय से भिन्न है। उसीतरह एक रजकण दूसरे रजकण के चतुष्टय से भिन्न है। सप्तभंगी में पहला भंग ऐसा है कि वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से नास्तिरूप है।

प्रश्न :– व्यवहारनय से तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता है न ?

उत्तर :– कदापि नहीं, मात्र कर्त्ता कहा जाता है। निश्चय से या व्यवहार से किसी भी प्रकार से कोई पर का कार्य कर ही नहीं सकता। जैसे – हमारा देश हमारा गाँव – ऐसा बोलते हैं, किन्तु इससे गाँव और देश क्या उसका हो गया ?[1]

श्रीमद्‌राजचंदजी ऐसा बोलते थे कि – अमारा कोट, अमारी टोपी, अमारा घर इत्यादि। पर लोग उनका भाव समझ नहीं पाते थे, तो उन्हें ऐसा लगता था कि यह क्या बोलते हैं ? 'अ' अर्थात् नहीं, 'अ-मारो' अर्थात् मेरा नहीं – ऐसा भाव उस कथन में था। किन्तु समझने की किसको पड़ी है ? ठीक इसीतरह यह आत्मा अनंतकाल से पर को निज मानकर तथा निज के स्वरूप को भूलकर रखड़ रहा है, भव में भटक रहा है। श्रीमद्‌जी कहते हैं कि "तेरे दोष से तेरा रखड़ना हो रहा है। तेरा दोष इतना है कि पर को अपना मानकर भूला है।" यह उनकी संक्षिप्त भाषा है। अर्थात् कर्मों ने तुझे रुलाया नहीं है, रखड़ाया नहीं है। पूजा में आता है :–

> **कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।**
> **अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई ॥**

---

[1] समयसार के सर्वविशुद्धिज्ञान अधिकार, गाथा ३२५ में यह बात आती है।

जिसप्रकार लोहे का संग अग्नि करे तो अग्नि पर घन पड़ते हैं, उसीप्रकार आत्मा स्वयं पर का संग करता है तो रागादिक होते हैं, दुख के घन पड़ते हैं; पर के कारण नहीं।

यहाँ यह कहते हैं कि सोने और चाँदी के रजकण भिन्न-भिन्न हैं, अनेकपने हैं। सोने को सफेद कहना तो कथन मात्र है, वस्तु ऐसी है नहीं। उसीप्रकार उपयोग और अनुपयोग जिसका स्वभाव है, ऐसा आत्मा और शरीर के अत्यन्त भिन्नपना होने से एकपदार्थपने की प्राप्ति नहीं है, इससे अनेकपना ही है। अहाहा! ज्ञायकस्वभावी आत्मा नित्य-उपयोग स्वरूप वस्तु-तत्त्व है। यह अनादि-अनंत-अस्तित्ववाली सत्यार्थ परमार्थ वस्तु है। आत्मा अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत-आनंद, अनंतशान्ति, अनन्तस्वच्छता, अनंत-ईश्वरता – ऐसे अनंत-अनंत गुणों के अस्तित्व के स्वभाव से स्वभाववान वस्तु है।

पर को अपना मानना तो मिथ्याभ्रम – अज्ञान है ही, परन्तु आत्मा को एकसमय की पर्याय के बराबर माननेवाला जीव भी पर्याय मूढ़ है; परसमय है, मिथ्यादृष्टि है। अहाहा! वस्तु तो आनंदकंद, ज्ञानानंदरसकंद, त्रिकालीसत् के सत्वरूप से भरपूर संपूर्ण अन्दर पड़ी है। एक-एक समय की प्रगट पर्याय तो इसके अनंतवें भाग में एक अंशमात्र है। और यह भगवान आत्मा अनंतस्वभाव का धनी स्वभाववान पूर्ण पदार्थ, इसका त्रिकाली सत्व किसी एकसमय की पर्याय में नहीं आता। ऐसा यह भगवान आत्मा पूर्णानंद का नाथ है। इसको परपने मानना या 'पर से मैं हूँ' ऐसा मानना तो मिथ्याभ्रम, अज्ञान और भवभ्रमण का मूल है। यह चौरासी लाख योनियों में अवतार लेने की जड़ है। संयोगीवस्तु – परवस्तु और संयोगीभाव अर्थात् पुण्य-पाप के विकार भी हैं, किन्तु अपने स्वभाव को भूलकर संयोगीचीज और संयोगीभावों को अपना मानना भवभ्रमण की मूल जड़ है।

सहजानंदस्वरूप पूर्णानंद का नाथ नित्य उपयोगस्वरूप जो वस्तु अन्दर पड़ी हुई है, उसे आत्मतत्त्व कहते हैं। उस पर तो अनंतकाल से आजतक भी दृष्टि गई नहीं और यह अज्ञानी बाहर ही देखता रहा। स्वयं को देखनेवाले कितने हैं और कहाँ हैं? अन्दर देखा नहीं, मात्र पर को ही देखा है। और बहुत हुआ तो एकसमय की पर्याय को देख लिया। पर्याय जिसमें से निकलती है तथा जिसके आश्रय रहती है, ऐसी त्रिकाली ध्रुववस्तु को न देखा और न माना। तथा शरीर की क्रिया करो, संयम शरीर से पलता है – ऐसा मानकर शरीर की क्रिया में अटक गये। गाँव को

सुधार दूं, दुनिया को सुधार दूं, उपदेशों से समझाकर लोगों का उद्धार कर दूं – इत्यादि क्रियाओं में और भावों में जो अपनत्व करते हैं, वे मूढ हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, अज्ञानी हैं। अरे भगवान ! तुझे यह क्या हो गया है ? भाई ! तुझ में यह चीज है ही नहीं। पर को तू तारे या मारे, यह तेरे स्वरूप में नहीं है। यह तो तूने विकल्प से झूठा मान लिया है।

देखो ! शरीर, कर्म आदि अजीव जड़ हैं, यह तो अन-उपयोग स्वरूप हैं। किन्तु जो पर के लक्ष्य से उत्पन्न होते हैं – ऐसे यह पुण्य-पाप के विकल्प भी अन-उपयोगस्वरूप हैं। छठी गाथा में आता है कि ध्रुव त्रिकाली ज्ञायकभाव कभी शुभाशुभभावों के स्वभावस्वरूप नहीं हुआ। ज्ञायकवस्तु उपयोगस्वरूप है, अन-उपयोगस्वरूप शुभाशुभभावपने नहीं हुई। इन दया, दान, भक्ति आदि के भावों में चैतन्य का अंश नहीं होने से, ये सब रागादिभाव अन-उपयोगस्वरूप हैं, तो फिर शरीर और कर्म की तो बात ही क्या ? यहाँ कहते हैं कि उपयोग और अनुपयोग जिनका स्वभाव है, ऐसे ज्ञायक आत्मा और शरीरादि भिन्न-भिन्न हैं, अनेक हैं, एक नहीं हैं।

गाथा १७-१८ में ऐसा कहा है कि आबाल-गोपाल सबको ज्ञान ही अनुभव में आता है, अर्थात् शरीर और राग संबंधी जो ज्ञान है, वह ज्ञान ही जानने में आता है। किन्तु ऐसा न मानकर 'मैं शरीर को जानता हूँ, राग को जानता हूँ' इसप्रकार इसका लक्ष्य पर के ऊपर जाता है, यह मिथ्याभ्रम है। यह जाननेवाला ही जानने में आता है, तथा राग और शरीर को जाननेवाला ज्ञान राग व शरीर का नहीं है, किन्तु ज्ञायक का ही है; यह ज्ञान परज्ञेय का नहीं, किन्तु त्रिकाली भगवान का है – इस प्रकार ज्ञायक आत्मा और शरीर आदि परवस्तु के भिन्नपना है, अनेकपना है।

अरे ! वस्तु की दृष्टि बिना अनंतबार व्रत, तप, नियम कर-करके मरा। पुण्य-पाप अधिकार, गाथा १५२ में कहा है कि अज्ञानभाव से किये गये व्रत व तप बालव्रत व बालतप हैं। अहाहा ! छह-छह माह के उपवास करता है, दो-दो माह के संथारा करता है, झाड़ की डाल की तरह पड़ा रहता है, किन्तु निजस्वरूप को जाने बिना ये सब बालतप और बालव्रत हैं। भगवान आत्मा ज्ञानमूर्ति है। आत्मा की पर्याय में जो 'जानना' होता है वह जानना तो आत्मा की निज की पर्याय है। यह वस्तुतः जाननेवाले ज्ञायक को जानती है – ऐसा न मानकर पर शरीर आदि को जानती है – ऐसा जो पर के ऊपर लक्ष्य जाता है, वह अज्ञान है।

अनंतकाल से शरीर और राग का लक्ष्य करके जानता है, और इन्हें एकपने मानता है। 'यह ज्ञायक, ज्ञायक जो है, वही मैं ही हूँ' ऐसा विचार करने की किसी को गरज ही नहीं है। बस दुनियाँ में पाँच-पचास लाख की धूल मिल जाये, उसी में आनन्द मान लेता है, अपने को लखपति समझ लेता है। परन्तु पंडित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में कहा है कि 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इसके लक्ष्य का पति आत्मा ही वास्तव में 'लखपति' है।' आत्मा का लक्ष्य होते ही जो अतीन्द्रिय सहज आनंद हुआ, उस आनंद का नाथ भगवान आत्मा ही लक्षपति है। बाकी सब करोड़पति, लखपति तो धूल के ही पति हैं। बनारसीदासजी का वह पद निम्नप्रकार है :–

"स्वारथ के सांचे परमारथ के सांचे चित्त,
सांचे-सांचे बैन कहैं साचे जैनमती हैं।
काहू के विरुद्ध नाँहि परजाय बुद्धि नाँहि,
आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं।
सिद्धि-रिद्धि-वृद्धि दीसै घट में प्रगट सदा,
अन्तर के लच्छिसौं अजाची लच्छपति हैं।
दास भगवन्त के उदास रहैं जगत सौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समतिती हैं ॥७॥"[1]

जब उपदेश में दान का, भक्ति का, पूजा का प्रकरण (अधिकार) आता है; तब शुभभाव की बात भी आती है। रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में दानादि का अधिकार (प्रकरण) विस्तार से आया है। सम्यग्दृष्टि हो, पैसा आदि सम्पत्ति हो तो राग की मन्दता करके उसे दान में खर्च करे तो वह पुण्य का कारण है। परन्तु पैसे के लोभ के कारण दान में खर्च न करे तो पाप का ही कारण है।

पद्मनंदि पंचविंशतिका के दान-अधिकार में भी आता है कि कौआ जैसा पक्षी भी जैसे जली हुई खीचड़ी की खुरचन को अकेला नहीं खाता, अन्य कौओं को कांव-कांव करके बुलाकर ही खाता है। उसी प्रकार तूने पूर्व में जो शुभभाव किया, तब तेरी आत्मा की शान्ति व वीतरागता जली थी, उस समय तुझे जो पुण्य बंधा था, उसके फल में यह लक्ष्मी आदि मिली है, इसे अकेला मत भोग। दूसरों को भी दान में दे। अन्यथा तेरी गिनती कौओं में भी नहीं होगी।

---

[1] समयसार नाटक, उत्थानिका, छन्द-७

यहाँ आचार्य भगवान स्पष्ट करते हैं कि – तू कौन है ? जो जानने-देखने के स्वभाव से भरा उपयोगस्वरूप ज्ञायक आत्मा है, वह तू है। तथा ज्ञान-उपयोग से खाली अन-उपयोगस्वरूप रागादि व शरीरादि तू नहीं है। इस प्रकार आत्मा और शरीरादि के अत्यन्त भिन्नपना है। उसके एक-पदार्थपने की प्राप्ति नहीं है, इससे अनेकपना ही है। अनादि से एकमेक मान रखा है न ? इससे कैसे बैठे ? परन्तु भाई ! 'जो शरीर के रजकरण हैं वह मैं हूँ, और इनसे जो क्रिया हुई, वह मेरी क्रिया है' – ऐसा जो माने वह भले ही राजा हो, सेठ हो या त्यागी हो, निरा मूढ़ है, बड़ा मूर्ख है।

आत्मा और शरीर आकाश के एकक्षेत्र में रहने से एक हैं – ऐसा असद्भूतव्यवहारनय से कहने में आता है। किन्तु निश्चयनय से चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा और यह जड़ शरीर-दोनों सर्वथा जुदे-जुदे हैं। इनके तीन काल में भी एकपना नहीं है। ऐसा प्रगट नयविभाग है। यह हिलने-डुलने, बोलने की क्रिया जड़ की है, इसे आत्मा नहीं कर सकता। 'जानना जानना' – यह जो उपयोगस्वभाव है, वह आत्मा है। इसलिए व्यवहारनय से ही शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन बनता है, भगवान का स्तवन बनता है। भगवान शरीर से सूर्य के तेज से भी अधिक तेजवाले हैं इत्यादि शरीर द्वारा जो स्तवन किया, वह आत्मा का स्तवन नहीं है, शरीर का स्तवन है। इसकारण व्यवहारनय से ही शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन किया कहने में आता है, परमार्थ से ऐसा नहीं है।

गाथा २७ के भावार्थ पर प्रवचन

व्यवहारनय तो आत्मा और शरीर को एक कहता है और निश्चय-नय भिन्न कहता है। इसकारण व्यवहारनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन करना माना जाता है। शरीर, माटी, धूल, हड्डी, चमड़ी वगैरह से आनन्द का नाथ भगवान भिन्न है। सच्चिदानन्द ज्ञायक आत्मा तो ज्ञान और आनन्द का कंद प्रभु है, पर इसे कैसे बैठे ? बाहर से दृष्टि हटाकर अन्दर देखने की फुरसत ही कभी नहीं मिली। राग की आड़ में राग से भिन्न भगवान चिदानंद प्रभु नहीं दीखता है। अरे ! पुण्य, पाप, दया, दान, भक्ति इत्यादि विकारीभाव को देखनेवाला इन सब से जुदा है। अनादिकाल से ही इस बात की खबर अज्ञानी को नहीं है। अज्ञानी के संसार में भटकने का एक मात्र यही कारण है।

तथा हि

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ।।२८।।

इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः ।
मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान् ।।२८।।

यथा कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि कार्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेणैव पांडुरं कार्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशः,

---

यही बात इस गाथा में कहते हैं :–

जीव से जुदा पुद्गलमयी, इस देह की स्तवना करी ।
माने मुनी जो केवली, बंदन हुआ स्तवना हुई ।।२८।।

गाथार्थ :– [**जीवात् अन्यत्**] जीव से भिन्न [**इदम् पुद्गलमयं देहं**] इस पुद्गलमय देह की [**स्तुत्वा**] स्तुति करके [**मुनिः**] साधु [**मन्यते खलु**] ऐसा मानते हैं कि [**मया**] मैंने [**केवली भगवान्**] केवलीभगवान की [**स्तुतः**] स्तुति की और [**वंदितः**] वन्दना की ।

टीका :– जैसे, परमार्थ से सफेदी सोने का स्वभाव नहीं है, फिर भी चाँदी का जो श्वेत गुण है, उसके नाम से सोने का नाम 'श्वेत स्वर्ण' कहा जाता है यह व्यवहारमात्र से ही कहा जाता है; इसीप्रकार, परमार्थ से शुक्ल–रक्तता तीर्थङ्कर–केवलीपुरुष का स्वभाव न होने पर भी, शरीर के गुण जो शुक्ल–रक्तता इत्यादि हैं, उसके स्तवन से तीर्थंकर–केवलीपुरुष का 'शुक्ल–रक्त तीर्थंकर केवलीपुरुष' के रूप में स्तवन किया जाता है वह व्यवहारमात्र से ही किया जाता है। किन्तु निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नहीं हो सकता ।

भावार्थ :– यहाँ कोई प्रश्न करे कि व्यवहारनय तो असत्यार्थ कहा है और शरीर जड़ है तब व्यवहाराश्रित जड़ की स्तुति का क्या फल है ? उसका उत्तर यह है :– व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है, उसे निश्चय को प्रधान करके असत्यार्थ कहा है । और छद्मस्थ को अपना, पर का आत्मा साक्षात् दिखाई नहीं देता, शरीर दिखाई देता है, उसकी शान्तरूप मुद्रा को देखकर अपने को भी शांत भाव होते हैं। ऐसा उपकार समझकर

तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव शुक्ललोहितस्तीर्थंकरकेवलिपुरुष इत्यस्ति स्तवनम्। निश्चयनयेन तु शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमनुपपन्नमेव।

शरीर के आश्रय से भी स्तुति करता है; तथा शांत मुद्रा को देखकर अन्तरङ्ग में वीतरागभाव का निश्चय होता है यह भी उपकार है।

गाथा २८ की टीका पर प्रवचन

जैसे परमार्थ से श्वेतपना सुवर्ण का स्वभाव नहीं है, फिर भी चाँदी का जो श्वेत गुण है, उसके नाम से सोने का नाम 'श्वेतस्वर्ण' कहा जाता है। देखो, जब सोने और चाँदी को गला कर एक डली बना लेते है, तो सोने को 'सफेद सोना' कहा जाता है; उसमें सोना सफेद नहीं है, सोना तो पीला ही है, सफेद तो चाँदी है। तथा सोना तो पीलापन, चिकनापन आदि से अभिन्न है, तथापि चाँदी के मिलाप से चाँदी की जो सफेदी है, उसके नाम से सोने को व्यवहार से श्वेतवर्णवाला कहा जाता है। वास्तव में तो सोना श्वेत नहीं, पीला ही है।

इसीप्रकार परमार्थ से शुक्ल-रक्तपना तीर्थंकर-केवलीपुरुषों का स्वभाव नहीं, तथापि शरीर का जो शुक्ल-रक्तपना है, उसके संयोग से तीर्थंकर-केवलीपुरुषों का जो स्तवन किया जाता है, वह व्यवहारमात्र से किया जाता है। ऐसा श्वेत व रक्तपना तीर्थंकर-केवली का स्वभाव नहीं है। ये तो शरीर के गुण हैं। शास्त्रों में ऐसा आता है—सोलह तीर्थंकर स्वर्णवर्ण के, दो रक्तवर्ण के, दो नीलवर्ण के, दो सफेदवर्ण के तथा दो अंजनवर्ण के थे। भाई! ये सब तो शरीर की बातें हैं, आत्मा की नहीं। ये तो व्यवहार से कहने में आयी हैं।

जैसे चावल की बोरी हो, उसे चावल और बोरी मिलाकर तोलते हैं। १ क्विटल २½ किलो चावल हैं—ऐसा कहा जाता है। बोरी के वजन को भी चावल में गिन लेते हैं। चावल में गिन लेने से बोरी चावल नहीं हो जाती। उसीप्रकार शरीर तो बारदाना (बोरी) जैसा है। अन्दर त्रिकाली भगवान आनंदकन्द आत्मा सारवस्तु (चावल के स्थानापन्न) है। इन दोनों के एकपना त्रिकाल में भी नहीं है। यह एकपना तो व्यवहार मात्र से कहने में आता है। परन्तु शरीर और आत्मा के एकपना नहीं होने से निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नहीं बनता?

गाथा २८ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ **प्रश्न** है कि व्यवहारनय को तो असत्यार्थ कहा है और शरीर जड़ है तो व्यवहार के आश्रय से जड़ की स्तुति से क्या लाभ है ?

उत्तर :–व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है, निश्चय को प्रधान करके असत्यार्थ कहा है। तथा छद्मस्थ को अपना व पर का आत्मा साक्षात् दिखाई नहीं देता, शरीर दीखता है; उसकी शांत मुद्रा देखकर स्वयं का भी शांतभाव होता है। भगवान को निर्मलपरिणतिरूप केवलज्ञान प्रगट हुआ है, सर्वज्ञपद प्रगट हुआ है व परमवीतरागता हुई है; अतः शरीर की मुद्रा भी परमशान्त दिखाई देती है। इस मुद्रा के निमित्त से ऐसा विचारते हैं कि चैतन्यमूर्ति भगवान मानो शान्त, शान्त, परमशांत स्वरूप में अन्दर ठहर गये हैं।

यहाँ निमित्त से कथन किया है। जो वीतरागमुद्रा को देखकर स्वयं शांत हो जाता है, उसे भगवान का शरीर निमित्त कहलाता है।

उपकार जानकर शरीर के आश्रय से भी स्तुति की जाती है, तथा शांतमुद्रा देखकर अन्तरंग में वीतरागभाव का निश्चय होता है, यह भी उपकार है। यहाँ अन्तरंग में निश्चय होता है, यह मुख्य बात है। बाकी अकेली शांतमुद्रा तो अनन्तबार देखी, अनन्तबार भगवान की मूर्तियाँ देखीं और पूजा भी अनन्तबार की। समवशरण में अनन्तबार गया, किन्तु भगवान आत्मा जो अन्दर शांत, शांत, शांत, राग-विकल्पों की अशांति से भिन्न उपशमरस का कंद है; उसका जिसने अन्तरंग में निश्चय नहीं किया उसे भगवान की मुद्रा भी निमित्त नहीं कहलाती।

जैसे शकरकंद की ऊपर की लालछाल न देखो तो अन्दर सम्पूर्ण शक्कर अर्थात् मिठास का सफेद पिण्ड पड़ा है, उसीप्रकार पुण्य-पाप के विकल्पों की छाल से रहित शांतरस से भरा हुआ चैतन्यपिण्ड अन्दर पड़ा है; जो भगवान की शांतमुद्रा देखकर अंदर में ऐसा निश्चय करे तो उपकार है। समयसार नाटक में पंडित बनारसीदासजी ने कहा है :–

'जिनवर्णन कछु और है, यह जिनवर्णन नाहिं'

अन्दर वीतरागमूर्ति शांतरस का पिण्ड प्रभु आत्मा चैतन्यस्वरूप विराजता है, वह 'जिन' है। उसका वर्णन जिनवर्णन है। उसका ज्ञान, श्रद्धान करना यह सम्यग्दर्शन आदि धर्म है, शरीरादि के वर्णन में अटक जाए तो पुण्यबंध ही होता है, धर्म नहीं।

तथा हि –

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलि थुणदि ।।२९।।

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवंति केवलिनः ।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति ।।२९।।

यथा कार्तस्वरस्य कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्याभावान्न निश्चयतस्तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः कार्तस्वरगुणस्य व्यपदेशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्, तथा तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेरभावान्न निश्चयतस्तत्स्तवनेन स्तवनं तीर्थंकरकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य स्तवनात् ।

ऊपर की बात को गाथा में कहते हैं :–

निश्चयविषें नहिं योग्य ये, नहिं देह गुण केवलि हि के ।
जो केवली गुण को स्तवे, परमार्थ केवलि वो स्तवे ।।२९।।

गाथार्थ :– [तत्] वह स्तवन [निश्चये] निश्चय में [न युज्यते] योग्य नहीं है [हि] क्योंकि [शरीरगुणाः] शरीर के गुण [केवलिनः] केवली के [न भवंति] नहीं होते; [यः] जो [केवलिगुणान्] केवली के गुणों की [स्तौति] स्तुति करता है, [सः] वह [तत्त्वं] परमार्थ से [केवलिनं] केवली की [स्तौति] स्तुति करता है ।

टीका :– जैसे चाँदी का गुण जो सफेदपना, उसका सुवर्ण में अभाव है इसलिए निश्चय से सफेदी के नाम से सोने का नाम नहीं बनता, सुवर्ण के गुण जो पीलापन आदि हैं उनके नाम से ही सुवर्ण का नाम होता है; इसी प्रकार शरीर के गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं उनका तीर्थङ्कर-केवलीपुरुष में अभाव है इसलिये निश्चय से शरीर के शुक्ल-रक्तता आदि गुणों का स्तवन करने से तीर्थङ्कर-केवलीपुरुष का स्तवन नहीं होता है, तीर्थङ्कर-केवलीपुरुष के गुणों का स्तवन करने से ही तीर्थङ्कर-केवलीपुरुष का स्तवन होता है ।

कथं शरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यते इति चेत्–

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ।।३०।।

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति ।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवन्ति ।।३०।।

तथाहि–

(आर्या)

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ।।२५।।

इति नगरे वर्णितेपि राज्ञः तदधिष्ठातृत्वेपि प्राकारोपवनपरिखादिमत्त्वाभावाद्वर्णनं न स्यात् । तथैव–

अब शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा तो शरीर का अधिष्ठाता है इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन निश्चय से क्यों युक्त नहीं है ? उसके उत्तररूप दृष्टान्तसहित गाथा कहते हैं :–

रे ग्राम वर्णन करने से, भूपाल वर्णन हो न ज्यों ।
त्यों देहगुण के स्तवन से, नहिं केवलिगुण स्तवन हो ।।३०।।

गाथार्थ :–[**यथा**] जैसे [**नगरे**] नगर का [**वर्णिते अपि**] वर्णन करने पर भी [**राज्ञः वर्णना**] राजा का वर्णन [**न कृता भवति**] नहीं किया जाता, इसीप्रकार [**देहगुणे स्तूयमाने**] शरीर के गुण का स्तवन करने पर [**केवलिगुणाः**] केवली के गुणों का [**स्तुताः न भवन्ति**] स्तवन नहीं होता ।

टीका :–उपरोक्त अर्थ का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**इदं नगरम् हि**] यह नगर ऐसा है कि जिसने [**प्राकार-कवलित–अम्बरम्**] कोट के द्वारा आकाश को ग्रसित कर रखा है (अर्थात् इसका कोट वहुत ऊँचा है), [**उपवनराजी-निगीर्ण-भूमितलम्**] बगीचों की पंक्तियों से जिसने भूमितल को निगल लिया है, (अर्थात् चारों ओर बगीचों से पृथ्वी ढक गई है), और [**परिखावलयेन पातालम् पिबति इव**] कोट के चारों ओर की खाई के घेरे से मानों पाताल को पी रहा है (अर्थात् खाई बहुत गहरी है) ।।२५।।

(आर्या)

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥२६॥

इति शरीरे स्तूयमानेपि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेपि सुस्थितसर्वांगत्वलावण्यादिगुणाभावात्स्तवनं न स्यात् ।

इस प्रकार नगर का वर्णन करने पर भी उससे राजा का वर्णन नहीं होता, क्योंकि यद्यपि राजा उसका अधिष्ठाता है तथापि वह राजा कोट-बाग-खाई आदिवाला नहीं है ।

इसीप्रकार शरीर का स्तवन करने पर तीर्थङ्कर का स्तवन नहीं होता यह भी श्लोक द्वारा कहते हैं :-

श्लोकार्थ :-[जिनेन्द्ररूपं परं जयति] जिनेन्द्र का रूप उत्कृष्टतया जयवन्त वर्तता है, **[नित्यम्-अविकार-सुस्थित-सर्वांगम्]** जिसमें सभी अंग सदा अविकार और सुस्थित हैं, **[अपूर्व-सहज-लावण्यम्]** जिसमें (जन्म से ही) अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है (जो सर्वप्रिय है) और **[समुद्रं इव अक्षोभम्]** जो समुद्र की भाँति क्षोभरहित है, चलाचल नहीं है ॥२६॥

इसप्रकार शरीर का स्तवन करने पर भी उससे तीर्थंकर-केवली-पुरुष का स्तवन नहीं होता क्योंकि, यद्यपि तीर्थंकर-केवलीपुरुष के शरीर का अधिष्ठातृत्व है तथापि, सुस्थित सर्वांगता, लावण्य आदि आत्मा के गुण नहीं हैं इसलिये तीर्थंकर-केवलीपुरुष के उन गुणों का अभाव है ।

समयसार गाथा २९, ३० एवं कलश २५, २६ पर प्रवचन

[गुजराती प्रवचनरत्नाकर में गाथा २९, ३० एवं कलश २५ व २६ पर गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचन उपलब्ध नहीं हैं। यदि हैं भी तो पांच-सात पंक्तियों से अधिक नहीं हैं। जबकि पहले के प्रकाशित प्रवचन विस्तार से प्राप्त होते हैं। हिन्दी आत्मधर्म के सितम्बर, १९७९ के अंक में उक्त गाथाओं पर हुए गुरुदेव श्री के प्रवचन प्रकाशित हुए हैं। अत: यहाँ उन्हें ही दिया गया है। —सम्पादक]

सत्ताईसवीं गाथा में आचार्यदेव ने कहा था कि व्यवहारनय जीव और देह दोनों को एक कहता है और निश्चयनय दोनों को भिन्न कहता है। इसी सन्दर्भ में अट्ठाईसवीं गाथा में कहा गया था कि जीव से भिन्न देह

की स्तुति करके व्यवहारनय से साधु ऐसा मानते हैं कि हमने केवली भगवान की स्तुति की। अब उनतीसवीं गाथा में आचार्यदेव फरमाते हैं कि परमार्थ से शरीर की स्तुति करने से केवली भगवान के गुणों का स्तवन नहीं होता।

जिसप्रकार सोने में चाँदी के सफेद गुण का अभाव है, इसलिए निश्चय से सफेदी के नाम से सोने का नाम नहीं बनता, किन्तु सोने के पीतादि गुणों से ही सोने का नाम बनता है; उसीप्रकार तीर्थंकर-केवली-पुरुष में शरीर के शुक्ल-रक्तता आदि गुणों का अभाव है, अतः शुक्ल-रक्तता आदि गुणों का स्तवन करने से तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन नहीं होता।

देखो ! अट्ठाईसवीं गाथा में व्यवहारनय की कथनपद्धति बताते हुए कहा था कि सोने और चाँदी को गलाकर एक पिण्ड किया जाता है और उसे व्यवहार से श्वेतस्वर्ण कहा जाता है; परन्तु यहाँ कहते हैं कि सोने में श्वेत वर्ण का अभाव है, इसलिए निश्चय से सफेदी के नाम से सोने का नाम नहीं बनता। इसप्रकार पहले व्यवहार का स्थापन करके फिर निश्चय द्वारा उसका निषेध किया जाता है।

पहले कहा था कि मुनिराज शरीर के स्तवन द्वारा भगवान का स्तवन हुआ ऐसा व्यवहारनय से मानते हैं। अब यहाँ कहते हैं कि परमार्थ से शरीर का स्तवन करने से भगवान की सच्ची स्तुति नहीं होती।

जिसप्रकार स्वर्ण में चाँदी के गुणों का अभाव है; उसीप्रकार भगवान के आत्मा में उनके शरीर में पाए जाने वाले एक हजार आठ लक्षणों का अभाव है। शरीर और वाणी जड़ हैं, इसलिए भगवान के आत्मा में शरीर और वाणी का किंचित् भी कर्त्तृत्व नहीं है। अतः परमार्थ से शरीर और वाणी की स्तुति भगवान की स्तुति नहीं है।

शरीर का स्तवन करने से भगवान का स्तवन नहीं होता, परन्तु भगवान के आत्मा के गुणों का स्तवन करने से भगवान का स्तवन होता है। वास्तव में देखा जाए तो भगवान के गुणों का स्तवन करने से निश्चय से अपने आत्मा का ही स्तवन होता है और यही सच्ची परमार्थस्तुति है।

देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष्य से होने वाले शुभभावों को छोड़कर, स्वभाव की श्रद्धापूर्वक स्वरूप में स्थिर होना ही सच्ची परमार्थस्तुति है। जो स्वरूप में स्थिर होता है वह केवली के गुण गाता है अर्थात् वह स्वयं ही अंशतः केवली होता है। अपने में स्थिर हुआ सो स्वयं ही परमार्थ से अंशतः

भगवान हुआ। भगवान के लक्ष्य से होने वाले परसन्मुख राग को छोड़कर आंशिक वीतराग होना ही निश्चय से भगवान की स्तुति है। भगवान के गुणगान करते समय जो स्वभाव की दृष्टि हुई वह धर्म है और जो शुभभाव हुआ वह पुण्य है।

धर्म क्या है, और कैसे होता है? अनादिकाल से यह बात लोगों ने सुनी नहीं है, बाह्य क्रिया में ही लोगों ने धर्म मान रखा है। परन्तु आत्मा तो शरीराश्रित व्रतादि की क्रिया कर ही नहीं सकता, अतः बाह्य क्रिया में धर्म कैसे हो सकता है? देह से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा को पहिचानने से ही धर्म होता है।

जिसे आत्मानुभव होता है, उसे शुभभाव भी अलौकिक होता है। महाराजा श्रेणिक को आत्मप्रतीति की भूमिका में तीर्थंकर प्रकृति के बँधने योग्य शुभभाव हुए थे। आत्मानुभव बिना ऐसे शुभभाव भी नहीं होते।

लोग कहते हैं कि ऐसी बारीक बातें समझना तो कठिन मालूम होता है। इससे अच्छा तो व्रतादि पालें तो क्या धर्म नहीं हो सकता? परन्तु भाई! यह बातें कठिन नहीं, बल्कि प्रथम भूमिका की बातें हैं। मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है? बाह्य व्रतादि की क्रिया मैं कर सकता हूँ या नहीं? तथा व्रतादि के शुभभाव से मुझे धर्म होगा या पुण्य बन्ध होगा? इन सब बातों को पहले समझना पड़ेगा। यह समझे बिना अनन्त बार व्रतादि का शुभभाव भी किया, परन्तु अभी तक भव का अन्त नहीं आया।

सर्वप्रथम शरीर और आत्मा का भिन्न-भिन्न स्वरूप जानकर आत्मा का अनुभव करना चाहिए। इसलिए यहाँ समझाते हैं कि शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नहीं होता।

यह सुनकर शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभो! आत्मा तो शरीर का अधिष्ठाता—स्वामी है; इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन निश्चय से युक्त क्यों नहीं है? आत्मा शरीर की हलन-चलन आदि क्रियाओं का कर्त्ता होने से शरीर का अधिष्ठाता है—ऐसा सभी लोग मानते हैं, परन्तु आप शरीर के गुणों को भगवान के गुणों पर आरोपित करना उचित क्यों नहीं मानते? शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, ऐसी नई बात आपने कहाँ से ढूंढ़ निकाली?

आचार्यदेव शिष्य के उक्त प्रश्न का उत्तर तीसवीं गाथा में उदाहरण सहित देते हुए कहते हैं :—

जैसे नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं होता; उसीप्रकार देह के गुणों का स्तवन करने से केवली के गुणों का स्तवन नहीं होता।

जैसे कोई व्यक्ति नगर का वर्णन करे कि यह नगर बहुत सुन्दर है, इसमें सुन्दर-सुन्दर बाग-बगीचे हैं और बड़े-बड़े बाजार हैं; किन्तु इसप्रकार नगर के गुण गाने से राजा का गुण-गान नहीं होता। ऐसे सुन्दर नगर का राजा अधर्मी और लम्पटी तथा प्रजा पर अनुचित कर लगाने वाला हो सकता है; अथवा न्यायप्रिय, धर्मात्मा एवं नीतिवान भी हो सकता है। इसलिए नगर के वर्णन से राजा का वर्णन नहीं होता, क्योंकि नगर और राजा दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

राजा का वर्णन तो राजा के गुणों के कथन से होता है कि यह राजा अत्यन्त शीलवान, नीतिवान, उदार व शूरवीर है। नगर की प्रशंसा से राजा का वर्णन नहीं होता।

जिसप्रकार नगर के वर्णन से राजा का वर्णन नहीं होता; उसीप्रकार भगवान के शरीर के वर्णन से भगवान का गुणगान नहीं होता। देह और आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों अपेक्षा से परस्पर भिन्न-भिन्न ही हैं, इसलिए आत्मा शरीर का अधिष्ठाता नहीं है।

शरीर तो अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध है। परमाणु वस्तु है, उसमें रंग-गंध आदि अनन्त गुण हैं। तथा लाल-पीला, सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि रंग और गन्ध गुण की पर्यायें हैं। वस्तु और गुण स्थाई हैं तथा पर्याय प्रतिक्षण बदलती रहती है। शरीर तो परमाणुओं की अवस्था है, परमाणुओं की अवस्था स्वतन्त्रतया अपनी योग्यता से स्वयं होती है, शरीररूप अवस्था आत्मा के कारण नहीं होती।

आत्मा भी वस्तु है, उसमें ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुण की अवस्था निरन्तर बदलती रहती है। आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र, सहज आह्लादरूप आनन्द आदि अनन्त शक्तियों का अखण्ड घनपिण्ड अतीन्द्रिय महापदार्थ है, उसकी रुचि करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि निर्मल अवस्थाएं प्रकट होती हैं। परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मा को भूल कर देह में एकत्वबुद्धि करने से मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयमरूप पर्यायें प्रकट होती हैं। जिसकी जैसी रुचि होती है उसकी वैसी ही अवस्था होती है। यह आत्मा मिथ्या रुचि से मलिन अवस्था को अथवा सम्यक् रुचि में निर्मल पर्याय को प्राप्त होता है, किन्तु जड़ की अवस्था का कर्त्ता

तो त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। अज्ञानी भ्रान्तिवश आत्मा को पर का कर्त्ता मानता है; परन्तु देह और आत्मा वस्तुदृष्टि से, गुणदृष्टि से और पर्यायदृष्टि से सभीप्रकार भिन्न ही है; इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता :

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, खण्डेलवाल, अग्रवाल आदि शरीर की अवस्थाओं को आत्मरूप अनुभव करना मिथ्यात्व है, क्योंकि आत्मा ब्राह्मण, वैश्य आदि नहीं है तथा वह किसी जाँत-पाँतवाला भी नहीं है। आत्मा तो सहज ज्ञान-आनन्द-वीर्यादि अनन्तगुणों की मूर्ति है।

द्रव्य और गुणों की अपेक्षा तो सभी आत्माएँ समान हैं; परन्तु पर्याय में संसार और मोक्ष ऐसी दो प्रकार की अवस्थाएँ हैं। आत्मा की प्रतीति करने से मुक्ति और आत्मा को भूलने से संसार है। विपरीत दृष्टि से ही संसार और आत्म-सम्मुख दृष्टि ही मोक्ष है।

जगत को ऐसा मिथ्या विश्वास जम गया है कि आत्मा की इच्छानुसार शरीर में हलन-चलनादि क्रिया होती है। परन्तु भाई ! शरीर के रजकणों की अवस्था शरीर के कारण होती है। श्वास चढ़ना, कफ निकलना, पसीना निकलना, आँख की पलकों का हिलना आदि क्रियाओं का कर्त्ता शरीर ही है। बाल, युवा और वृद्धपना आदि शरीर की ही अवस्थायें हैं। युवावस्था छोड़कर वृद्धावस्था कौन चाहता है ? फिर भी इच्छा बिना वृद्धावस्था तो आती ही है। दाँतों का गिरना, आँखों से दिखाई न देना, कानों से सुनाई न देना आदि शारीरिक परिवर्तन आत्मा की इच्छा बिना शरीर की योग्यता से स्वयं ही होते हैं। यदि आत्मा की इच्छानुसार शरीर का परिणमन हो तो किसी की भी वृद्धावस्था नहीं आना चाहिए; परन्तु वृद्धावस्था न चाहने पर भी आए बिना नहीं रहती। अरे ! युवावस्था में सर्व अनुकूल संयोग होने पर भी आयु पूर्ण होने पर मरना पड़ता है। अपनी इच्छा से शरीर का कुछ भी परिणमन नहीं होता।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आत्मा शरीर का अधिष्ठाता किंचित् भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि शरीर के स्तवन से भगवान के आत्मा का किंचित् भी स्तवन नहीं होता।

जो भगवान के आत्मा को जानता है वह अपने आत्मा को जानता है। 'जैसा भगवान का शान्त, निर्विकारी और वीतरागी स्वरूप है वैसा ही मैं हूँ'; इसप्रकार निर्णयपूर्वक जो भगवान की प्रतिमा आदि के लक्ष से शुभ भाव होते हैं, वह व्यवहार से भगवान की स्तुति है।

जिसप्रकार भगवान का आत्मा शुभाशुभभावों से रहित है; उसीप्रकार मेरा आत्मा भी शुभाशुभभाव रहित है – ऐसा निश्चय न करे और मात्र भगवान के शरीर के लक्ष्य से स्तुति करे तो वह व्यवहार से भी स्तुति नहीं है, मात्र शुभभाव है। जहाँ निश्चय होता है, वहीं व्यवहार होता है और जहाँ निश्चय नहीं है, वहाँ व्यवहार भी नहीं होता।

कई लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान हमें मुक्ति दे देंगे, परन्तु यह कभी भी सम्भव नहीं है; क्योंकि भगवान का सत्त्व अलग है तथा हमारा सत्त्व अलग है। प्रत्येक पदार्थ का सत्त्व पृथक् ही है, उसमें कोई कुछ कर नहीं सकता। यदि कोई आत्मा दूसरे का कुछ कर सकता होवे तो एक आत्मा आकर मुक्ति देगा और दूसरा आत्मा आकर उसे नरक में ढकेल देगा। इसप्रकार प्रत्येक सत्त्व की स्वतन्त्रता का विनाश प्राप्त होता है।

जगत में कोई किसी का उपकार नहीं करता है। जब यह आत्मा स्वयं अपने द्वारा देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप और अपने आत्मा का स्वरूप निश्चित करता है, तब उपचार से देव-शास्त्र-गुरु के द्वारा उपकार हुआ कहलाता है। यद्यपि यथार्थ समझ देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त बिना होती नहीं; तथापि देव-शास्त्र-गुरु से भी नहीं होती। कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन नहीं है।

जब आत्मा में ऐसी प्रतीति होती है कि 'मैं शान्त हूँ, निर्मल हूँ, अविकारी हूँ, पुण्य-पाप आदि विकारी भावों से पृथक् हूँ' – तब व्यवहार से देव-शास्त्र-गुरु पर आरोप किया जाता है। तथा वही आत्मा अत्यन्त विनम्र होकर कहता है कि 'हे प्रभो ! आपने मुझ पर बहुत उपकार किया है, आपने मुझे तार दिया, निहाल कर दिया' – इसप्रकार जो शुभभाव होते हैं, वे व्यवहार से स्तुति नाम पाते हैं।

विकारी शुभभाव करते-करते अविकारी शुद्धभाव की प्राप्ति हो– ऐसा तीन लोक और तीन काल में कभी भी नहीं बन सकता।

ज्ञान में हमने कभी सत्य को स्वीकार ही नहीं किया है और सत्य को स्वीकार किये बिना मुक्ति भी कभी नहीं हो सकती।

आत्मा परपदार्थों का तो कुछ भला-बुरा कर नहीं सकता; परन्तु 'मैं पर का भला कर दूँ, तथा मैं पर का बुरा कर दूँ'–इसप्रकार के शुभाशुभभाव करता है जो कि वस्तुस्वरूप के विपरीत होने से असत्य हैं। और इसप्रकार असत्य भावों का आश्रय करने से मुक्ति भी कभी नहीं हो सकती।

जगत के जीवों ने अनादिकाल से यह जान नहीं पाया कि सत्य क्या है, तत्त्व क्या है, वस्तु-स्वरूप क्या है, धर्म क्या है ? और न ही कभी इन्हें जानने की जिज्ञासा ही की है। परपदार्थों में ही इसकी करने-करने की बुद्धि है और वैसी ही श्रद्धा है। यदि एक बार यथार्थ जानकारी होकर श्रद्धा स्वभाव की ओर गुलांट मारे तो अनादि विपरीत श्रद्धा का नाश होकर यथार्थ श्रद्धा प्रकट हो जाये और मुक्ति का मार्ग खुल जाये।

इसप्रकार आचार्यदेव ने शिष्य को दृष्टान्त देकर समझाया है कि– जिसप्रकार नगर का वर्णन करने से उस नगर के राजा का वर्णन नहीं होता; उसीप्रकार शरीर की स्तुति से आत्मा की यथार्थ स्तुति नहीं होती।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने नगर का उदाहरण दिया। अतः आचार्य अमृतचन्द्रदेव नगर का वर्णन करते हुए कलश करते हैं :–

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ।।२५।।

यह नगर ऐसा है कि जिसने अपने कोट के द्वारा मानों आकाश को ग्रसित कर लिया है, बाग-बगीचों की पंक्तियों के द्वारा मानों भूमितल को निगल लिया है तथा कोट के चारों तरफ की खाईयों के द्वारा मानों पाताल को पी लिया है।

आचार्यदेव नगर की महिमा गाते हुए कहते हैं कि इस नगर का कोट बहुत ऊँचा है, जिससे ऐसा लगता है कि मानों कोट ने सारा आकाश ग्रसित कर लिया है; राज्य के सारे क्षेत्र में बाग-बगीचों का ही साम्राज्य है, नगर का थोड़ा भाग भी बाग-बगीचों से रिक्त दिखाई नहीं देता तथा नगर के चारों ओर की खाई अत्यन्त गहरी है, उसकी गहराई का पार दिखाई नहीं पड़ता। इसीलिए आचार्य उपमा देते हैं कि मानों उसकी गहराई पाताल तक पहुँच गई है। इसप्रकार उर्ध्व, मध्य और अधः तीनों ओर से नगर की उपमा दी है।

आचार्यदेव उक्त प्रकार नगर का वर्णन करने के पश्चात् कहते हैं कि इससे राजा का वर्णन नहीं हो सकता। यद्यपि नगर के संयोग के निमित्त से राजा उसका अधिष्ठाता व्यवहार से कहलाता है, तथापि राजा को ऐसा अभिमान होता है कि मैं इस नगर का मालिक हूँ, स्वामी हूँ। आचार्यदेव तर्क प्रस्तुत करते हैं कि राजा व्यवहार से नगर का अधिष्ठाता होने पर भी, राजा में कोट-बाग-खाई आदि का अभाव होने से, नगर के वर्णन से राजा का वर्णन कदापि नहीं हो सकता है। यदि राजा कोट-

बाग-खाई आदि वाला स्वयं हो जावे तो कोट-बाग-खाई के वर्णन से राजा का वर्णन अवश्य हो सकता है; परन्तु राजा के शरीर में या उसके आत्मा में कोट-बाग-खाई आदि कुछ भी नहीं हैं, राजा और नगर भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। इससे सिद्ध हुआ कि नगर के वर्णन से राजा का वर्णन नहीं होता।

उक्त सम्पूर्ण उदाहरण से आचार्यदेव सिद्ध करते हैं कि शरीररूपी नगर के स्तवन से भी आत्मारूपी राजा का स्तवन नहीं होता। यही बात श्लोक द्वारा कहते हैं :–

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ।।२६।।

जिसके सर्व अंग सदा अविकार और सुस्थित हैं, जिसमें अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है, और जो समुद्र की भाँति क्षोभरहित है–ऐसा जिनेन्द्र का परमरूप जयवन्त हो।

उक्त श्लोक में जिनेन्द्र भगवान के शरीर का स्तवन किया गया है, जो इसप्रकार है :–

जिनेंद्र भगवान का उत्कृष्टरूप सदा जयवन्त हो। देवों और इन्द्रों के शरीर से भी अधिक कांति और तेज तीर्थंकरदेव के शरीर में होता है, उनका रूप भी इन्द्रों तथा देवों से अधिक उत्कृष्ट रहता है। जिनेंद्र भगवान के शरीर को अविकार कहा गया है। वह इसलिए कहा गया है कि कि सामान्यजनों का रूप बदलता रहता है। युवावस्था में जो रूप होता है; वह वृद्धावस्था में नहीं रहता–बदल जाता है; किन्तु जिनेंद्र भगवान का रूप तथा शरीर की सुन्दरता अन्त तक ज्यों की त्यों जयवन्त रहती है। इसीलिए जिनेंद्र भगवान के सर्व अवयव अविकार रहते हैं – ऐसा कहा गया है।

भगवान के समस्त अंग सुस्थित होते हैं। उनके अंगों में कहीं भी कोई दूषण नहीं होता, और जिस स्थान पर जैसा जो सुन्दर अवयव चाहिए सो वैसा ही होता है। भगवान के शरीर में जन्म से ही स्वाभाविक अपूर्व लावण्य होता है, जिस देखकर इन्द्र भी स्तम्भित रह जाता है तथा हजार-हजार नेत्र बनाकर भगवान के रूप का अवलोकन करता है।

तीर्थंकर बाल्यावस्था से ही ऐसी मधुर वाणी बोलते हैं कि वह सबको अत्यन्त प्रिय मालूम पड़ती है। भगवान का शरीर बिना आभूषणों के ही सुशोभित रहता है, शरीर की सुन्दरता के लिए कोई कृत्रिम शृंगार

नहीं बनाना पड़ता। उनका शरीर शुरू से ही समुद्र की भांति अत्यन्त गम्भीर, क्षोभरहित होता है। बाहर की भौतिकता की चकाचौंध से उनका शरीर लेशमात्र भी विकृति को प्राप्त नहीं होता अर्थात् शरीर में कौतूहल, विस्मय और आश्चर्य के चिह्न दिखाई नहीं देते। ऐसा भासित होता है मानों वे जगत के सम्पूर्ण अनुभव प्राप्त करके कृतकृत्य हो गये हों।

उक्त प्रकार से शरीर का वर्णन करने पर भी आचार्यदेव फरमाते हैं कि इससे तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन नहीं होता। यद्यपि व्यवहार से तीर्थंकर-केवलीपुरुष के शरीर का अधिष्ठातृत्व है; तथापि सुस्थित, सर्वांगता, लावण्य आदि आत्मा के गुण नहीं है। अतः तीर्थंकर-केवलीपुरुष के उन गुणों का अभाव है।

यहाँ प्रश्न है कि यद्यपि तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन शरीर के स्तवन से नहीं होता; तथापि उनके बाह्य में ऐसे अविकार, सुस्थित, लावण्यमय शरीर क्यों होता है? सामान्यजन के ऐसे शरीरादि क्यों नहीं होते?

उसका उत्तर इसप्रकार है कि त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव पूर्वभव में जब पवित्रदशा में आगे बढ़ रहे हों, तब उस भूमिका में उनके शुभभाव भी उत्कृष्ट जाति के होते हैं, जिससे अलौकिक पुण्य का बंध तथा तीर्थंकर आदि पुण्य-प्रकृति का बंध होता है, जिससे वर्त्तमान में उनके ऐसे अपूर्व लावण्यादि विशेषताओं वाला शरीर होता है।

यहाँ पर जितनी भी प्रशंसा की गई है, वह सब केवली भगवान के शरीर की प्रशंसा की गई है; उसमें भगवान के आत्मा की कोई प्रशंसा नहीं आई। शरीर और आत्मा बिल्कुल भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, इसीलिए दोनों के गुण भी बिल्कुल पृथक-पृथक ही होते हैं। एक के गुणों के स्तवन से दूसरे के गुणों का स्तवन नहीं होता। अतः यदि हम शरीर के गुणों के स्तवन में ही लग जावें तो उससे भगवान के आत्मा का स्तवन कदापि नहीं हो सकता।

अज्ञानी इसप्रकार वस्तु के वास्तविक स्वरूप को न समझकर ऐसा मानता है कि भगवान मुझे संसार-सागर से पार कर देंगे अर्थात् वह अपने को बिल्कुल दीन-हीन मानता है। अपनी सामर्थ्य का उसे बिल्कुल पता नहीं है, जगत के प्रत्येक पदार्थ की अनन्त स्वतन्त्रता का उसे भान नहीं है। कविवर बनारसीदासजी ने कहा है :–

"दीन भयो प्रभुपद जपै मुक्ति कहाँ से होय।"

फिर भी यह अज्ञानी दीन-हीन होकर कहता है कि हे प्रभु ! मुझे मुक्ति दीजिए। किन्तु भगवान के पास तेरी मुक्ति कहाँ है। तेरी मुक्ति तो तुझ में ही है। भगवान कहते हैं कि 'प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, मैं भी स्वतन्त्र हूँ और तू भी स्वतन्त्र है, तेरी मुक्ति तुझमें ही है।'

आत्मा अपने निर्मल, ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व की ओर उन्मुख न होकर मात्र पर-प्रभु को भजता रहेगा तो उसे कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकेगी। जब राग-द्वेष से विमुक्त अपने स्वभाव का निर्णयपूर्वक अनुभव कर लिया जाता है, तब भगवान पर आरोपित करके विनयपूर्वक यह कहा जाता है कि भगवान ने मुझे मुक्ति का मार्ग बताया – यह शुभ-भाव होने से व्यवहार-स्तुति है।

व्यवहार-स्तुति भी शुभभावरूप विकारी परिणाम रूप होती है तथा जब उसका भी परित्याग करके आत्मा स्वरूप में स्थिर होता है, तब परमार्थस्तुति होती है – इसका स्वरूप आगे की गाथाओं में आचार्यदेव स्पष्ट करेंगे।

तन चेतन व्यवहार एक से,
निहचै भिन्न-भिन्न हैं दोइ।
तन की थुति विवहार जीव थुति,
नियतदृष्टि मिथ्या थुति सोइ॥
जिन सो जीव जीव सो जिनवर,
तन जिन एक न माने कोइ।
ता कारन तन की संस्तुति सौं,
जिनवर की संस्तुति नहिं होइ॥

– समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द ३०

अथ निश्चयस्तुतिमाह ।

तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत् –

जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ।।३१।।

य इंद्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम् ।
तं खलु जितेन्द्रियं ते भणन्ति ये निश्चिताः साधवः ।।३१।।

यः खलु निरवधिबंधपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यासकौशलोपलब्धांतः स्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावावष्टंभबलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येन्द्रियाणि प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायि-

---

अब (तीर्थंकर – केवली की) निश्चय स्तुति कहते हैं । उसमें पहले ज्ञेय-ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करके स्तुति करते हैं : –

कर इन्द्रिजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को ।
निश्चयविषैं स्थित साधुजन, भाषैं जितेन्द्रिय उन्हीं को ।।३१।।

गाथार्थ :– [**यः**] जो [**इन्द्रियाणि**] इंद्रियों को [**जित्वा**] जीतकर [**ज्ञानस्वभावाधिकं**] ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक [**आत्मानम्**] आत्मा को [**जानाति**] जानते हैं, [**तं**] उन्हें [**ये निश्चिताः साधवः**] जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं, [**ते**] वे [**खलु**] वास्तव में [**जितेन्द्रियं**] जितेन्द्रिय [**भणंति**] कहते हैं ।

टीका :– (जो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को – तीनों को अपने से अलग करके समस्त अन्यद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे मुनि निश्चय से जितेन्द्रिय हैं ।) अनादि अमर्यादरूप बंधपर्याय के वश जिसमें समस्त स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है (अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही हैं कि भेद दिखाई नहीं देता) ऐसी शरीरपरिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियों को तो निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त, अन्तरङ्ग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्य-स्वभाव के अवलम्बन के बल से सर्वथा अपने से अलग किया; सो वह द्रव्ये-न्द्रियों को जीतना हुआ । भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयों में व्यापारभाव से

तया खंडशः आकर्षंति प्रतीयमानाखंडैकचिच्छक्तितया भावेंद्रियाणि ग्राह्यग्राहकलक्षणसंबंधप्रत्यासत्तिवशेन सह संविदा परस्परमेकीभूतानिव चिच्छक्तेः स्वयमेवानुभूयमानासंगतया भावेन्द्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शादीनिंद्रियार्थांश्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्योपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतःसिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन सर्वेभ्यो द्रव्यांतरेभ्यः परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुतिः ।

जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं (ज्ञान को खंड-खंडरूप बतलाती हैं) ऐसी भावेन्द्रियों को, प्रतीति में आती हुई अखंड एक चैतन्यशक्ति के द्वारा सर्वथा अपने से भिन्न जाना; सो यह भावेन्द्रियों का जीतना हुआ। ग्राह्य-ग्राहकलक्षणवाले सम्बन्ध की निकटता के कारण जो अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसी हुई दिखाई देती हैं, ऐसी भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुये, इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थों को, अपनी चैतन्यशक्ति की स्वयमेव अनुभव में आनेवाली असंगता के द्वारा सर्वथा अपने से अलग किया; सो यह इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का जीतना हुआ। इसप्रकार जो (मुनि) द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को (तीनों को) जीतकर ज्ञेय-ज्ञायकसंकर नामक दोष आता था, सो सब दूर होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व अन्यद्रव्यों से परमार्थ से भिन्न ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करते हैं; वे निश्चय से जितेन्द्रिय जिन हैं। (ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है, इसलिए उसके द्वारा आत्मा सब से अधिक अर्थात् भिन्न ही है।) कैसा है वह ज्ञानस्वभाव? विश्व के (समस्त पदार्थों के) ऊपर तैरता हुआ (उन्हें जानता हुआ, पर उनरूप न होता हुआ) प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अन्तरङ्ग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्ध और परमार्थरूप— ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।

इसप्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई।

(ज्ञेयरूप द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का और ज्ञायकस्वरूप स्वयं आत्मा का—दोनों का अनुभव विषयों की आसक्ति से एकसा होता था; जब भेदज्ञान से भिन्नत्व ज्ञात किया, तब वह ज्ञेयज्ञायक-संकरदोष दूर हुआ—ऐसा यहाँ जानना।)

गाथा ३१ की टीका पर प्रवचन

शरीर जड़परमाणुओं का स्कन्ध है, तथा पाँच इन्द्रियाँ जड़शरीर के परिणाम हैं। शरीर के परिणाम को प्राप्त जड़-इन्द्रियों को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। ये द्रव्येन्द्रियाँ आत्मा के परिणाम (पर्याय) नहीं हैं। जड़-द्रव्येन्द्रियों को जीतना अर्थात् इन द्रव्येन्द्रियों से भिन्न परिपूर्ण एक ज्ञायकस्वभावी आत्मा का अनुभव करना ही निश्चय से भगवान-केवली की स्तुति है। जब निजस्वरूप का आदर किया एवं उसमें एकाग्र हुआ, तब ही भगवान की स्तुति की—ऐसा कहा जाता है। तथा यही सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की प्रथम सीढ़ी है।

अब द्रव्येन्द्रियों को कैसे जीतना ? इसकी विशेष बात करते हैं। टीका में ऐसा लिया है कि 'निरवधि बंधपर्यायवशेन' अर्थात् अनादि अमर्यादित बंधपर्याय के वश से। देखो ! आचार्य कहते हैं कि कर्म के बंध की मर्यादा नहीं है, वह अनादि से अमर्यादरूप है। जैसे—खान में सोना और पत्थर दोनों अनादि से मिले हुए हैं; उसीप्रकार आनंदस्वरूप भगवान आत्मा में निमित्तरूप जड़कर्म की बंध-अवस्था अनादि से है। अज्ञानी जीव बंधपर्याय के कारण से नहीं, किन्तु बंधपर्याय के वश होकर पर को निज मानता है। भगवान आत्मा चिद्घन ज्ञायकस्वरूप है, उसके अनुभव से सम्यग्दर्शन व धर्म प्रगट होता है; परन्तु अज्ञानीजीव जड़कर्म के वश होकर अधर्म का सेवन करता है। अज्ञानीजीव की पर्याय में पर के वश होनेरूप स्वयं की योग्यता है, इसकारण वह पर के वश होकर रागादि करता है। प्रवचनसार में ४७ नय कहे हैं। उनमें एक 'ईश्वर नय' है। उसमें यह बात की है। कर्म का उदय विकार नहीं कराता है; बल्कि अज्ञानीजीव कर्म के उदय के वश होकर जड़-इन्द्रियों को निज की मानता है, इसकारण अज्ञानी को विकार होता है। टीका में 'बंधपर्यायवशेन' ऐसा शब्द है। इसका अर्थ यह है कि बंधपर्याय से विकार नहीं होता, किन्तु बंधपर्याय के वश होकर अज्ञानीजीव स्वयं विकाररूप परिणमन करता है।

अहो ! दिगम्बर संतों ने तो जहाँ देखो वहाँ (सर्वत्र) स्वतंत्रता का ही वर्णन किया है। अजीवतत्त्व व विकाररूप आस्रवतत्त्व की स्वतंत्रता की भी जिसको खबर नहीं है, उसे आनंदकंद भगवान ज्ञायकतत्त्व स्वतंत्र है, इसकी दृष्टि कैसे हो ? निमित्त के वश होकर विकार होता है—ऐसा न मानकर, उसके कारण विकार होता है, ऐसा मानने में बहुत बड़ा पूर्व-पश्चिम जितना अंतर है। भाई ! यह तो सर्वज्ञभगवान का माल है, संत उसे आढ़तिया बनकर बताते हैं।

समवशरण में भगवान की दिव्यध्वनि – ॐकार ध्वनि बिना इच्छा के खिरती है। बनारसीविलास में आया है :–

'मुख ॐकार धुनि सुनि, अर्थ गणधर विचारें'।

हम-तुम जैसे बोलते हैं, वैसे भगवान नहीं बोलते। उनके कण्ठ व होंठ हिलते-डुलते नहीं हैं। 'ॐ' ऐसी ध्वनि अंदर से समस्त-शरीर में से निकलती है, फिर उसमें से गणधरदेव बारह अंगरूप श्रुत की रचना करते हैं।

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा आनंद का कंद घनपिण्ड अखण्ड एक ज्ञायकभावस्वरूप वस्तु है। उसका आश्रय छोड़कर कर्मोदय के वश होकर जड़-इन्द्रियों को निज मानना मिथ्याभाव है। इसीके कारण स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है। बंधपर्याय के कारण मिथ्याभाव नहीं होता, किन्तु बंधपर्याय के वश होने से मिथ्याभाव होता है।

'समस्त स्व-पर का विभाग अस्त हो गया', ऐसा वाक्य है। इसका अर्थ यह है कि ज्ञायकस्वरूप जीव 'स्व' है और जड़-इन्द्रियाँ 'पर' हैं; उन दोनों का भिन्नपना पूरीतरह अस्त हो गया है। इसकारण 'ये जड़-इन्द्रियाँ ही मैं हूँ' – ऐसा अज्ञानी मानता है। वह जीव और अजीव को एकपने मानता है। कर्मबंध की पर्याय के वश होकर अज्ञानीजीव, भगवान आत्मा ज्ञायकभाव और शरीरपरिणाम को प्राप्त जड़-इन्द्रियाँ – दोनों में भेद नहीं करता, किन्तु जड़ की पर्याय को ही अपनी मानता है। अजीव को जीव मानना या जीव को अजीव मानना – यही मिथ्यात्व है।

अहो ! सन्त आत्मा को 'भगवान' कहकर सम्बोधन करते हैं 'भग' अर्थात् लक्ष्मी तथा 'वान' अर्थात् वाला। आत्मा अनन्तज्ञान और अनन्त-आनंद की लक्ष्मीवाला भगवान है। यह तो उन वीतराग जैन परमेश्वर की बात है, जिनके पास इन्द्र भी सामान्यजन की तरह वाणी सुनने बैठते हैं।

स्वयं कौन है – यह भान नहीं होने से कर्म की बंधपर्याय के वश होकर अज्ञानी जीव जड़-इन्द्रियों को अपनी मानता है। 'मेरी आँख ऐसी है, मेरा कान ऐसा है, मेरी नाक ऐसी है', इत्यादि प्रकार से अपने को मानता है। किन्तु भाई ! ये इन्द्रियाँ तेरी कब थीं ? गाथा १९ में आ चुका है कि जबतक इस आत्मा को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और 'मेरे में कर्म-नोकर्म हैं' – ऐसी बुद्धि है, तबतक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है। भाई ! यह शरीर तो जड़,

माटी, धूल है। यह मिट्टी की काया अन्त में जलकर राख हो जाती है और उसे भी पवन उड़ा ले जाता है। कहा भी है :-

'रजकरण तारां रखड़शे, जेम रखड़ती रेत।
पछी नरतन पामीश क्यां ? चेत, चेत, नर चेत ।।'

सन्त जगत को सर्वज्ञ की वाणी के प्रवाह का भाव प्रकट करते हैं। भाई ! शरीर की अवस्था को प्राप्त जो जड़-द्रव्येन्द्रियाँ हैं, उन्हें अपने से एकरूप मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है, अधर्म है। उन द्रव्येन्द्रियों की स्वयं से भिन्नता कैसे हो ? यह बात यहाँ करते हैं। धर्मी निर्मल भेद-अभ्यास की प्रवीणता से द्रव्येन्द्रिय को पृथक् करता है अर्थात् भिन्न जानता है। 'मैं ज्ञायक हूँ', 'शरीर की जो अवस्था है, वह मैं नहीं हूँ – ऐसा स्वसंवेदन-ज्ञान, वह निर्मल भेदज्ञान है। इन्द्रियाँ पर और मैं स्व – इसप्रकार मात्र विकल्प द्वारा धारणा करना, वह कोई निर्मल भेदज्ञान नहीं है।

यह जीव धर्म कैसे प्रगट करे, यहाँ तो यह बात करते हैं। बात तो क्रम से समझाते हैं, किन्तु अन्दर में क्रम नहीं है। समझाने में क्रम पड़ता है, भाषा में क्रम पड़ता है, किन्तु वस्तु सबसे एकसाथ ही भिन्न है। निर्मल भेद-अभ्यास अर्थात् पर से भेद करने का अभ्यास। उस निर्मल भेद-अभ्यास की प्रवीणता से अर्थात् ज्ञान की पर्याय को ज्ञायक की ओर ढालने से अन्दर में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव प्राप्त होता है और उसके अवलम्बन के बल से द्रव्येन्द्रियों को सर्वथा अपने से भिन्न करता है। कथञ्चित् भिन्न करता है, ऐसा नहीं कहा है; बल्कि सर्वथा भिन्न करता है, ऐसा कहा है। शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियाँ अति-स्थूल व जड़ हैं। तथा निर्मल भेद-अभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अन्तरङ्ग में प्रगट द्रव्यस्वभाव अतिसूक्ष्म और चैतन्य स्वरूप है। ऐसे अन्तरङ्ग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से द्रव्येन्द्रियों को भिन्न किया जाता है। द्रव्येन्द्रियाँ तो भिन्न हैं ही परन्तु जब भेदज्ञान द्वारा उनसे भिन्नता जानी जाती है तब द्रव्येन्द्रियों को भिन्न किया – ऐसा कहा जाता है। यह सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की कला है। जगत में जीव ऐसी बात तो सुनते नहीं है और बेचारे दिन-रात व्यापार-धंधे में लगे रहते हैं, वे धर्म कैसे कर सकते हैं ? अरे आत्मा के ज्ञान बिना जिन्दगी व्यर्थ चली जा रही है।

अनादि से अज्ञानी-जीव जड़-शरीर को और आत्मा को एक मानता आ रहा है। उससे श्रीगुरु कहते हैं कि प्रभु ! तू इन्द्रियों से भिन्न है।

तब वह श्रीगुरु की बात धारणा में लेकर अन्तर में एकाग्र होने का प्रयोग करता है। अन्तर में अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव वस्तुरूप से प्रगट है। उसे निर्मल भेद-अभ्यास की **प्रवीणता से प्राप्त** करके, उसमें एकाग्र होने से, उसका आश्रय करने से **द्रव्येन्द्रियाँ सर्वथा** पृथक् हो जाती हैं। यही सम्यग्-दर्शन अर्थात् धर्म की **प्रथम सीढ़ी को** प्राप्त करने की रीति है। देखो! कितनी बातें की हैं? कर्म के उदय के वश होने से विकार होता है। मिथ्यात्व के कारण जीव स्व को व द्रव्येन्द्रियों को एक मानता है, पृथक्ता या भिन्नपना नहीं मानता। शरीरपरिणाम को प्राप्त जड़-इन्द्रियों को स्व से भिन्न करने का अभ्यास निर्मल भेदज्ञान है; ऐसे निर्मल भेदज्ञान से प्राप्त, अन्तरङ्ग में प्रगट, अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होने पर द्रव्येन्द्रियों से भिन्नता भासित होने लगती है। यही धर्म प्राप्त करने की रीति है।

अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव अन्दर में वस्तुरूप से प्रगट है। गाथा ४९ में उसे अव्यक्त कहा है। वहाँ व्यक्त पर्याय की अपेक्षा से चैतन्य स्वभाव को अव्यक्त कहा है। वस्तुरूप से तो वह प्रगट, सत्, मौजूद, अस्ति रूप से विद्यमान है। ऐसे अन्तरंग में विद्यमान अति-सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से द्रव्येन्द्रियों को निज से सर्वथा पृथक् करना अर्थात् पृथक् जानना ही द्रव्येन्द्रियों को जीतना कहलाता है। कान में कील डाल लेना या आँखें बन्द कर देना – इत्यादि जितेन्द्रियपना नहीं हैं। द्रव्येन्द्रियाँ किसे कहते हैं, अभी तो लोगों को इसकी भी खबर नहीं है, तो वे द्रव्येन्द्रियों को किसप्रकार जीतेंगे?

अब भावेन्द्रियों को जीतने की बात करते हैं। अपने-अपने विषयों में अलग-अलग व्यापार करके जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं, वे भावेन्द्रियाँ हैं। कान का क्षयोपशम शब्द को जानता है, आँख का क्षयोपशम रूप को जानता है, स्पर्शन-इन्द्रिय का क्षयोपशम स्पर्श को जानता है, इसप्रकार अपने-अपने विषयों में व्यापार करके जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं, वे भावेन्द्रियाँ हैं। यह बाह्य-इन्द्रियों की बात नहीं है। प्रत्येक इन्द्रिय अपना-अपना व्यापार करती है, इससे वह ज्ञान को खण्ड-खण्ड रूप से बताती है। जिसप्रकार द्रव्येन्द्रियों को और आत्मा को एकपने मानना अज्ञान है, उसीप्रकार ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप से बताने वाली भावेन्द्रियों को और ज्ञायक को एक मानना भी मिथ्यात्व है, अज्ञान है। अलग-अलग अपने-अपने विषयों को जो खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं

और अखण्ड एकरूप ज्ञायक को खण्ड-खण्ड रूप बताती हैं, उन भावेन्द्रियों की ज्ञायक आत्मा के साथ एकता स्थापित करना मिथ्यात्व है।

द्रव्येन्द्रियाँ शरीर-परिणाम को प्राप्त हैं, तथा भावेन्द्रियाँ ज्ञान के खण्ड-खण्ड परिणाम को प्राप्त हैं। जो ज्ञान एक-एक खण्ड-खण्ड रूप से विषय को जनावे, अंशी (ज्ञायक) को पर्याय में खण्डरूप से जनावे; वह भावेन्द्रिय है। जैसे जड़-द्रव्येन्द्रियाँ ज्ञायक की अपेक्षा परज्ञेय हैं, उसीप्रकार भावेन्द्रियाँ भी ज्ञायक की अपेक्षा परज्ञेय हैं। यहाँ ज्ञेय-ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करते हैं। जैसे शरीर-परिणाम को प्राप्त ज्ञेय जड़-इन्द्रियाँ और ज्ञायक आत्मा भिन्न हैं, उसीप्रकार भावेन्द्रियाँ भी परज्ञेय हैं और ज्ञायक आत्मा भिन्न है। यहाँ अखण्ड एक चैतन्यशक्तिपने की प्रतीति पर जोर दिया है। पहले द्रव्येन्द्रियों को भिन्न करने के लिए इस ज्ञायक-स्वभाव के अवलम्बन का बल लिया है। ज्ञायकभाव एक और अखण्ड है, जबकि भावेन्द्रियाँ अनेक और खण्ड-खण्डरूप हैं। अखण्ड एक ज्ञायक-भावरूप चैतन्यशक्ति की प्रतीति होने पर अनेक व खण्ड-खण्डरूप भावेन्द्रियाँ पृथक् हो जाती हैं; भिन्न ज्ञात होती हैं। इसप्रकार अखण्डज्ञायकभाव की प्रतीति से खण्ड-खण्ड ज्ञान व परज्ञेयस्वरूप भावेन्द्रियों को सर्वथा भिन्न करना, यह भावेन्द्रियों को जीतना है।

इस गाथा में ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष के परिहार की बात है। शरीर-परिणाम को प्राप्त जड़-इन्द्रियाँ परज्ञेय होने पर भी 'वे मेरी हैं', ऐसी एकत्वबुद्धि वह मिथ्याभावरूप संकरदोष है। जिसकी ऐसी मान्यता है, उसने जड़ की पर्याय और चैतन्य की पर्याय को एक माना है। उसीप्रकार एक-एक विषय (शब्द, रस, रूप इत्यादि) को जानने की योग्यतावाला क्षयोपशमभाव वह भावेन्द्रिय है। वह भी वस्तुतः पर ज्ञेय है। पर-ज्ञेय व ज्ञायकभाव की एकताबुद्धि ही संसार है, मिथ्यात्व है। भावेन्द्रिय के विषय जो सारी दुनियाँ, स्त्री, कुटुम्ब, देव, शास्त्र, गुरु आदि सभी पर-पदार्थ इन्द्रियों के विषय होने से इन्द्रिय कहे जाते हैं। वे भी पर-ज्ञेय हैं, इनसे मुझे लाभ होता है – ऐसा मानना मिथ्याभ्रान्ति है।

शरीरपरिणाम को प्राप्त जड़ इन्द्रियों से भिन्न भगवान आत्मा निर्मल भेद-अभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त होता है, दूसरी किसी भी रीति से प्राप्त नहीं होता। खूब पैसा खर्च करके मन्दिर बनवाने से, भगवान के दर्शन से या भगवान की वाणी से भगवान आत्मा प्राप्त हो जाय, ऐसा नहीं है। जिसभाव से तीर्थंकरप्रकृति का बंध होता है, उस भाव से भी भगवान आत्मा ग्रहण नहीं होता। ज्ञान की पर्याय को ज्ञायक में झुकाते

हुए निर्मल भेद-अभ्यास की प्रवीणता से अंतरङ्ग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्य-स्वभावरूप भगवान आत्मा प्राप्त होता है और उसकी प्राप्ति ही द्रव्येन्द्रियों को जीतना है।

मिथ्यादृष्टि को जो नौ पूर्वों और सात द्वीपसमुद्रों को जाननेरूप विभंगज्ञान होता है; वह सब इन्द्रियज्ञान है, भावेन्द्रिय है। वह नौपूर्व का ज्ञानरूप विभंगज्ञान निजस्वभाव को प्राप्त करने में कुछ काम नहीं आता। भावेन्द्रिय को जीतना हो तो प्रतीति में आती हुई अखण्ड, एक चैतन्यशक्ति से उन सब को सर्वथा पृथक् जानो।

पर्याय को अन्तर्मुख करने पर सामान्य एक अखण्ड ज्ञायकस्वभाव में ही एकत्व प्राप्त होता है। इस अखण्ड में एकत्व को प्राप्त हो जाऊँ – ऐसा विकल्प भी वहाँ नहीं रहता। पर्याय जो बाहर की ओर जाती थी, उसे ज्यों ही अन्तर्मुख किया, त्यों ही वह पर्याय स्वयं स्वतन्त्रकर्त्ता होकर अखण्ड में ही एकत्व पा लेती है। पर्याय को रागादि की ओर झुकाने पर मिथ्यात्व प्रकट होता है और अन्तर्मुख करते ही पर्याय का विषय अखण्ड ज्ञायक हो जाता है (करना नहीं पड़ता)।

अहाहा! उसे झुकानेवाला अपने सिवा और कौन है, दिशा फेरनेवाला भी अपने सिवा और कौन है? स्वयं ही अपनी ओर झुकता है। वर्तमानदशा में पर का लक्ष्य है, उसे स्व की ओर झुकाने से धर्म प्रगट होता है। अरे! जो पर-ज्ञेय हैं, उन्हे स्व-ज्ञेय मानकर आत्मा मिथ्यात्व के द्वारा ज़ीत लिया गया है, अर्थात् मिथ्यात्व के द्वारा आत्मा का घात हो गया है। अब पर-ज्ञेय से भिन्न होकर स्व-ज्ञेय जो अखण्ड एक, चैतन्यस्वभाव है उसकी दृष्टि और प्रतीति जैसे ही की तब ही भावेन्द्रियाँ स्व से सर्वथा भिन्न ज्ञात होती हैं। उसे ही भावेन्द्रिय जीतो – ऐसा कहा जाता है।

अहाहा! कैसी अद्भुत टीका है। भगवान आत्मा को हथेली पर रखे आँवले की तरह स्पष्ट बताती है। समस्त लोक का राज्य देने पर भी जिसकी एक प्रगट निर्मलपर्याय प्राप्त न हो, ऐसी अनंत पर्यायें जिसके एक-एक गुण में पड़ी है, ऐसे अनंत गुणों का पिण्ड यह भगवान आत्मा है। यदि पर से भिन्न होकर उसकी दृष्टि करे तो पुरुषार्थ से वह निर्मलपर्याय अवश्य प्रगट हो। अहो! वह पुरुषार्थ भी अलौकिक है।

ग्राह्य अर्थात् ज्ञेय – जाननेलायक और ग्राहक अर्थात् ज्ञायक – जाननेवाला। द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय, और उनके विषय–ये तीनों जानने-लायक हैं और ज्ञायक आत्मा स्वयं जाननेवाला है। ये तीनों ही पर-ज्ञेय

रूपसे और भगवान् आत्मा स्व-ज्ञेय रूपसे जाननेलायक है। चाहे भले ही भगवान सर्वज्ञपरमात्मा हों, उनकी वाणी हो या उनका समवशरण हो – वे सभी अतीन्द्रिय आत्मा की अपेक्षा से इन्द्रियाँ हैं, पर-ज्ञेय रूप से जानने-लायक हैं और आत्मा ग्राहक जाननेवाला है। ऐसा होते हुए भी ग्राह्य-ग्राहक लक्षणवाले सम्बन्ध की निकटता के कारण अज्ञानी ऐसा मानता है कि वाणी से ज्ञान होता है। ज्ञेयाकाररूप ज्ञान की पर्याय ज्ञान का परिणमन है, ज्ञेय का नहीं, ज्ञेय के कारण भी नहीं। तथापि ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध की अतिनिकटता है, इसलिये ज्ञेय से ज्ञान हुआ – ऐसा अज्ञानी भ्रम से मानता है।

पहले ज्ञान कम था, तथा शास्त्र सुनने से नया ज्ञान हुआ, इसलिये सुनने से ज्ञान हुआ–ऐसा अज्ञानी को लगता है। जैसा शास्त्र हो वैसा ज्ञान हो, तब अज्ञानी ऐसा मानता है कि शास्त्र से ज्ञान हुआ। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध की अति-निकटता होने से परस्पर ज्ञेय ज्ञायकरूप और ज्ञायक ज्ञेयरूप–इसप्रकार दोनों एकरूप हो गये, ऐसा अज्ञानी को भ्रम हो जाता है। जैसी वाणी हो, उसीप्रकार का ज्ञान होता है किन्तु वह अपने कारण होता है, वाणी के कारण नहीं। परसत्तावलम्बी ज्ञान को पर से मानना अज्ञान है। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध की निकटता के कारण अज्ञानी को ज्ञान और ज्ञेय परस्पर एक दिखते हैं, किन्तु वे एक नहीं है।

प्रश्न :– वाणी सुनी, इसलिए ज्ञान हुआ, क्योंकि पहले तो वह नहीं था ?

उत्तर :– भाई ! उस काल में ज्ञान की उस पर्याय की उसप्रकार के ज्ञेय को जानने की स्वयं की योग्यता थी, इसलिए ज्ञान स्वयं से हुआ है, वाणी के कारण नहीं। प्रवचनसार में आता है कि वीतराग की वाणी पुद्गल है, उससे ज्ञान नहीं होता। ज्ञानसूर्य प्रभु स्वतः जाननेवाला है वह स्व को जानता हुआ, पर को स्वयं जानता है। पर से तो वह जानता ही नहीं, किन्तु पर के अस्तित्व कारण भी नहीं जानता है।

वाणी, कुटुम्ब आदि पदार्थ तो ठीक, किन्तु साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी ग्राह्य अर्थात् पर-ज्ञेय हैं। तथा आत्मा ही जाननेवाला है। अज्ञानी को इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ पर-ज्ञेय होते हुए भी एक हो गये से दिखते हैं, उनसे भेदज्ञान कैसे किया जा सकता है, यह बात यहाँ कहते हैं।

ज्ञायक का तो स्वतः जानने का स्वभाव है, भगवान या वाणी के कारण वह स्वभाव नहीं है। वाणी या राग का भी संग नहीं – ऐसा

आत्मा का स्वभाव है। असंगपनेरूप से अनुभव में आते हुए उस चैतन्य-स्वभाव के द्वारा पर-ज्ञेय सर्वथा पृथक किए जाते हैं। देखो ! द्रव्येन्द्रियों के समक्ष अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव लिया, भावेन्द्रियों के समक्ष एक अखण्ड चैतन्यशक्ति ली और यहाँ तीसरे बोल में ज्ञेय ज्ञायकता की निकटता के समक्ष चैतन्यशक्ति का असंगपना लिया है। यह तो त्रिलोकीनाथ की वाणी का सार है।

आहाहा ! जिस पंथ में प्रयाण करने से अनंत आनंद प्रगट होता है, वह भगवान श्री जिनेन्द्रदेव कथित पंथ अपूर्व है। ऐसे अपूर्वमार्ग की बात जिन्हें सुनने को भी नहीं मिलती, वे प्रयोग किसप्रकार कर सकते हैं ? जिसके फल में सादि-अनंत समाधि-सुख प्रगट होता है, उस मोक्षमार्ग की महिमा कहाँ तक करें ? भाई ! पर-पदार्थों का संयोग मिलना ये तो पूर्व के पुण्य-पाप के आधीन है, किन्तु मोक्षमार्ग तो पुरुषार्थ के आधीन है। जो अन्दर में पुरुषार्थ करे, उसे मोक्षमार्ग प्रगट हुए बिना नहीं रहे। अहो ! आचार्य अमृतचंद्रदेव ने टीका में अमृत की धारा बहायी है।

केवली की वाणी में भी जिसका सम्पूर्ण वर्णन नहीं आ सका, ऐसी अमूल्य वस्तु आत्मा का अनुभव होने पर जिसने असंगपने से इन्द्रियों के विषयों से आत्मा को जुदा किया; पर से भिन्नपने – अधिकपने पूर्ण आत्मा को जाना, संचेतन किया व अनुभव किया, उसने इन्द्रियों के विषयों को जीता।

जड़-इन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ और उन इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ– ये तीनों ही ज्ञान के परज्ञेय हैं। इन तीनों को जिसने जीता अर्थात् इन सबसे जो भिन्न हुआ वही 'जिन' या 'जैन' है। अब तक स्व-पर की एकता-बुद्धि से मान्यता में वह 'अजैन' था। किन्तु अब स्व को पर से भिन्न जानकर, निर्मलपर्याय को प्रकट करके, वह जितेन्द्रिय जिन हुआ है

प्रश्न :– इस गाथा में 'सर्वथा जुदा किया' ऐसा आता है किन्तु जैनदर्शन में तो सर्वथा होता ही नहीं क्योंकि जैनदर्शन तो स्याद्वादी दर्शन है न ?

उत्तर :– जैसे नारियल में छाला, काचली तथा गोले के ऊपर की लालिमा – इन सबके भीतर जो सफेद गोला है, वह उनसे सर्वथा भिन्न है। उसीप्रकार भगवान आत्मा चैतन्यगोला शरीर, कर्म और पुण्य-पाप की लालिमा या शुभाशुभभाव से सर्वथा भिन्न है। इनसे आत्मा कथञ्चित् भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न है – ऐसा नहीं है।

समयसारकलश टीका में श्लोक १८१ में पाँच बार 'सर्वथा' शब्द आता है। उदाहरण के रूप में – (१) शुद्धत्वपरिणमन 'सर्वथा' सकल कर्मों के क्षय करने का कारण है। (२), ऐसा शुद्धत्वपरिणमन 'सर्वथा' द्रव्य के परिणमन रूप है। (३) निर्विकल्प शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप ज्ञान, जीव के शुद्धत्वपरिणमन से 'सर्वथा' सहित है, इत्यादि।

जहाँ अपेक्षा लगती है वहाँ 'सर्वथा' ही होता है। जैसे कि द्रव्य-अपेक्षा से आत्मा नित्य ही है और पर्याय अपेक्षा से अनित्य ही है।

इसप्रकार जो कोई मुनि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उनके विषय-भूत पदार्थों को जीतता है, उसका सब ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष दूर हो जाता है। जानने योग्य वस्तु ज्ञायक की है और जाननेवाला ज्ञायक जाननेयोग्य वस्तु का है – ऐसा जानना अज्ञान है, ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष है। जड़-इन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ तथा भगवान व भगवान की वाणी इत्यादि इन्द्रियों के विषय परज्ञेयरूपहोने से स्व से भिन्न हैं, ऐसा होते हुए भी अज्ञानी उन्हें अपनी मानता है। कारण कि जिससे लाभ हुआ माने, उसे अपनी माने बिना नहीं रह सकता। यदि वे अज्ञानी अपने अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन लें, अखण्ड एक ज्ञायक का आश्रय लें, असंग-स्वभावी निज-चैतन्य का अनुभव करें तो यह सम्पूर्णदोष दूर हो जाता है।

समझाने के लिए कथन करें तो कथन में क्रम पड़ता है, किन्तु जब आत्मा का आश्रय लिया जाता है, तब एकसाथ सभी इन्द्रियाँ (द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय व इनके विषयभूत-पदार्थ) जीत ली जाती हैं। अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के बल से जब द्रव्येन्द्रियों को जीतता है, तब भावेन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषयों का लक्ष्य भी छूट जाता है। जब भावेन्द्रियों को जीते, तब भी अखण्ड एक चैतन्यशक्ति की प्रतीति होने पर द्रव्येन्द्रिय और पर-पदार्थों का लक्ष्य छूट जाता है। इसीप्रकार जब परविषयों को जीतता है, तब भी द्रव्य का ही लक्ष्य होने से जड़-इन्द्रियाँ व भावेन्द्रियाँ जीत ली जाती हैं।

समझ में आया! भाई! यह तो समझने का मार्ग है। समझना क्या 'करना' नहीं है? ज्ञानस्वरूप आत्मा तो जानने, समझने के अलावा और करता ही क्या है? (आत्मा का तो एकमात्र 'जानना' ही कार्य है जिसे अज्ञानी लोग कार्यरूप में ही नहीं गिनते हैं।)

टांकी से उकेरी पत्थर की मूर्ति के समान यह भगवान आत्मा एक अखण्ड टंकोत्कीर्ण ज्ञानस्वभावरूप है। राग व पर से भिन्न होने पर वह

जैसा है, वैसा दिखाई देता है। परमार्थ से ज्ञानी समाधिकाल में ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व-इन्द्रियों से भिन्न आत्मा का अनुभव करते हैं। द्रव्यसंग्रह, गाथा ४७ में आता है कि निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयमोक्षमार्ग तथा व्यवहाररत्नत्रयात्मक व्यवहारमोक्षमार्ग – इसप्रकार दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग निर्विकार स्वसंवेदनरूप परमध्यान में प्रगट होता है। अन्तरङ्ग ध्यान में जाने पर ज्ञेय-ज्ञायक की भिन्नता होने पर जब इन्द्रियाँ जीत ली जाती हैं, तब जो अबुद्धिपूर्वक राग रह जाता है, वह व्यवहार-मोक्षमार्ग है। इसप्रकार जो अपने आत्मा का (सर्व इन्द्रियों से भिन्न) अनुभव करता है, वह जितेन्द्रिय जिन है।

द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय – इन तीनों को इन्द्रिय कहते हैं। उन सब का लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञानस्वभाव से अपने पूर्ण शुद्धचैतन्य का जो अनुभव करता है, उसे निश्चयनय के ज्ञाता गणधरदेव जितेन्द्रियजिन तथा धर्मी कहते हैं। राग होता है, किन्तु वह आत्मा का परमार्थस्वभाव नहीं है। उस राग से पुण्य-पाप से पृथक होकर जब ज्ञायकस्वभाव का अनुभव होता है, तब जिनपने का – धर्म का प्रारम्भ होता है। ज्ञानस्वभाव (जानने का स्वभाव) राग में या अचेतन पदार्थों में नहीं है। इसकारण ज्ञानस्वभाव से आत्मा उन सर्व से भिन्न है, अधिक है।

अब कहते हैं कि कैसा है ज्ञानस्वभाव? विश्व के ऊपर तैरता है अर्थात् ज्ञायक पर-ज्ञेय को जानता हुआ भी पर-ज्ञेयरूप नहीं होता। राग, शरीर, वाणी आदि परद्रव्यों को ज्ञायक जानता है, पर उनरूप नहीं होता है। पुण्य-पाप का भाव राग है, अचेतन है; उसमें ज्ञानस्वभाव का अंश भी नहीं है। ज्ञानस्वभाव चैतन्य भगवान है। उसकी अनंत महिमा है। बहुत संक्षिप्त किन्तु बहुत महत्त्व की बात है।

ज्ञानस्वभाव समस्त लोकालोक को जानता हुआ भी उस रूप नहीं होता है, उससे भिन्न ही रहता है। अहाहा! ज्ञानस्वभाव ऐसा है। भावशक्ति के कारण ज्ञानगुण का विकाररहित जो निर्मल परिणमन होता है, उसमें समस्त विश्व जानने में आता है, तथापि ज्ञान की पर्याय विश्वरूप नहीं होती। केवलज्ञान की पर्याय सम्पूर्ण लोकालोक को जानती है, परन्तु लोकालोक के अस्तित्व के कारण वह ज्ञानपर्याय लोकालोक को जानती है – ऐसा नहीं है, ज्ञानपर्याय की तो स्वयं की ही ऐसी शक्ति व सामर्थ्य है। लोकालोक को जानते हुए भी ज्ञान की पर्याय ज्ञेयरूप नहीं हुई है और ज्ञेय भी ज्ञान की पर्यायरूप नहीं हुए हैं। ऐसा ही वस्तु का

सहजस्वभाव है। इसकी महिमा ही ऐसी है, अधिक क्या कहें ? आचार्यदेव ने गम्भीर बात की है।

केवलज्ञान के समान श्रुतज्ञान की पर्याय भी विश्व को जानती है, तथापि विश्व से भिन्न रहती है। श्रुतज्ञान की पर्याय भले ही परोक्षरूप से जाने, तथापि जानने में कोई वस्तु बाकी नहीं रहती। केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही अन्तर है, दूसरा कोई अन्तर नहीं है। दूसरे प्रकार से कहें तो जो राग की मंदता है, उसे ज्ञान जानता है; तथापि ज्ञान का परिणमन राग से भिन्न रहता है अर्थात् विश्व के ऊपर तैरता है ।

तथा वह ज्ञानस्वभाव प्रत्यक्ष उद्योतपने सदा ही अन्तरङ्ग में प्रकाशमान है। पर पदार्थ मन या राग की सहायता बिना अपने अनुभव में प्रत्यक्ष होता है। अन्तरङ्ग में प्रकाशमान वस्तु त्रिकाल है। इसलिए ऐसा अनुभव पर्याय में होने पर वह पर्याय भी सदा प्रकाशमान रहती है। शक्ति में से व्यक्ति प्रकाशमानरूप होती ही है। ज्ञानस्वभाव स्वयं से प्राप्त होता है, राग की मंदता से नहीं। इसे कोई एकान्त कहे तो उससे कहते हैं कि भाई ! वह एकान्त तो है किन्तु सम्यक्-एकान्त है। सम्यक्-एकान्त बिना अनेकान्त का भी ज्ञान नहीं होता। सम्यक्-एकान्त में आये बिना पर्याय, राग और निमित्त के अनेकान्तपने का ज्ञान यथार्थ नहीं होता।

श्रीमद् राजचंद्रजी ने भी कहा है कि – "अनेकान्त भी सम्यक्-एकान्तस्वरूप निजपद की प्राप्ति के सिवाय अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।" भाई ! यह निजपद की प्राप्ति सरल है, क्योंकि जो निजवस्तु है, उसे ही तो प्राप्त करना है। राग निज में नहीं है, अतः उसे प्राप्त करना सुलभ नहीं है।

अहाहा ! इस ज्ञानस्वभाव को जिसने जाना, अनुभव किया; वह जानता है कि वह ज्ञानस्वभाव अविनश्वर है, कभी नाश नहीं होनेवाला त्रिकाल शाश्वत व स्वतःसिद्ध है। अर्थात् उसे कोई करता नहीं है, वह परमार्थस्वरूप है। देखो 'भगवान ज्ञानस्वभाव' यह शब्द प्रयोग किया है। जैसा आत्मा भगवान है, वैसा ही इसका ज्ञानस्वभाव भी भगवान है। जिसने ऐसे आत्मा को अनुभव में लिया, उसे ही आत्मा ऐसा है, परन्तु जिसने ऐसे आत्मस्वभाव को अनुभव में नहीं लिया, उसे नहीं है; क्योंकि आत्मा क्या वस्तु है, इसकी उसे खबर नहीं है।

प्रभु ! तू ऐसा ही है, सहजवस्तु भी ऐसी ही है। ज्ञानस्वभाव विश्व के ऊपर तैरता है अर्थात् समस्त विश्व को जानने में समर्थ होते हुए भी

उनसे भिन्न रहता है। ज्ञान ज्ञेय में गये विना ज्ञेयों को जानता है, इसलिए ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है। ऐसा अविनश्वर स्वतः सिद्ध, परमार्थरूप, परिपूर्ण भगवान ज्ञानस्वभाव है। राग से भिन्न होकर उसका अनुभव होने पर वह ऐसा है – यह ख्याल में आता है। इसी का नाम जिनपना तथा सम्यग्दर्शन आदि धर्म है।

अहो! सच्चा जैन होने की यह अलौकिक विधि है। पर्याय में राग से भिन्न पड़कर जब भगवान ज्ञानस्वभाव अनुभव में आया, तब जानने में आया कि मैं स्वयं पर से भिन्न व स्वयं से परिपूर्ण हूँ और स्वसंवेदन में आने योग्य हूँ। इसप्रकार पर से भिन्न होकर भगवान परिपूर्ण ज्ञानस्वभावी वस्तु में अन्तर्मग्न होना, पहली निश्चय-स्तुति है। यह केवली के गुण की स्तुति और आत्मा के गुण की स्तुति है।

शरीरपरिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियाँ, खण्ड-खण्डज्ञानरूप भावेन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ कुटुम्ब-परिवार, देव-शास्त्र-गुरु, इत्यादि सभी पर-ज्ञेय हैं और ज्ञायक स्वयं भगवान आत्मा स्व-ज्ञेय है। विषयों की आसक्ति से उन दोनों का एक जैसा अनुभव होता था, निमित्त की रुचि से ज्ञेय-ज्ञायक का एक जैसा अनुभव होता था; किन्तु जब भेदज्ञान से भिन्नता का ज्ञान हुआ, तब ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष दूर हुआ। तब 'मैं तो एक अखण्ड ज्ञायक हूँ ज्ञेय के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है' – ऐसा अन्दर में (स्व-संवेदन) ज्ञान हुआ

इसप्रकार यह प्रथम प्रकार की स्तुति का कथन हुआ।

अथ भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण–

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बेंति ।।३२।।

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम् ।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका ब्रुवन्ति ।।३२।।

यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवंतमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्त-भाव्यभावकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतःसिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यांतरस्वभाव-भाविभ्यः सर्वेभ्यो भावान्त

अब, भाव्यभावक-संकरदोष दूर करके स्तुति कहते हैं :–

कर मोहजय ज्ञानस्वभाव रु, अधिक जाने आत्मा ।
परमार्थ विज्ञायक पुरुष ने, उन हि जितमोही कहा ।।३२।।

गाथार्थ :–[यः तु] जो मुनि [मोहं] मोह को [जित्वा] जीतकर [आत्मानम्] अपने आत्मा को [ज्ञानस्वाभावाधिकं] ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यभावों से अधिक [जानाति] जानता है [तं साधुं] उस मुनि को [परमार्थविज्ञायकाः] परमार्थ के जाननेवाला [जितमोहं] जितमोह [ब्रुवन्ति] कहते हैं।

टीका :–मोहकर्म फल देने की सामर्थ्य से प्रगट उदयरूप होकर भावकपने से प्रगट होता है तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है ऐसा जो अपना आत्मा–भाव्य, उसको भेदज्ञान के बल द्वारा दूर से ही अलग करने से इसप्रकार बलपूर्वक मोह का तिरस्कार करके, समस्त भाव्यभावक–संकरदोष दूर हो जाने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण (निश्चल) और ज्ञान-स्वभाव के द्वारा अन्यद्रव्यों के स्वभावों से होनेवाले सर्व अन्यभावों से परमार्थतः भिन्न अपने आत्मा को जो (मुनि) अनुभव करते हैं वे निश्चय से जितमोह (जिसने मोह को जीता है) जिन हैं। कैसा है वह ज्ञानस्वभाव ? समस्त लोक के ऊपर तिरता हुआ, प्रत्यक्ष उद्योतरूप से सदा अन्तरङ्ग में

रेभ्यः परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निश्चय स्तुतिः ।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्येकादश पंचानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिंद्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

प्रकाशमान, अविनाशी, अपने से ही सिद्ध और परमार्थरूप ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है ।

इसप्रकार भाव्यभावक-भाव के संकरदोष को दूर करके दूसरी निश्चयस्तुति है ।

इस गाथासूत्र में एक मोह का ही नाम लिया है; उसमें 'मोह' पद को बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय रखकर ग्यारह सूत्र व्याख्यानरूप करना और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन तथा स्पर्शन—इन पांच के सूत्रों को इन्द्रियसूत्र के द्वारा अलग व्याख्यानरूप करना; इसप्रकार सोलह सूत्रों को भिन्न-भिन्न व्याख्यानरूप करना और इस उपदेश से अन्य भी विचार लेना।

भावार्थ :—भावक मोह के अनुसार प्रवृत्ति करने से अपना आत्मा भाव्यरूप होता है, उसे भेद ज्ञान के बल से भिन्न अनुभव करनेवाले जितमोह जिन हैं। यहाँ ऐसा आशय है कि श्रेणी चढ़ते हुए जिसे मोह का उदय अनुभव में न रहे और जो अपने बल से उपशमादि करके आत्मानुभव करता है उसे जितमोह कहा है। यहाँ मोह को जीता है; उसका नाश नहीं हुआ।

गाथा ३२ की उत्थानिका एवं गाथा पर प्रवचन

इकतीसवीं गाथा में ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष को दूर करके होने वाली परमार्थ-स्तुति का वर्णन किया। द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी शुद्धात्मा का अनुभव करने वाले चौथे से सातवें गुणस्थानवर्ती ज्ञानी ही ऐसी परमार्थ स्तुति करते हैं।

इस बत्तीसवीं गाथा में भाव्य-भावक संकरदोष का अभाव करके होनेवाली परमार्थ-स्तुति का कथन करते हैं।

ज्ञानियों ने — मुनियों ने मिथ्यात्व को तो जीत ही लिया है, परन्तु अभी भी जो कर्म का उदय आता है, उसमें भी अपने उपयोग का जुड़ान न करके ज्ञान स्वभाव के द्वारा सर्व परद्रव्यों से अधिक अपने स्वरूप में

रहकर जो उदय को मात्र जानते हैं, वे मुनि जितमोही कहलाते हैं। इन्द्रियों की एकता टूट गई है और स्वभाव की एकता हुई है, इससे ज्ञानी के ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष का तो अभाव हो गया; पर अभी अस्थिरता के कारण कर्म के उदयरूप भावक की ओर के झुकाव से जो विकार रूप भाव्य होता है, वह भाव्य-भावक संकरदोष है। निश्चय से आत्मा विकार का कर्त्ता नहीं है, इसलिए कर्म के उदय को भावक कहा और वह कर्म भावक अर्थात् विकार रूप भाव्य को करनेवाला है – ऐसा कहा। उस भाव्य-भावक संबन्ध को ज्ञानी ने अपने स्वभाव का आश्रय लेकर हटा दिया है अर्थात् कर्म के उदयरूप भावक का अनुसरण करके जो विकाररूप भाव्य होता था, वह स्वभाव का आश्रय होने पर हुआ नहीं। तब भाव्य-भावक संकरदोष भी दूर हो गया। इससे उसे परमार्थ के जानकार जितमोही कहते हैं।

इस गाथा में जो मोहकर्म की बात है, वह चारित्र मोहनीय कर्म की बात है। चारित्र मोह के उदय में ज्ञानी को परद्रव्य में एकत्वबुद्धि नहीं होती, किन्तु जो अस्थिरता होती है वह स्वयं कर्म के वश होने पर होती है। उक्त अस्थिरता का जो परिणमन है, उसका कर्त्ता ज्ञानी आत्मा है, क्योंकि भाव्य होने लायक ज्ञानी भी है।

प्रवचनसार में ४७ नयों में एक कर्तृनय आया है। उसमें कहा है कि जैसे रंगरेज रंग को करता है, उसी तरह धर्मात्मा भी रागरूप परिणमता है। इसलिए उस राग का कर्त्ता धर्मात्मा स्वयं है। कर्म से राग होता है या कर्म राग का कर्त्ता है, ऐसा नहीं है। अब कहते हैं कि जिसने स्वयं की पर्याय को ज्ञायक की ओर झुकाकर भावक के निमित्त से जो विकार होता था, उसे दूर ही से छोड़ दिया है (ऐसा नहीं कि पहले किया, फिर छोड़ दिया, किन्तु विकार जिसने होने ही नहीं दिया,) उसे जितमोह कहते हैं।

गाथा ३२ की टीका पर प्रवचन

जड़ मोहकर्म फल देने की सामर्थ्य से प्रकट उदयरूप होता है। फल देने की सामर्थ्य से अर्थात् अनुभाग से। यहाँ जो कर्म सत्ता में पड़े हैं, उनकी बात नहीं है; किन्तु उदय में आये कर्मों की बात है। उदयपने जो कर्म प्रगट होते हैं वे भावक हैं, और विकारी होने लायक जो जीव हैं उन्हें ही इन कर्मों का उदय निमित्त होता है।

जो जीव कर्म का अनुसरण करके विकार – भाव्य करता है, उसे ही कर्म का उदय भावक कहलाता है और वह विकार का होना भाव्य

कहलाता है। भावक कर्म का उदय तो जड़कर्मों में आता है, किन्तु उसके अनुसार जब तक प्रवृत्ति है, तब तक अस्थिरता होती है व भाव्य-रूप विकार होता है। इससे भाव्य-भावक दोनों एक रूप होते हैं। एक होते हैं, इसका अर्थ है कि दोनों का निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध होता है। समकिती जितेन्द्रिय जिन तो हुआ है, परन्तु अभी भाव्य-भावक संकर दोष टालना शेष है। चारित्रमोह का उदय आता है और उसके अनुसार प्रवृत्ति होने से भाव्यरूप विकारीदशा होती है। ज्ञानी उस विकारी भाव्य का भी उपशम करता है – यह दूसरे प्रकार की स्तुति है।

जब मोहकर्म सत्ता में से फल देने की शक्ति से भावकपने प्रगट उदय में आता है, तब ज्ञानी स्वयं आत्मा की अस्थिरता से उस रूप अनुसरण करने की प्रवृत्ति होने से, भावक के निमित्त से भाव्यरूप–विकार रूप परिणमता है। कर्म का उदय आता है, तो उसे उसरूप होना ही पड़ता है – ऐसा नहीं है। परन्तु जो कर्म का उदय आने पर स्वयं अपनी वर्त्तमान योग्यता से तद्रूप परिणमता है, तो वह भाव्य होता है।

जब तक ऐसी स्थिति रहती है, तब तक दूसरे प्रकार की स्तुति नहीं होती है; किन्तु जब आत्मा के गुणों की शुद्धि में वृद्धि हो, तब यह स्तुति होती है।

जो विकारी पर्याय निमित्त का अनुसरण करके होती है, उसमें भाव्य-भावक संकरदोष है। इस दोष को जो जीतता है, उसे दूसरे प्रकार की स्तुति होती है और उसी के आत्मा के गुणों में शुद्धि की वृद्धि भी होती है।

अहो ! आचार्य अमृतचन्द्र देव ने कैसी गजब टीका लिखी है। इसमें अमृत और न्याय भरा हुआ है।

जो आत्मा भेदज्ञान के बल से उदय की ओर झुकने वाले भाव्य को रोक देता है, दूर से ही उदय से पीछे हटकर ज्ञायकभाव का अनुसरण करके स्थिरता करता है, उसके भाव्य-भावक संकरदोष टलता है।

प्रश्न :– "दूर से ही पीछे हटकर" इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर :–भावकरूप उदय का अनुसरण करने से आत्मा में पहले विकारी भाव्य हुआ और पश्चात् वहाँ से हटे, पीछे को हटे – ऐसा नहीं है; बल्कि भेदज्ञान के बल से उदय में अपने उपयोग को जोड़ा ही नहीं अर्थात् उदय की ओर का विकारी भाव्य हुआ ही नहीं, इसे ही 'दूर से ही पीछे हटकर' कहा जाता है। स्वभाव की ओर के झुकाव से पर की

ओर का झुकाव छूट गया—इसे ही 'दूर से ही पीछे हटकर' – ऐसा कहा है। आहाहा ! भेदज्ञान के बल द्वारा अर्थात् ज्ञायकभाव की ओर के विशेष झुकाव से 'पर से भिन्न एक ज्ञायक हूँ' ऐसे अन्तर में स्थिरता की वृद्धि से जिसको उदय की ओर की दशा ही उत्पन नहीं हुई, उसे भाव्य-भावक संकरदोष दूर हुआ व उसने मोह को जीता है। अहो ! केवली व श्रुतकेवली द्वारा की गई यह जितमोह जिन के स्वरूप की कथनी कैसी अलौकिक है।

कितने ही लोग ऐसा मानते हैं कि जैसा कर्म का उदय आता है, वैसा भाव जीव में होता ही है, तथा जब कर्म निमित्तरूप बनकर उदय में आता है, तब उससे जीव को विकार करना ही पड़ता है, परन्तु ऐसा नहीं है। जीव जब स्वयं कर्म के उदय का अनुसरण करके परिणमता है, तो भाव्य – विकारी होता है। तथा भेदज्ञान के बल से कर्म से दूर से ही पीछे हटकर, उदय का अनुसरण नहीं करे तो भाव्य – विकारी नहीं होता। उदय जड़कर्म की पर्याय है व विकार आत्मा की पर्याय है। जड़ की पर्याय व आत्मा की पर्याय के बीच अत्यंताभाव है। इसकारण न उदय के अनुसार विकार होता है और न करना ही पड़ता है।

'मोहकर्म है' ऐसा कहकर उसके अस्तित्व की सिद्धि की है। अब वह फल देने की सामर्थ्य रूप से प्रगट हुआ अर्थात् सत्ता में से वह उदय में आया। जो जीव उसका अनुसरण करके भाव्य या विकार करें तो वह कर्म का उदय भावकरूप से प्रगट हुआ—ऐसा कहा जाता है, और मोह-रूप होनेवाले जीव को भाव्य कहा जाता है। ऐसे भाव्य आत्मा को भेद-ज्ञान के बल द्वारा स्वभाव की ओर झुकाने से उदय की ओर का लक्ष्य छूट जाता है तथा अपने स्वभाव पर लक्ष्य जाता है। इसे ही मोह का जीतना कहते हैं। जिस समय उदय आया, उसी समय राग का अभाव होता है, पीछे नहीं; क्योंकि जब उदय आया तब उसके अनुसार परिणमन नहीं हुआ और राग भी उत्पन्न ही नहीं हुआ।

आहाहा ! एक-एक पंक्ति में कितना रहस्य भरा है ? लोगों का भाग्य है कि समयसार जैसा शास्त्र बन गया, इसमें तो महामुनियों ने सत् का ढिंढोरा पीटा है। कैसी अद्भुत टीका है ! ऐसी टीका भरत क्षेत्र में कहीं नहीं है। अहा ! वीतरागी मुनियों को आनन्द में झूलते-झूलते विकल्प आया और इन शब्दों की रचना हो गई, उन्होंने रचना की नहीं है। उससमय शब्दों की पर्याय होनी थी, इसीलिये हुई है। टीका के शब्दों की पर्याय का जन्मक्षण था, इसीलिए टीका हुई है। विकल्प आया, इससे

टीका हुई–ऐसा नहीं है। टीका के शब्दों को इसी रूप में परिणमना था, इसलिए शब्द इसरूप परिणम गये हैं, टीका करने का विकल्प तो निमित्तमात्र था।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि या मुनियों को भी भावक–निमित्त के लक्ष्य से स्वयं ही भाव्यरूप होने की योग्यता पर्याय में है। इसलिये भावक के उदय के काल में, उसके अनुसार जो प्रवृत्ति करे तो उस आत्मा को भाव्य कहा जाता है; यह भाव्य-भावक संकरदोष है। ऐसा जो भाव्य आत्मा है, उसको भेदज्ञान के बल से अर्थात् स्वयं के पुरुषार्थ से पर की ओर के झुकाव से जुदा किया। अतः पर के लक्ष्यवाली विकारीदशा ही उत्पन्न नहीं हुई। उदय तो उदय में रहा और अपने पुरुषार्थ से आत्मा को उदय से भिन्न करने पर पीछे स्वभाव की ओर मोड़ने पर मोह उत्पन्न ही नहीं हुआ, जिससे भाव्य-भावक संकर दोष दूर हो गया। निमित्त का अनुसरण छूटने पर, उसके अनुसार जो खुद का पुरुषार्थ हुआ था, वह अब उपादान का अनुसरण करके होता है, इससे भावक मोहकर्म के अनुसरण से हुई अस्थिरतारूप भाव्यदशा भी नहीं होती। समकिती को भगवान आत्मा का आश्रय तो है ही, परन्तु जबतक खुद का अस्थिरतारूप हीन पुरुषार्थ है, तबतक वह भाव्य होने की योग्यतावाला है। इसकारण जब कर्म का विपाक आता है तब उसके अनुसार भाव्य-भावक की एकता होती है। परन्तु जो सबल पुरुषार्थ करे अर्थात् निज स्वभाव के विशेष आश्रय द्वारा दूर से ही उदय से पीछे हटे तो भाव्य-भावक की एकता नहीं होती। जो भाव्य विकारी होता था, वह नहीं हुआ; यही उसका जीतना है।

जो सत्ता में मोहकर्म है; वह जिससमय फल देने की सामर्थ्य से उदय में आता है, उसीसमय ज्ञान की पर्याय में उसका अनुसरण करके अस्थिरतारूप भाव्यदशा होने की योग्यता भी है। इस प्रकार दोनों की अस्ति सिद्ध की है। जब वह ज्ञानी आत्मा बलपूर्वक मोह का तिरस्कार करके निमित्त की ओर का आदर छोड़ देता है और कर्म के फल का अनादर करके अन्दर भगवान ज्ञायक त्रिकाली के आदर में–आश्रय में जाता है, तब उसके भाव्य-भावक संकरदोष दूर होता है। यह भगवान आत्मा स्वयं सर्वज्ञस्वभावी है, यह उसी की स्तुति है। भाई! वस्तुस्थिति ही ऐसी है। अपने भाव में इसका भाव भासन होना चाहिए। चाहे जैसा मान ले तो काम नहीं चलेगा। अहो! केवली का अनुसरण करनेवाली यह अलौकिक टीका है। परमार्थवचनिका में पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि 'यह चिट्ठी (वचनिका) यथायोग्य सुमति प्रमाण केवलीवचन

अनुसार है। जो जीव सुनेंगे, समझेंगे व श्रद्धा करेंगे उनको भाग्यानुसार कल्याणकारी होगी।' जब बनारसीदासजी ऐसा कहते हैं तो फिर सन्तों की तो क्या बात ?

कर्मों के उदय के काल में उसका अनुसरण करने से जो विकारी-दशा होती है, वह दोष है। जो मुनि मोह का तिरस्कार करके अर्थात् चारित्रमोह के उदय को उपेक्षा करके उसका अनुसरण छोड़कर निज-ज्ञायकभाव का अनुभव करते हैं, वे निश्चय से जितमोहजिन हैं। यह दूसरे प्रकार की स्तुति पहले प्रकार की स्तुति से ऊंची है। ३१वीं गाथा में जघन्य, ३२वीं गाथा में मध्यम और ३३वीं गाथा में उत्कृष्ट स्तुति कही है।

जितने अंश में पर की ओर से हटकर स्व की ओर आते हैं; उतने अंश में भाव्य-भावक संकरदोष दूर होता है; भाव्य-भावक की जो एकता थी, वह दूर हो जाती है। यह दोष दूर होने पर मुनि एकत्व में टंकोत्कीर्ण (निश्चल) और ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यों के स्वभाव से होनेवाले समस्त अन्य भावों से परमार्थतः भिन्न, अपने आत्मा का अनुभव करते हैं। आहाहा ! **'णाणसहावाधियं'** अर्थात् ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्यों के स्वभाव से होनेवाले सर्वभावों से परमार्थ से भिन्न निज आत्मा को जो मुनि अनुभव करते हैं, वे निश्चय से जितमोही हैं। उन्होंने मोह को जीता है, किन्तु अभी टाला नहीं है। मोह का उपशम किया है, किन्तु क्षय नहीं किया है, पुरुषार्थ अभी इतना मन्द है।

मुनि व समकिती की दृष्टि में राग का अभाव है, इसलिए कर्म के उदय से वर्त्तमान पर्याय में राग होता है—ऐसा नहीं जानना। बल्कि ऐसा जानना कि पर्याय में अभी राग होने की योग्यता है, जिससे भावकर्म की ओर का झुकाव होने पर रागरूप भाव्य होता है। मुनि भावकरूप मोह-कर्म की उपेक्षा करके, उसका लक्ष्य छोड़कर, एक ज्ञायकभाव त्रिकाली ध्रुव भगवान का आश्रय करते हैं, अतः उन्हें जितमोहजिन कहते हैं। भाई ! यह एक ज्ञायकभाव जिसे यथार्थ समझ में आ जाता है, उसे अन्य सभी भाव यथार्थ समझ में आ जाते हैं किन्तु जिसे एक ज्ञायक भाव का ठिकाना नहीं मिलता, वह अपना सभी दोष कर्म पर मढ़ता है।

अब कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव कैसा है ? ३१वीं गाथा में जो कहा था, वही बात यहाँ है। यह समस्त लोक के उपर तैरता है। ज्ञान की पर्याय में स्व-पर प्रकाशक होने का स्वभाव है। इसलिए ज्ञानस्वभाव द्वारा

ज्ञेय को – लोक को जानता है, तथापि वह ज्ञेय से भिन्न रहता है। ज्ञेय को बराबर जानता हुआ, ज्ञेयरूप नहीं होता। समस्त ज्ञेयों के ऊपर-ऊपर तैरता रहता है अर्थात् जानने योग्य ज्ञेय से जुदा रहता है। वह ज्ञान-स्वभाव प्रत्यक्ष उद्योतपने सदा ही अंतरंग में प्रकाशमान है। इसलिए ज्ञानपर्याय के द्वारा अन्तर में आत्मा को विषय बनाने पर वह पर्याय में भी प्रत्यक्ष हो जाता है। ऐसा अविनाशी भगवान ज्ञान स्वभाव स्वयं से ही सिद्ध और परमार्थसत् है। आहाहा ! आत्मा तो भगवान है ही, किन्तु उसका ज्ञानस्वभाव भी भगवान है। इस निज भगवान की यह स्तुति है अर्थात् आत्मा स्वयं भगवान है, यह उसकी स्तुति है।

शिष्य ने पूछा था कि तीर्थंकर और केवली की निश्चय स्तुति कैसे होती है ? उसका उत्तर इस प्रकार दिया है कि जब आत्मा राग व पर से भिन्न होकर, एक निज ज्ञायकभाव में एकाग्र होकर उसे अनुभवता है, वही उसकी स्तुति है। भावक कर्म का उदय है और भाव्य होने लायक निज आत्मा है, उन दोनों की एकता ही भाव्य-भावक संकरदोष है। उस दोष को दूर करते हुये दूसरे प्रकार की स्तुति होती है।

गाथासूत्र में एक मोह का ही नाम लिया है। उसमें 'मोह' पद बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म नोकर्म, मन, वचन, काय इन पदों को रखकर ग्यारह सूत्रों का भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्यान करना चाहिए। यद्यपि चारित्रमोह का उदय तो कर्म में आया, किन्तु सम्यक्दृष्टि ज्ञानी का आत्मा भी उसका अनुसरण करके पर्याय में राग द्वेष रूप होने की योग्यतावाला है। इसकारण कर्म के उदय के अनुसार जो पर्याय में रागद्वेष होते हैं, वह संकरदोष है। जब ज्ञायकस्वभाव के उग्र आश्रय से ज्ञानी का कर्मोदय की ओर का झुकाव छूटकर पर से पृथक्ता हो जाती है और उससे राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते बल्कि अरागी-अद्वेषी-वीतरागी परिणाम प्रगट होते हैं, उसे राग-द्वेष का जीतना कहते हैं।

राग व द्वेष में चारों कषायें आ जाती हैं। क्रोध तथा मान द्वेष-रूप हैं, माया तथा लोभ रागरूप हैं। यद्यपि चारित्रमोह का उदय तो जड़ में आता है, तथापि समकिती तथा मुनि के भी चारित्रमोह के चारों ही प्रकार के कर्मोदय का अनुसरण करके कषायरूप परिणमन करने की योग्यता है। यहाँ कषाय प्रगट हुई, पश्चात् जीतकर छोड़ देता है, ऐसा नहीं समझना; परन्तु कषाय उत्पन्न ही नहीं होने देता है, यह समझना चाहिए। कषाय के उदय की ओर का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव के लक्ष्य से

स्वभाव का अनुसरण करते हुए भावक व भाव्य का भेदज्ञान होता है। इस कारण भाव्य कषाय उत्पन्न ही नहीं होती है। उसे ही कषाय का जीतना कहा है।

एक ओर ४७ शक्तियों के वर्णन में ऐसा कहा है कि कर्म का निमित्त होने पर भी राग का कर्त्तापना जीव के नहीं, जीव राग का अकर्त्ता है, ऐसा इसका स्वभाव है। राग को न करे – ऐसा उसमें अकर्त्तागुण है। "समस्त कर्मों के द्वारा किये गये ज्ञातृत्वमात्र भिन्न जो परिणाम, उन परिणामों के करण के उपरमरूप अकर्तृत्वशक्ति है" कर्म के द्वारा किया गया परिणाम अर्थात् विकारी परिणाम जीव करे, वस्तुत: ऐसा जीव में कोई गुण नहीं है। इसकारण पर्याय में जो विकार होता है, उसे कर्म के निमित्त से देखकर कर्म से किया गया – ऐसा कहा है। जबकि यहाँ यह कहते हैं कि राग के भाव्यरूप होने की योग्यता जीव की है, इसलिए वह राग का कर्त्ता है। प्रवचनसार में ४७ नयों में एक कर्तृत्वनय है। उसमें कहा है— 'आत्मद्रव्य कर्त्तानय से, रंगरेज की तरह रागादि परिणाम का करनेवाला है।' जहाँ ४७ शक्तियों का वर्णन किया है, वहाँ द्रव्यदृष्टि से आत्मा राग का अकर्त्ता–ऐसा कहा है। शक्तियों के प्रकरण में दृष्टि के विषय और स्वभाव की अपेक्षा से वर्णन है, इसकारण जीव राग का कर्त्ता नहीं है– ऐसा अकर्त्ता स्वभावी कहा है। जब कि यहाँ पर्याय में क्षण-क्षण में कभी पराधीनता, कभी स्वाधीनता होती है, उसका ज्ञान कराया है।

दृष्टि के साथ जो ज्ञान प्रगट हुआ है, वह ऐसा जानता है कि जीव 'कर्त्तानय से रागरूप परिणमन करनेवाला है। कर्म के कारण जीव रागरूप होता है, ऐसा नहीं है। उसी प्रकार राग करने लायक है – ऐसा भी नहीं है; परन्तु रागरूप से जीव स्वयं परिणमता है, इसलिये कर्त्ता कहा जाता है। ऐसा होते हुए भी 'कर्त्तानय' के साथ 'अकर्त्तानय' होने से राग का ज्ञानी साक्षी ही है, जाननेवाला ज्ञाता ही है। राग को न करे — ऐसा अकर्तृत्वगुण आत्मा में है। तथापि पर्याय में जो राग होता है, वह कर्म के निमित्त से कर्म का अनुसरण करके पर्याय की तद्रूप होने की योग्यता से होता है।

पर की ओर का झुकाव (वलण) छोड़कर स्व की ओर का झुकाव करना, वह सच्चा पुरुषार्थ है। शक्ति व द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से जीव के राग-द्वेष का भोक्तापना नहीं है, क्योंकि उसमें अभोक्तृत्व-शक्ति है। कर्म निमित्त से हुए विकारी भावों के उपरमरूप आत्मा का

अनुभव करना, वही वस्तुतः अपना भोक्तापना है। यह गुण व द्रव्य को अभेद करके कही गई बात है।

जब 'पर्याय में क्या है?' – यह सिद्ध करना हो, तब भोक्तृत्वनय से सुख-दुःख, संकल्प-विकल्प, पुण्य-पाप व राग-द्वेष का भोगनेवाला है; ऐसा एक नय है, परन्तु पर को आत्मा भोगनेवाला नहीं है। धवल के छठे भाग में भी कहा है कि अन्तरंग कारण प्रधान है, निमित्त प्रधान नहीं है।

प्रश्न :–स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आता है कि देखो पुद्गल की शक्ति! वह केवलज्ञान को भी रोकती है। क्योंकि केवलज्ञान को रोकने वाला केवलज्ञानावरणी कर्म है न?

उत्तर :–यह तो पुद्गल में निमित्तरूप होने की उत्कृष्ट में उत्कृष्ट कितनी शक्ति है, यह बतलाया है। केवलज्ञानावरणी कर्म का उदय आया, इसलिए केवलज्ञान रुका है – ऐसा नहीं है। उदय तो जड़ में है और उदय का अनुसरण करने की भी योग्यता जीव की स्वयं की है। इसलिए ज्ञान अपने कारण से हीनपने को प्राप्त हुआ है। परिणति में विषय का प्रतिबंध होनेपर कम विषय ग्रहण करता है और अधिक विषय छोड़ देता है; वह स्वयं से होता है, ज्ञानावरणी कर्म तो इसमें निमित्तमात्र है। ज्ञानावरणी कर्म का उदय भावकपने आता है, वह उसकी सत्ता में है और जीव में अपने कारण उसका अनुसरण करके ज्ञान की हीनदशा होनेरूप भाव्यदशा होती है – यह भाव्य-भावक संकरदोष है। जब, पर्याय को पूर्ण निर्मल करने के लिए पूर्णानन्दस्वरूप भगवान का पूर्ण आश्रय करने से निमित्त का आश्रय छूट जाता है तब वह भाव्यपना नहीं रहता और केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। इसीप्रकार मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय ज्ञान में भी समझ लेना चाहिए। इसप्रकार ज्ञानावरणी कर्म जीता जाता है।

केवलदर्शनावरणी कर्म का उदय आने पर, उसका अनुसरण करे, तो दर्शन की हीनताहोनेरूप भाव्य होता है। ज्ञानी व मुनि के भी पर्याय में दर्शन की हीनदशारूप भाव्य होने की योग्यता होती है, उस योग्यता के कारण भाव्य होता है, कर्म के कारण नहीं। यदि वह उदय की ओर का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव में आ जाये (सम्पूर्ण आश्रय प्राप्त करले) तो केवलदर्शनावरणी कर्म जीत लिया जाता है। उसीप्रकार चक्षु-अचक्षु-अवधिदर्शनावरणी कर्म जीतने के संबंध में भी समझना चाहिए। अन्तराय कर्म के निमित से दान, लाभ, भोग, उपयोग, तथा वीर्य यह

पांच पर्यायें हीन होती हैं। अन्तराय कर्म का उदय आता है, इसलिए ये पांच पर्यायें हीन होती हैं, ऐसा नहीं है। परन्तु जब यह हीनदशा होती है, तब कर्म के उदय को निमित्त कहते हैं। लाभान्तराय, दानान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय तथा वीर्यान्तराय कर्म का उदय तो जड़ में आता है और उसी समय हीनदशा होने की स्वयं उपादान में योग्यता है इस कारण उदय का अनुसरण करने पर हीनदशारूप भाव्य होता है। परन्तु पर का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाल वीतरागमूर्ति अकषायस्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय करे तो भाव्य-भावक की एकता का संकरदोष टल जाता है। इसप्रकार यह अन्तराय कर्म का जीतना है।

इसीप्रकार आयुकर्म का उदय है, इसलिए जीव को शरीर में रहना पड़ता है – ऐसा नहीं है। भावक कर्म का उदय जड़ कर्म में है और उसका अनुसरण करने से पर्याय में रहने की योग्यता स्वयं की है, इस कारण जीव वहाँ रहा है। आयुकर्म तो निमित्तमात्र है। साता-असाता वेदनीय कर्म का उदय तो जड़ में होता है। वस्तुतः यह तो संयोग की प्राप्ति में निमित्त है। उसके उदय से जीव की पर्याय में जो किंचित् नुकसान होता है, वह अपने खुद के कारण है, उदय के कारण नहीं है।

नाम कर्म का उदय भी जड़ में होता है और उसके निमित्त से जीव की सूक्ष्म अरूपी निर्लेपदशा प्रगट नहीं होती। वह जीव की स्वयं की योग्यता से प्रगट नहीं होती है, क्योंकि उस काल में उदय का अनुसरण होता है।

गोत्रकर्म संबंध में भी ऐसा ही समझ लेना।

इसप्रकार आठों ही कर्मों का उदय तो जड़ में है और भावकर्म के अनुसरण से होने योग्य जो भाव्य है, वह आत्मा की स्वयं की दशा है, कर्म के कारण नहीं। उदय को न गिनकर, उसकी परवाह न करके, उसका लक्ष्य छोड़कर, निष्कर्म निज ज्ञायकभाव का अनुसरण करने से ज्ञानी की ऐसी भाव्य दशा ही नहीं होती; यही कर्म का जीतना कहलाता है।

घाति कर्म के कारण आत्मा में घात होता है, ऐसा नहीं है। घाति कर्म के उदयकाल में पर्याय में जितनी हीनदशारूप में परिणमने की अर्थात् भाव घातिरूप होने की स्वयं की योग्यता है वह कर्म के कारण नहीं है। कर्म के कारण कर्म में पर्याय होती है, आत्मा में नहीं। आहाहा ! पर के कारण दूसरे में कुछ हो, ऐसा जैनधर्म में है ही नहीं। गुणों की पर्याय होती है, उसमें वह स्वयं ही कारण है, क्योंकि वह स्वयं ही कर्म का अनुसरण करता है। स्वयं ही जितने अंश में निमित्त का आश्रय छोड़कर

साक्षात् वीतरागस्वरूप स्वभाव का अनुसरण करके वीतराग पर्याय प्रगट होती है, उतने अंश में ही भाव्य-भावक संकरदोष टलता है।

जिसप्रकार द्रव्यकर्म जीता जाता है, उसीप्रकार नोकर्म का अनुसरण करके जो विकारीभाव होता है, उसे छोड़कर स्वभाव का अनुसरण करने से नोकर्म का जीतना होता है। तथा मन के निमित्त से जो कम्पन है, उसका अनुसरण करके योगरूप होने की योग्यता स्वयं की है। वह योग जितने अंश में स्वभाव का अनुसरण करता है, उतने अंश में भाव्य-भावक संकरदोष टल जाता है।

इस शास्त्र के आस्रव अधिकार में गाथा १७३ से १७६ तक के भावार्थ में पण्डित जयचंदजी ने लिखा है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि की सत्ता में से मिथ्यात्व का क्षय होते ही अनन्तानुबंधी कषाय का तथा उस संबंधी अविरति व योगभाव का भी क्षय हो गया होता है, इसलिये उसे इसप्रकार का बंध नहीं होता।' श्रीमद्रायचंद ने भी कहा है कि 'सर्वगुणांश ते समकित'। पण्डित टोडरमलजी ने भी रहस्यपूर्ण-चिट्ठी में चतुर्थ गुणस्थान होने पर ज्ञानादिगुण एकदेश प्रगट हो जाते हैं – ऐसा कहा है।

उपरोक्त मत के अनुसार वचन, काय व पाँच इन्द्रियों का भी विस्तार समझ लेना चाहिए। इन्द्रियों के अनुसरण से जो हीनदशा हो, वह भाव्य है; उस भाव्य का अनिन्द्रियस्वभाव के आश्रय से टलना – यह जितेन्द्रियपना है।

इसप्रकार समय-समय के परिणाम स्वयं से स्वतंत्रपने हैं, ऐसा सिद्ध करते हैं। परिणाम उग्ररूप परिणमें या उग्ररूप न परिणमें, यह सब स्वयं के कारण है, इससे निमित्त का जरा भी हस्तक्षेप नहीं है। आत्मावलोकन शास्त्र में आता है कि – 'जिस द्रव्य की जो पर्याय जिससमय जिसप्रकार से होती है, वह स्वयं के कारण से ही होती है, यह निश्चय है।'

इसीप्रकार मोह के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय तथा पांच इन्द्रियाँ – ये सोलह पद रखकर वर्णन किया है। इनके अलावा असंख्यप्रकार के शुभाशुभभाव हैं, तथा अनंतप्रकार के अंशों की हीनता व उग्रता होती है – उनका भी विचार कर लेना चाहिए।

गाथा ३२ के भावार्थ पर प्रवचन

भगवान आत्मा शुद्ध-चैतन्यघन है। द्रव्येन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों के विषय – ये तीनों ज्ञेय हैं, अपनी चीज नहीं – ऐसे जानने को

सर्वज्ञ परमात्मा केवलीभगवान की स्तुति कहते हैं। जो स्वयं की वस्तु होती है, वह दूर नहीं होती और जो दूर हो जाती है, वह अपनी वस्तु कैसे हो सकती है ? जिसे केवली भगवान की स्तुति करना हो, उसे राग व निमित्त से भिन्न होना आनन्द व सर्वज्ञस्वभाव से परिपूर्ण भगवान आत्मा के साथ एकता की निर्विकल्प भावना करनी चाहिए। यह बात तो ३१वीं गाथा की हुई। अब यहाँ ३२वीं गाथा में यह कहा है कि – राग और निमित्त से भिन्न होकर चैतन्यघन भगवान आत्मा के सन्मुख होने से जिसको पर्याय में शुद्धता प्रगट हुई है (ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष दूर हुआ है), उस ज्ञानी को अभी मोहकर्म का निमित्तपना है और उनकी ओर झुकनेवाली विकारी भाव्यदशा भी है। जब यह ज्ञानी निमित्त का लक्ष्य छोड़कर अन्दर निज ज्ञायकभाव का उग्र आश्रय लेकर उस भाव्य-मोह-रागादि को जीतता है अर्थात् मोह का उपशम करता हैं, अतः भाव्य-भावक संकरदोष टल जाता है, और आत्मा की स्तुति होती है अर्थात् आत्मगुण की वृद्धि होती है।

जड़कर्म जो मोह उसके अनुसार प्रवृत्ति से आत्मा भाव्यरूप होता था, उसे भेदज्ञान के बल से जिसने पृथक् अनुभव किया, वह जितमोहजिन हुआ। उपशमश्रेणी चढ़ते हुए मोहकर्म के उदय का अनुभव नहीं रहता, किन्तु अपने बल से उपशम आदि करके जो आत्मा का अनुभव करे, वह जितमोह है।

प्रश्न :– उपशमादि क्यों कहा ?

उत्तर :– क्योंकि उपशम श्रेणी में ज्ञान, दर्शन और वीर्य का क्षयोपशमभाव भी होता है।

जैसे पानी में जो मैल होता है वह स्थिर होकर नीचे बैठ जाता है, उसीप्रकार विकार (चारित्रमोह) उपशमश्रेणी में दब जाता है, किन्तु उसका क्षय नहीं होता। अतः उसे उपशम कहते हैं।

उपशम मात्रमोहकर्म का ही होता है जबकि क्षयोपशम, उदय और क्षय चारों ही घातिया कर्मों का होता है। क्षयोपशमभाव पहले से बारहवें गुणस्थान तक व क्षायिकभाव चौथे से चौदहवें गुणस्थान तक होता है और पारिणामिकभाव तो सदा ही सर्व जीवों के होता है।

इसप्रकार ३२वीं गाथा में भाव्यभावक संकरदोष को दूर करके प्रगट होनेवाली दूसरी स्तुति का व्याख्यान हुआ।

अथ भाव्यभावकभावाभावेन–

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ।।३३।।

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः ।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ।।३३।।

इह खलु पूर्वप्रक्रांतेन विधानेनात्मनो मोहं न्यक्कृत्य यथोदितज्ञानस्वभावातिरिक्तात्मसंचेतनेन जितमोहस्य सतो यदा स्वभावभावभावनासौष्ठवावष्टंभात्तत्संतानात्यंतविनाशेन पुनरप्रादुर्भावाय भावकः क्षीणो मोहः स्यात्तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं परमात्मानमवाप्तः क्षीणमोहो जिन इति तृतीया निश्चयस्तुतिः ।

अब, भाव्यभावक भाव के अभाव से निश्चयस्तुति बतलाते हैं:–

जित मोह साधु पुरुषका जब, मोह क्षय हो जाय है ।
परमार्थविज्ञायक पुरुष, क्षीणमोह तब उनको कहे ।।३३।।

गाथार्थ :–[**जितमोहस्य तु साधोः**] जिसने मोह को जीत लिया है ऐसे साधु के [**यदा**] जब [**क्षीणः मोहः**] मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट [**भवेत्**] हो [**तदा**] तब [**निश्चयविद्भिः**] निश्चय के जानने-वाले [**खलु**] निश्चय से [**सः**] उस साधु को [**क्षीणमोहः**] 'क्षीणमोह' नाम से [**भण्यते**] कहते हैं ।

टीका :–इस निश्चयस्तुति में पूर्वोक्त विधान से आत्मा में से मोह का तिरस्कार करके, पूर्वोक्त ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा का अनुभव करने से जो जितमोह हुआ है, उसे जब अपने स्वभाव-भाव की भावना का भलीभाँति अवलम्बन करने से मोह की संतति का ऐसा आत्यन्तिक विनाश हो कि फिर उसका उदय न हो–इसप्रकार भावकरूप मोह क्षीण हो, तब (भावक मोह का क्षय होने से आत्मा के विभावरूप भाव्यभाव का अभाव होता है, और इसप्रकार) भाव्यभावक भाव का अभाव होने से एकत्व होने से टंकोत्कीर्ण (निश्चल) परमात्मा को प्राप्त हुआ वह 'क्षीणमोह जिन' कहलाता है । यह तीसरी निश्चय स्तुति है ।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

यहाँ भी पूर्व कथनानुसार 'मोह' पद को बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्ष, घ्राण, रसन, स्पर्श—इन पदों को रखकर सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना और इसप्रकार के उपदेश से अन्य भी विचार लेना ।

भावार्थ :—साधु पहले अपने बल से उपशम भाव के द्वारा मोह को जीतकर, फिर जब अपनी महासामर्थ्य से मोह को सत्ता में से नष्ट करके ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं तब वे क्षीणमोह जिन कहलाते हैं।

गाथा ३३ की उत्थानिका, गाथा व उसकी टीका पर प्रवचन

गाथा ३१ में ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोप को जीतने की बात कही थी। गाथा ३२ में भाव-भावक संकरदोष दूर करने की बात कही। अब गाथा ३३ में भाव्य-भावक संबंध के अभाव की अर्थात क्षय की बात करते हैं।

विकाररूप होने की योग्यता भाव्य और उसका निमित्तरूप कर्म भावक है। इन दोनों के बीच जो भाव्य-भावक संबंध है, उसके अभावपूर्वक होने वाली तीसरी निश्चय स्तुति की चर्चा यहाँ करते हैं।

गाथा ३२ में भाव्य-भावक संबंध के अभाव की बात न करके उपशम की बात की थी, यहाँ उसके अभाव अर्थात् क्षय की बात करते हैं।

निश्चय-स्तुति अर्थात् स्वाभाविक गुणों की शुद्धि की विकासदशा। पहले ३२वीं गाथा में जिसप्रकार कहा गया था, उसीप्रकार ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्यद्रव्यों से अधिक अर्थात् भिन्न ऐसे आत्मा का अनुभव करके, जिन्होंने मोह का तिरस्कार किया है, मोह का उपशम किया है; वे जीव अब क्षायिक भाव द्वारा मोह का नाश (क्षय) करते हैं। उपशमश्रेणी में ग्यारहवें गुणस्थान में क्षायिकभाव नहीं होता है। इस कारण मुनिजन वहाँ से पीछे हटकर फिर उग्र पुरुषार्थ करके मोहादि का क्षय करते हैं। उपशमश्रेणी में पुरुषार्थ मंद होता है, जबकि क्षपकश्रेणी में उग्र होता है।

यह स्तुति साधकभाव है और वह बारहवें गुणस्थान तक ही होती है। तेरहवें गुणस्थान में स्तुति नहीं होती, क्योंकि १३वाँ गुणस्थान-केवलज्ञान तो स्तुति का फल है। पहले कहे अनुसार इन्द्रियों को जीतकर जिसने अतीन्द्रिय आत्मा का ज्ञान व भान किया है; वह कर्म के निमित्त

का अनुसरण करने से उत्पन्न होनेवाले भाव्य का उपशम करता है तब वह जितमोह होता है। वही आत्मा के निजस्वभाव का उग्र अवलंबन करता है। जिस भावना से (एकाग्रता से) कर्म का उपशम हुआ था उसमें पुरुषार्थ मंद था। परन्तु अब वह ज्ञायक आत्मा के अति उग्र आश्रय से पुरुषार्थ को उग्र बनाता है, इससे कर्म का क्षय होता है। उग्र पुरुषार्थ से मोह की संतति का अत्यन्त नाश हो जाता है। पुरुषार्थ से मोह का क्षय होता है – ऐसा कहना तो निमित्त का कथन है। कर्म का क्षय तो उसकी स्वयं की योग्यता से होता है।

स्वभावसन्मुखता के अति उग्र पुरुषार्थ से जब केवल ज्ञान प्रगट होता है, तब चार घातिया कर्मों का क्षय होता है – ऐसा निमित्त से कहा जाता है। वास्तव में तो वे कर्म स्वयं नाश होने की योग्यता वाले थे; इस कारण क्षयपने को प्राप्त होते हैं। उस काल में कर्म की पर्याय स्वयं अकर्मरूप होने योग्य होती है। इस कारण कर्म का क्षय होता है।

इसप्रकार स्वभाव के उग्र पुरुषार्थ से पर्याय में जो उपशमभावरूप मंद पुरुषार्थ था, उसे टाल दिया – यह तीसरे प्रकार की स्तुति है।

परिपूर्ण भगवान आत्मा का अनुभव करके जो जितमोह हुआ है; उसने राग को दबाया है, राग का उपशम किया है; किन्तु अभाव नहीं किया, क्योंकि उसको स्वभाव का उग्र अवलम्बन नहीं है। अब यदि वह निज ज्ञायकस्वभाव का अति उग्र अवलम्बन ले तो मोह की संतति के प्रवाह का ऐसा अत्यन्त विनाश हो कि पुनः मोह का उदय ही नहीं हो। इस प्रकार जब भावकरूप मोह का क्षय होता है, तब विभावरूप भाव्य का भी आत्मा में से अभाव होता है।

जो भावकमोह है उसकी ओर का झुकाव छूटने पर और उग्र पुरुषार्थ से स्वभाव का अवलम्बन लेने पर भावकमोह व भाव्यमोह दोनों का अभाव होता है। इससे क्षीणमोह गुणस्थान से जीव परमात्मपने को प्राप्त हो जाता है। यह तीसरे प्रकार की स्तुति है।

बारहवें गुणस्थान में भाव्य-भावकभाव का अभाव होने से एकपने को प्राप्त होने से जो परमात्मपने को प्राप्त हुये, वे क्षीण मोह जिन हैं।

जिन तीन प्रकार के कहे हैं – प्रथम जितेन्द्रिय जिन, दूसरे उपशम की अपेक्षा से जितमोह जिन और तीसरे क्षायिकरूप क्षीणमोह जिन। सम्यग्दर्शन होने पर जितेन्द्रिय जिन होते हैं। उपशमश्रेणी होने पर जित

मोह जिन होते हैं तथा अति उग्र पुरुषार्थ द्वारा पूर्ण वीतराग स्वरूप प्रगट होने पर क्षायिकजिन या क्षीणमोह जिन होते हैं।

दूसरे प्रकार की स्तुति में उपशमश्रेणी की बात है, उपशम सम्यग्दृष्टि की बात नहीं है। इसी प्रकार तीसरे प्रकार की स्तुति में केवलज्ञानी की बात नहीं है, परन्तु बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान की बात है, क्योंकि केवलज्ञान तो स्तुति का फल है। क्षीणमोह होने पर जो पूर्ण वीतरागता हुई वह तीसरे प्रकार की उत्कृष्ट स्तुति है। उपशम स्तुति में (गाथा ३२ में) जो १६ बोल थे, उन्हें यहाँ भी लगा लेना चाहिए।

भाई! यह भगवान जिनेन्द्रदेव का मार्ग तो अति सूक्ष्म है। अनंतकाल में जिसे समझा नहीं है वह मार्ग यहाँ बताया जा रहा है।

गाथा ३३ के भावार्थ पर प्रवचन

सर्वज्ञ परमात्मा की निश्चय स्तुति किसे कहते हैं? यह प्रश्न था उसका उत्तर दिया है कि यह भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूपी वस्तु है। उसकी दृष्टि करके उसमें एकता करना केवली की प्रथम प्रकार की स्तुति है। भगवान की पूजा, भक्ति, यात्रा करने का भाव शुभभाव होने से पुण्यबंध के कारण हैं। वे भाव वास्तविक धर्म नहीं हैं और वास्तविक स्तुति भी नहीं हैं, तथा वास्तविक जिनशासन भी नहीं हैं।

भगवान आत्मा शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, पूर्ण, पवित्र, आनन्दधाम है। उसके सम्मुख होकर; निमित्त, राग व एक समय की पर्याय से विमुख होकर; अन्दर एकाग्र होने पर पर्यायबुद्धि छूटने से प्रथमप्रकार की स्तुति होती है। राग से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव होने पर सम्यग्दर्शन होता है, वह पहली स्तुति है। ऐसा होते हुए भी सम्यग्दृष्टि के कर्म के उदय की ओर के झुकाव से स्वयं में स्वयं के कारण भावकर्म के निमित्त से विकारी भाव्य होता है। यह भाव्य-भावक संकरदोष है, तथा कर्म के उदय का लक्ष्य छोड़कर अखण्ड, एक चैतन्यघन प्रभु के सन्मुख होकर उसमें अपने उपयोग का जुड़ान करने से उपशमभाव द्वारा ज्ञानी उस मोह को जीतता है। यह दूसरे प्रकार की स्तुति है।

प्रथम प्रकार की स्तुति में सम्यग्दर्शन सहित आनंद का अनुभव है। दूसरे प्रकार की स्तुति में भावकमोह कर्म के उदय के निमित्त से जो विकारी भाव्य हुआ, उसे स्वभाव के आश्रय से दबा दिया व उपशमभाव प्रगट किया। इसप्रकार की स्तुति में स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ है, परन्तु वह मन्द है। तीसरे प्रकार की स्तुति में प्रबल पुरुषार्थ से अन्दर

एकाग्र होने से राग का नाश होता है। दूसरे प्रकार की स्तुति में जो उपशमश्रेणी थी, उससे पीछे हटकर क्षपकश्रेणी में जाने से रागादि का क्षय होता है। उपशमश्रेणी में रागादि का क्षय नहीं होता है। इस कारण पीछे हटकर सातवें गुणस्थान में आकर पश्चात् उग्र पुरुषार्थ द्वारा क्षपक-श्रेणी माँडने पर रागादि का अभाव होता है।

अहाहा ! अनादि से अपना स्वरूप तो अखण्ड एक आनंदकंद प्रभु भगवानस्वरूप ही है। आत्मा स्वयं परमात्मस्वरूप, जिनस्वरूप, वीतराग-स्वरूप ही है। तथा जो विकल्प उठते हैं, वे तो अन्यस्वरूप कर्म हैं। आत्मा तो मात्र अकषायस्वभावी आनंदकंद है। उसकी दृष्टि करके अनुभव करना प्रथम प्रकार से आत्मा की स्तुति है। तत्पश्चात् राग के उदय में अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से पर में उपयोग का जुड़ान होता था, उसे भी अपने स्वरूप की ओर के पुरुषार्थ से रोककर, राग को दबाया, राग का उपशम किया – यह उपशम श्रेणी दूसरे प्रकार की स्तुति है। उपशमश्रेणी आठवें गुणस्थान में शुरू होती है। ग्यारहवें गुणस्थान में उपशमभाव होता है, किन्तु वहाँ क्षायिकभाव नहीं होता है। इस कारण वहाँ से पीछे हटकर, सातवें गुणस्थान में आकर फिर पुरुषार्थ की अति उग्रता से जो राग का नाश किया जाता है – वह तीसरे प्रकार की स्तुति है।

राग का उपशम हो या क्षय हो – काम तो पुरुषार्थ का ही है। पहले अपने बल से दूसरे प्रकार की स्तुतिरूप उपशम भाव से मोह को जीता था, परन्तु नाश नहीं किया था। फिर अपनी महासामर्थ्य से अर्थात् अप्रतिहतस्वरूप की ओर के अप्रतिहतपुरुषार्थ से मोह का नाश किया है। यह भी उपदेश का कथन है। वास्तव में तो उग्र पुरुषार्थ के काल में मोह का अपने कारण नाश होता है, परन्तु भाषा में तो ऐसा ही आता है कि पुरुषार्थ से मोह का नाश किया।

यह आत्मा परमात्मा है। वह एक समय की पर्याय के बिना परि-पूर्ण वीतरागस्वभावी परमात्मस्वरूप वस्तु है। उसमें उग्र अप्रतिहत पुरुषार्थ द्वारा स्थिर होकर जब मुनिराज मोह का अत्यन्त नाश करते हैं, तब ज्ञानस्वरूप प्रगट परमात्म पद को प्राप्त होते हैं; उन्हें क्षीण-मोहजिन कहते हैं। बारहवें गुणस्थान को प्राप्त पूर्ण वीतराग क्षीणमोह-जिनरूप तीसरे प्रकार की उत्कृष्ट स्तुति है। इस उत्कृष्ट स्तुति का फल तेरहवाँ गुणस्थान केवलज्ञान है।

इसप्रकार जो केवलज्ञानस्वभावी अपना आत्मा ज्ञाता-दृष्टास्वरूप है, उसकी ओर के सम्पूर्ण झुकाव तथा सत्कार से पर्याय में राग का और

उसके भावककर्म का सत्ता में से नाश होता है, उसे तीसरे प्रकार से केवली की उत्कृष्ट स्तुति कहते हैं। अहाहा! अपनी पूर्ण सत्ता का जो अनादर था, उसे छोड़कर, उसकी स्वीकृति करने से और संभाल करने से राग की व कर्म की सत्ता का नाश होता है, तब वह क्षीण मोहजिन होता है।

अब यहाँ इस निश्चय-व्यवहाररूप स्तुति के अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :-

(शार्दूलविक्रीडित)

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः ॥२७॥

श्लोकार्थ :- [**कायात्मनोः व्यवहारतः एकत्वं**] शरीर और आत्मा के व्यवहारनय से एकत्व है [**तु पुनः**] किन्तु [**निश्चयात् न**] निश्चयनय से नहीं है; [**वपुषः स्तुत्या नुः स्तोत्रं व्यवहारतः अस्ति**] इसलिये शरीर के स्तवन से आत्मा-पुरुषका स्तवन व्यवहारनय से हुआ कहलाता है [**तत्त्वतः तत् न**] निश्चयनय से नहीं; [**निश्चयतः**] निश्चय से तो [**चित्स्तुत्या एव**] चैतन्य के स्तवन से ही [**चितः स्तोत्रं भवति**] चैतन्य का स्तवन होता है। [**सा एवं भवेत्**] उस चैतन्य का स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह – इत्यादिरूप से कहा वैसा है। [**अतः तीर्थंकरस्तवोत्तरबलात्**] अज्ञानी ने तीर्थंकर के स्तवन का जो प्रश्न किया था उसका इसप्रकार नयविभाग से उत्तर दिया है; जिसके बल से यह सिद्ध हुआ कि [**आत्म-अङ्गयोः एकत्वं न**] आत्मा और शरीर में निश्चय से एकत्व नहीं है ॥२७॥

कलश २७ पर प्रवचन

शरीर और आत्मा के व्यवहारनय से एकपना है। शरीर में बाह्य-शरीर, कर्म व राग – ये सब ग्रहण कर लेना। आत्मा और शरीर – दोनों का एक क्षेत्र में रहने से व दोनों के बीच निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से एक हैं – ऐसा व्यवहारनय कहता है, परन्तु वे दोनों निश्चयनय से एक नहीं हैं। जड़ रजकणों से निर्मित शरीर से चैतन्यभगवान भिन्न हैं।

जिसप्रकार पानी से भरे हुए कलश में पानी कलश से भिन्न है और कलश पानी से भिन्न है, उसीप्रकार भगवान आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि शरीर और आत्मा को व्यवहारनय से एक कहा है, तथापि निश्चयनय से अर्थात् वास्तव में वे दोनों एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न ही हैं।

शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन हुआ – ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है, किन्तु निश्चयनय से नहीं। आहाहा देखो! भगवान त्रिलोकीनाथ अरहंतदेव परवस्तु हैं, और उनकी स्तुति का विकल्प राग है। इससे यह स्तुति आत्मा की स्तुति नहीं है, क्योंकि विकल्प आत्मा से भिन्न वस्तु है। राग से लेकर समस्त परपदार्थ अर्थात् सिद्ध भगवान व तीर्थंकर भी इस आत्मा के स्वरूप से भिन्न होने से अनात्मा है। जो अनात्मा की स्तुति करता है, वह चैतन्य की स्तुति नहीं करता है, किन्तु चैतन्य से भिन्न जड़ की स्तुति करता है। जिसप्रकार आत्मा से भिन्न ऐसे अनात्मस्वरूप जड़ शरीर की स्तुति से राग होता है, उसीप्रकार आत्मा (स्वयं) से भिन्न ऐसे समवसरण में विराजमान साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव के शरीर के गुणों की स्तुति करने पर भी परलक्ष्य होने से, राग उत्पन्न होता है। इसलिए वह आत्मा की स्तुति नहीं है।

जैसे पर-पदार्थ निज-जीव नहीं हैं, इस अपेक्षा से अजीव हैं, उसीप्रकार निजद्रव्यरूप भगवान आत्मा की अपेक्षा से दूसरे द्रव्य अद्रव्य हैं। दूसरे द्रव्य अपनी-अपनी अपेक्षा से तो स्वद्रव्यरूप हैं, किन्तु अपने जीव द्रव्य की अपेक्षा से वे अद्रव्य हैं। उसीप्रकार इस आत्मा के क्षेत्र की अपेक्षा से परक्षेत्र अक्षेत्र हैं, इस आत्मा के स्वकाल की अपेक्षा से परकाल अकाल हैं, और इस आत्मा के स्वभाव की अपेक्षा से पर-स्वभाव अस्वभाव हैं।

समयसार के अन्त में अनेकान्त के परिशिष्ट में १४ बोल में यह बात आती है। आत्मा स्व-चतुष्टय से है तथा पर-चतुष्टय से नहीं है। इसीप्रकार परपदार्थ अपने स्व-चतुष्टय से हैं, किन्तु इस आत्मा के चतुष्टय से नहीं हैं। ज्ञानमात्र जीववस्तु की स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभावरूप से अस्ति है, तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभावरूप से नास्ति है। स्वद्रव्य अनंत गुण व पर्यायों का पिण्ड है। असंख्य प्रदेशमय उसका क्षेत्र है, एकसमय की पर्याय उसका स्वकाल है तथा अपने गुण उसका स्वभाव है। इसप्रकार मेरे स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अरहंत व सिद्ध भगवान का आत्मा अद्रव्य, अक्षेत्र, अकाल तथा अस्वभाव है। यह तो पर से भिन्नता की बात है। इसलिए अरहंतादि की स्तुति इस आत्मा की स्तुति नहीं है।

कलश टीका में २५२वें कलश में उक्त कथन से भी सूक्ष्म बात कही है। वहाँ तो यह कहा है कि अखण्ड निर्विकल्प अभेद एकाकार वस्तु स्वद्रव्य तथा स्वद्रव्य में 'ये गुण तथा यह गुणी' ऐसे भेद विकल्प करना पर-द्रव्य है। असंख्यप्रदेशी एकरूप आकार तो स्वक्षेत्र व असंख्यप्रदेश-

ऐसे भेद करना परक्षेत्र है। पूर्णानंद का नाथ त्रिकाली वस्तु तो स्व-काल है, तथा एकसमय की पर्याय पर-काल है, द्रव्य की सहजशक्ति तो स्वभाव है तथा एकरूप वस्तु में 'यह ज्ञान, यह दर्शन'- ऐसे भेद करना परभाव है।

आहाहा ! वस्तु बहुत सूक्ष्म है, भाई ! जहाँ 'मैं स्वयं द्रव्य व यह मेरी पर्याय' ऐसा भेद करना भी परद्रव्य है; वहाँ पुण्य-पाप के भावों का क्या कहना, वे तो पर-द्रव्य हैं ही। अभेद स्वभाव में गुणभेद की कल्पना करना परभाव है। अहो! दिगम्बर संतों की वीतरागमार्ग की बात अलौकिक है। इसप्रकार की बात अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

नियमसार की ५०वीं गाथा में भी आता है कि स्वरूप के आश्रय से प्रगट हुई एकसमय की निर्मल वीतरागी संवर, निर्जरा व केवलज्ञान की पर्याय भी पर-द्रव्य, पर-भाव है व इसी से हेय है। अपना त्रिकाली स्वभाव स्व-द्रव्य है तथा एकसमय की पर्याय त्रिकाली में नहीं है, त्रिकालरूप नहीं है अतः पर-द्रव्य है। मूलगाथा में 'परदव्वं परसहावमिदि हेयं' अर्थात् पूर्वोक्त सर्वभाव परस्वभाव है, परद्रव्य है; इसकारण हेय है – ऐसा कहा है तथा टीका में ऐसा लिखा है कि 'शुद्ध निश्चय के बल से (शुद्ध निश्चयनय से) वे सब हेय हैं। क्योंकि वे परभाव हैं, तथा इसी से पर-द्रव्य हैं। सर्व विभाव गुणपर्यायों से रहित शुद्ध अंतः तत्त्वस्वरूप स्वद्रव्य उपादेय हैं।'

आहाहा ! वे चार ज्ञान – मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्ययज्ञान भी विभावगुणपर्यायें हैं। त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव स्व-द्रव्य है और वह एक ही उपादेय है। यहाँ पर्यायबुद्धि छुड़ाकर द्रव्यबुद्धि कराने का प्रयोजन है। जिसप्रकार पर-द्रव्य में से निर्मलपर्याय उत्पन्न नहीं होती, उसीप्रकार एक निर्मलपर्याय में से दूसरी नवीन निर्मलपर्याय नहीं आती। भले ही मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट हो, तथापि दृष्टि में से तो छोड़ने लायक ही है; क्योंकि त्रिकाली एक अखण्ड आनन्दकंद ज्ञायकवस्तु ही उपादेय है, तथा एकसमय की निर्मल मोक्षमार्ग की पर्याय पर-द्रव्य होने से हेय है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि आत्मा व शरीर में एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से शरीर की स्तुति से केवली की स्तुति हुई – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है, परन्तु निश्चयनय से यह यथार्थ स्तुति नहीं है, क्योंकि निश्चय-नय से आत्मा व शरीर एक नहीं हैं। शरीर का स्तवन कहो या निज भगवान आत्मा के सिवाय अन्य आत्मा का – केवली का स्तवन कहो; ये सब व्यवहार से स्तवन हैं। निश्चय से केवली के गुणों की स्तुति सच्ची स्तुति नहीं है, यह तो राग है।

निश्चय से तो चैतन्य के स्तवन से ही चैतन्य का स्तवन होता है। आहाहा ! अखण्ड एक त्रिकाली ध्रुव चैतन्यरूप ज्ञायकभाव का सत्कार करना अर्थात् उसके सन्मुख होकर उसमें एकाग्र होना तथा निर्मल पर्याय प्रगट करना ही यथार्थ-स्तुति है। यही स्तुति भव के अभाव का कारण है, दूसरी कोई स्तुति या भक्ति भव के अभाव का कारण नहीं है। कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि सम्मेदशिखरजी के दर्शन करने से ४६ भव में अवश्य मुक्ति हो जाती है, परन्तु अरे भाई ! यह वीतरागमार्ग की बात नहीं है। सम्मेदशिखर तो क्या त्रिलोकीनाथ अरहंतदेव के साक्षात् दर्शन करे, तथापि भव का अभाव नहीं होता। अन्दर चिदानन्द भगवान आत्मा त्रिलोकीनाथ त्रिकाल विराजता है, उसका दर्शन भव के अभाव का कारण है। इस आत्मा के सिवाय शरीर से लगाकर अन्य सर्व अपनी आत्मा की अपेक्षा अनात्मा हैं। उनकी स्तुति करना निश्चय-स्तुति नहीं है। पूर्ण चैतन्यस्वभाव में एकाग्रतारूप स्तवन से चैतन्य का सच्चा स्तवन होता है। इसके सिवाय भगवान की स्तुति अथवा एकसमय की पर्याय जो परद्रव्य है, उसकी स्तुति (एकाग्रता) चैतन्य की स्तुति नहीं है।

आहाहा ! चैतन्यबिंब वीतरागमूर्त्ति भगवान आत्मा की स्तुति से केवली के गुण की निश्चयस्तुति अथवा स्वचैतन्य का स्तवन होता है। जितेन्द्रियजिन, जितमोहजिन तथा क्षीणमोहजिन जो पहले तीन प्रकार से कहा था, वह ही चैतन्य का वास्तविक स्तवन है।

अरे ! एक समय की पर्याय से रहित जो त्रिकाली पूर्णस्वरूप है, वह तत्त्व है कि नहीं ? सत्ता है कि नहीं ? यदि सत्ता है तो पूर्ण है कि नहीं ? यदि वह पूर्ण है तो अनादि-अनन्त है या नहीं ? वस्तु अनादि-अनंत पूर्ण त्रिकाल ध्रुवस्वरूप है। उसकी ओर के झुकाव से निश्चयस्तुति होती है। उसके सिवाय विकल्पों द्वारा भगवान की लाख स्तुति करे, तो भी यथार्थ (सच्ची) स्तुति नहीं है।

प्रश्न :—मोक्षशास्त्र के मंगलाचरण में आता है कि :—

"मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥

जो मोक्षमार्ग के नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतों को भेदन करनेवाले हैं, विश्वतत्त्वों को जाननेवाले हैं—ऐसे परमात्मा के गुणों की प्राप्ति के लिए मैं उनकी वंदना करता हूँ।"

इसमें भगवान के गुणों का स्तवन करने से उनके गुणों का लाभ इस आत्मा को होता है – ऐसा क्यों आया है ?

उत्तर :–भाई ! यह तो निमित्त का या व्यवहार का कथन है। 'स्तुति करता हूँ' यह भाव तो विकल्प है। परन्तु अमृतचन्द्राचार्यदेव ने तीसरे कलश में जैसा कहा है, तदनुसार उस विकल्प के काल में दृष्टि द्रव्य पर होने से जो शुद्धि की प्राप्ति होती है, उसे उपचार से भगवान की स्तुति हुई – ऐसा कहा जाता है।

अमृतचन्द्राचार्यदेव स्वयं तीसरे कलश में कहते हैं कि "मैं तो शुद्ध चैतन्यघन हूँ, परन्तु मेरी पर्याय में इससमय कुछ मलिनता है। उस मलिनता का टीका करने से ही नाश होवे तथा परम विशुद्धि प्रगट होवे"। टीका करने का भाव तो विकल्प है। क्या विकल्प से विशुद्धि हो जाती है ? इससे अशुद्धि का नाश कैसे हो ? पाठ तो ऐसा ही है 'व्याख्यया एव – टीका से ही'। इसका अर्थ ऐसा है कि मैं जब टीका करता हूँ तब विकल्प तो है, परन्तु मेरा जोर तो अखण्डानंद द्रव्य पर है। टीका के काल में दृष्टि का जोर द्रव्य पर है इससे उस जोर के कारण अशुद्धि का नाश हो तथा परम विशुद्धि हो – ऐसा कहने का अभिप्राय है।

शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञानसूर्य है। ऐसे परिपूर्ण अखण्ड द्रव्यस्वभाव में एकाग्रता से एकता होना सच्ची निश्चयस्तुति है।

इस प्रकार अज्ञानी ने जो तीर्थंकर के स्तवन का प्रश्न किया था, उसका नयविभाग से उत्तर दिया। उस उत्तर के बल से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा व शरीर का निश्चय से एकपना नहीं है। आत्मा व अनात्मा एक नहीं है। उसी प्रकार एक समय की पर्याय और त्रिकालभाव एक रूप नहीं है। अहाहा ! वस्तु ऐसी सूक्ष्म और गंभीर है।

अब फिर, इस अर्थ के जानने से भेदज्ञान की सिद्धि होती है इस अर्थ का सूचक काव्य कहते हैं :–

(मालिनी)

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्याऽत्यंतमुच्छादितायाम्।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥

इत्यप्रतिबुद्धोक्तिनिरासः।

श्लोकार्थ :–[**परिचित तत्त्वैः**] जिन्होंने वस्तु के यथार्थ स्वरूप को परिचयरूप किया है ऐसे मुनियों ने [**आत्म–काय–एकतायां**] जब आत्मा और शरीर के एकत्व को [**इति नय-विभजन-युक्त्या**] इसप्रकार नय-विभागकी युक्ति के द्वारा [**अत्यन्तम् उच्छादितायाम्**] जड़मूल से उखाड़ फेंका है – उसका अत्यन्त निषेध किया है, तब अपने [**स्व-रस-रभस-कृष्टः प्रस्फुटन् एकः एव**] निजरस के वेग से आकृष्ट हुए प्रगट होनेवाले एक स्वरूप होकर [**कस्य**] किस पुरुष को वह [**बोधः**] ज्ञान [**अद्य एव**] तत्काल ही [**बोधं**] यथार्थपने को [**न अवतरति**] प्राप्त न होगा ? अवश्य ही होगा।

भावार्थ :—निश्चय-व्यवहारनय के विभाग से आत्मा और पर का अत्यन्त भेद बताया है; उसे जानकर, ऐसा कौन पुरुष है जिसे भेदज्ञान न हो ? होता ही है; क्योंकि जब ज्ञान अपने स्वरस से स्वयं अपने स्वरूप को जानता है, तब अवश्य ही वह ज्ञान अपने आत्मा को पर से भिन्न ही बतलाता है। कोई दीर्घ संसारी ही हो तो उसकी यहाँ कोई बात नहीं है।

इसप्रकार, अप्रतिबुद्ध ने जो यह कहा था कि—"हमारा तो यह निश्चय है कि शरीर ही आत्मा है" उसका निराकरण किया।

कलश २८ पर प्रवचन

शिष्य ने गुरु के समक्ष शंका प्रगट करके कहा कि शरीर तथा आत्मा एक हैं; क्योंकि जब आप तीर्थंकर भगवान की स्तुति करते हो, तब ऐसा कहते हो कि "अहो ! इन्द्रों के मन को भी जीत लेनेवाला आप का क्या सुन्दर रूप है, जो कि अपने तेज से सूर्य को भी ढँक देता है। भगवान ! आपकी दिव्यध्वनि तो मानो साक्षात् अमृत वर्षाती है।" हे गुरुदेव ! आप ही इसप्रकार स्तुति करते हो। इस कारण हम ऐसा मानते हैं कि शरीर को ही आप आत्मा मानते हो।

उसका यहाँ समाधान करते हैं कि जिन्होंने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिचय किया है अर्थात् ज्ञानानंदस्वरूप वस्तु का परिचय करके आनन्द का अनुभव किया है – ऐसे मुनिजनों ने आत्मा और शरीर के एकपने को नयविभाग की युक्ति से जड़मूल से उखाड़ फेंका है, अत्यन्त निषेध कर दिया है। अहाहा ! क्या कहते हैं ? व्यवहारनय से आत्मा और शरीर का एकपना कहा जाता है, परन्तु निश्चय से एकपना है नहीं।

इसी शास्त्र की चौथी गाथा में तो यह कहा है कि 'राग कैसे करना और कैसे भोगना' – यह बात तो तूने अनन्तबार सुनी है, अनन्तबार तेरे

परिचय में भी आ गई है और अनुभव भी खूब किया है; परन्तु राग से भिन्न भगवान आत्मा की बात कभी सुनी नहीं, परिचय में भी नहीं आई और अनुभव भी नहीं की। परन्तु इस कलश में ऐसा कह रहे हैं कि जिन्होंने वस्तु के यथार्थस्वरूप का परिचय किया है, बारम्बार आनन्दस्वरूप का अनुभव किया है, उन मुनिजनों ने राग का विकल्प और भगवान आत्मा तीनकाल में भी एक नहीं हो सकते – ऐसा भेदज्ञान करके उनके एकपने को जड़मूल से उखाड़ फेंका है।

कलश टीका में 'परिचित तत्त्वै' का अर्थ – 'प्रत्यक्षरूप से जाना है, जीवादि सकल द्रव्यों के गुण-पर्यायों को जिसने – ऐसे सर्वज्ञदेव' – ऐसा किया है। इसप्रकार केवली तथा सम्यग्ज्ञानी मुनिजनों ने आत्मा व शरीरादि के एकपने को नयविभाग की युक्ति से उखाड़ फेंका है; अर्थात् रागादि सभी अन्य पदार्थ भगवान आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं – ऐसा बताया है।

पंचास्तिकाय की १७२वीं गाथा में व्यवहार को साधन और निश्चय को साध्य कहा है। परन्तु वह तो आरोपित कथन है, वास्तविक साधन तो राग से भिन्न होकर चैतन्य का अनुभव करना है। उसके साथ जो राग होता है, उसे उपचार से साधन कहा जाता है; परन्तु राग से निश्चय प्रगट नहीं होता। व्यवहार से जिनको साधन कहा है, उनका यहाँ अत्यन्त निषेध किया है।

अहाहा! अनन्तऋद्धिओं से भरी हुई निजवस्तु परिपूर्ण है, उसे भगवान ने बताया है; तथापि अनादि से राग व शरीर पर लक्ष्य होने से अज्ञानी का आत्मा पर लक्ष्य नहीं है। इसकारण उसे ऐसा आभास होने लगा है कि मानो आत्मा है ही नहीं। भाई! दया, दान व्रतादि के विकल्प से लाभ मानने पर चैतन्य का मरण (घात) हो जाता है। राग की एकता में आत्मा ज्ञात नहीं होता, राग ही ज्ञात होता है। चैतन्यज्योति पूर्णानंद प्रभु का प्रेम छोड़कर जो शुभाशुभ राग का प्रेम करता है, उसके लिए आत्मा मरण तुल्य ही है। 'राग मेरा है, मैं रागमय हूँ और राग मेरा कर्त्तव्य है' – ऐसा माननेवाले की मान्यता में वीतरागस्वरूप आत्मा का अनादर है। इसकारण उसे आत्मा के अस्तित्व में ही भ्रांति हो जाती है।

यह भ्रान्ति परमगुरु परमेश्वर त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव का उपदेश सुनने से मिटती है। सर्वज्ञ परमेश्वर का यह उपदेश है कि "भगवन! तू तो आनन्द का कन्द है। हमारी पर्याय में जैसा परमात्मपद प्रगट हुआ है, वैसा ही परमात्मपद तेरे स्वभाव – शक्ति में पड़ा है। तुम्हारा आत्मा

(शक्तिरूप से) हमारे आत्मा जैसा ही है, अल्पज्ञ पर्यायवाला या रागवाला नहीं है। तू तो पूर्णानन्दस्वरूप भगवान है" – ऐसा तीर्थंकर भगवान का उपदेश है। "हमारी भक्ति करो तो तुम्हारा कल्याण हो जाएगा" – ऐसा भगवान का उपदेश नहीं है।

चिदानन्द प्रभु आत्मा पूर्णज्ञान व सुख से भरा हुआ भगवानस्वरूप है। वह अल्पज्ञ, रागमय या शरीररूप नहीं है। ऐसा होते हुए भी 'मैं अल्पज्ञ, रागमय हूँ' – ऐसा मानने पर आत्मा मरण तुल्य हो जाता है। ऐसा माननेवालों ने सम्पूर्ण चैतन्यतत्त्व की हत्या ही कर डाली है। ऐसे अज्ञानी जीवों को भगवान की वाणी सचेत करती है, अर्थात् जब ये जीव स्वयं चेतें, तब भगवान की वाणी ने चेताया है – ऐसा कहा जाता है। भगवान की वाणी में ऐसा आया है कि आत्मा रजकण व राग से भिन्न ज्ञानानंद स्वरूप भगवान है। दया, दान, भक्ति आदि तथा काम, क्रोधादिरूप शुभाशुभ-विकल्प रागादिस्वरूप हैं; उनमें चैतन्य का अंश नहीं है। व्यवहार से भले ही एकरूप कहा हो, परन्तु परमार्थ से तो देहादि और आत्मा भिन्न ही हैं। दिव्यध्वनि में इसप्रकार नयविभाग आता है, तथा सन्त व मुनिजन भी इसी रीति से भिन्नता बताते हैं।

मात्र व्यवहारनय को ही जाननेवाले अर्थात् 'राग से धर्म होता है' ऐसा मानने वाले अज्ञानीजन राग व आत्मा को एक कहते हैं, एक मानते हैं। परन्तु सर्वज्ञ परमेश्वर तथा जिन्होंने राग व विकल्प से भगवान आत्मा को भिन्न देखा है, जाना है, माना है और अनुभव किया है – ऐसे भावलिंगी सन्त यह कहते हैं कि भाई! आत्मा में राग का अंश नहीं है। इसप्रकार ज्ञानीजन निश्चयनय के बल से आत्मा व राग के एकपने को जड़मूल से उखाड़ देते हैं।

ऐसा स्वरूप सुनकर अपने स्वरूप को जानने पर जो चैतन्यज्योति मरण तुल्य हो गई थी वह जाग्रत हुई, तब भान हुआ कि अहो! मैं तो ज्ञायक-स्वरूप ज्ञान व आनंद की मूर्ति हूँ। रागादि मेरे स्वरूप में नहीं और उससे मुझे लाभ भी नहीं है। मेरा आधार मेरा चिदानंदस्वरूप है, राग व निमित्त मेरा आधार नहीं है। अहाहा! मैं तो पूर्ण आनंद, पूर्णज्ञान, पूर्णश्रद्धा, पूर्णशान्ति इत्यादि अनन्त-अनन्त परिपूर्ण शक्तियों से भरा हुआ भगवान हूँ, ईश्वर हूँ। इसप्रकार अनादि से जो राग का अनुभव था, वह छूटकर जब चैतन्य ज्योतिस्वरूप भगवान ज्ञायक आत्मा का अनुभव होता है; तब सम्यग्दर्शन होता है।

पहले जमाने में जो शीतकाल में असली घी आता था, वह खूब घन–ठोस–जमा हुआ आता था। उसमें उंगली तो क्या कल्छरी (लोहे का तंगरा) का भी प्रवेश नहीं होता था। इसीप्रकार भगवान आत्मा चैतन्य ज्ञान घन है, उसमें शरीर, वाणी, मन व कर्म तो प्रवेश कर ही नहीं सकते किन्तु शुभाशुभ विकल्पों का भी प्रवेश नहीं हो सकता। शरीर आदि अजीव तत्त्व हैं और शुभाशुभभाव आस्रव तत्त्व हैं। उन दोनों – आस्रव व अजीवतत्त्वों से पूर्णानंद का नाथ भिन्न है। आहाहा! जीवती जागती चैतन्यज्योति अन्दर पड़ी है, वह ज्ञान-दर्शनमय चैतन्यप्राण से त्रिकाल टिक रही है। ऐसे त्रिकाल स्थिरतत्त्व को न मानता हुआ देह की क्रिया मेरी है, जड़कर्म मेरा है, दया, दान आदि विकल्प मुझे लाभदायक हैं– ऐसा मानकर अरेरे! जीवती ज्योति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है, मान्यता में इसने त्रिकालसत्त्व से इन्कार कर दिया है।

ऐसे अज्ञानी जीवों को सन्तों ने बताया है कि भाई! जो सम्यग्दर्शन के अनुभव में ज्ञात होती है, वह चैतन्यसत्ता परिपूर्ण है, महान है, उस परिपूर्णसत्ता में राग का कण या शरीर का रजकण समा जाय–ऐसा नहीं है। आहाहा! वह ज्ञायक चैतन्य-चन्द्र मात्र शीतल···· शीतल···· शीतल····, शान्त···· शान्त···· शान्त···· अकषाय स्वभाव का पूर है। भाई! तू स्वयं ही ऐसा महान है, तुझे अपनी इस अनंतऋद्धि गुणसम्पदा की खबर नहीं है, इसकारण जो अपनी सम्पत्ति नहीं है – ऐसे शरीर, मन, वाणी, बाग-बंगला इत्यादि को अपनी सम्पदा मान बैठा है। अरे प्रभु! तू कहाँ प्रसन्न हो रहा है? प्रसन्न होने का स्थान तो आनंद का धाम तेरा नाथ तेरे अन्दर विराजता है, इसमें प्रसन्न हो! बाहर की वस्तु में प्रसन्न होने से तो तेरे आनंद का नाश होता है।

इसप्रकार से मुनिजनों ने निश्चय-व्यवहार का विभाग करके स्पष्ट बताया है कि व्यवहार से एकपना कहने में आता है, तथापि निश्चय से भगवान आत्मा, राग व शरीर से भिन्न हैं। जब ऐसा सुनने व जानने में आवे, तब ऐसा कौन पुरुष होगा, जिसे तत्काल यथार्थ ज्ञान न हो अर्थात् जब भेद करके इस सरल रीति से बात समझाई गई तो फिर किसको सच्चाज्ञान नहीं होगा? आचार्य कहते हैं कि जब जीव व राग का भेद इसप्रकार स्पष्ट करके बताया है तो अब ऐसा कौन मूर्ख होगा जिसे आत्मा का अनुभव तत्काल न हो? ज्ञान-ज्योति आत्मा जड़ से भिन्न है – ऐसा जिसने जाना, तथा निश्चयनय से जिसने व्यवहार का निषेध किया – ऐसे जीव को ज्ञानानंद प्रभु का अनुभव क्यों नहीं हो, तत्काल यथार्थज्ञान क्यों

न अवतरित हो, आनंद की उत्पत्ति क्यों न हो ? अवश्य होवे ही। यह तो नगद का व्यापार है, अर्थात् धर्म तो नगद होता है। आज धर्म करे और सुख कल होगा, ऐसा उधारी का काम यहाँ नहीं है। त्रिलोकीनाथ भगवान अरहंतदेव ने चैतन्यमूर्त्ति आत्मा को शरीर तथा राग से भिन्न बताया है। उसका जो अनुभव करता है, वह धर्मी है, उसका अवतार सफल है, जन्म सार्थक है। इसके सिवा अन्य व्रत, दान आदि करोड़ों क्रियाएँ करें, किन्तु वे सब एक के बिना बिन्दियाँ (शून्य) हैं, आत्मा के लिए वे लाभकारी नही हैं। यदि ग्यारह अंग का ज्ञान किया हो या नव पूर्व की लब्धि प्रगट हुई हो तो उससे क्या ? ऐसा परसत्तावलंबी ज्ञान का क्षयोपशम तो अनंतबार किया है, यह कोई आत्मज्ञान नहीं है। चैतन्य-मूर्ति भगवान आनंद का नाथ पूर्ण शक्ति परिपूर्ण सम्पूर्ण सत्त्व है, उसे स्पर्श करके जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान है और उसमें भव के अभाव करने की झंकार उठती है। जिन्हें अन्तरस्पर्श होने पर अतीन्द्रिय आनंद आया है उन्होंने राग व आत्मा को भिन्न माना है।

अनंत धर्मों – स्वभावों को धारण करनेवाला धर्मी आत्मा है। उस आत्मा के अन्दर दृष्टि डालने पर जिसे राग व शरीर से भिन्न आत्मा ज्ञात होता है, उसे सम्यग्दर्शन होता है, भले ही वह बाहर से दरिद्री हो या सातवें नरक में रहनेवाला नारकी हो।

नरक में आहार का एक दाना और पानी की एक बूंद भी नहीं मिलती, तथा जन्म होते ही सोलह रोग होते हैं ; तथापि जब पूर्व का संस्कार याद आता है, तब ऐसा विचार करता है कि सन्तों ने कहा था कि तू राग व शरीर से भिन्न है। ये वचन सुने तो थे पर प्रयोग नहीं किया था – ऐसा सोचकर राग का लक्ष्य छोड़कर अन्तर में एकाग्र होता है अर्थात् धर्मी हो जाता है। तीसरे नरक पर्यन्त पूर्व के बैरी निर्दयता पूर्वक शरीर को बांधकर गरम धकधगाती लोहे की सलाखों से मारते हैं। ऐसी स्थिति में भी राग से भिन्न पड़कर सम्यग्दर्शन पा सकते हैं। पूर्व में जो सुना था उसे ख्याल में लेकर जैसे बिजली तांबे के तार में एकदम उतर जाती है, उसीतरह अन्दर में जो ज्ञानानंद भगवान विराजता है, उसमें अपनी पर्याय को वह गहरे में उतार देता है। बाहर में चाहे जितने प्रतिकूल संयोग हों, परन्तु उनसे क्या ? अन्दर पूर्ण ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा है न ? देखो ! श्रेणिक राजा का जीव पहले नरक में है। बाहर में पीड़ा कारक संयोगों का पार नहीं है, तथापि उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन है और

समय-समय में तीर्थंकर नामकर्म के परमाणु बंधते हैं। उन्हें ऐसा भान वर्तता है कि मैं तो आनंद का नाथ चिदानंद भगवान आत्मा हूँ।

कहा भी है :–

"चिन्मूरति दृगधारी की मोहे रीति लगत है अटापटी,
वाहर नारकक्कृत दुःख भोगे, अन्तर समरस गटागटी"

सम्यग्दृष्टि को नरक में पीड़ा के संयोगों का पार नहीं है, तथापि अन्दर आत्मा के आनंद का वेदन होने पर शान्ति है। प्रतिकूल संयोग है इससे क्या? मुझे तो संयोगीभाव भी स्पर्श नहीं करता। ऐसा अनुभव अंदर में वर्तता होने से ज्ञानी नरक में सुख को ही वेदता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य आदि संत कहते हैं कि आनंद का नाथ अन्दर विराजता है। आत्माराम अर्थात् आत्मारूपी बगीचा अन्दर है। उसमें जरा प्रवेश तो कर! शरीर और राग से भगवान आत्मा भिन्न है। ऐसी वात जिसने रुचिपूर्वक सुनी है, उसे आत्मा क्यों नहीं ज्ञात होगा? इसी शास्त्र की ६८वीं गाथा में आता है कि जैसा कारण हो वैसा ही कार्य होता है। जिसप्रकार जौ में से जौ ही होता है, उसीप्रकार गुणस्थानादिभाव भी अचेतन हैं, क्योंकि वे पुद्गल के कार्य हैं। पुद्गल जड़कर्म कारण हैं; उससे गुणस्थानादि के भेद पड़ते हैं। इसकारण पुद्गल का कार्य होने से वे अचेतन पुद्गल हैं। ऐसा यह वस्तुस्वरूप सुनकर किसे आत्मज्ञान उदित नहीं होगा? अहो! आचार्यदेव अति प्रसन्नता से कहते हैं कि भाई! यह तेरा आत्मज्ञान का काल है।

आदि पुराण में आता है कि ऋषभदेव भगवान को पूर्व के भव में मुनिराज उपदेश देते हैं कि 'यह तेरा सम्यग्दर्शन पाने का काल है। तेरी काललब्धि पक गई है, अतः सम्यग्दर्शन ग्रहण कर!' इसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि तू आनंदस्वरूप आत्मा है। मैं राग हूँ, शरीर हूँ, ऐसा लक्ष्य करके जहाँ पड़ा है वहाँ से दृष्टि हटाकर लक्ष्य को पलट दे। 'मैं ज्ञायक हूँ ऐसा लक्ष्य कर।' यह पुरुषार्थ है, व इसका फल ज्ञान व आनंद है।

अब कहते हैं कि राग से भिन्न आत्मा की रुचि होने पर कैसा होकर भगवान आत्मा ज्ञात होता है? अपने निजरस के वेग से आकृष्ट होकर एकरूप होकर प्रगट हुआ भगवान आत्मा जाना जाता है। आत्मा आनंद का रसकंद अन्दर पड़ा है। उसकी रुचि करने पर वह तुरन्त ही राग से भिन्न, अपने निजरस से प्रगट होता है। अज्ञान में राग का वेग था, ज्ञान होने पर अब आनंद का वेग आता है। राग के वेग से भिन्न होकर जब

दृष्टि ज्ञायक पर पड़ी, तभी तुरन्त ज्ञानरस का, शान्तरस का, वीतराग अकषायरस का वेग उछलता है। पर्याय में आनंद का उफान आता है।

पाप-पुण्य के भावों को अपना मानकर अकेले ज्ञान व आनंद के रस से भरपूर आत्मा को अनेक रूप माना था। परन्तु अब भगवान आत्मा के निजरस को उग्रपने से पर्याय में आकृष्ट करके वेगपूर्वक एकरूप से आत्मा प्रगट होता है। आहाहा! जैसा आनन्द रस का कंद स्वभाव में है; अन्तर्दृष्टि होने पर वह तुरन्त ही पर्याय में प्रगट हो जाता है।

ज्ञातास्वभाव तो त्रिकाल एकरूप ही है, यह तो विकाररूप से है ही नहीं। ऐसे ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अनुभव होने पर पर्याय में आनंद का अनुभव होता है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन व धर्म है, बाकी सब थोथा है, व्यर्थ है। आत्मा की जिसे खबर नहीं, यदि वह व्रत, तप, नियमादि करता रहे तो ये सब वर के बिना बरात जैसा है। जैसे कोई वर के बिना बरात ले जावे तो वह बरात नहीं, मात्र मनुष्यों की टोली ही है। इसी प्रकार जिसने आनंद के नाथ भगवान आत्मा को दृष्टि में नहीं लिया और व्रत, तप आदि करे तो यह सब व्यर्थ है, राग की टोली है, इनसे धर्म हाथ नहीं आता।

कलश २८ के भावार्थ पर प्रवचन

दया, दान, व्रतादि के राग व आत्मा के बीच अत्यन्त अभाव है। आगम में चार अभाव कहे हैं:– (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वसाभाव, (३) अन्योन्याभाव और (४) अत्यन्ताभाव। इनमें जो अत्यन्ताभाव है, वह तो दो द्रव्यों के बीच ही होता है, किन्तु यहाँ जो राग और आत्मा के बीच अत्यन्त-अभाव कहा है, वह अध्यात्म का अत्यन्त अभाव है।

अहाहा! कैसी है वीतराग मार्ग की गंभीरता व गहराई। निश्चय-व्यवहारनय के विभाग से आत्मा व पर में, आत्मा व शरीर में एवं आत्मा व राग में अत्यन्त भेद ज्ञानियों ने बताया है। उसे जानकर ऐसा कौन आत्मा होगा कि जिसे भेदज्ञान नहीं होगा? यहाँ पुरुषार्थ की उग्रता का जोर बताया है। यह वीर्य का वेग स्व-सन्मुख करने की बात है।

आत्मा में वीर्य नाम का गुण है, स्वरूप की रचना करना, उसका कार्य है। राग की रचना करना या देह की क्रिया करना, इसका स्वरूप नहीं है। ऐसे परिपूर्ण वीर्यगुण से–पुरुषार्थ गुण से भगवान आत्मा ठसाठस भरा हुआ है। इस गुण का कार्य आनन्द आदि शुद्ध निर्मलपर्याय की रचना करना है। राग की रचना करना तो नपुंसकता है, यह आत्मा

का वीर्य नहीं है। वीर्यगुण को धारण करनेवाले भगवान आत्मा का ग्रहण करने पर वह वीर्यगुण निर्मलपर्याय की ही रचना करता है। व्यवहार की या राग की रचना करना उसके स्वरूप में ही नहीं है। निमित्त से कार्य होता है, यह मान्यता तो अज्ञान है। इष्टोपदेश की ३५वीं गाथा में आता है कि सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् उदासीन हैं। निमित्त प्रेरक हो या उदासीन पर के कर्तृत्व के लिए तो वे धर्मास्तिकाय की तरह उदासीन ही हैं। ध्वजा फरफराती है, इसमें पवन (हवा) प्रेरक निमित्त है, तथापि धर्मास्तिकायवत् उदासीन है। ध्वजा स्वयं से ही फरफराती है, पवन से नहीं, पवन तो निमित्तमात्र है। ऐसा सत्य जब समझ में ही न आया हो तो सत्य का आचरण कहाँ से हो ?

यहाँ कहते हैं कि ऐसा कौन पुरुष है, जिसे भेदज्ञान नहीं हो सकता ? क्योंकि जब ज्ञान अपने निजस्वरस से स्वयं का स्वरूप जानता है, तब अपने आत्मा को पर से भिन्न जानता ही है। राग व शरीर से भिन्न पड़कर जब दृष्टि एक ज्ञायकमात्र में फैलती है तो अवश्य भेदज्ञान प्रगट हो जाता है। कोई दीर्घ संसारी हो तो यहाँ उसकी बात नहीं है।

इसप्रकार अप्रतिबुद्ध ने जो यह कहा था कि 'हमारा तो यह निश्चय है कि देह ही आत्मा हैं' उसका समाधान किया। अज्ञानी जिस वस्तु को देखता है, उसी वस्तु को अपनी मान लेता है। यद्यपि ज्ञान, शरीर, राग आदि ज्ञेयों को जानता है, तथापि वे शरीरादि ज्ञेय ज्ञान नहीं हैं; ज्ञान तो ज्ञान ही है। यह बात कठिन तो अवश्य पड़ती है, परन्तु करें क्या ? वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। वीतरागी त्रिलोकीनाथ जिनेश्वरदेव, इन्द्र व गणधरों के बीच दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा ही उपदेश देते थे और यही बात सन्तों ने भी प्रसिद्ध की है। अहो ! यह सन्तों की वाणी अमृत की वर्षा करनेवाली है। हे भव्यजीवो ! उसे कर्णरूपी अंजुलि के द्वारा पान करो ! !

एवमयमनादिमोहसंताननिरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारतयात्यंतमप्रतिबुद्धोपि प्रसभोज्जृम्भिततत्त्वज्ञानज्योतिर्नेत्रविकारीव प्रकटोद्घाटितपटलष्टसितिप्रतिबुद्धः ? साक्षात् द्रष्टारं स्वं स्वयमेव हि विज्ञाय श्रद्धाय च तं चैवानुचरितुकामः स्वात्मारामस्यास्यान्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं किं स्यादिति पृच्छन्नित्थं वाच्य :–

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं ॥३४॥

सर्वान् भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा ।
तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यम् ॥३४॥

यतो हि द्रव्यांतरस्वभावभाविनोऽन्यानखिलानपि भावान् भगवज्ज्ञातृद्रव्यं स्वस्वभावभावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे, ततो य एव

इसप्रकार यह अज्ञानी जीव अनादिकालीन मोह के संतान से निरूपित आत्मा और शरीर के एकत्व के संस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था वह अब तत्त्वज्ञानस्वरूप ज्योति के प्रगट उदय होने से नेत्र के विकार की भाँति (जैसे किसी पुरुष की आँखों में विकार था तब उसे वर्णादिक अन्यथा दीखते थे और जब नेत्र विकार दूर हो गया तब वे ज्यों के त्यों – यथार्थ दिखाई देने लगे, इसीप्रकार) पटल समान आवरणकर्मों के भलीभाँति उघड़ जाने से प्रतिबुद्ध हो गया और साक्षात् द्रष्टा आपको अपने से ही जानकर तथा श्रद्धान करके उसी का आचरण करने का इच्छुक होता हुआ पूछता है कि 'उस आत्माराम को अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्यागना) क्या है ?' उसको आचार्य इसप्रकार कहते हैं कि :–

सब भाव पर ही जान, प्रत्याख्यान भावों का करे ।
इससे नियम से जानना कि, ज्ञान प्रत्याख्यान है ॥३४॥

गाथार्थ :– **[यस्मात्]** जिससे **[सर्वान् भावान्]** अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थों को **[परान्]** 'पर हैं' **[इति ज्ञात्वा]** ऐसा जानकर **[प्रत्याख्याति]** प्रत्याख्यान करता है – त्याग करता है, **[तस्मात्]** उससे **[प्रत्याख्यानं]** प्रत्याख्यान **[ज्ञानं]** ज्ञान ही है **[नियमात्]** ऐसा नियम से **[ज्ञातव्यम्]** जानना । अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नहीं ।

पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे न पुनरन्य इत्यात्मनि निश्चित्य प्रत्याख्यानसमये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेऽपिपरमार्थेनाव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादप्रच्यवनात्प्रत्याख्यानंज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम् ।

टीका :– यह भगवान ज्ञाता द्रव्य (आत्मा) है, वह अन्य द्रव्य के स्वभाव से होनेवाले अन्य समस्त परभावों को, उनके अपने स्वभावभाव से व्याप्त न होने से पररूप जानकर, त्याग देता है, इसलिए जो पहले जानता है वही बाद में त्याग करता है, अन्य तो कोई त्याग करनेवाला नहीं है – इसप्रकार आत्मा में निश्चय करके, प्रत्याख्यान के (त्याग के) समय प्रत्याख्यान करने योग्य परभाव की उपाधिमात्र से प्रवर्तमान त्याग के कर्तृत्व का नाम (आत्मा को) होने पर भी, परमार्थ से देखा जाये तो परभाव के त्याग कर्तृत्व का नाम अपने को नहीं है, स्वयं तो इस नाम से रहित है क्योंकि ज्ञानस्वभाव से स्वयं छूटा नहीं है, इसलिये प्रत्याख्यान ज्ञान ही है – ऐसा अनुभव करना चाहिए ।

भावार्थ :– आत्मा को परभाव के त्याग का कर्तृत्व है, वह नाममात्र है । वह स्वयं तो ज्ञानस्वभाव है । परद्रव्य को पर जाना, और फिर परभाव का ग्रहण न करना वही त्याग है । इसप्रकार स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई भाव नहीं है ।

गाथा ३४ की उत्थानिका पर प्रवचन

इसप्रकार यह अज्ञानी जीव अनादिकालीन मोह की संतान के द्वारा निरूपित और शरीर के एकत्व के संस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था । अनादि से अज्ञानी को राग व शरीर में ही सजगता होने से ज्ञानानंद-स्वभावी चैतन्य आत्मा की राग व शरीर के साथ एकपने की मान्यता थी, वह इसी एकत्व के संस्कार से अप्रतिबुद्ध था । देखो ! कोई कहे कि यह समयसार मुनियों के लिए है, सो यह बात नहीं है । यहाँ तो जो शरीर और आत्मा को एक मानते हैं, ऐसे अत्यन्त अप्रतिबुद्ध को समझाया गया है ।

भाई ! तू अनन्तवार हजारों रानियों को छोड़कर दिगम्बर जैन साधु होकर, निरतिचार अट्ठाईस मूलगुणों का पालन कर नवमें ग्रैवेयक पर्यन्त गया, परन्तु आनंदस्वरूप चैतन्यप्रभु की खबर नहीं होने से, शरीर को ही आत्मा मानता था । बाहर से 'आत्मा राग से भिन्न है' – ऐसा भले ही कहे, परन्तु अन्दर अवस्था में शुभ क्रियाकाण्ड का जो राग प्रगट था, उसमें ही अपनापना मानता था । स्वयं क्या है और स्वयं का अस्तित्व

किसप्रकार है – इसका ख्याल नहीं होने से 'मैं आत्मा हूँ' – ऐसा कहते हुये भी रागादि को ही आत्मा मानता था। रागादि से पृथक् निज ज्ञायकवस्तु दृष्टि में न आने एवं उसका अनुभव न होने से पर में या रागादि में ही अपनत्व स्थापित करता था। ग्यारह अङ्ग का पाठी होकर भी तथा बाहर से 'राग और आत्मा भिन्न हैं' – ऐसा भाषा में बोलते हुए भी अन्तरङ्ग में राग व आत्मा की एकताबुद्धि टूटी नहीं थी। भाई ! यह तो अंतर की वस्तु है। वह अन्तर के स्पर्श बिना नहीं मिलती।

इसप्रकार जो अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, वह अब तत्त्वज्ञानस्वरूप ज्योति का प्रगट उदय होने पर ज्ञानी हुआ। राग से भिन्न चैतन्यज्योति का आभास होने पर 'स्वयं ज्ञायकस्वरूप ही मैं हूँ' – ऐसा अनुभव हुआ, इससे ज्ञानी हुआ। यहाँ चैतन्यज्ञान ज्योतिस्वरूप मैं हूँ' – ऐसा विकल्प नहीं, अपितु अनुभवरूप परिणति का प्रगट होना जानना।

जिसप्रकार नेत्र से विकार दूर होने पर वस्तु जैसी है, वैसी दिखाई देती है; उसीप्रकार इस जीव के भी पटल के समान आवरणकर्म भलीप्रकार उघड़ जाने से यह प्रतिबुद्ध हुआ, साक्षात् ज्ञाता-दृष्टा हुआ। यहाँ जो कर्म की बात की है, वह निमित्त का कथन है। वास्तव में तो स्वभाव का भान होने पर, मिथ्या श्रद्धान दूर होने से स्वयं साक्षात् ज्ञातादृष्टा हुआ। आत्मा स्वभाव से तो ज्ञाता-दृष्टा है ही। पर ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का भान होने पर मिथ्याश्रद्धान का नाश होकर पर्याय में ज्ञाता दृष्टापना प्रगट हुआ, उसे साक्षात् ज्ञाता-दृष्टा हुआ – ऐसा कहा है। आत्मा में दयादान या व्यवहार-रत्नत्रय का विकल्प नहीं है। तथा उस शुभ राग से या व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प से ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव प्राप्त नहीं होता, क्योंकि जिसमें जो न हो, उससे वह प्राप्त कैसे हो ?

आत्मा स्वयं को स्वयं से ही जानकर अर्थात् राग या विकल्प से नहीं, किन्तु चैतन्य में चैतन्य की परिणति द्वारा प्रवेश करके स्वयं को जानकर, श्रद्धानकर उसी का हो आचरण करने का इच्छुक हुआ है अर्थात् अब वह मुनिपने की भावना करता है।

प्रश्न – 'स्वयं को स्वयं से ही जाने' इसमें तो एकान्त हो गया, स्याद्वाद तो रहा नहीं ?

उत्तर – भाई ! 'स्वयं को स्वयं से ही जाने' – यह सम्यक्-एकान्त है। यह सम्यक्-एकान्त ही अनेकान्त का सच्चा-ज्ञान कराता है। स्वयं स्वयं से ही ज्ञात होता है, पर से नहीं – यही अनेकान्त है, यही सम्यक्-एकान्त

है। भाई ! वीतराग का स्याद्वादमार्ग ऐसा ही है। स्वयं से भी जाने और राग से भी जाने – यह तो गुदड़ीवाद है, स्याद्वाद नहीं।

चैतन्य सूर्य के प्रकाश का पूर प्रभु आत्मा स्वयं के निर्मलप्रकाश द्वारा ही स्वयं को प्रकाशित करता है। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा ज्ञान की निर्मलपर्याय द्वारा ही ज्ञात होता है उसे राग की या व्यवहार की अपेक्षा नहीं है। अर्थात् व्यवहार से निश्चय नहीं जाना जाता, परन्तु व्यवहार का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव का सीधा लक्ष्य करने पर वह स्वयं से स्वयं को जानता है। ज्ञान की निर्मलपर्याय द्वारा ज्ञायक को जानकर, पश्चात् श्रद्धान करना। देखो ! यहाँ प्रथम आत्मा को जानना, पश्चात् श्रद्धान करना – ऐसा कहा है, क्योंकि जाने बिना श्रद्धा किसकी ? समयसार गाथा १७-१८ में भी यह बात कही गई है।

आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान हुआ है, और आत्मा में ही आचरण करने का इच्छुक होता हुआ शिष्य पूछता है कि 'इस आत्माराम को अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्यागना) क्या है ?' निजपद में रमे, वह आत्माराम है। उसके प्रत्याख्यान का क्या स्वरूप है ? अन्य द्रव्य के त्याग का क्या स्वरूप है ? आत्मा ज्ञान का पुंज प्रभु है। उदयभावरूप संसार का अंश या उसकी गंध भी इसमें नहीं है। ऐसे आत्मा को जानकर इसे प्रतीति में लेकर, अब शिष्य गुरु से पूछता है कि मेरा आत्मा में आचरण कैसे हो ? अन्यद्रव्य अर्थात् राग का त्यागरूप प्रत्याख्यान कैसे हो ? यद्यपि इस बात को वह जानता है कि ज्ञानी जीव को चारित्र किस प्रकार होता है, तथापि गुरु से विशेष जानने के लिए विनय से पूछता है।

शुद्ध चैतन्यघन पूर्णस्वभाव से भरा हुआ भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त आनन्द का गोदाम है। संयोगी वस्तु में आत्मा नहीं है और आत्मा में संयोगी वस्तु नहीं है। दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। यहाँ कहते हैं कि संयोगी वस्तु तो दूर रहो, संयोगी कर्म के लक्ष्य से आत्मा में हुए पुण्य-पाप के संयोगी भावों से भी आत्मा भिन्न है – जुदा है।

"मैं एक आनन्दस्वरूप अमृत का सागर प्रभु ज्ञाता-दृष्टा हूँ और सब जगत ज्ञेय है, दृश्य है। जगत मेरे में नहीं है और मैं जगत में नहीं हूँ। आहाहा ! मेरी वस्तु में पुण्य-पाप का भाव तो है ही नहीं, वर्त्तमान अल्पज्ञता की पर्याय भी मेरी पूर्ण वस्तु में नहीं है" – इसप्रकार जिसके अन्तर में चिदात्मस्वरूप के भानपूर्वक भेदज्ञान – आत्मज्ञान प्रगट हुआ है व उसकी प्रतीति हुई है, वह सम्यग्दृष्टि हुआ है। उसे धर्म का आरम्भ हुआ है। जैसे – आँख में जाली हो तो उसके निकलने पर ही निधान (धन

का खजाना) दिखाई देता है, उसीप्रकार आत्मा में राग के प्रति जो एकताबुद्धिरूप परत पड़ी है, उसके दूर होने पर आत्मा जैसा ज्ञानानन्द-स्वरूप है, वैसा दृष्टि में आ जाता है, अनुभव में आ जाता है। ऐसा अनुभव जिसे हुआ है, वह अब प्रश्न करता है कि प्रत्याख्यान किस प्रकार हो? ऐसा पूछने पर उसके उत्तर में यह गाथा कही है।

गाथा ३४ व उसकी टीका पर प्रवचन

'यह भगवान ज्ञाताद्रव्य' – देखो! 'भगवान' कहकर बात उठाई है। भगवान-स्वरूप ही आत्मा है। कब? अभी और सदाकाल (तीनों काल) जो अभी भगवान स्वरूप न हो तो पर्याय में भगवानपना कैसे आयेगा? क्या वह कहीं व्यवहार से आता है? नहीं, जो स्वभाव से स्वयं भगवानस्वरूप है वही पर्याय में प्रगट होता है। यदि अभी भगवानस्वरूप न हो तो कभी भी भगवान नहीं हो सकता। समयसार गाथा ३१, ३२ में भी 'भगवान ज्ञानस्वभाव' ऐसा आ गया है। यहाँ संस्कृत टीका में 'भगवत्' शब्द पड़ा है। 'भग्' अर्थात् लक्ष्मी और 'वत्' अर्थात् वाला। आत्मा अनंत अनंत ज्ञान व आनन्द की लक्ष्मीवाला परिपूर्ण भगवान है। यह 'भगवान ज्ञाताद्रव्य' ऐसा कहकर उसका प्रत्यक्षपना कहा है, कारण कि ज्ञानी को भगवान आत्मा का प्रत्यक्षवेदन हो गया है, अनुभव हो गया है।

'यह भगवान ज्ञाताद्रव्य' ऐसा लिया है, क्योंकि जिस शिष्य ने प्रश्न पूछा है, उसे ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का प्रत्यक्षभान हुआ है। सच्चिदानंद प्रभु, पूर्ण आनन्द का नाथ, सिद्ध समान यह आत्मा बाह्य लक्ष्मीवाला तो नहीं है, क्योंकि बाह्य लक्ष्मी तो जड़ है और उसे जो अपनी माने, वह भी जड़ है। यहाँ तो चैतन्यलक्ष्मी के स्वामी की बात है। चक्रवर्ती के छह-खण्ड का राज्य व ६६ हजार रानियाँ आदि वैभव होता है, तथापि सम्यग्दर्शन होने से वह बाह्य वैभव का मैं स्वामी हूँ – ऐसा नहीं मानता। "मैं तो अनन्त-अनन्त ज्ञान व आनन्द की स्वरूपलक्ष्मी से भरा हुआ भगवान हूँ" – ऐसा स्वरूपलक्ष्मी का स्वामीपना मानता है, क्योंकि उसे यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान हुआ है।

भगवान आत्मा ज्ञाता है, जाननहार सूर्य है, ज्ञान के प्रकाश से भरपूर है – ऐसा ज्ञाताद्रव्य (आत्मा) अन्यद्रव्य के निमित्त से होनेवाले विकारभावरूप होने के स्वभाववाला नहीं है, क्योंकि ज्ञाता-दृष्टा वस्तु का स्वभाव तो जानना, देखना और आनन्दरूप है, इससे वह ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव, विकारभावों में व्याप्त कैसे हो? अन्य में व्याप्त हो – ऐसा

आत्मा का स्वरूप ही नहीं है। भाई! अनन्त आनन्द को देनेवाला यह मार्ग अतिसूक्ष्म है। अनन्त-अनन्त शान्ति, आह्लाद व स्वरूप की रचना करने वाला अनन्तवीर्य जिससे प्रगट हो, वह उपाय कोई अलौकिक है, अद्भुत है – ऐसे मार्ग को समय निकालकर जानना चाहिए। अभी नहीं जाना तो फिर कब जानेगा?

अहाहा! अनंत आनन्द, अनन्त शान्ति आदि अनन्तगुणों का समाज आत्मा है। अनन्तगुणरूपी साम्राज्य का स्वामी यह आत्मा है। यह मूलवस्तु आत्मा प्रत्यक्ष है, किन्तु पर्यायबुद्धि से – रागबुद्धि से वह सम्पूर्ण वस्तु आवरण में ढकी है। 'यह भगवान ज्ञाताद्रव्य' – कहकर यहाँ पहले से ही प्रगट किया है कि आत्मा प्रत्यक्ष-प्रभु है, सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रों से प्रभु प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ऐसा आत्मा अपने स्वभाव से ही, अन्य-द्रव्य के अर्थात् कर्म के निमित से होनेवाले विभावभावों में व्याप्त नहीं है। यह ज्ञानस्वभावी आत्मा राग के विकल्परूप से, व्यवहाररत्नत्रय के विकल्परूप से व्याप्त होकर रहनेवाला या उस रूप होने लायक नहीं। विकाररूप से होने का आत्मा का स्वभाव ही नहीं है। इसप्रकार राग को पररूप जानकर स्वरूप में ठहरना, स्थिर होना ही प्रत्याख्यान है।

प्रश्न :—हम तो ऐसा समझते हैं कि भगवान के दर्शन करने से, यात्रा करने से धर्म होता है, और आप उसका निषेध करते हैं।

उत्तर :—भाई! भगवान आत्मा जो स्वयं अन्तर में विराजता है, उसके दर्शन करने से, उसे जानने से धर्म होता है, परन्तु पर भगवान को देखने से धर्म नहीं होता, उन्हें देखने से तो शुभराग होता है। यह भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। वह अन्यद्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न होनेवाले विभावों में अर्थात् दया, दान, व्रत आदि विकल्पों में अपने स्वभाव से ही व्याप्त नहीं होता। इसकारण ज्ञानी उन्हें पररूप जानकर त्याग देते हैं। जब वे स्वभाव में स्थिर हो जाते हैं, तब ऐसा कहा जाता है कि पर का त्याग किया। विकारीभाव आत्मा के स्वभाव में व्याप्त होने लायक नहीं है। इस कारण उन्हें पररूप जानने को ही उनका त्याग किया – ऐसा कहा जाता है। यही धर्म है, यही धर्म को प्राप्त करने की रीति है।

मैं एक ज्ञाता दृष्टा स्वभाववाला आत्मा हूँ। अन्यद्रव्य के निमित्त से जो विभाव परिणाम होते हैं, वे मेरे स्वभाव रूप होने योग्य नहीं हैं। इसप्रकार स्वभाव व राग को भिन्न जानना ही राग का त्याग है। 'यह जो राग है वह मैं नहीं हूँ, मैं इस रागरूप होने लायक नहीं हूँ तथा यह

राग मेरे स्वभावरूप होने लायक नहीं है' पहले जो ऐसा जानता है, वही पीछे त्यागता है। यह जो ज्ञान में जाना कि राग मेरे स्वभाव में व्याप्त नहीं होता और मेरा स्वभाव भी राग रूप होने का नहीं है – यह जानपना ही प्रत्याख्यान है, सामायिक है, क्योंकि ऐसा जाननेवाला ही राग से हटकर स्वरूप में ठहरता है। सामायिक अर्थात् समता और समता अर्थात् वीतराग परिणाम का लाभ। वीतरागस्वरूप निजज्ञायक भगवान आत्मा का आश्रय लेने पर वीतराग परिणति होती है और इसे ही सामायिक कहते हैं। उसीप्रकार जैसे चने को पानी में डुबोकर रखने से वह फूल जाता है, वैसे ही आनन्द के नाथ प्रभु आत्मा को आनन्द के सागर में डुबोकर जो आत्मा को पुष्ट करे उसे 'प्रोषध' कहते हैं। ऐसा वस्तु-स्वरूप समझे बिना सभी बाह्य क्रियाएँ निःस्सार है।

प्रश्न :– जो पहले जानता है, वही त्याग करता है, दूसरा कोई त्यागनेवाला नहीं है। इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :–'ज्ञानस्वभाव में विभाव या विकल्प व्यापने योग्य नहीं है'– ऐसा जाननेवाला ज्ञाता पुरुष विभावरूप नहीं परिणमता, तब उसे ही राग को त्यागनेवाला कहा जाता है। इसीकारण ऐसा कहा गया है कि जो जानता है, वही त्यागता है। मेरे ज्ञानस्वभाव में राग व्याप्त हो – ऐसा राग का स्वभाव नहीं है और मेरा भी ऐसा स्वभाव नहीं है कि राग मुझ में व्याप्त हो। इसप्रकार जहाँ राग को भिन्नपने जाना, वहाँ उस ओर का लक्ष्य ही नहीं रहा व दृष्टि स्वभाव में ही स्थिर हो गई। इसी को प्रत्याख्यान अर्थात् जाननेवाले ने राग का त्याग किया – ऐसा कहा जाता है। अज्ञानी दया, दान, भक्ति के भावों में धर्म मानकर अनादि से ८४ लाख योनियों के अवतार में रखड़कर दुःखी हो रहा है। उसे सन्निपात जैसा रोग लगा है। जैसे किसी को सन्निपात हुआ हो, वह अन्य अनेक रोगों से पीड़ित होने पर भी खिलखिलाकर हँसता है। क्या वह वास्तव में सुखी है ? क्या इसीलिए दाँत निकालकर खिलखिलाकर जोर-जोर से हँसता है ? भाई ! उसे दुःख का भान नहीं है, इसलिए हँसता है। उसीप्रकार अज्ञानी भी कुछ अनुकूल संयोग मिलने पर स्वयं को सुखी मानता है। उसका सुख सन्निपात के रोगी जैसा ही है। भाई ! सुख तो आत्मा में है। भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् यानि त्रिकाल, चित् यानि चैतन्य, इसप्रकार आत्मा त्रिकाल चैतन्य व आनन्दस्वरूप भगवान है। ऐसे आत्मा को जो अंतरंग में स्पर्श करके जानता है; उसे आनंद होता है, सुख होता है। यह जाननेवाला ऐसा जानता है कि मैं तो स्वभाव से

देखने–जाननेवाला हूँ। पुण्य-पाप का भाव मेरे स्वभाव रूप नहीं होने से परभाव है; अतः उसे पर जानकर उसका त्याग करता है अर्थात् वहाँ से हटकर स्वरूप में ठहरता है। इसीकारण जो पहले जान लेता है वही पीछे उनका त्याग करता है – ऐसा कहा है। ऐसा स्वरूप तो जाने नहीं और व्रत, तप आदि बाह्य त्याग करे तो वह प्रत्याख्यान नहीं है।

भाई ! प्रत्याख्यान अर्थात् चारित्र किसे कहते हैं ? – यह बात यहाँ चलती है। सम्यग्दर्शन व सम्यक्‌चारित्र कोई अलौकिक वस्तु है। यदि सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है तो सम्यक्‌चारित्र साक्षात् धर्म है। प्रवचनसार में कहा है न ? 'चारित्तं खलु धम्मो – चारित्र ही धर्म है।' यही दुःख से छूटने का उपाय है, मोक्षमार्ग है।

प्रश्न :–ऐसा चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर :– प्रवचनसार गाथा ७ की टीका में आता है – 'स्वरूपे चरणं चारित्रं – स्वरूप में रमणता करना चारित्र है।' स्वरूप में आचरण करना अर्थात् ठहरना चारित्र है, राग का आचरण चारित्र नहीं है। पाँच महाव्रत का विकल्प भी चारित्र नहीं है। मैं ज्ञानानंदस्वभावी भगवान आत्मा हूँ। राग भले ही कितना भी मंद क्यों न हो, दया, दान, व्रत, तप, भक्ति का राग हो या व्यवहाररत्नत्रय का राग हो; वह मेरे चैतन्यघन स्वभावरूप नहीं होता। मैं रागरूप होऊँ – ऐसा मेरा चैतन्यस्वभाव है ही नहीं। ज्ञान में ऐसा निश्चय करके, राग को पररूप जानकर ज्ञान-ज्ञान में ठहरे, यही प्रत्याख्यान है, चारित्र है, धर्म है।

अब यह कहते हैं कि जब ज्ञानी ने पर को पर जान लिया और ज्ञान ज्ञान में ठहर गया तो रागादि परभावों की उत्पत्ति ही नहीं हुई, तब यह कहा जाता है कि ज्ञानी आत्मा ने परभाव का त्याग किया। 'त्याग किया' यह तो कथन मात्र है। भले ही तीर्थंकर नामकर्म बाँधने का भाव हो, किन्तु वह भाव भी निज चैतन्यभावरूप होनेलायक नहीं है। इसप्रकार इस विकारी भाव को परभावरूप जाना, तब आत्मा राग को त्यागता है, यह कहना कथनमात्र है; क्योंकि जब ज्ञान ज्ञान में ठहर गया, तब राग उत्पन्न ही नहीं हुआ। बापू ! यह तो जन्म-मरण का फेरा मिटानेवाली बहुत महत्त्वपूर्ण बात है।

जिसको भगवान ज्ञाता-दृष्टा वस्तु का अपनी निर्मल ज्ञानपर्याय में प्रत्यक्ष अनुभव हुआ कि यही आत्मा है, उसे प्रत्याख्यान कैसे सिद्ध होता है ? इसका यहाँ उत्तर देते हैं कि जिसने अन्दर में जाना कि राग व चैतन्य-

स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं, रागरूप होना मेरा स्वरूप नहीं है तथा मेरे स्वभाव होने का राग का स्वरूप नहीं है – ऐसा जाननेवाला राग को भिन्न जानकर उसे त्यागता है। परन्तु 'राग को त्यागता है' यह तो कथनमात्र है, क्योंकि राग के त्याग का कर्त्तापना परमार्थ से जीव को नहीं है।

निर्मल भेदज्ञान हो नहीं और बाहर से परवस्तुओं का त्याग करे और माने कि 'मैं त्यागी हूँ'। परन्तु भाई ! जीव को पर का त्याग-ग्रहण मानना तो मिथ्यात्व है, भ्रांति है। यहाँ कहते हैं कि राग का त्याग करनेवाला जीव है, ऐसा कहना भी कथनमात्र है, परमार्थ नहीं। वास्तव में तो यह राग के त्याग का कर्त्ता है ही नहीं। स्वरूप में ठहरने से राग होता ही नहीं, इसलिए राग का त्याग करता है – यह नाममात्र कथन है।

अहो ! यह तो परमेश्वर त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्य-ध्वनि में आई बात को ही सन्तों ने आड़तिया होकर जगत को जाहिर की है। प्रत्याख्यान के समय अर्थात् स्वरूप में ठहरने के काल में प्रत्याख्यान करने योग्य परभावों का त्याग किया – ऐसा कहना यह नाममात्र कथन है। अहाहा........! टीका तो देखो ! ऐसी टीका भरतक्षेत्र में और कहाँ है ? अमृत का सागर उड़ेला है, अहो ! मुनिवरों ने जगत के जीवों को अमृत का सागर प्रत्यक्ष बताया है।

भाई ! परवस्तु का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में है ही नहीं; क्योंकि आत्मा में त्यागोपादानशून्यत्व नाम की एक शक्ति है। उससे आत्मा पर-वस्तु को ग्रहण करे या छोड़े, यह आत्मा में बनता ही नहीं। कपड़ा, स्त्री, पुत्र, परिवार इत्यादि को ग्रहण करे या छोड़े – ऐसा आत्मा में गुण ही नहीं है। परवस्तु तो जगत की स्वतंत्र वस्तु है। जीव के द्वारा शरीर, वाणी, पैसा, पत्नी, पुत्र इत्यादि न तो ग्रहण किए जाते हैं और न छोड़े ही जाते हैं।

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के जो अस्थिरता का रागरूप परिण-मन है; उस रागरूप होकर रहने का मेरा स्वरूप नहीं है – ऐसा जान कर अन्दर स्वरूप में स्थिर हुआ, तब स्वरूपस्थिरता के काल में राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई। अतः राग का त्याग किया – ऐसा नाममात्र कथन करने में आता है। परमार्थ से राग के त्याग का कर्त्ता आत्मा नहीं है। अर्थात् परभाव के त्याग के कर्त्तापने का नाम भी आत्मा के नहीं है।

अहाहा ! 'मैं शुद्ध चिद्रूप ज्ञाता-दृष्टा मात्र हूँ' – ऐसा जिसको अन्तर में भान हुआ, वह स्व में स्वपने रहकर, परभाव – रागादि को परपने

जानता है, तब इसका स्व में रहने का काल है, राग का अभावरूप परिणमन करने का काल है; प्रत्याख्यान का काल है। इस स्वरूप-स्थिरता के काल में ज्ञान ने जान लिया कि 'राग पर है' यही राग का त्याग है। जब राग का त्याग भी कथनमात्र है तो आहार पानी का छोड़ना व स्त्री, पुत्र आदि का छोड़ना तो बहुत दूर ही रह गया।

अन्दर पूर्णानन्द का नाथ भगवान स्वरूप आत्मा स्वयं विराजता है, किन्तु पामर को प्रभु की प्रतीति कैसे आवे ? पामर को मैं स्वयं ईश्वर हूँ – ऐसी प्रतीति कैसे आवे ? भाई ! तू पर्याय में पामर भले ही हो, किन्तु वस्तु-पने तू पामर नहीं है, भगवान पूर्ण आनंद का नाथ है। अहाहा ! जैनमुनि तो अन्दर में विकल्पों की रुचि के बिना तथा बाहर में वस्त्रों के बिना नग्न होते हैं। कपड़ा रखकर जो मुनिपना मानते या मनवाते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। मिथ्या मान्यता के फल में एक दो भव में निगोद को प्राप्त करेंगे। यह बात जरा कठोर लगती है, किन्तु बापू ! यह बड़ी भारी भूल है; इसमें सभी तत्त्वों की भूल है। 'वस्त्र पहनने का विकल्प' – यह तो प्रगट आस्रव भाव है। उसके बदले उसे मुनिपना अर्थात् संवर-निर्जरा मानना यह सब तत्त्वों की भूल है। मूल में ही भूल है।

भाई ! प्रवचनसार में आता है कि मुनि का रूप नवजात शिशु की भाँति (नग्न) होता है – ऐसा भगवान ने कहा है। जिन शास्त्रों में वस्त्रसहित मुनिपना लिखा हो वे शास्त्र व साधु सच्चे नहीं।

अनंत-अनंत सामर्थ्य से परिपूर्ण अनंत-अनंत शक्तियाँ जिसमें उछलती हैं – ऐसा अनंत स्वभाव की सामर्थ्य का सागर भगवान आत्मा है। जिस जीव ने ऐसे आत्मा का अनुभव किया है, वह समकिती है।

धर्मी को जो पुण्य-पाप के विकल्प या अस्थिरता का राग आता है उसका प्रत्याख्यान कैसे हो ? यह **प्रश्न** है। **उत्तर** इसप्रकार है कि ज्ञान में ज्ञात होते हुए भी यह राग ज्ञान में व्यापता नहीं है, चैतन्य की स्वरूप सम्पदा से भिन्न ही रहता है। अस्थिरतारूप राग व ज्ञान में भिन्नता है; राग तो पररूप है – ऐसा जिसने जाना है; वह ज्ञाता राग में रुकता नहीं है; जुड़ता नहीं है – यही प्रत्याख्यान है। राग में जुड़ता नहीं है – यह तो नास्ति से कथन है। वस्तुतः तो जिस काल में ज्ञान ज्ञान में ठहर जाता है; उस स्वरूप के आचरण के काल में राग उत्पन्न ही नहीं होता। अतः राग का त्याग किया – यह नाममात्र कथन है। जैन परमेश्वर वीतरागदेव का ऐसा मार्ग है भाई !

'आत्मा राग का त्याग करता है।' – यह कथनमात्र है। परमार्थ से देखें तो परभाव के त्याग का कर्त्तापना आत्मा के नहीं है, क्योंकि 'राग छोड़ना आत्मा के स्वरूप में है ही नहीं। अहाहा! जहाँ स्वरूप में ठहरा, वहाँ राग हुआ ही नहीं, फिर राग छोड़ा – यह बात कैसे बने, भाई! राग का त्याग किया, इसका अर्थ क्या? क्या प्रत्याख्यान के काल में, चारित्र के काल में राग का अस्तित्व है? जब ज्ञान ज्ञान में ठहर जाता है, उस काल में राग का अस्तित्व ही नहीं, उस काल में तो राग का अभाव ही है। परन्तु पूर्वपर्याय में जो राग था, वह वर्त्तमान में नहीं हुआ –ऐसा देखकर नाममात्र कहा जाता है कि आत्मा ने राग का त्याग किया। अद्भुत बात है, यह तो समयसार है, परमात्मा की दिव्य ध्वनि है। गणधरों व सन्तों की वाणी को समझने के लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिए।

अब कहते हैं कि आत्मा तो परभाव के त्याग के कर्त्तापने के नाम से रहित है; क्योंकि स्वयं तो ज्ञानस्वभावरूप से ही रहा है, ज्ञान से कभी छूटा ही नहीं है। इसलिए ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। ज्ञान ज्ञान में थमा, स्थिर हुआ – यही प्रत्याख्यान है।

गाथा ३४ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा ने परभाव का त्याग किया, राग का त्याग किया – ऐसा कहना यह तो नाममात्र है। स्वयं तो ज्ञानस्वभावी चैतन्यप्रकाश का पुंज अकेला ज्ञायकभाववाला तत्त्व है, स्व-पर-प्रकाशकस्वभावी है। ऐसे स्वतत्त्व को जब स्व जाना और परभाव को पररूप से जाना, तब परभाव को ग्रहण नहीं किया, राग को पकड़ा नहीं, इसे ही इसने त्याग किया – ऐसा कहा जाता है। राग में जो अस्थिरता होती थी, वह नहीं हुई, तब उसने राग का त्याग किया – ऐसा कहने में आता है। आचार्यदेव ने सत्य को सत्यरूप से रखकर प्रसिद्ध करने की तथा परम सत्य की प्रतीति कराने की कैसी गजब की शैली अपनाई है, यह तो देखो!

परद्रव्य को पररूप से जाना तो परभाव का ग्रहण नहीं हुआ, वही उसका त्याग है। राग की ओर उपयोग के जुड़ान से जो अस्थिरता थी; उस ज्ञानोपयोग, ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा में स्थिर होने पर अस्थिरता उत्पन्न ही नहीं हुई, इसे ही प्रत्याख्यान कहते हैं। इसलिए स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। ज्ञान के सिवाय दूसरा कोई भाव प्रत्याख्यान नहीं है। ज्ञायक चैतन्यसूर्य में ज्ञान स्थिर हो जाना ही प्रत्याख्यान है।

अथ ज्ञातुः प्रत्याख्याने को दृष्टान्त इत्यत आह –

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणी ।।३५।।

यथा नाम कोऽपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति ।
तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुंचति ज्ञानी ।।६५।।

यथा हि कश्चित्पुरुषः संभ्रांत्या रजकात्परकीयं चीवरमादायात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्नन्येन तदंचलमालंब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं श्रृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति तच्चीवरमचिरात्, तथा ज्ञातापि संभ्रांत्या परकीयान्भावानादा-

---

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि ज्ञाता का प्रत्याख्यान, ज्ञान ही कहा है, तो उसका दृष्टान्त क्या है? उसके उत्तर में दृष्टान्त – दार्ष्टांतरूप गाथा कहते हैं :–

ये और का है जानकर, परद्रव्य को को नर तजे ।
त्यों और के हैं जानकर, परभाव ज्ञानी परित्यजे ।।३५।।

गाथार्थ :– [यथा नाम] जैसे लोक में [कः अपि पुरुषः] कोई पुरुष [परद्रव्यम् इदम् इति ज्ञात्वा] परवस्तु को 'यह परवस्तु है' ऐसा जाने तो ऐसा जानकर [त्यजति] परवस्तु का त्याग करता है, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी पुरुष [सर्वान्] समस्त [परभावान्] परद्रव्यों के भावों को [ज्ञात्वा] 'यह परभाव हैं' ऐसा जानकर [विमुञ्चति] उनको छोड़ देता है।

टीका :–जैसे कोई पुरुष धोबी के घर से भ्रमवश दूसरे का वस्त्र लाकर, उसे अपना समझकर ओढ़कर सो रहा है और अपने आप ही अज्ञानी (–यह वस्त्र दूसरे का है ऐसे ज्ञान से रहित) हो रहा है; (किन्तु) जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्र का छोर (पल्ला) पकड़कर खींचता है और उसे नग्न कर कहता है कि—'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदले में आगया है, यह मेरा है सो मुझे दे दे,' तब वारम्बार कहे

यात्मीयप्रतिपत्त्यात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति सर्वान्परभावानचिरात् ।

गये इस वाक्य को सुनता हुआ वह, (उस वस्त्र की) सर्व चिह्नों से भलीभाँति परीक्षा करके, 'अवश्य यह वस्त्र दूसरे का ही है' ऐसा जानकर, ज्ञानी होता हुआ, उस (दूसरे के) वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है। इसीप्रकार ज्ञाता भी भ्रम वश परद्रव्य के भावों को ग्रहण करके, उन्हें अपना जानकर, अपने में एकरूप करके सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है; जब श्रीगुरु परभाव का विवेक (भेदज्ञान) करके उसे एक आत्मभावरूप करते हैं और कहते हैं कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा वास्तव में एक (ज्ञानमात्र) ही है, (अन्य सर्व परद्रव्य के भाव हैं)' तब बारम्बार कहे गये इस आगम के वाक्य को सुनता हुआ वह, समस्त (स्व-परके) चिह्नों से भलीभाँति परीक्षा करके, 'अवश्य यह परभाव ही हैं। (मैं एक ज्ञानमात्र ही हूँ)' यह जानकर, ज्ञानी होता हुआ, सर्व परभावों को तत्काल छोड़ देता है।

भावार्थ :– जबतक परवस्तु को भूल से अपनी समझता है, तब तक ममत्व रहता है; और जब यथार्थ ज्ञान होने से परवस्तु को दूसरे की जानता है तब दूसरे की वस्तु में ममत्व कैसे रहेगा ? अर्थात् नहीं रहे। यह प्रसिद्ध है।

गाथा ३५ की उत्थानिका पर प्रवचन

३४वीं गाथा के सन्दर्भ में शिष्य प्रश्न करता है कि ज्ञान ही ज्ञाता का प्रत्याख्यान है, अर्थात् ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, चारित्र है, राग का त्याग है। आपने जो यह कहा है– इसका कोई दृष्टान्त भी है क्या ? शिष्य का आग्रह उक्त कथन को दृष्टान्तपूर्वक समझाने का है। इसी के उत्तरस्वरूप यह ३५वीं गाथा है।

ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा का ज्ञान, प्रतीति और अनुभव करके उसी आत्मा में स्थिर होना प्रत्याख्यान है अर्थात् राग से भिन्न ज्ञायक स्वभावी भगवान आत्मा का जब अनुभव होता है, तब ज्ञान आत्मा में स्थिर हो जाता है। यही प्रत्याख्यान वीतराग चारित्र या राग का त्याग है। एक मात्र ऐसा प्रत्याख्यान ही जीव का कर्त्तव्य है। इसके सिवाय आत्मा का अन्य कुछ कार्य ही नहीं है। भाई ! क्या यह कोई कार्य नहीं

है ? अरे ! आत्मा का तो एक मात्र ज्ञान ही कार्य है, इसके अतिरिक्त आत्मा न कुछ करता है और न कर ही सकता है। वस्तु का जैसा ज्ञान-स्वभाव है, वैसी ही ज्ञान परिणति प्रगट करके उसी में ठहरना, बस आत्मा का यही एकमात्र कार्य है।

चैतन्यस्वभाव का ज्ञान अर्थात् स्वसंवेदनज्ञान होना, आत्मज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है, या उसी शुद्ध चैतन्यघन की प्रतीति सम्यग्दर्शन है, तथा विकल्प से रहित होकर शुद्ध परिणमन होना चारित्र है। शुद्ध परिणमन अशुद्धता के नाश बिना नहीं होता और अशुद्धता का नाश शुद्ध परिणमन के बिना नहीं होता। वस्तु तो चैतन्यस्वभावी वीतरागता की मूर्ति है। छहढ़ाला में भी आता है कि आत्मा तो वीतराग-विज्ञानस्वरूप ही है। इसका अनुभव करने पर पर्याय में वीतराग-विज्ञानता प्रगट होती है, और उनमें विशेष स्थिरता होने पर चारित्र होता है। जो ज्ञान अस्थिरता के कारण राग में जुड़ता था, जब वह ज्ञान वहाँ से हटकर वीतराग-विज्ञान स्वभाव में ठहर जाता है, उसे ही चारित्र कहते हैं।

वीतराग-विज्ञान स्वरूप चैतन्यपिण्ड की दृष्टि होने पर वीतराग-विज्ञान का अंश पर्याय में प्रगट होता है और इस वीतराग-विज्ञान की पुष्टि व वृद्धि होने पर प्रत्याख्यान होता है, परन्तु मूढ़ अज्ञानी जीव इस अन्तर के आचरण को नहीं जानते।

लोगों को आगम की पद्धति ख्याल आती है, परन्तु अध्यात्म का व्यवहार क्या है ? —इसकी खबर नहीं पड़ती है।

पण्डित श्री बनारसीदासजी 'परमार्थवचनिका' में कहते हैं :—

"ज्ञाता तो मोक्षमार्ग साधना जानता है, मूढ मोक्षमार्ग को साधना नहीं जानता। क्यों नहीं जानता है ? सुनो ! मूढ जीव आगमपद्धति को व्यवहार कहता है, अध्यात्मपद्धति को निश्चय कहता है। इसलिए आगम-अंग को एकान्तपने साधकर मोक्षमार्ग दिखलाता है, अध्यात्म-अंग को व्यवहार से नहीं जानता — यह मूढ दृष्टि का स्वभाव है; उसे इसीप्रकार सूझता है। क्यों ? क्योंकि आगम-अंग बाह्यक्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसका स्वरूप साधना सुगम है। बाह्यक्रिया करता हुआ मूढ़ जीव अपने को मोक्ष का अधिकारी मानता है; अन्तर्गर्भित जो अध्यात्मरूप क्रिया है, वह अन्तदृष्टिग्राह्य है, वह क्रिया मूढ़ जीव नहीं जानता। अन्तर्दृष्टि के अभाव में अन्तर्क्रिया दृष्टिगोचर नहीं होती, इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग साधने में असमर्थ है।"

अज्ञानीजन दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव को व्यवहार कहते हैं और जो आत्मा का त्रिकालस्वरूप है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान की परिणति को निश्चय कहते हैं। इसकारण व्यवहार – दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के विकल्पों को साधकर मोक्षमार्ग मानते हैं, किन्तु त्रिकाली ज्ञायकभावरूप निश्चय तथा उसकी शुद्धपरिणति – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतराग-परिणतिरूप अध्यात्म का व्यवहार का मूढ़जीवों को ख्याल नहीं है।

आत्मा शुद्ध सच्चिदानन्दमूर्ति है। सत् अर्थात् शाश्वत ज्ञान और आनन्द का सागर भगवान आत्मा है। इसमें वीतराग-विज्ञानमय जो रमणता होती है, उसे अध्यात्म का व्यवहार कहते हैं; किन्तु अज्ञानी को इसकी खबर नहीं है – इसकारण बाह्य प्रत्यक्ष-प्रमाणरूप व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि भाव को देखकर उन्हें ही अध्यात्म का व्यवहार मान बैठा है। अनादि से वह बाह्य क्रियाकाण्ड – व्रत, नियम आदि पालता है, इसकारण उसका स्वरूप साधना अज्ञानी को सुगम है; परन्तु सच्चिदानंद-स्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव करके उसमें ठहरना – ऐसी वीतरागी अध्यात्मरूप व्यवहार क्रिया को वे नहीं जानते।

भगवान आत्मा त्रिकालध्रुवरूप शुद्ध द्रव्यवस्तु अक्रियस्वरूप है। परिणमनरूप या बदलनेरूप क्रिया इसमें नहीं है। परिणमना या बदलना– यह क्रिया तो पर्याय में है। ऐसा त्रिकाली ध्रुव अक्रियस्वरूप आत्मा निश्चय है और उसका अवलम्बन लेकर मोक्षमार्ग साधना व्यवहार है। राग से भिन्न अन्दर सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान ध्रुव पड़ा है, वह अक्रिय है, परिणमन करने की क्रिया उसमें नहीं है। ऐसे ध्रुव अक्रियस्वरूप भगवान आत्मा का अवलम्बन लेकर उसी में स्थित होना मोक्षमार्ग है – यह निश्चयमोक्षमार्ग अध्यात्म का व्यवहार है।

शुद्ध द्रव्यवस्तु निश्चय तथा उसके आश्रय से मोक्षमार्ग का प्रगट होना व्यवहार है। शुभरागरूप व्यवहारमोक्षमार्ग की यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो केवलज्ञानस्वभावी आनंदकन्द प्रभु, शुद्ध, ध्रुव, अक्रिय वस्तु; जिसमें बदलाव या परिणमन नहीं है, वह निश्चय है और पर्याय में जो निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट होता है, वह व्यवहार है। भाई! ऐसा मार्ग है। चौरासी के अवतार में रखड़ते हुये इन संसारी प्राणियों को यह बात सुनने को आज तक मिली ही नहीं है।

जिसप्रकार शक्कर मिठासस्वरूप, अफीम कड़वाहटस्वरूप तथा नमक खारेपनस्वरूप है; उसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञाता-

दृष्टा है। ऐसे ज्ञानस्वभावी आत्मा का भान करके, श्रद्धान करके उसमें ठहरना या स्थित होना ही प्रत्याख्यान है। तथा इस निर्मल वीतरागी परिणति को ही चारित्र व मोक्षमार्ग कहते हैं।

अहाहा ! तीनों काल जिसमें जन्म-मरण व जन्म-मरण के भाव का अभाव है, ऐसा भगवान आत्मा है। किसी को ऐसा लगे कि ये यह क्या कहते हैं ? परन्तु भाई ! यह तो अपने निजघर की बात है, निजघर में तो ज्ञान व आनन्द का निधान पड़ा है। यह हाड़ व मांस की पोटलीरूप शरीर तो परवस्तु है। हिंसा, चोरी आदि पापभाव हैं, व दया-दान आदि पुण्य भाव हैं, इन सबसे तू अर्थात् भगवान आत्मा भिन्न है। ऐसे आत्मा का भान कर उसमें ठहरना ही प्रत्याख्यान है।

यहाँ शिष्य पूछता है कि प्रभो ! आपने तो ज्ञाता का प्रत्याख्यान ज्ञान ही कहा ? तदनुसार दोनों हाथों को जोड़ना तो जड़ की क्रिया हुई तथा जो विकल्प उठते हैं, वह राग की क्रिया है, – ये कुछ भी प्रत्याख्यान नहीं है। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा की प्रतीति करके, अनुभव करके, उसी में रमणता व स्थिरता करना प्रत्याख्यान है – ऐसा आपने कहा तो इसका दृष्टान्त क्या है ? इसके उत्तरस्वरूप गाथा द्वारा दृष्टान्तसहित सिद्धान्त बताते हैं :–

गाथा ३५ व उसकी टीका पर प्रवचन

शिष्य के विनम्र अनुरोध को ध्यान में रखकर आचार्य महाराज धोबी का उदाहरण देकर प्रत्याख्यान के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं -

जिसप्रकार कोई पुरुष धुलने के लिए दिये हुए वस्त्र को लेने के लिए धोबी के घर गया और धोबी द्वारा दिये जाने पर भ्रम से अन्य का वस्त्र अपना जानकर ले आया। उस वस्त्र को अपना जानकर-मानकर निश्चिंत होकर ओढ़कर सो रहा है अर्थात् यह वस्त्र दूसरे का है – ऐसे ज्ञान बिना अज्ञानी हो रहा है। अब जिसका यह वस्त्र था, वह दूसरा पुरुष धोबी के यहाँ आया व अपना वस्त्र माँगा। तलाश करने पर पता लगा कि उसका वस्त्र कोई अन्य भाई ले गया, तब वह उसके घर गया। उसने वहाँ उसे अपना वस्त्र ओढ़कर सोया हुआ देखा, तो उसने उस वस्त्र का कोना पकड़कर खींचा, उसे उघाड़ करके जगाया और कहा कि भाई ! तू शीघ्र जाग ! सावधान हो ! इस वस्त्र को पहचान ! यह वस्त्र मेरा है, जो भूल से बदलकर तेरे पास आ गया है। इसे तू मुझे दे दे। – ऐसा एकबार नहीं, बार-बार कहा। तब उसने शीघ्र जागकर, बारम्बार उसे देखकर, पहचान-

कर यह निश्चय किया कि यह वस्त्र मेरा नहीं है, मेरे वस्त्र पर तो मेरा नाम लिखा है; इसप्रकार पूरी तरह परीक्षा करके निर्णय किया कि यह वस्त्र मेरा नहीं है। – ऐसा जानकर ज्ञानी हुआ। तब उस वस्त्र को तुरन्त त्याग देता है अर्थात् भले ही वस्त्र अभी संयोग में से दूर न हुआ हो, परंतु ज्ञान होते ही निजपने की बुद्धि छूट जाती है, भ्रम भंग हो जाता है।

उसीप्रकार यह ज्ञाता भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु ज्ञानजल से भरा हुआ ज्ञानसागर है। यह अनंतज्ञान स्वभाव की सामर्थ्य से भरा हुआ भगवान ज्ञाता है। स्वयं ज्ञायक होते हुये भी अज्ञानी जिन परद्रव्यों को जानता है, उन परद्रव्यों को अपना मानकर ग्रहण करता है। स्त्री, कुटुम्ब वगैरह तो ठीक किन्तु अन्दर में कर्म के संग में अर्थात् उदय में वश हुये पुण्य-पाप के विकारीभाव आदि जो परद्रव्य के भाव हैं, उन्हें भी अज्ञानी दूसरे के वस्त्र की भाँति, अपने मानकर ग्रहण करता है। स्वयं तो ज्ञायक-स्वरूप ही है, तथापि पर-द्रव्य के भावों को ग्रहण कर अपने मानता है। अज्ञानी ने ज्ञान व आनन्द, जो स्व-द्रव्य के भाव हैं, उन्हें कभी अनुभव नहीं किया; – इसकारण दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि विकारी परिणामों को ही निज के हैं – ऐसा मानता है।

ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा चैतन्यप्रकाश के नूर का पूर है। उसके अन्दर में ज्ञान व आनन्द भरा है। ऐसा ज्ञाता भगवान स्वयं को भूलकर भ्रम से परद्रव्यों के भावों को अपना मानकर अनादि से जन्म-मरण के चक्कर में फिरता रहता है। अनादि से जो अज्ञानी स्व-द्रव्य के भाव को छोड़कर पुण्य-पाप के विकल्परूप जो पर-द्रव्य के भाव हैं, उन्हें भ्रम से अपने मानकर ग्रहण करता है। अपना स्वभाव तो जानना-देखना है, किन्तु स्वभाव का भान नहीं होने से भ्रम से पर-द्रव्य के भावों को अपने जानकर ग्रहण करता है।

देखो! यहाँ 'भ्रम से' कहा है, 'कर्म से' नहीं कहा। अहाहा! ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान ब्रह्म को भ्रम हो गया है, इसकारण स्वयं को छोड़कर पर-द्रव्य के भाव – दया, दान, भक्ति आदि पुण्य-भाव तथा हिंसा आदि पाप भावों को ग्रहण करता है और उन्हें अपना मानकर अज्ञानी हो रहा है। बेचारा क्या करे? उसे उपदेश भी ऐसा ही सुनने को मिलता है कि पुण्य करो, पुण्य करने से धर्म होता है, परन्तु यह यथार्थ उपदेश नहीं है।

भाई! जो दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, पूजा, यात्रा वगैरह के पुण्य भाव हैं, वे राग हैं। तथा उस राग को जो अपना माने वह मिथ्यादृष्टि

है। जब तक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई, तब तक सम्यग्दृष्टि को भी शुभराग होता अवश्य है, परन्तु वह व्यवहार है तथा आश्रय करने लायक नहीं है। निश्चय व व्यवहार – दोनों उपादेय (आश्रय करने योग्य) नहीं हैं। व्यवहार है अवश्य, किन्तु वह आदर करने योग्य नहीं है।

व्यवहार नय को जो न माने तो तीर्थ का ही नाश हो जायेगा तथा जो निश्चयनय को न माने तो तत्त्व का नाश हो जायेगा।

इसकारण गुणस्थान आदि भेदरूप व्यवहार है तो अवश्य, परन्तु वह आदरणीय नहीं है। व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसा भी नहीं है।

यहाँ यही बात कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप तो ज्ञान ही है, परन्तु अज्ञानी स्वरूप को भूलकर भ्रम से रागादि विभावों को ग्रहण करके उन्हें अपना जानकर अपने में एकरूप होकर सोता है। अनादि से अज्ञानी जीव अकेले ज्ञान के पिण्ड प्रभु आत्मा को छोड़कर पुण्य-पाप के भाव जो धर्म से विरुद्ध अर्थात् अधर्म हैं, उनको अपना जानकर, उसको अपने स्वभाव में एकरूप करके सो रहा है और अपनी ही भूल से अज्ञानी हो रहा है। कर्म के कारण अज्ञानी हो रहा है – ऐसा नहीं है। कहा भी है न –

अपने को आप भूल के हैरान हो गया

अपनी वस्तु सच्चिदानन्द प्रभु आनन्दकंद ज्ञायक है। उसको छोड़कर अज्ञानीजीव देहादि जड़स्वरूप वस्तुओं और अन्दर में हो रहे पुण्य-पाप के विकार को अपना मानकर मोह की नींद में सो रहा है। भगवान आत्मा तो अबन्धस्वभावी है और पुण्य-पाप के भाव बंधमय हैं, तथापि उन भावों को अपना जानकर, अपने से एकरूप मानकर स्वयं से स्वयं ही अज्ञानी हो रहा है। कर्म से अज्ञानी हो रहा है – ऐसा नही है।

देश, मकान, बाल-बच्चे आदि तो बहुत दूर की बात हैं, यहाँ तो वर्तमानदशा में कर्म के संग से जो पुण्य-पाप के भाव उत्पन्न होते हैं, वे भी पर-द्रव्य के भाव हैं – ऐसा कहा है; क्योंकि परमात्मदशा होने पर ये भाव छूट जाते हैं और ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा रह जाता है। भाई! तेरा देश तो असंख्यप्रदेशी अन्दर विराजमान है और उसमें अनन्त-अनन्त गुणों की प्रजा रहती है। राग या पुण्य-पाप के विकल्प अपने स्वभाव या अपने स्वभाव की जाति के नहीं हैं। इनका वस्तु में प्रवेश ही नहीं है, तथापि चैतन्य भगवान अनादि से अपनी ज्ञानानन्द की स्वरूपसम्पदा को भूलकर पुण्य-पाप के विकल्पों को अपना मानकर, इन्हीं में एकरूप होकर सो रहा है और अपने ही कारण अज्ञानी हो रहा है

देखो, दर्शनमोह का उदय आया इसकारण अज्ञानी हुआ है – ऐसा नहीं कहा, परन्तु रागादि पुण्य-पाप को अपना मानकर अपनी ही भूल से अज्ञानी हुआ है। अज्ञानी को अपने आप ऐसी मान्यता हो रही है कि कर्म के कारण ही यह सब होता है। दोष तो स्वयं करे और कर्म के माथे मढ़ता है। भाई ! कर्म का कोई दोष नहीं है। पूजन में कहा भी है :–

कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई ।।

अकेली अग्नि को कोई नहीं पीटता, परन्तु अग्नि जब लोहे का साथ करती है तो लोहे के साथ वह भी पिटती है, उसके ऊपर भी घन की चोटें पड़ती हैं। उसीप्रकार यह आत्मा जब राग का कुसंग करता है और उसमें एकाकार होता है, तो चारगति के दुःखों को भोगता है। कर्म बिचारे दुःख देने वाले कौन होते हैं ? यह आत्मा अपनी ही भूल से दुःखी है।

भाई ! वीतरागी प्रभु का मार्ग या धर्म का मार्ग जगत से बिल्कुल जुदा है। पर की दया पालने का भाव आता है वह शुभ राग है, परन्तु पर की दया कोई पाल नहीं सकता; क्योंकि वह परवस्तु है, वह अपने परिणमन में स्वतन्त्र है। उसकी अवस्था का कर्त्ता वह स्वयं है। इसकारण दूसरा कोई ऐसा कहे कि 'मैं इसको जीवित रखता हूँ, बचाता हूँ या मारता हूँ' तो ये मान्यतायें मिथ्या हैं, भ्रम हैं; ऐसा माननेवाला मूढ़ है, अज्ञानी है। भाई ! तू तो ज्ञान है न ? तू जानने की भूमिका में रहे – ऐसा तेरा स्वरूप है। जाननेवाला आत्मा जानने के सिवा और कर ही क्या सकता है ? क्या वह राग कर सकता है ? राग या विकार का तो तेरे स्वभाव में अभाव है। तथापि तू दया, दान आदि परद्रव्यों के भावों को व स्वयं को एकरूप करके अनादि से मिथ्यात्व में सो रहा है, ये तेरी भारी भूल है, अज्ञान है।

भगवान आत्मा अनादि से अपनी वस्तु को भूलकर, कृत्रिम, क्षणिक, उपाधिमय पुण्य-पाप के भावों को अपना मानकर अपने ही कारण अज्ञानी हुआ है। उसको श्रीगुरु पर-भाव का भेद करके बताते हैं कि भाई ! तू चैतन्यस्वरूप ज्ञानसम्पदा से भरा हुआ भण्डार है। इस राग या विकल्प से तेरी वस्तु भिन्न है। तू अपना स्वरूप देख ! तेरा स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा है। राग तेरा स्वरूप नहीं है; ऐसा श्रीगुरु परभाव का विवेक कराते हैं। भाई ! जो राग से भिन्न आत्मा का ज्ञान करावे, वे ही यथार्थ गुरु हैं। आत्मज्ञान की अनुभवमय दशा जिनको हुई है, वे सच्चे गुरु हैं। ऐसे सच्चे गुरु परभावों को हेय बताते हैं। वे कहते हैं कि भाई ! ज्ञान आनंद तेरा सत्य स्वरूप है; पुण्य-पाप के कृत्रिम विकल्प तेरी चीज नहीं है।

जिसप्रकार दृष्टान्त में अज्ञानी पुरुष दूसरे के वस्त्र को अपना मान-कर सोता है और उसको कोई अन्य पुरुष, जिसका वस्त्र है, ज्ञान कराता है कि भाई ! ये वस्त्र तेरा नहीं है, तू भ्रम से इसे अपना मानकर बैठा है। उसीप्रकार अज्ञानी भी परभावरूप विकल्पों को अपना मानकर, उसमें एकाकार होकर सोता है, उसको श्रीगुरु राग व आत्मा का भेद करके विवेक उत्पन्न कराते हैं और एक आत्मभावरूप करते हैं। श्रीगुरु समझाते हैं कि भाई ! ज्ञान और आनन्द से भरा हुआ तू प्रज्ञाब्रह्म-स्वरूप है। राग तेरी स्वयं की वस्तु नहीं है। जो चीज अपनी होती है, वह कभी जुदा नहीं होती और जो वस्तु पृथक् हो जाती है, वह कभी भी अपनी नहीं होती है।

जब आत्मा अंदर ध्यानमग्न होकर परमात्मा हो जाता है, तब राग नहीं रहता, राग स्वभाव से ही पृथक् हो जाता है। इसलिए ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी आत्मा से राग भिन्न वस्तु है। राग तुझमें नहीं है और तू राग में नहीं है – दोनों वस्तुयें सर्वथा जुदी-जुदी हैं।

जैसे नारियल में ऊपर की जटायें व नरेटी हैं और अन्दर गोलेपर लाल छिलका है, वे सब नारियल नहीं है; उनके अन्दर जो सफेद व मीठा गोला है, वह वस्तुतः नारियल है। उसी प्रकार शरीर नारियल के ऊपर की जटा के समान है, द्रव्यकर्म नरेटी के समान हैं, अन्दर के रागादिरूप – दया, दान, भक्ति, काम, क्रोध आदि पुण्य-पाप के विकार लाल छाल की की जगह हैं और अन्दर ज्ञानानंद स्वरूपी भगवान आत्मा गोला के स्थान पर समझना चाहिए। इसप्रकार सब भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा सन्तों का उपदेश है, जन्म-मरण रहित होने की वस्तु तो जगत से जुदी ही है। भाई ! तू अनादि से जन्म-मरण करके दुःखी हो रहा है; तथापि तुझे थकान नहीं आती ?

आत्मा ज्ञानमयी चैतन्यरस से परिपूर्ण भरा हुआ तत्त्व है। वह सत् है और ज्ञान व आनन्द उसका सत्त्व है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव या हिंसा, झूठ, चोरी, विषयवासना आदि अशुभभाव; ये सब विकार हैं, ये आत्मा के सत्त्व नहीं हैं। आत्मा व राग भिन्न-भिन्न सत्त्व हैं, राग तो बेड़ी के समान है। अशुभराग लोहे की बेड़ी हैं और शुभराग सोने की; परन्तु हैं तो दोनों बेड़ी ही। देखो ! शुभराग भी बेड़ी है। प्रभु ! तू अपनी प्रभुता को एकबार जान तो सही ! जानना, देखना व आनन्द – ये तेरी प्रभुता है। ये तेरे तत्त्व का सत्त्व है। आत्मा अनादि-अनन्त वस्तु है, तथापि अज्ञानी अनादि से पुण्य-पाप के भावों को अपना मानकर मोह की नींद में सो रहा है। उससे श्रीगुरु कहते हैं कि प्रभु ! जो

वस्तु क्षणिक है और तेरे में नहीं है, उसको तू अपनी मानकर सो रहा है, यह तेरी बड़ी भारी भूल है।

श्रीमद् रायचंद्रजी ने एकबार कहा था कि जैसे आत्मा के गुणों का पार नहीं है, उसीप्रकार इसके अपलक्षणों (दोषों) का भी पार नहीं है। अपनी जात को न पहचानना और राग तथा पुण्य-पाप को अपना मानना – ये इसके अपलक्षण हैं। ज्ञान निजलक्षण है। उसके स्थान पर राग को अपना स्वरूप मानना, यह अपलक्षण है भाई! मार्ग तो ऐसा ही है, भले तुझे न बैठे, परन्तु तेरी वस्तु ऐसी ही है नाथ!

कितने ही कहते हैं कि संस्कार सुधारो, परन्तु यह तो कोयला को धोने जैसे है। जैसे कोयला धोने से कालिमा ही निकलती है। यदि सफेदी चाहिए तो उसे अग्नि में जलाना पड़ेगा। इसीतरह जो सुधार करना हो तो पुण्य-पाप के भाव मेरे में नहीं हैं – ऐसा जानकर उन्हें जला दे, अन्यथा सुधार संभव नहीं है।

भगवान! मोक्ष का मार्ग कोई अलौकिक है। दया पालना, व्रत करना और देश की सेवा करना – इसमें लोग धर्म मान बैठे हैं, परन्तु बापू! इसमें रंचमात्र भी धर्म नहीं होता। आत्मा की कभी तूने सेवा नहीं की, इस कारण धर्म नहीं हुआ। अरे रे! इसने अनादिकाल से अपनी मूलवस्तु को समझे बिना सबकुछ गमाया है।

छहढ़ाला में भी आता है :—

> 'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
> पै निज आतम ज्ञान विना सुख लेश न पायो।।

श्रीगुरु कहते हैं कि शीघ्र जाग! उठ! अनन्तकाल से पुण्य-पाप को अपना मानकर मिथ्यात्व में सो रहा है। अब शीघ्र जाग! जो व्यवहार में सावधान है, वह निश्चय में सोता है और जो निश्चय में सावधान है, वह व्यवहार में सोता है। तेरा आत्मा तो एक ज्ञानस्वरूप ही है। वह ज्ञानस्वरूप भी है और रागरूप भी है – ऐसा नहीं है। राग तो अन्यद्रव्यरूप पुदगल का भाव है। राग में चैतन्य के प्रकाश के नूर का अभाव है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव चैतन्य के प्रकाश से रहित हैं, अन्धकारमय हैं। चैतन्यप्रकाश का बिम्ब प्रभु तू एक ज्ञायकभाव मात्र है। राग से लेकर सब अन्यद्रव्य के भाव परद्रव्य के भाव होने से परभाव हैं; इसलिए तू शीघ्र जागृत होकर स्वरूप में सावधान हो!

अज्ञानी एक-दो बार में समझता नहीं है; इसलिए श्रीगुरु उसे बारम्बार समझाते हैं कि 'राग व आत्मा भिन्न-भिन्न हैं; व्यवहार करते-करते निश्चय नहीं होता, राग करते-करते वीतरागता नहीं होती, इत्यादि।' बारम्बार सुनने से शिष्य को जिज्ञासा हुई कि अहो! ये क्या कहते हैं? तब श्रीगुरु आगम के वाक्य कहते हैं कि "शुद्ध चैतन्यघन स्वरूप भगवान आत्मा को राग से भिन्न करके अन्तरदृष्टि द्वारा ज्ञान व रमणता करना आत्मव्यवहार है और शुभरागरूप मनुष्य व्यवहार संसार का व्यवहार है। राग का भाव – दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा इत्यादि का भाव चाहे जितना भी मन्द हो, परन्तु यह आत्मा की वस्तु नहीं है। देखो! भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर की दिव्यध्वनि और आगम का यह सिद्धान्त है।

इसमें तीन सिद्धान्त सिद्ध किये हैं :–

(१) भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप होते हुये भी अपने भ्रम से शुभ विकल्प को अपना मानता है।

(२) चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा को और राग को अपने अज्ञान से, भ्रम से एक मानकर अज्ञानी होता है। अज्ञानी जीव कर्म के कारण या कुगुरु के कारण परद्रव्य में एकत्व करता है – ऐसा नहीं है; बल्कि अपने ही अज्ञान के कारण सोता है, पर में एकत्व करता है।

(३) श्रीगुरु उसको बारम्बार वीतरागभाव का, भेदज्ञान करने का आगम वाक्य द्वारा उपदेश देते हैं और जिज्ञासु शिष्य उसे बारम्बार सुनता है, एकबार सुनकर नहीं चला जाता। देशसेवा, जनसेवा या प्रभुसेवा से धर्म होता है, यह उपदेश वीतराग भाव का उपदेश नहीं है; ये तो लौकिक बातें हैं।

आत्मा का स्वरूप वीतरागभावरूप है। इसकारण राग या विकल्प आत्मा की वस्तु नहीं है; आत्मा इनसे भिन्न है। राग में धर्म नहीं है और धर्म में राग नहीं है। श्रीगुरु बारम्बार ऐसा उपदेश देते हैं। आगम का वाक्य भी ऐसा ही है तथा श्रीगुरु भी ऐसे ही वाक्य को कहते हैं, सुननेवाला शिष्य भी इसी भाव से सुनता है। शिष्य जिज्ञासा से बारम्बार उपदेश सुनता है, इसलिए श्रीगुरु बारम्बार कहते हैं। बारम्बार सुनने से शिष्य की रुचि (प्रमोद) जागृत होती है। अहो! यह बात तो कहीं भी नहीं सुनी – ऐसी कोई अलौकिक बात है। जीव का स्वरूप वीतराग-विज्ञानता है; ऐसा जो बारम्बार कहें, वे ही गुरु की पदवी से अलंकृत होते हैं। राग से आत्मा में धर्म होता है, ऐसा वचन आगम का वाक्य

नहीं हूं और ऐसा वचन कहनेवाला गुरु नहीं है। अहाहा! टीका में कैसा सब-कुछ खुलासा करके सिद्ध किया है।

इसी समयसार ग्रंथ की ३८वीं गाथा में आता है कि जो अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तपने के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त गुरु से निरन्तर समझाये जाने पर अर्थात् सुननेवाला शिष्य सुनी हुई बात को बारम्बार विचार करता है, बारम्बार इसी का घोलन करता है। इससे शिष्य की जिज्ञासा व रुचि सिद्ध होती है। निरंतर समझाने का अर्थ यह नहीं है कि गुरु चौबीसों घण्टे सुनाते होंगे, बल्कि यह है कि जो कुछ गुरु ने कहा, शिष्य उसका निरन्तर चिन्तन – मनन करता रहता है।

जो पूर्ण वीतरागता व सर्वज्ञता को प्राप्त हो गये हैं, वे जैन परमेश्वर हैं। उनकी दिव्यध्वनि आगम है। उस दिव्यध्वनि में ऐसा आया है कि भगवान! तू वीतराग-विज्ञानघनस्वरूप है। तुझमें आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी परिपूर्ण भरी पड़ी है! उसमें तू राग को एकरूप करके मिलाता है, यह तेरा भ्रम है। राग तो भगवान आत्मा से भिन्न वस्तु है। इसलिए शीघ्र जाग और राग से भिन्न होकर स्वरूप में सावधान हो जा, आत्मदृष्टि कर!

भगवान की वाणी में भी ऐसा आया है और गणधरदेवों ने भी जो श्रुत रचा, उसमें भी यही कहा है। अहाहा! इसमें देव सिद्ध किया, गुरु सिद्ध किया, आगम का वाक्य सिद्ध किया और राग से भिन्न एकरूप आत्मा में दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन आदि धर्म होता है – ऐसा धर्म भी सिद्ध किया। अहो! देव, गुरु, शास्त्र और धर्म आदि सबकुछ सिद्ध करने वाली आचार्य भगवान की कैसी गजब की शैली है। दिगम्बर संतों की बलिहारी है कि उन्होंने जगत में परमसत्य को स्थापित किया है और टिका कर रखा है। देखो! श्री गुरु कहते हैं कि शीघ्र जाग! सावधान हो जा, अन्दर जगमगज्योति चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा है, उसका अनुभव करने का पुरुषार्थ कर! जो राग के प्रति सक्रियता है, उसे छोड़ दे; क्योंकि वह परद्रव्य का भाव होने से तेरी वस्तु नहीं है, परवस्तु है। भगवान आत्मा में ऐसी कोई गुण या शक्ति नहीं है कि जो विकाररूप परिणमन करे। तथापि तू राग से एकता मानता है – यह तेरी भूल है, यह भूल तेरे उपादान से हुई है, कर्म के कारण नहीं। भाई! तू एक ज्ञान मात्र आत्मा है, राग के साथ एकरूपता तेरा स्वरूप नहीं है।

"प्रभु जहाँ तू है, वहाँ राग नहीं है और जहाँ राग है, वहाँ तू नहीं है।" सिद्धान्त के इस आगम-वाक्य को गुरु बारम्बार कहते हैं और अज्ञानी शिष्य बारम्बार सुनता है। अहाहा.......! आगमवाक्य बहुत संक्षिप्त और सरल होते हुये भी गंभीर और महान है। यह समयसार तो भगवान की वाणी है। उसमें थोड़ा लिखा है, परन्तु बहुत जानना। जैसे पत्र में लिखते हैं कि थोड़ा लिखा बहुत जानना – ऐसी ही बात यहाँ है।

शिष्य इस बात को सुनकर स्व-पर के समस्त चिन्हों से भलीभाँति परीक्षा करता है। मेरा लक्षण ज्ञानानंद है और राग का लक्षण जड़ता और आकुलता है। मेरा और राग का लक्षण भिन्न-भिन्न है। मैं ज्ञान के लक्षण से लक्षित हूँ और राग दुःख के लक्षण से लक्षित है।

समयसार गाथा २९४ में आता है कि आत्मा का लक्षण ज्ञान और बंध का लक्षण राग है, इसलिए दोनों भिन्न-भिन्न हैं। गुरु की बात सुनकर अज्ञानी स्वयं हरप्रकार से अच्छी तरह परीक्षा करता है, प्रमाद नहीं करता। यद्यपि गुरु परीक्षा कराते नहीं हैं, तथापि वह स्वयं परीक्षा करता है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, शान्तिस्वरूप, धीरजस्वरूप है और राग अचेतनस्वरूप, दुःखस्वरूप और आकुलतास्वरूप है। इसप्रकार वह अच्छी तरह परीक्षा करके ऐसा निर्णय करता है।

अहो ! सन्तों ने जगत को निहाल कर दिया है। देव, शास्त्र, गुरु और धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है ? यह सब सिद्ध करके बताया है।

'मैं ज्ञानमात्र चैतन्यप्रकाश का पुञ्ज हूँ' जब ऐसा अनुभव में आवे, तब राग से भिन्न, परभाव से भिन्न आत्मा को जाना कहा जाय। 'मेरी सत्ता चैतन्यबिम्बमय है, जब अस्ति से ऐसा भान होता है, तब राग, परभाव मेरे में नहीं है – इसप्रकार का नास्ति का ज्ञान हो जाता है। एक ज्ञानस्वरूप आत्मा के जानने पर ज्ञान में ज्ञान ही है, ज्ञान में राग नहीं है – इसप्रकार का ज्ञान भी हो जाता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने पर उस ज्ञायकस्वभाव में राग नहीं है, इसप्रकार का राग से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान भी हो जाता है। 'मैं एक ज्ञानमात्रभाव ही हूँ', ऐसा जानने पर यह आत्मा परभावों से भिन्न हो जाता है। परन्तु यह सब समझने की आवश्यकता किसे है ? जिसे संसारदुःख कडुवे लगे हों, जो जन्म-मरण करते-करते थक गया हो और जिसे समझने की अत्यधिक जरूरत हुई हो, उसके लिए यह बात है।

यह भगवान आत्मा सुखस्वरूप है और राग दुःखरूप है, आत्मा ज्ञान है और राग अज्ञान है, आत्मा जीव है और राग अजीव है, आत्मा

चेतनमय है और राग अचेतनमय है, पुद्गलमय है – इसप्रकार लक्षणों द्वारा दोनों में भिन्नता जानकर ज्ञानस्वभाव में एकता स्थापित कर जब 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' – ऐसा जानता है, तब रागादिभाव परभाव हैं – इसका ज्ञान हो जाता है।

अब कहते हैं कि ऐसा जानकर ज्ञानी होकर सर्व परभावों को तत्काल छोड़ता है, उनका आश्रय नहीं करता। यहाँ प्रत्याख्यान की बात है। अतः स्वभाव का स्वीकार होते ही रागादि परभाव छूट जाते हैं, इसी को राग छोड़ा – ऐसा कहा जाता है।

अहाहा ! वीतराग सर्वज्ञ की वाणी और उनके आगम का क्या कहना ? मक्खन ही मक्खन भरा है। सर्वज्ञदेव ने क्या कहा, उन्होंने क्या किया, गुरु क्या उपदेश देते हैं और सुननेवालों को कब भेदज्ञान होता है – यह सब आगम में बताया गया है। दूसरे तरीके से कहें परमागम की वाणी में जो उपदेश है, वही निमित्त होता है; अज्ञानी का उपदेश भेदज्ञान होने में निमित्त नहीं होता।

स्वरूप में एकाग्र होने पर परभावों का आश्रय मिट गया और परभाव छूट गये – इसी का नाम प्रत्याख्यान है, चारित्र है। एक सेकन्ड का प्रत्याख्यान अनन्त जन्म-मरण का नाश करनेवाला है। वीतराग परमेश्वर के मार्ग की यही रीति है और यह रीति मात्र दिगम्बर धर्म में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं है। यही जैनधर्म है, दूसरा कोई जैनधर्म नहीं है।

ज्ञानी होकर सर्व परभावों को तत्काल छोड़ देता है। 'सर्व परभावों को' ऐसी भाषा है; इससे यह कहना चाहते हैं कि सूक्ष्म से सूक्ष्म गुण-गुणी के भेद के विकल्प रूप भी जो परभाव हैं, उन्हें भी तत्काल छोड़ देता है अर्थात् वे भी स्थिरता के काल में छूट जाते हैं, इसे भगवान राग का त्याग कहते हैं। 'ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है' – ऐसा बोध हुआ, उसमें स्थिर हुआ, तो राग स्वतः छूट गया – इसी को भगवान प्रत्याख्यान कहते हैं।

गाथा ३५ के भावार्थ पर प्रवचन

जबतक यह आत्मा भूल से परवस्तु को अपनी जानता है, तबतक ही उससे ममत्व रहता है; किन्तु जब यथार्थ ज्ञान हो जाने से परवस्तु को पर जानने लगता है, तो उससे ममत्व भी नहीं रहता।

जिसप्रकार साधारण-स्थिति के लोग शादी के अवसर पर अन्य के घर से गहना लाकर पहनते हैं, किन्तु जिससमय वे उस गहने को पहने

हुए भी है, तब भी उसे अपना नहीं समझते। उन्हें इस बात का ज्ञान व ध्यान निरन्तर बना रहता है कि यह मेरा नहीं है, अन्य का है, इसे काम हो जाने पर दो-चार दिन में ही वापिस देना है। उसीप्रकार ज्ञानी जीव रागादि भावों को पर जानकर उनका त्याग कर देते हैं।

अब इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(मालिनी)

अवतरित न यावद् वृत्तिमत्यंतवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ।।२६।।

श्लोकार्थ :– [**अपर–भाव–त्याग–दृष्टान्त–दृष्टिः**] यह परभाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि, [**अनवम् अत्यन्त–वेगात्–यावत् वृत्तिम् न अवतरति**] पुरानी न हो इसप्रकार अत्यन्त वेग से जबतक प्रवृत्ति को प्राप्त न हो, [**तावत्**] उससे पूर्व ही [**झटिति**] तत्काल [**सकल–भावैः अन्यदीयैः विमुक्ता**] सकल अन्य भावों से रहित [**स्वयम् इयम् अनुभूतिः**] स्वयं ही यह अनुभूति तो [**आविर्बभूव**] प्रगट हो जाती है।

भावार्थ :– यह परभाव के त्याग का दृष्टान्त कहा, उस पर दृष्टि पड़े उससे पूर्व, समस्त अन्य भावों से रहित अपने स्वरूप का अनुभव तो तत्काल हो गया; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वस्तु को पर की जान लेने के बाद ममत्व नहीं रहता ।।२६।।

कलश २६ पर प्रवचन

इस कलश में अमृतचंद्राचार्यदेव पूर्वोक्त ३५वीं गाथा का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि सकल अन्यभावों के त्यागरूप प्रत्याख्यान एवं शुद्धचैतन्यवस्तु की प्रत्यक्षानुभूति एकसाथ होती है, उनमें कोई कालभेद नहीं पड़ता। गाथा में दिये गये दृष्टान्त की ओर संकेत करते हुए कहा है कि यह परभाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि पुरानी न हो अर्थात् एकसमय का भी अन्तर न पड़े। इसप्रकार अत्यन्त वेग से तत्काल अनुभूति प्रगट हो जाती है।

जैसे अज्ञानी दूसरे के वस्त्र को भूल से अपना मानकर ओढ़कर सोता था, परन्तु जब ख्याल में आया कि यह वस्त्र दूसरे का है तो उसीसमय वस्त्र छूट गया, अभिप्राय में से वस्त्र जुदा पड़ गया, वस्त्र में ममत्व

नहीं रहा। उसीप्रकार आत्मा से राग भिन्न है, क्योंकि परभाव है, दोनों के लक्षण जुदे-जुदे हैं अर्थात् आत्मा ज्ञानलक्षण से लक्षित है और राग बंध लक्षण से लक्षित है – ऐसी बात सुनते ही शिष्य को भेदज्ञान की बात ख्याल में आ गई कि आत्मा तो रागरहित है। ऐसा ख्याल आते ही भेदज्ञान की आँख खुल गई तथा वह ज्ञानी होकर राग में स्व को न जोड़ता हुआ अन्दर में चला गया; तब अन्य सकलभावों से रहित, यह आत्मानुभूति तत्काल स्वयं ही प्रगट हो गई।

दूसरे प्रकार से कहें तो यह परभाव के दृष्टान्त की दृष्टि पुरानी न पड़े अर्थात् तत्काल समय का अन्तर पड़े बिना अत्यन्त वेग से आत्मानुभूति प्रगट हो जाती है। पहले मिथ्यात्व का व्यय हुआ, पीछे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हुई – ऐसा नहीं है; परन्तु स्वभाव की ओर झुकते ही अन्य भावों से रहित स्व की अनुभूति हो गई।

जैसे – जिससमय कोई मनुष्य आये और उसीसमय काम पूरा हो तो ऐसा कहा जाता है कि तुम आये नहीं कि उसके पहले ही यह काम पूरा हो गया। वास्तव में तो मनुष्य का आना व काम का होना दोनों एकसाथ ही हुए हैं, पहले पीछे का समयभेद नहीं रहा। इसीप्रकार यहाँ भी समय का अन्तर नहीं है, किन्तु कथन में ऐसा ही कहने में आता है।

परभाव के त्याग की दृष्टि के पहले परभाव से रहित आत्मा की अनुभूति हुई हो – ऐसा नहीं है। परभावों के त्याग की दृष्टि अर्थात् ज्ञायकस्वभाव की जहाँ दृष्टि हुई, वही परभावरहित आत्मा की अनुभूति हो गई है। दृष्टान्त में पहले पीछे कहा, पर अनुभव में कालभेद नहीं समझना।

दया, दान, भक्ति, व्रत आदि लाखों क्रियाएँ करें, परन्तु ये सब विकल्प हैं, बन्धलक्षण से लक्षित हैं। भगवान आत्मा ज्ञान लक्षण से लक्षित है। राग का विकल्प आकुलतामय है और बन्धलक्षण वाला है। निराकुल ज्ञानस्वभावी आत्मा का ये भाव नहीं है। ऐसा सुनने पर 'ये रागभाव परभाव हैं' ऐसा पर (राग) की ओर का विकल्प उठे, उसके पहले ही ज्ञान ज्ञान में स्थिर हो गया और निर्विकल्प अनुभूति प्रगट हो गई। मैं अनाकुल चैतन्यघन ज्ञानानंदस्वरूप हूँ – ऐसा जहाँ दृष्टि में जोर आया, वहीं तत्काल अनुभूति प्रगट हो गई, आत्मा के आनन्द का प्रत्यक्ष स्वाद आ गया।

लोग कहते हैं कि 'व्यवहार से लाभ होता है' – ऐसा कहो, क्योंकि भगवान जिनेन्द्रदेव ने दो नयों से वस्तु की प्ररूपणा की है। नियमसार में आता है कि मैं उस वाणी की वंदना करता हूँ, जो दो नयों से वस्तु को

कहती है। ऐसे शिष्य से आचार्य कहते हैं कि दो नय हैं, दो नयों के विषय भी हैं और शास्त्रों में कथन भी दो नयों से आता है; परन्तु उनमें से एकनय (आश्रय की अपेक्षा) हेय है और एकनय (आश्रय की अपेक्षा) उपादेय है, क्योंकि दोनों नय परस्पर विरुद्ध हैं। द्रव्यनय से पर्यायनय विरुद्ध है व पर्यायनय से द्रव्यनय विरुद्ध है। निश्चयनय से व्यवहारनय विरुद्ध है व व्यवहारनय से निश्चयनय विरुद्ध है। इनमें से निश्चयनय एक ही आश्रय करने योग्य है, जबकि व्यवहारनय हेयपने मात्र जानने लायक है। इसप्रकार दोनों नय परस्पर विरुद्ध होते हुए भी व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसा मानें तो दोनों नयों को कहाँ माना ? भाई ! वाद-विवाद से पार नहीं पड़ेगा, गंभीरता से विचार करना पड़ेगा; क्योंकि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि रागपर्याय व्यवहारनय का विषय है और निर्विकल्प ध्रुववस्तु निश्चयनय का विषय है – इसतरह दो नयों के दो विषय हैं। ऐसे विचार में, विकल्पों की प्रवृत्ति में, जिसने अपने उपयोग को नहीं अटकाया, उसको निश्चयस्वरूप में ढलते, झुकते ही आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है।

कलश टीका में आता है कि जिसकाल में मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध परिणमन का संस्कार छूट जाता है, उसीकाल में उसे अनुभव है। शुद्ध-चेतनामात्र का आभास आये बिना अशुद्धभावस्वरूप परिणाम छूटता नहीं है और अशुद्ध संस्कार छूटे बिना शुद्धस्वरूप का अनुभव नहीं होता। पहले अशुद्धता छूटे पश्चात् शुद्धता हो अथवा पहले शुद्धता हो पश्चात् अशुद्धता छूटे – ऐसा नहीं है। सबकुछ एक ही काल में है। एक ही वस्तु, एक ही ज्ञान और एक ही स्वाद है।

अहाहा ! जब शुद्धाशुद्ध का विकल्प नहीं उठता, उपयोग अन्दर शुद्धस्वरूप की ओर ढल जाता है तथा शुद्ध-आनंद का अनुभव होता है, तभी उसीकाल में अशुद्धपरिणाम का व्यय हो जाता है। अशुद्ध परिणाम का व्यय और शुद्ध आनंद का अनुभव एक ही काल में होता है। भाई ! यह तो मूल मुद्दे की बात है। अहाहा ! राग से, विकल्प से विमुक्त होकर अन्दरस्वरूप में ढल जाना ही सत्य पुरुषार्थ है।

पर्याय की ओर के विकल्प होते हैं, भेदों के विकल्प भी उठते हैं। कलश टीका में तो यह भी कहा है कि प्रथम भूमिका में विकल्परूप भेदज्ञान आता है। राग जुदा है और मैं जुदा हूँ; ऐसे विकल्प भी होते

हैं। परन्तु यहाँ तो यह कहते हैं कि – 'यह मैं नहीं हूँ, और यह मैं हूँ' – ऐसे विकल्प उठने के पूर्व ही अन्तर में निमग्न हो गया और अनुभूति प्रगट कर ली। वस्तु तो वस्तु है, परन्तु वस्तु का आश्रय लेकर जब पर्याय में अनुभूति प्रगट हुई, तब 'राग पर है, इसलिए भिन्न है' – ऐसा लक्ष्य भी नहीं रहा; इसी का नाम प्रत्याख्यान है। यहाँ तो प्रत्याख्यान का स्वरूप समझना है न ? जब-जब आचार्यों ने प्रत्याख्यान या चारित्र की बात की है, तब-तब सबसे पहले अनुभूति से ही बात आरंभ की है। समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में गाथा ३८७ से ३८९ की टीका में ४९ भंग आते हैं, उसमें भी अनुभव से ही बात उठाई है।

निर्विकल्पस्वरूप अस्तित्व पर दृष्टि पड़ने से विकल्प से शून्य होता है। स्वयं का अस्तित्व कितना, क्या व कैसा है, जब तक इस बात की खबर न हो तो तब तक आत्मा विकल्प से शून्य कैसे हो ? ऊपर की सीढ़ी पर पग रखे तो नीचे की सीढ़ी से पग उठ सकता है। किन्तु यदि ऊपर की सीढ़ी पर पग रखे बिना नीचे की सीढ़ी छोड़ दे तो नीचे ही गिरेगा। इसीप्रकार भगवान आत्मा जो महा-अस्तित्वरूप परमपदार्थ है, उसपर दृष्टि पड़ते ही 'यह राग मेरा नहीं है' – ऐसे नास्तिरूप विकल्प की भी सत्ता नहीं रहती और ज्ञाता स्वयं ही विकल्पों से शून्य निर्विकल्प हो जाता है; क्योंकि तब ही निर्विकल्प अनुभूति प्रगट हो जाती है।

भाई ! वस्तु ही ऐसी है। समयसार गाथा ३८ में आता है कि जैसे कोई मनुष्य मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल गया हो और फिर स्मरण करके उस सोने को देखे – इस न्याय से अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था, उसे जानकर, उसका श्रद्धानकर और उसका आचरण करके (उसमें तन्मय होकर) जो सम्यक् प्रकार एक आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। तब 'राग पर का है' – ऐसा द्वैत लक्ष्य में नहीं रहता। जब द्वैत नहीं रहा तो आत्मा एकत्व में स्थित हो जाता है।

अहाहा ! ये शुभभाव मेरे में नहीं है – ऐसे विकल्प को भी वहाँ अवकाश नहीं है। प्रभु तेरी प्रभुता – परमेश्वरता इतनी महान है कि उसके अनुभव के लिए पर का लक्ष्य नहीं करना पड़ता। 'स्वयम् इयम्' यह शब्द पड़ा है न ? अर्थात् यह अनुभूति पर के त्याग की अपेक्षा किये बिना स्वयं से ही प्रगट होती है। उसे पर के त्याग के भी अपेक्षा नहीं है। गाथा ३४ में यह बात आ गई है कि स्वयं को राग के त्याग का कर्त्तापना कहना नाम-मात्र कथन है, परमार्थ नहीं है। राग करने की बात तो दूर रही, राग के

नाश का कर्त्तव्य भी नाममात्र है, व्यवहारमात्र है। अहो! वस्तु के प्रस्तुतिकरण की आचार्यों की कोई गजब शैली है।

कलश २६ के भावार्थ पर प्रवचन

यह परभाव के त्याग का दृष्टान्त कहा, तदनुसार स्वपर का विवेक होते ही स्वभाव पर दृष्टि पड़ने से समस्त परभावों से रहित अपने स्वरूप का अनुभव तत्काल हो गया। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है, उसकी ओर झुकाव होते ही तुरन्त अनुभूति प्रगट हो जाती है, इसी का नाम प्रत्याख्यान है। भाई! जिनेन्द्र का मार्ग अलौकिक है। इसकी प्राप्ति स्वभाव से होती है अर्थात् वह स्वभाव से ही जानने में आये – ऐसा है।

प्रश्न :– व्रत, दया आदि शुभराग अनुभूति के साधन हैं या नहीं ?

उत्तर :– नहीं, राग से भिन्न होकर अंदर में प्रज्ञाछैनी से भेद करना ही आत्मानुभूति का एकमात्र साधन है। प्रज्ञा द्वारा अंदर आत्मा में जाना ही उसका साधन है, अन्य रागादि उसके साधन नहीं हैं।

'स्वयम् इयम् अनुभूति आविर्बभूव:' अर्थात् आत्मा में करण या साधन नाम की शक्ति त्रिकाल रहती है। गुणी आत्मा का आश्रय करने से स्वयंमेव ही यह शक्ति निर्मलपर्याय का साधन हो जाती है। अन्य किसी को साधन नहीं बनना पड़ता – ऐसा ही स्वरूप है।

परभावत्यागः दृष्टान्त-दृष्टि

जैसे कोऊ जन गयौ धोबी कै सदन तिन,
पहिर्यौ परायौ वस्त्र मेरौ मानि रह्यौ है।
धनी देखि कह्यौ भैया यह तौ हमारौ वस्त्र,
चीन्हैं पहिचानत ही त्यागभाव लह्यौ है।।
तैसैं ही अनादि पुद्गल सौं संयोगी जीव,
संग के ममत्व सौं विभाव तामैं बह्यौ है।
भेदज्ञान भयौ जब आपौ पर जान्यौ तब,
न्यारौ परभाव सौं स्वभाव निज गह्यौ है।।३२।।

समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द ३२

अथ कथमनुभूतेः परभावविवेको भूत इत्याशंक्य भावकभावविवेकप्रकारमाह –

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति ॥३६॥

नास्ति मम कोपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका ब्रुवन्ति ॥३६॥

इह खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन सता पुद्गलद्रव्येणाभिनिर्वर्त्यमानष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावस्य परमार्थतः परभावेन भावयितुमशक्यत्वात्कतमोपि न नाम मम मोहोस्ति। किञ्चतत्स्वयमेव च विश्वप्रकाशचंचुरविकस्वरानवरतप्रतापसंपदा चिच्छक्तिमात्रेण स्वभावभावेन भगवानात्मैवावबुध्यते यत्किलाहं खल्वेकः ततः समस्तद्रव्याणां

अब, 'इस अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान कैसे हुआ ?' ऐसी आशंका करके, पहले तो जो भावकभाव – मोहकर्म के उदयरूप भाव, उसके भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं :-

कुछ मोह वो मेरा नहीं, उपयोग केवल एक मैं ।
इस ज्ञान को ज्ञायक समय के, मोहनिर्ममता कहे ॥३६॥

* **गाथार्थ :**– [**बुध्यते**] जो यह जाने कि [**मोहः मम कः अपि नास्ति**] 'मोह मेरा कोई भी (सम्बन्धी) नहीं है, [**एकः उपयोगः एव अहम्**] एक उपयोग ही मैं हूँ' – [**तं**] ऐसे जानने को [**समयस्य**] सिद्धान्त के अथवा स्वपर स्वरूप के [**विज्ञायकाः**] जाननेवाले [**मोहनिर्ममत्वं**] मोह से निर्ममत्व [**ब्रुवन्ति**] कहते हैं ।

टीका :– निश्चय से (यह मेरे अनुभव में) फलदान की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप होनेवाले पुद्गलद्रव्य से रचित मोह मेरा कुछ

---

* इस गाथा का दूसरा अर्थ यह भी है कि :—किंचित् मात्र भी मोह मेरा नहीं है, मैं एक हूँ – ऐसा उपयोग ही (आत्मा ही) जाने, उस उपयोग को (आत्मा को) समय के जाननेवाले मोह के प्रति निर्मम (ममता रहित) कहते हैं ।

परस्परसाधारणावगाहस्य निवारयितुमशक्यत्वात् मज्जितावस्थायामपि दधिखंडावस्थायामिव परिस्फुटस्वदमानस्वादभेदतया मोहं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि, सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् । इतीत्थं भावकभावविवेको भूतः ।

भी नहीं लगता, क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावभाव का परमार्थ से पर के भाव द्वारा [1]भाना अशक्य है। और यहाँ स्वयमेव, विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने में चतुर और विकासरूप ऐसी, निरन्तर शाश्वत् प्रतापसम्पत्तियुक्त है; ऐसा चैतन्यशक्ति मात्र स्वभाव भाव के द्वारा, भगवान आत्मा ही जानता है कि – परमार्थ से मैं एक हूँ, इसलिए यद्यपि समस्त द्रव्यों के परस्पर साधारण अवगाह का (एकक्षेत्रावगाह का) निवारण करना अशक्य होने से मेरा आत्मा और जड़, श्रीखंड की भांति, एकमेक हो रहे हैं; तथापि श्रीखंड की भांति, स्पष्ट अनुभव में आनेवाले स्वाद के भेद के कारण, मैं मोह के प्रति निर्मम ही हूँ; क्योंकि सदा अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है। (दही और शक्कर मिलानें से श्रीखंड बनता है, उसमें दही और शक्कर एक जैसे मालूम होते हैं, तथापि प्रगटरूप खट्टे-मीठे स्वाद के भेद से भिन्न-भिन्न जाने जाते हैं; इसी प्रकार द्रव्यों के लक्षण भेद से जड़-चेतन के भिन्न-भिन्न स्वाद के कारण ज्ञात होता है कि मोहकर्म के उदय का स्वाद रागादिक है, वह चैतन्य के निजस्वभाव के स्वाद से भिन्न ही है।) इसप्रकार भावकभाव जो मोह का उदय, उससे भेदज्ञान हुआ।

भावार्थ :– यह मोहकर्म जड़ पुद्‌गलद्रव्य है; उसका उदय कलुष (मलिन) भावरूप है; वह भाव भी, मोहकर्म का भाव होने से, पुद्‌गल का ही विकार है। यह भावक का भाव जब चैतन्य के उपयोग के अनुभव में आता है, तब उपयोग भी विकारी होकर रागादिरूप मलिन दिखाई देता है। जब उसका भेदज्ञान हो कि 'चैतन्य की शक्ति की व्यक्ति तो ज्ञान-दर्शनोपयोगमात्र है और यह कलुपता रागद्वेषमोहरूप है, वह द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्‌गलद्रव्य की है,' तब भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोह के भाव उससे अवश्य भेदभाव होता है और आत्मा अवश्य अपने चैतन्य के अनुभवरूप स्थित होता है।

---

[1] भाना=भाव्यरूप करना; बनाना।

गाथा ३६ की उत्थानिका, गाथा व उसकी टीका पर प्रवचन

अब यहाँ शिष्य विनयपूर्वक जिज्ञासाभाव से पूछता है कि इस अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान किसप्रकार हुआ ? उसके उत्तर में भावक-भाव अर्थात् मोहकर्म के उदयरूपभाव से भेदज्ञान कराते हैं !

फल देने की सामर्थ्यवाला भावकरूप द्रव्यकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ भाव्यरूप मोह निश्चय से मेरा कुछ भी नहीं लगता अर्थात् उससे मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि मैं तो ज्ञायकभाव हूँ और रागभावरूप मेरा होना अशक्य है। मुझ में मोह है ही नहीं, मैं तो निर्मोही भगवान आत्मा हूँ। चौदहप्रकार का अभ्यन्तर परिग्रह – एक मिथ्यात्व, चार कषाय, नौ नोकषाय तथा दसप्रकार का बाह्य परिग्रह – क्षेत्र-वास्तु सोना-चांदी धन-धान्य, दास-दासी, वस्त्र व बर्तन – ये सब मुझमें नहीं हैं। बाह्य परिग्रह के प्रति होनेवाला राग भी मुझमें नहीं है। परिग्रह की ओर उन्मुख जो वृत्ति उठती है, वह भी मेरे स्वरूप में नहीं है। जिसके अभ्यन्तरपरिग्रह का त्याग है, उसके बाह्य परिग्रह का त्याग असद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है। देखो ! वस्त्र व बर्तन बाह्य परिग्रह में कहे हैं, इसलिए वस्त्र व पात्र सर्व परिग्रहत्यागी निर्ग्रन्थमुनि के होते ही नहीं हैं।

यहाँ कहते हैं कि पुद्गलद्रव्य भावकरूप होकर मोह की रचना करता है। यहाँ जो मोह की बात की है, वह चारित्रमोह की अपेक्षा से है; सम्यग्दर्शन के बाद की बात है, मिथ्यात्व की बात नहीं है। पर की ओर झुकनेवाला भाव (राग-द्वेष) ही मोह है। वह मोह मेरा कोई भी संबंधी नहीं है। पर की ओर सजग रहने का जो भाव है, वह मेरा नहीं है; परन्तु अपने स्वभाव की ओर सजग रहने का भाव मेरा है। भावकरूप मोहकर्म और उसकी ओर झुकनेवाले भावों के साथ मेरा कोई भी संबंध नहीं है, क्योंकि एक चैतन्यधातु ज्ञायकस्वभावभाव का परमार्थ से परभाव रूप होना या भाव्यरूप होना अशक्य है।

धर्मीजीव आगे बढ़कर जो प्रत्याख्यान करते हैं, उसकी यह बात है। जड़मोहकर्म भावक है और आत्मा का उपयोग जो पर की ओर झुककर राग-द्वेषभावयुक्त परिणमता है, वह उस भावकमोहकर्म का भाव्य है। पुद्गलद्रव्य फल देने की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप होता है, तब उसके निमित्त से पर की ओर का विकारीभावरूप मोह होता है। यहाँ कहते हैं, यह मोह मेरा कुछ भी संबंधी नहीं है, क्योंकि मैं तो ज्ञान-दर्शन शक्ति की व्यक्तता रूप ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप हूँ।

जिसप्रकार कर्म भावकरूप होता है, तब मोह होता है; उसीप्रकार मैं ज्ञानदर्शन उपयोगस्वभावी तत्त्व हूँ, जिससे मेरी पर्याय में ज्ञान-दर्शन शक्ति की व्यक्तता होती है। यह व्यक्ततारूप उपयोग मेरी चीज है, किन्तु मोह मेरी चीज नहीं है। कर्म के निमित्त से हुआ राग-द्वेष का परिणाम जो उपयोग में झलकता है, वह मैं नहीं हूँ; क्योंकि एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक-स्वभावभावरूप शुद्धचैतन्य उपयोगस्वभावी वस्तु का विकाररूप (भाव्यपने) होना अशक्य है।

मैं तो चैतन्यशक्तिस्वभाववाला तत्त्व हूँ, इसलिए मेरा जो विकास होता है, वह भी जानने-देखने के परिणामरूप से ही होता है। भावकर्म के निमित्त से जो विकार होता है, वह मेरा विकास नहीं है। पर्याय में भी विकार न हो – ऐसा मेरा स्वरूप है। शक्तिरूप से तो आत्मा ज्ञायक है ही, किन्तु उसकी जो व्यक्तता और प्रगटता होती है, वह भी ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप ही होती है। राग-द्वेष विकाररूप होने की शक्ति तो आत्मा में है ही नहीं, किन्तु उस विकारी पर्याय की व्यक्तता या प्रगटता हो – यह भी नहीं है। अहाहा ! ये जीव अधिकार की अंतिम गाथाएँ हैं, इसकारण से जीव से अजीव को सर्वथा पृथक् किया है।

भगवान आत्मा शुद्धचैतन्यउपयोगस्वरूप है और उसकी व्यक्तता–प्रगटता जानने-देखनेरूप ही होती है। इसकी शक्ति में से विकार का परिणाम प्रगट होना अशक्य है। ऐसा भगवान आत्मा चैतन्यशक्तिमात्र स्वभावभाव से अर्थात् जानने-देखने के स्वभावभाव से जानता है कि मैं एक हूँ। जानने-देखने के स्वभाव से मैं एक हूँ। देखो ! इसमें प्रभुत्वशक्ति ली है। आत्मा में एक प्रभुत्वशक्ति है, जिससे वह अखण्ड प्रताप से स्वतंत्र-रूप से शोभायमान है। ऐसे आत्मा की विश्व को प्रकाशित करने में चतुर, विकासरूप, निरन्तर शाश्वती सम्पदा है। यह बाह्य मकान, कुटम्ब आदि सम्पदा आत्मा की नहीं हैं, यह तो जड़ है। यहाँ तो कहते हैं कि भगवान आत्मा चैतन्यशक्ति के स्वभाव की सामर्थ्य से ऐसा जानता है कि परमार्थ से मैं एक हूँ। मैं और राग – इसप्रकार दो मिलकर एक नहीं, किन्तु राग से भिन्न मैं चैतन्यशक्तिमात्र एक हूँ।

यद्यपि मेरा चैतन्यस्वभाव और जगत के दूसरे जड़द्रव्य एक क्षेत्र में रहते हैं, तथापि भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा और जड़पदार्थ यद्यपि एक क्षेत्र में रहते हैं, तथापि जिसप्रकार श्रीखण्ड की खटास व मिठास एक क्षेत्र में रहकर भी पूर्णतया भिन्न हैं, उसीप्रकार आत्मा का चैतन्यलक्षण और अन्य द्रव्यों का जड़स्वभाव एकमेकरूप से एक क्षेत्र में रहता है, तथापि

स्पष्ट अनुभव में आते हुए स्वादभेद के कारण भिन्न हैं। भगवान आत्मा का स्वाद अनाकुल आनन्दरूप और कर्म के फल का – राग का स्वाद दुःखरूप है। इसप्रकार दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

भगवान आत्मा अनाकुल-आनन्द से भरा हुआ परिपूर्ण प्रभु पदार्थ है। अनाकुल-आनन्द वेदन करनेवाली पर्याय का स्वाद राग के स्वाद से सर्वथा भिन्न है। इस जीव को शक्कर आदि जड़पदार्थों का स्वाद नहीं आता, उनकी ओर लक्ष्य करके जब यह जीव 'यह ठीक और यह बुरा' इसप्रकार के विकल्परूप जो राग-द्वेष करता है, उनका स्वाद इसे आता है।

यहाँ तो कहते हैं कि यह स्वाद भी ज्ञानस्वभावी, अनाकुल-आनंदस्वभाव के सागर प्रभु आत्मा की व्यक्तदशा के स्वाद से भिन्न है। आत्मा और जड़ श्रीखण्ड की भाँति एकमेक हो रहे हैं, तो भी स्वादभेद के कारण भिन्न-भिन्न हैं। जिसप्रकार श्रीखण्ड में मीठा और खट्टा दोनों स्वाद भिन्न-भिन्न हैं उसीप्रकार जड़ व आत्मा का स्वाद अनुभव में स्पष्ट भिन्न-भिन्न ज्ञात होता है। ज्ञानी की दृष्टि वस्तुस्वभाव पर होने से वस्तु की शक्ति की व्यक्तता से जो आनंद प्रगट होता है, वह स्वाद में जाना जाता है। इसलिए वे कहते हैं कि इस स्वाद-भेद के कारण मैं मोह के प्रति निर्मम हूँ।

यहाँ मोह की बात की है, इसमें पर की ओर के राग-द्वेषादि सभी भाव आ जाते हैं। उसका स्वाद कलुषित है, जबकि भगवान आत्मा का स्वाद आनंदरूप है, जो कलुषित से भिन्न है। इसकारण मैं मोह के प्रति निर्मम ही हूँ। मैं तो सदा ही अपने एकपने में प्राप्त होने से एकरूप ज्ञायक हूँ। ज्ञायकपने के कारण ज्ञानरूप परिणमन करके सदैव ऐसा का ऐसा ही स्थित हूँ। अहाहा! कर्म के निमित्त से – भावक से जो रागादि भाव्य होते हैं, उनका स्वाद और ज्ञायकस्वभाव की परिणति में जो आनन्द आया है, उसका स्वाद भिन्न-भिन्न है। इसप्रकार भेदज्ञान होने से मैं तो ज्ञायकस्वरूप ही हूँ। यह जो दूसरा स्वाद है, वह अन्य का है, मेरा नहीं है।

दही और शक्कर मिलाने से श्रीखण्ड बनता है। उसमें दही और शक्कर एकमेक मालूम पड़ते हैं, तथापि प्रगट खट्टे-मीठे स्वाद के भेद से दोनों पृथक्-पृथक् ज्ञात होते हैं। उसीप्रकार द्रव्यकर्म के उदय का स्वाद जो रागादिरूप है, वह भगवान आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की प्रगट परिणति से स्वादभेद के कारण भिन्न है। जड़ द्रव्यकर्म भावक और उनके भाव्यरूप राग के स्वाद की जाति आत्मा से भिन्न है। राग का स्वाद कलुषित, आकुलतामय है और भगवान आत्मा का स्वाद, अनाकुल-आनंदमय है।

इसप्रकार स्वादभेद से – लक्षणभेद से भेदज्ञान करना धर्मधारा है, धर्म है। कर्म के संबंध से जितनी अस्थिरता व्याकुलता होती है, वह मेरी चीज नहीं है, क्योंकि मैं तो ज्ञायकस्वभावी चैतन्यमात्र हूँ। मोह रागादि और ज्ञायकभाव – इसप्रकार मैं दो रूप नहीं हूँ। मैं तो एक ज्ञायकमात्र ही हूँ, एकरूप ही हूँ – इसप्रकार जो आत्मा के उपयोग से जानते हैं, उसे 'समय' के ज्ञाता पुरुष निर्मम कहते हैं। अन्तःस्वभाव की सावधानी से उपयोग में राग का स्वाद नहीं आता, इसकारण जो उसके प्रति निर्ममत्व होते हैं, वे ज्ञानी राग से अपने उपयोग को नहीं जोड़ते। यहाँ जबतक परिपूर्ण स्थिरता होकर एवं परभावों से पूर्णरूप से भिन्न होकर पूर्ण वीतराग न हो जाय, तबतक की बात ली है।

चैतन्यदल जो सम्पूर्ण वस्तु है तथा जो जीवत्वशक्ति, चतन्यशक्ति, सुखशक्ति, वीर्यशक्ति इत्यादि अनन्त शक्तियों की सामर्थ्यवाला आत्मतत्त्व है, उस चैतन्यदल भगवान आत्मा के सन्मुख होकर जब स्वीकार किया, तभी आनन्द की धारा पर्याय में व्यक्त हो जाती है। मैं तो उपयोगमय हूँ, जो रागादिरूप भावक का भाव्य होता है, वह मैं नहीं हूँ। जैसे धूल-धोया[1] धूल को, पीतल की कणी को और सोने की कणी को हल्के व भारी वजन के लक्षण-भेद से भिन्न करता है, उसीप्रकार यह भगवान आत्मा राग और स्वभाव के स्वादभेद से भिन्न-भिन्न जानकर – ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करके स्वयं को राग से भिन्न कर लेता है।

पूर्ण आनन्द का धाम ऐसे स्वभाव की सत्ता का स्वीकार होने से ज्ञानी आनन्द के स्वाद को व राग के स्वाद को व्यक्तपर्याय में भिन्न जानते हैं। भाई! धर्म बहुत सूक्ष्म है, अपूर्व है। अनन्तकाल में अनेक क्रियाकाण्ड-भक्ति, व्रत, तप, पूजा इत्यादि किये, किन्तु यह भेदज्ञान नहीं किया; इसका उपदेश भी विरल है।

इसप्रकार राग की ओर के झुकाव को छोड़कर चैतन्यस्वभाव की सामर्थ्य की ओर झुकाव करने पर शक्ति में से जो आनन्द की धारा स्वाद में आती है, वह राग से भिन्न है। राग तो जड़ है, अचेतन है; उसमें चैतन्य या ज्ञान की किरण का अंश भी नहीं है। राग का स्वाद मलिन है, दुःखरूप है तथा भगवान चैतन्य का स्वाद आनन्दमय है। इसप्रकार स्वादभेद के कारण दोनों भिन्न हैं। जीव को अजीव से सर्वथा पृथक् – भिन्न करना है

---

[1] सोना आदि धातुओं की संभावनावाले स्थानों पर धूल को धोकर धातुओं की तलाश करनेवालों को धूलधोया कहते हैं।

न ? मोहकर्म के उदय का स्वाद रागादिरूप है, वह चैतन्य के स्वाद से सर्वथा भिन्न ज्ञात होता है। इसप्रकार भावक के भाव्यरूप जो मोह का उदय है, उससे भेदज्ञान हुआ अर्थात् कर्म के निमित्त से जो रागभाव होता था, उसे लक्षणभेद से भिन्न जानकर आत्मा के स्वभाव से भिन्न किया।

गाथा ३६ के भावार्थ पर प्रवचन

यह मोहकर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है, तथा इसका जो उदय आता है है, वह मलिनभावरूप है। अर्थात् कर्म जड़ – अजीव है और उनके निमित्त से हुए रागादिभाव कलुषित व मलिनभाव हैं। रागादि विकारीभाव मोह-कर्म के भाव्य होने से पुद्गल के ही विकार हैं, ये ज्ञायक की अवस्थायें नहीं हैं। आचार्य यहाँ कहते हैं कि भावकरूप जो कर्म हैं, उनके निमित्त से हुआ विकार जब चैतन्य के उपयोग के अनुभव में आता है, तब उपयोग भी विकारी होकर रागादिरूप मलिन दिखाई देता है; किन्तु चैतन्य की शक्ति की व्यक्ति तो ज्ञान-दर्शन उपयोगमात्र है अर्थात् सामर्थ्य की व्यक्ति ज्ञान-दर्शन के परिणामरूप है, राग-द्वेष के परिणामरूप नहीं हैं। चैतन्य में तो अनंतशक्तियों की सामर्थ्य भरी है। ज्ञानस्वभाव की सामर्थ्य, दर्शन-स्वभाव की सामर्थ्य, सुख की सामर्थ्य, आनन्द की सामर्थ्य और सत्ता आदि अनंतशक्तियों की सामर्थ्य भगवान-आत्मा में है। ऐसी अनंतसामर्थ्य से मंडित चैतन्य की दशा तो ज्ञान-दर्शन के उपयोगमय शुद्ध ही होती है। उपयोग में सब ज्ञात होता है – अतः उपयोग की मुख्यता से बात कही है।

आत्मा की ज्ञान-दर्शन शक्ति की व्यक्तता जानने-देखनेरूप होती है, रागरूप नहीं। राग की रचना करे – ऐसा कोई गुण या शक्ति आत्मा में नहीं है। चेतन द्रव्य है, उसकी चैतन्यशक्ति है तथा उसकी पर्याय-व्यक्ति जानने देखनेरूप होती है। भाई ! वीतरागमार्ग जगत से जुदा है। लोगों ने उसे क्रियाकाण्ड में मान रखा है। यहाँ तो कहते हैं व्रतादि का जो विकल्प है, वह भी अचेतन है, जड़ है। यह कोई चैतन्यशक्ति की व्यक्तता – प्रगटता नहीं है। अहाहा ? वस्तु सम्पूर्ण चैतन्यदल है, उसकी शक्तियाँ व गुण चैतन्यमय हैं तो उसकी पर्यायें-व्यक्तियाँ ज्ञान-दर्शन के उपयोगमय क्यों नहीं होंगी ? उसकी प्रगटता में जड़-रागद्वेष किसप्रकार हो सकते हैं ?

निश्चय से राग पुद्गल का है; क्योंकि रागरूप विकार चैतन्य-शक्ति की व्यक्तता नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी निश्चय से ज्ञान-स्वभाव की जाननेरूप शक्ति की सामर्थ्य में से नहीं आया है, इसकारण वह भी जड़ है। जाननेरूप शक्ति की सामर्थ्य में से तो मात्र जानने देखने-

रूप परिणाम होता है। वह परिणमन रागादि को जानता है किन्तु ये रागादि मेरे हैं, ऐसा नहीं जानता।

भावक अर्थात् कर्म का उदय, उस कर्म के उदयरूप भावक से हुए राग-द्वेष के भाव, वे भावक के ही भाव्य हैं, ज्ञायक के नहीं। अहाहा! यह समझने के लिए कितनी धीरज चाहिए? जब स्वभाव के अवलम्बन से भेदज्ञान प्रगट होता है, तब राग की कलुषता उपयोग से भिन्न जड़ पुद्गलद्रव्य की है, ऐसा भासित होता है और तब भावकभाव जो द्रव्य कर्मरूप मोह का भाव्य है, उससे अवश्य ही भेदज्ञान होता है। मोहकर्म के उदय से जो जो राग होता है वह भावक का भाव्य है, ज्ञायक का भाव नहीं है। यह बात सूक्ष्म है, परन्तु भाई! तुझमें ऐसी सूक्ष्म बात समझने की ताकत है, योग्यता है। अरे! तुझमें तो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर लेने की ताकत है। प्रभु! तेरी प्रभुता की क्या बात?

भगवान पूर्ण-आनन्द का नाथ शुद्ध चैतन्यस्वरूप से अचलपने अन्दर विराजमान है। वह अनंत-अनंत शान्ति, सुख, ज्ञान व आनंद का सागर है। वह उछले, तब उसमें से ज्ञान व आनंद की परिणति आती है। जैसे पम्प की मशीन चालू करने पर कुए में से फुब्बारे के समान पानी की धारा फूट पड़ती है, उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा पर दृष्टि का जोर पड़ते ही जितना अन्दर स्वभाव में एकाग्रता का दबाव पड़ता है, उतनी ही आनंद की धारा अन्दर से प्रवाहित होने लगती है। भेदज्ञान होते ही भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोहभाव है, उससे ज्ञायकभाव का भाव भिन्न हो जाता है और आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप के अनुभव में स्थित हो जाता है। जिसे ज्ञायकभाव का आदर आया है अर्थात् यह पूर्ण आनन्द का नाथ स्वभाव का सागर है, गुणों का गोदाम है, इसप्रकार जिसकी दृष्टि में–प्रतीति में जोर आया है; वह आत्मा अन्तर में विशेषरूप से स्थिर होकर ज्ञान व आनन्द की पर्याय प्रगट करके राग से–भावक के भाव्य से भिन्न हो जाते हैं।

अब इस अर्थ का द्योतक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(स्वागता)

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं
चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः
शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

श्लोकार्थ :–[**इह**] इस लोक में [**अहं**] मैं [**स्वयं**] स्वतः ही [**एकं स्वं**] अपने एक आत्मस्वरूप का [**चेतये**] अनुभव करता हूँ, [**सर्वतः स्व-रस-निर्भर-भावं**] जो स्वरूप सर्वतः अपने निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से पूर्ण भरे हुए भाववाला है; इसलिये यह [**मोहः**] मोह [**मम**] मेरा [**कश्चन नास्ति नास्ति**] कुछ भी नहीं लगता अर्थात् इसका और मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। [**शुद्ध-चिद्घन -महः-निधिः अस्मि**] मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूहरूप तेजःपुंज का निधि हूँ। (भावभावक के भेद से ऐसा अनुभव करे।) ॥३०॥

कलश ३० पर प्रवचन

इस कलश के भाव का पद्यानुवाद करके पण्डित बनारसीदासजी ने जीवद्वार का ३३वाँ छंद लिखा है, जो इसप्रकार है।—

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं,
अपने रस सौं भर्यौ आपनी टेक हौं।
मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है,
शुद्ध चेतना सिंधु हमारो रूप है ॥३३॥

धर्मात्माजन ज्ञानी को विचक्षण पुरुष कहते हैं। उनकी दृष्टि में तो दुनियादारी में चतुर वस्तुतः पागल हैं। यहाँ सम्यग्दृष्टि विचक्षण पुरुष ऐसा विचार करते हैं कि "मैं तो सदा एकरूप हूँ। रागादि विकारी-भाव मेरे स्वभाव में नहीं हैं। मैं तो ज्ञायक की निर्मल आस्वादरूप परिणति के स्वभाववाला एकरूप हूँ। मेरे ज्ञायकभाव में रागरूप विकार है ही नहीं। मैं तो निज चैतन्यरस से भरा हुआ भगवान आत्मा ज्ञायक-तत्त्व हूँ और सदैव अपने ही आश्रय से अपने में निवास करता हूँ। अर्थात् मेरी पर्याय मेरे ध्रुवस्वभाव की ओर सन्मुख होकर तन्मय हो गई है, इसलिए मैं कहता हूँ कि मैं तो सदैव एकरूप ही हूँ। राग का आश्रय मुझे नहीं है। अहाहा! मैं तो अनादि से अतीन्द्रिय आनंदरस और ज्ञानरस से भरपूर भरा हुआ हूँ। मुझे इस ज्ञान-दर्शनस्वभाव की रुचि उत्पन्न हुई है अथवा स्वभाव का रस प्रगट हुआ है, इस कारण राग के रस की रुचि नष्ट हो गई है। रागादि तो भ्रम का कुआँ है, यह मेरा स्वरूप नहीं है। ये राग-द्वेष तथा पुण्य-पाप के विकार भ्रम का कुआँ है। भावक के भाव से उत्पन्न हुई विकारी दशा, पर के ओर की सावधानी की दशा, यह मेरा स्वरूप नहीं है; क्योंकि मैं तो मात्र शुद्ध चैतन्यसिन्धुस्वरूप हूँ"।

अरे ! स्वयं आत्मा कौन है, कसा है ? यह बात कभी सुनी नहीं है और अनादि से व्यर्थ के क्रियाकाण्ड में अटक रहा है, उसी में मर-पच रहा है।

जीव अधिकार की ये अंतिम गाथाएँ हैं। इसलिए कहते हैं कि "इस लोक में मैं अपने से ही अपने एक आत्मस्वरूप का अनुभव करता हूँ। मेरा ज्ञायकस्वरूप है, उसे मैं अनुभव में लेता हूँ। एक ज्ञायक को अनुभवता हूँ, उसी का वेदन करता हूँ। मेरे वेदन में राग का वेदन नहीं है।" – ऐसी बात समझने में भी कठिन लगती है तो प्रयोग कैसे करें ? वीतराग जिनेश्वरदेव का यह मार्ग अपूर्व है। जिसने तीनों काल व तीनों लोकों को केवलज्ञान में प्रत्यक्ष जाना है, यह अपूर्व मार्ग उन्हीं की दिव्यध्वनि में प्रस्फुटित हुआ है। सन्तों ने भी उसी के अनुसार ही कहा है।

धर्मी कहते हैं कि "मैं उस स्वरूप का अनुभव करता हूँ, जो सर्वतः निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण भरे हुए भाववाला है।" यहाँ परिणमन का अर्थ निर्मलस्वभाववाला आत्मपदार्थ है। यह त्रिकाली द्रव्य की बात है। चैतन्य का परिणमन चैतन्य के स्वभाव से परिपूर्ण भरे हुए भाववाला है। इसलिए "यह मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता। उसका और मेरा कुछ भी नाता नहीं है, क्योंकि मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूहरूप तेजपुञ्ज की निधि हूँ" – ज्ञानी ऐसी परिणति का वेदन करता है, जानता है। यह परिणति धर्म है।

कितने ही कहते हैं कि कानजी स्वामी ने यह सोनगढ़ से नया धर्म निकाला है, परन्तु क्या यह सोनगढ़ का है ? यह शुद्धचिद्घन महोनिधि तो अनादि है न ? धर्मीजीव ऐसा जानते हैं कि "मैं शुद्धचिद्घन अर्थात् शुद्धज्ञान समूह का निधान, शुद्ध आनंदघन का निधान, शुद्ध वीर्यघन का निधान, शुद्धकर्त्ताशक्ति का निधान, शुद्धकर्मशक्ति का निधान भंडार हूँ।"

कर्म के चार प्रकार हैं :–

(१) कोई भी जड़ की अवस्था होती है, वह कर्म है। जैसे यह जो शरीरादि की अवस्था है, वह उसके कर्त्ता का कर्म है। जड़ परमाणु कर्त्ता है, उसका यह कार्य है; अतः कर्म है, पर्याय है। जो द्रव्यकर्म हैं, वे भी जड़ कर्त्ता के कर्म हैं – परिणमन हैं।

(२) पुण्य-पाप का विकार व मिथ्यात्व का भाव भावकर्म या विकारी कर्म है। राग-द्वेष-मोह का परिणाम विकारीकर्म है।

(३) निर्मलपरिणति भी कर्म है। आत्मा के आनंद के वेदन की क्रिया–शुद्धता का अनुभव, वह भी निर्मल परिणमनरूप कर्म है।

(४) त्रिकाल रहनेवाली शक्ति-सामर्थ्य जो अन्दर पड़ी है, वह भी कर्म है। कार्य होने की सामर्थ्य कर्मशक्ति है। कार्य होने की सामर्थ्य स्वयं में होने से उसके कार्य के लिए निमित्त या पर की अपेक्षा नहीं है। कार्य रूप होने की सामर्थ्य वस्तु में त्रिकाल मौजूद है।

ऐसा चिद्घन परिपूर्ण शक्तियों से भरा हुआ भण्डार मैं स्वयं हूँ – ऐसा जिसके अनुभव में आता है, उसका वह अनुभव एक निर्विकारी कर्म या कार्य है और उसे मोक्षमार्ग कहते हैं।

कर्म अर्थात् कार्य या पर्याय। आत्मा में कर्म नाम का त्रिकाल गुण है। उसमें से कार्य अर्थात् पर्याय आती है, इस कर्म गुण का रूप दूसरे अनंत गुणों में है। एक गुण में दूसरा गुण नहीं है, किन्तु एक गुण के आश्रय से दूसरें गुण नहीं हैं। गुण तो सब द्रव्य के आश्रय से हैं, किन्तु एक गुण में दूसरे गुण के रूप की सामर्थ्य है। कर्त्तागुण ज्ञानगुण से भिन्न है, किन्तु ज्ञानगुण में कर्त्तागुण का रूप है, कर्मगुण का भी रूप है।

ऐसे शुद्ध चैतन्यघन की निधि मैं हूँ – ऐसा ज्ञानी अनुभव करता है। अहाहा! उनके स्वभावसामर्थ्य की क्या शक्ति है। रागरूप होना, ये कोई गुण या शक्ति नहीं है। वस्तु तो शुद्ध चिद्घन अर्थात् शुद्ध आनंदघन, शुद्ध ज्ञानघन, शुद्ध वीर्यघन – इसप्रकार अनंतगुणों का घन – समूह है। भाई! उसे प्राप्त करने के लिए योग्य पुरुषार्थ करना चाहिए!

वीर्य का वेग जब अन्तर में बढ़ता है, तब ज्ञानी ऐसा अनुभव करते हैं कि मैं तो पूर्णस्वरूप निधि हूँ। मैं शरीर नहीं हूँ, राग नहीं हूँ, पुण्य-पाप नहीं हूँ तथा अल्पज्ञ भी नहीं हूँ। भाई! मैं तो एक गुणरूप भी नहीं हूँ, मैं तो अनंत गुणों का एक अखण्ड निधान हूँ।

कलश ३० के बाद की गाथा ३६ की टीका

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडस व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि।

इसीप्रकार गाथा में जो 'मोह' पद है; उसे बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन – इन सोलह पद के भिन्न-भिन्न सोलह गाथासूत्र व्याख्यान करना और इसी उपदेश से अन्य भी विचार लेना।

कलश ३० के बाद की गाथा ३६ की टीका पर प्रवचन

इसीप्रकार गाथा में जो 'मोह' पद है, उसे बदलकर 'राग' लें। राग के भावकपने मैं नहीं हूँ। कर्म भावक है और राग उसका भाव्य है, वह राग मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ। इसकारण वह राग मेरे ज्ञान में ज्ञात होने योग्य है, किन्तु वह राग मेरे ज्ञान की पर्याय में (तद्रूप) आ जाये – ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है।

इसीप्रकार 'द्वेष' भी भावककर्म का भाव्य है, वह द्वेष भी ज्ञायक का भाव्य नहीं है। ज्ञायक का भाव्य तो द्वेष को लक्ष में लिए बिना 'जानना' मात्र है। उसीप्रकार क्रोध भावक कर्म का भाव्य है, ज्ञायक का भाव्य नहीं है। हाँ, ज्ञायक का भाव्य जो ज्ञान है, उस ज्ञान में क्रोध जाना अवश्य जाता है, किन्तु वह क्रोध मैं नहीं हूँ। ज्ञान में क्रोध ज्ञात होता है – ऐसा कहना व्यवहार है। वास्तव में तो ज्ञान की पर्यायिका स्व-परप्रकाशक रूप जो व्यक्त होता है, वह मैं हूँ; किन्तु क्रोध मैं नहीं हूँ। यह प्रवीण-विचक्षण पुरुषों के अनुभव की बात है।

जब आचार्य भगवन्त इतनी चमत्कारिक बात करते हैं, तो भगवान की दिव्यध्वनि की क्या बात ! अहाहा ! पंचमकाल में छद्मस्थ मुनि ऐसा कहते हैं कि हम तो पूर्ण निधि स्वरूप हैं, इसमें से अनंत आनन्द व अनन्त ज्ञान प्रतिसमय बहता रहता है, तथापि कभी उसका अन्त नहीं आता, वह कभी भी समाप्त नहीं होता। वह शाश्वत निधि है।

अरे ! अज्ञानी को ऐसा आत्मा प्रतीति में नहीं आता, क्योंकि मैं पैसावाला हूँ, बंगला (मकान) वाला हूँ, कुटुम्ब-परिवारवाला हूँ, रागवाला, पुण्यवाला हूँ – इसप्रकार वह आत्मा को पामर मानता है। किन्तु 'मैं तो जगत में एक अनन्त गुणों की सामर्थ्य से भरा हुआ महानिधान आत्मा हूँ' धर्मी की परिणति तो ऐसी पुकार करती है। वस्तु तो वस्तु ही है। किन्तु इसे कौन जाने ? ज्ञानी जानता है कि मैं तो ऐसी ही महानिधिस्वरूप हूँ।

'मोह' पद बदलकर मान, माया, लोभ लेना वे सब भावककर्म के भाव्य हैं। ये सब ज्ञायक के स्वरूप नहीं हैं। ये मेरे ज्ञायक में नहीं हैं। शरीर, वाणी, मन व पाँच इन्द्रियाँ भी मेरी नहीं हैं।

इसीप्रकार असंख्यप्रकार के शुभाशुभभाव हैं, वे सब समझ लेना। 'ये सब जो विभावभाव हैं, उनरूप मैं नहीं हूँ; क्योंकि ये सब भावककर्म के भाव्य हैं, ज्ञायक के भाव्य नहीं हैं, और मैं तो एक ज्ञायकमात्र हूँ।' ऐसा विचार करना।

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारमाह—

णत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति ॥३७॥

नास्ति मम धर्मादिर्बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका ब्रुवन्ति ॥३७॥

अमूनि हि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि स्वरसविजृम्भितानिवारितप्रसरविश्वघस्मरप्रचंडचिन्मात्रशक्तिकवलिततयात्यंतमंतर्मग्नानीवात्मनि प्रकाशमानानि टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावत्वेन तत्त्वतोऽन्तस्तत्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतो बहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुमशक्यत्वान्न नाम मम सन्ति । किञ्चैतत्स्वयमेव च नित्यमेवोपयुक्तस्तत्त्वत

अब ज्ञेयभाव के भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं :—

धर्मादि वे मेरे नहीं, उपयोग केवल एक हूँ ।
—इस ज्ञान को, ज्ञायक समय के धर्मनिर्ममता कहे ॥३७॥

[1]गाथार्थ :—[बुध्यते] यह जाने कि [धर्मादि] 'यह धर्म आदि द्रव्य [मम नास्ति] मेरे कुछ भी नहीं लगते, [एकः उपयोगः एव] एक उपयोग ही [अहम] मैं हूँ' — [तं] ऐसा जानने को [समयस्य विज्ञायकाः] सिद्धान्त के अथवा स्वपर के स्वरूप समय के जाननेवाले [धर्मनिर्ममत्वं] धर्मद्रव्य के प्रति निर्ममत्व [विंदंति] जानते हैं, कहते हैं।

टीका :—अपने निजरस से जो प्रगट हुई है, जिसका विस्तार अनिवार्य है तथा समस्त पदार्थों को ग्रसित करने का जिसका स्वभाव है — ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्रशक्ति के द्वारा ग्रासीभूत किये जाने से, मानों अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हों, ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे हों — इसप्रकार आत्मा में प्रकाशमान यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव — ये समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं; क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक

---

[1] इस गाथा का अर्थ ऐसा भी होता है :- धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं एक हूँ' — ऐसा उपयोग ही जाने, उस उपयोग को समय के जाननेवाले धर्म के प्रति निर्मम कहते हैं।

एवंकमनाकुलमात्मानं कलयन् भगवानात्मैवाववुध्यते यत्किलाहं खल्वेकः ततः संवेद्यसंवेदकभावमात्रोपजातेतरेतरसंवलनेऽपि परिस्फुटस्वदमानस्वभावभेदतया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि प्रति निर्ममत्वोस्मि, सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् । इतीत्थं ज्ञेयभावविवेको भूतः ।

ज्ञायकस्वभावत्व से परमार्थतः अन्तरङ्गतत्त्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले होने से परमार्थतः बाह्यतत्त्वरूपता को छोड़ने के लिये असमर्थ हैं (क्योंकि वे अपने स्वभाव का अभाव करके ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते)। और यहाँ स्वयमेव (चैतन्य में) नित्य उपयुक्त और परमार्थ से एक, अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ भगवान आत्मा ही जानता है कि—मैं प्रगट निश्चय से एक ही हूँ, इसलिये ज्ञेयज्ञायकभावमात्र से उत्पन्न परद्रव्य के साथ परस्पर मिलन होने पर भी, प्रगट स्वाद में आते हुये स्वभाव के कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूँ; क्योंकि सदा ही अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है; (अपने स्वभाव को कोई नहीं छोड़ता)। इसप्रकार ज्ञेयभावों से भेदज्ञान हुआ।

गाथा ३७ की उत्थानिका, गाथा और उसकी टीका पर प्रवचन

अब ज्ञेयभाव के भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं। निजात्मा से भिन्न निगोदिया से लेकर सिद्ध भगवान तक परजीव एवं छहों द्रव्य – सभी ज्ञेय हैं, उनसे ज्ञायक आत्मा भिन्न है – इसप्रकार के भेदज्ञान की व्याख्या अब करते हैं। आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव के कारण ही ज्ञेयों को जानता है; ज्ञेयों के कारण नहीं। जानना ज्ञान की स्वयं की परिणति है, ज्ञेयों की नहीं। ऐसा होने पर भी अज्ञानी ज्ञेयों को अपना मानता है – यही मिथ्यादर्शन है।

ज्ञान की परिणति ज्ञेयों को जानती है, इसलिये ज्ञेयों के कारण हुई हो – ऐसा नहीं है। वह तो ज्ञान के स्वरस से ही प्रगट हुई है, अपने प्रकाश से ही परिणमित हुई है। चैतन्य की परिणति ऐसी प्रकाशमय है कि उसका फैलाव – विस्तार किसी से रोका नहीं जा सकता। समस्त पदार्थों को ग्रसने का अर्थात् जानने का इसका स्वभाव है। चाहे वह शरीर हो भगवान हो, मूर्ति हो, गुरु हो, शास्त्र हो – सभी ज्ञेयों को अपने स्वभाव से ही जानने का उसका स्वभाव है। ग्रसने का स्वभाव है

अर्थात् ज्ञान में जान लेने का स्वभाव है। ज्ञान का स्वभाव समस्त पदार्थों को जानने का है, तथापि ज्ञान का परिणमन ज्ञेय के कारण नहीं होता।

जैसे दर्पण में परवस्तु का जो प्रतिबिम्ब ज्ञात होता है, वह परवस्तु नहीं है; दर्पण में वह परवस्तु आयी भी नहीं है। तथा दर्पण में जो प्रतिबिम्ब पड़ा है, वह भी पर के कारण नहीं, किन्तु दर्पण की स्वच्छता के कारण है। परवस्तु मानों दर्पण में आ गई हो – ऐसा मालूम पड़ता है; तथापि वह दर्पण की स्वच्छता की ही दशा है, वह कोई परवस्तु नहीं है। तथा सामने परवस्तु है, उसके कारण दर्पण की स्वच्छता की परिणति हुई है – ऐसा भी नहीं है। उसीतरह यह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का अपनी दशा में परवस्तु को जानने का, ग्रहण करने का, ग्रसने का, प्रवेश करने का स्वभाव है; समस्त पदार्थों को जानने का ज्ञानपरिणति का स्वभाव है। चाहे सर्वज्ञपरमेश्वर हो, समवशरण हो या मन्दिर हो – इन सभी को अपने चैतन्यप्रकाश की सामर्थ्य से जानने का स्वभाव है। ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्रशक्ति से ग्रासीभूत होने से मानो अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हैं– इसप्रकार समस्त पदार्थ आत्मा में प्रकाशमान हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय पदार्थ हैं, ये जगत की वस्तुएँ हैं, इन्हें केवली भगवान ने प्रत्यक्ष देखा जाना है। सर्वज्ञपरमेश्वर के सिवाय इन्हें अन्य किसी ने प्रत्यक्ष नहीं देखा। ये दोनों द्रव्य लोकप्रमाण हैं। गमन करनेवाले जीव और पुद्‌गल जब स्वयं गमन करते हैं, तब धर्मास्तिकाय उनके गमन में निमित्त होता है और जब वे पदार्थ गतिपूर्वक स्वयं स्थिर होते हैं, तब अधर्मास्तिकाय उनके स्थिर होने में निमित्त होता है। पदार्थ अपने ही कारण या अपनी ही योग्यता से जब गमन करता है या स्थिर होता है, तब ही दूसरी वस्तु को निमित्त कहते हैं। धर्मास्तिकाय गति कराता हो या अधर्मास्तिकाय स्थिति कराता हो, ऐसा नहीं है। उसीप्रकार आकाश लोक-अलोक में व्यापक है और कालद्रव्य असंख्यात हैं, वे लोक में रहते हैं। कालद्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त पदार्थ है। पुद्‌गलद्रव्य अनन्त हैं। कर्म, शरीर, वाणी इत्यादि सभी पुद्‌गल परज्ञेय रूप से अस्तित्व धारण करते हैं। उसीप्रकार अन्य जीव निगोद के जीव, सिद्धजीव, देव, गुरु, कुटुम्ब इत्यादि जीव – वे सब अन्यजीव हैं।

ज्ञानी कहते हैं कि ये सर्व परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं। ये सभी छहद्रव्य ज्ञान के ज्ञेय हैं। ज्ञान उनको जानता है – यह कहना भी व्यवहार हैं। वास्तव में तो उनको जानने सम्बन्धी जो अपनी ज्ञान की दशा है, उसरूप परिणमन करता हुआ ज्ञान स्वयं को ही जानता है

ज्ञान में ज्ञेयों को जानने का स्वभाव है ज्ञेय के कारण ज्ञान का जानने का स्वभाव नहीं है। चैतन्य स्वयं ही उस काल में अपनी शक्ति के विकास की सामर्थ्य से अनन्तज्ञेयों को जानने के भाव से परिणमनकर उसे निगल जाता है। परज्ञेयरूप से जगत में जो अनन्त पदार्थ हैं, उन्हें ज्ञान अपने जानने की सामर्थ्य से जानता है। आत्मा अपने ज्ञान में रहकर, ज्ञेयों का अवलम्बन लिए बिना अपने स्व-परप्रकाशक स्वभाव की सामर्थ्य से ज्ञेयों को प्रकाशित करता है।

परज्ञेय जीव के नहीं हैं; स्त्री, पुत्र, गुरु, शिष्य, रुपया, पैसा आदि कुछ भी जीव के नहीं हैं, ये तो सब परज्ञेय हैं। जीव की तो केवल परज्ञेयों को जानने की सामर्थ्य है। इसकारण धर्मीजीव तो यह जानते हैं कि कोई भी परद्रव्य मेरा सम्बन्धी नहीं है। वीतराग अर्हन्तदेव और निर्ग्रन्थगुरु भी मेरे सम्बन्धी नहीं हैं। ये सब तो पर-पदार्थ हैं।

प्रश्न :— देव-गुरु को तो आत्मा का मानो? ये तो परिपूर्ण शुद्ध हैं न?

उत्तर :— अरिहंतदेव तथा अनन्तसिद्ध अपने-अपने में परमशुद्ध पवित्र परमात्मपद में विराजमान होते हुए भी अपने लिए तो पर ही हैं 'ये अरिहन्त हैं, ये सिद्ध हैं' इसप्रकार के विकल्पों को भी अपना मानना मिथ्यात्व है। ये सब परद्रव्य देव, गुरु, शरीर व कर्म आदि मेरे सम्बन्धी नहीं है; जो आठकर्म हैं, वे भी मेरे सम्बन्धी नहीं है। ये तो जड़-पुद्गल हैं तथा मैं तो चैतन्य ज्ञानप्रकाश की मूर्ति हूँ।

प्रश्न :— कर्म तो जीव के होते हैं न?

उत्तर :— भाई! कर्म जीव के नहीं होते, क्योंकि ये तो जड़-पुद्गलमय है। जीव का तो ज्ञान होता है। जीव के कर्म हैं—यह तो संयोग का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार का कथन है। भगवान! तेरे चैतन्य की सामर्थ्य कितनी है। एकबार देख तो सही! तेरे ज्ञान का स्वभाव तो ऐसा है कि पर के आश्रय बिना ही पर को जान लेता है। किसी भी परवस्तु को जानने के लिए उस वस्तु का होना आवश्यक नहीं है।

यह धर्म की बात चल रही है। पर-पदार्थों को जानने का मेरा (चैतन्य का) सहज स्वभाव है। ऐसा जानने का नाम ही धर्म है। पर-पदार्थ और मुझमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, किन्तु पर-पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान करने की मुझमें स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य है। इस स्वपरप्रकाशक सामर्थ्य में स्वयं का परिणमन करना धर्म है। सर्व परद्रव्य मेरे सम्बन्धी

नहीं, इसकारण ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध कहना भी व्यवहार है। इस लोकालोक का अस्तित्व है, इसकारण केवलज्ञानी की परिणति केवलज्ञानरूप होती है – ऐसा नहीं है; किन्तु ज्ञान का परिणमन अपने स्वभाव की सामर्थ्य से ही केवलज्ञानरूप होता है। ज्ञान के स्वभाव की सामर्थ्य ही ऐसी है कि वह स्व को जाने और पर को भी जाने। पर का अस्तित्व होने पर भी ज्ञान पर के अस्तित्व के कारण नहीं, बल्कि अपनी ज्ञान की सत्ता के सामर्थ्य के कारण स्व-पर को जानता है।

प्रश्न :– तो क्या भगवान और भगवान की वाणी से भी कोई लाभ नहीं होता ?

उत्तर :– भाई ! भगवान व भगवान की वाणी तो पर-ज्ञेय है, परपदार्थ है। आत्मा का स्वभाव तो परपदार्थ को परपदार्थ के अस्तित्व में जानने का है। वह ज्ञान पर के कारण नहीं है, किन्तु अपने स्व-पर-प्रकाशक ज्ञानसामर्थ्य की परिणति के कारण है।

समयसार गाथा ३२० में तो यहाँ तक आता है कि भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह बंध को भी जानता है, मोक्ष को भी जानता है, उदय को भी जानता है, निर्जरा को भी जानता है, वह तो मात्र जानता है। लो, अब क्या बाकी रहा ? स्वयं ज्ञानस्वभावी प्रभु है न ? उसके लिए उदय भी परज्ञेय, बंध भी परज्ञेय, निर्जरा भी परज्ञेय और कर्म का छूटना भी परज्ञेय है। इसलिए आत्मा उदय, बंध, निर्जरा व मोक्ष को मात्र जानता है, करता नहीं है। जैसे दृष्टि पर को मात्र जानने का काम करती है। वह पर को टिकाने का, बदलने का, परिणमन कराने का या परिणमन में फेरफार कराने का काम नहीं करती। उसीप्रकार भगवान आत्मा लोक की आँख है। इस चैतन्य की दृष्टि का परिणमन तो ज्ञानरूप है। अपनी सामर्थ्य से अपने में रहकर पर को स्पर्श किए बिना सभी द्रव्यों को ज्ञेयरूप से जानने का उसका स्वभाव है। इसमें पर की दया मैं पाल सकता हूँ, यह कहाँ रहा ? अहाहा ! तत्व कितना स्पष्ट है ? ऐसा अन्यत्र कहीं नहीं है। अरे प्रभु ! यह तो सनातन मार्ग है।

अनादि से आत्मा का स्वभाव स्व-परप्रकाशक की सामर्थ्यवाला है। इसकारण जो ज्ञान पर को प्रकाशित करता है, वह पर के अस्तित्व के कारण प्रकाशित नहीं करता। वास्तव में तो पर सम्बन्धी अपना जो ज्ञान है, उसे ही वह प्रकाशित करता है। जहाँ ऐसी सूक्ष्म बात है; वहाँ मेरा पैसा, मेरी देह, मेरी पत्नी, मेरी संतान इत्यादि कहाँ रहा ? किसका लड़का और किसकी पत्नी ? किसकी माँ और किसका बाप ? कैसा देश

व कैसा परदेश ? बापू ! तेरा देश तो असंख्यप्रदेशी प्रभु अन्दर है, जिसमें अनन्तगुणों की प्रजा निवास करती है तथा स्वरूप में रहकर मात्र जानना – यही तेरा स्वभाव है।

यहाँ मुख्यरूप से ज्ञेय-ज्ञायक की बात की है, अन्य गुणों की अपेक्षा ज्ञान गुण विशिष्ट है। ज्ञान के अलावा दूसरी शक्तियाँ तो निर्विकल्प हैं, ज्ञानशक्ति सविकल्प है। स्व व पर को जानने की सामर्थ्यवाली – वह एक ही शक्ति है। ऐसी ज्ञानस्वभावी वस्तु में 'पर को मार सकूं, या पर की दया पाल सकूँ, या पर के पास से कुछ प्राप्त कर सकूं' – ऐसी सामर्थ्य कहाँ है ? अरे ! शास्त्र को जानते हुए शास्त्र में से जाननेरूप पर्याय नहीं आती, क्योंकि शास्त्र तो पर हैं, पुद्गलमय हैं। जबकि ज्ञानपर्याय तो स्व-पर को प्रकाशित करने के सामर्थ्यवाले ज्ञायकतत्त्व में से आती है। अहाहा ! धर्मी ऐसा मानता है कि मेरा पर-द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, देव मेरा सम्बन्धी नहीं है, गुरु मेरा सम्बन्धी नहीं है और मन्दिर भी मेरा नहीं है। मैं तो एक चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा हूँ। पर में गये बिना व परवस्तु मेरे में आये बिना उसे जानने के स्वभाववाला मैं हूँ।

सर्व परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं, क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक-स्वभावपने के कारण वास्तव में अन्तरङ्ग तत्त्व ही मैं हूँ। मैं तो ज्ञायक-स्वभावमय स्वरस के सत् का सत्त्व हूँ। मैं आत्मा सत् हूँ और ज्ञायकपना मेरा सत्त्व है, इसकारण ज्ञायकस्वभावपने से मैं अन्तरङ्ग तत्व हूँ और परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले होने से परमार्थ से बाह्य तत्त्वपने को छोड़ने में असमर्थ है। अहाहा ! सिद्ध भगवान व सर्वज्ञ परमेश्वर अरहन्त परमेष्ठी भी मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले हैं। इसकारण वे परमार्थ से बाह्यतत्त्वपने को छोड़ने में असमर्थ हैं अर्थात् वे अपने स्वभाव में ही रहने से अपने स्वभाव का अभाव करके ज्ञान में प्रवेश नहीं करते। अनन्त बाह्यतत्त्व अपने स्वभाव के सत्व को छोड़ने में असमर्थ हैं तथा मैं भी अपने अन्तरङ्गतत्त्व अर्थात् ज्ञायकपने को छोड़ने में असमर्थ हूँ। ज्ञान स्व व पर को अपने अस्तित्व में रहकर जानता है तथा ज्ञेय ज्ञान में प्रवेश नहीं करते। इसप्रकार दो विभाग सर्वप्रकार भिन्न ही हैं। (१) अन्तरङ्गतत्व ज्ञायक स्वयं तथा (२) बाह्यतत्त्व सर्व परज्ञेय।

देखो ! यह ज्ञेयभाव के भेदज्ञान का प्रकार कहा है।

ज्ञेयभाव से तेरा तत्त्व जुदा है, ऐसा तू अनभव कर ! तू अपनी दृष्टि को त्रिकाली ज्ञायक तत्त्व से जोड़ दे तथा जो तू नहीं है – ऐसे परज्ञेयों से दृष्टि हटा ले – ऐसा यहाँ कहते हैं।

अब कहते हैं कि मैं स्वयं ही नित्य उपयुक्त, परमार्थ से एक, अनाकुल आत्मा को अनुभवता हुआ भगवान आत्मा हूँ। नित्य उपयुक्त अर्थात् नित्य जानने-देखने के स्वभाववाला हूँ, नित्य ज्ञान के उपयोग के व्यापारवाला हूँ। परमार्थ से एक हूँ अर्थात् ज्ञानमयी होने से एकरूप हूँ। जिसमें भेद नहीं है—ऐसा मैं एक अनाकुल शान्तरस का कन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड हूँ। मेरे आनन्द के लिए मुझे निमित्त की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि निमित्त में मेरा आनन्द नहीं है। उसीप्रकार मुझे मेरे ज्ञानप्रकाश के लिए भी निमित्त की जरूरत नहीं है, क्योंकि मेरे ज्ञान का प्रकाश निमित्त में नहीं है। भगवान समवशरण में साक्षात् विराजते हैं और उनकी वाणी खिरती है। उसका ज्ञान मुझे मेरे द्वारा ही होता है और तब मैं अनाकुल आनन्द का वेदन करता हूँ; परन्तु वहाँ पर के कारण मुझे ज्ञान और आनन्द होता है, ऐसा नहीं है; क्योंकि मेरा ज्ञान व मेरा आनन्द पर में है ही नहीं।

भाई! चैतन्य की स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य को जिसने जाना नहीं, जिसने अनुभव में उसकी सत्ता को स्वीकार किया नहीं; उसे धर्म कहाँ से हो, कैसे हो? यहाँ कहते हैं कि स्वयं से ही नित्य उपयोगमय और परमार्थ से एक अनाकुल आत्मा को अपनी ज्ञानपरिणति में अनुभव करता हुआ, अनाकुल आनन्द का वेदन करता हुआ भगवान आत्मा ही जानता है कि मैं प्रगट निश्चय से एक ही हूँ। वास्तव में एक ज्ञायकभाव-स्वरूप से अनाकुल आनन्द का वेदन करता हुआ मैं एक हूँ। निश्चय से एक होने से पर्याय के भेद भी मुझ में नहीं हैं।

भाई! जिनेश्वरदेव का मार्ग बहुत सूक्ष्म तथा अपूर्व है। जैसे—सर्प को पकड़ने की मोटी संडासी हीरा-मोती को पकड़ने के काम नहीं आ सकती। उसीप्रकार अतिसूक्ष्म भगवान आत्मा को ग्रहण करने में—पकड़ने में स्थूल विकल्प काम नहीं आ सकते। यह तो निर्विकल्प ज्ञान व आनन्द से पकड़ने में आता है। ऐसा निर्विकल्पज्ञान व आनन्द जिसे प्रगट है, वे सम्यग्दृष्टि आत्मा को ऐसा अनुभवते हैं कि—'मैं तो एक हूँ'। मैं एक ज्ञायक चैतन्यस्वरूप हूँ तथा यह शरीर-मन-वाणी, देव-गुरु-शास्त्र आदि सब परज्ञेय हैं। वे मेरी वस्तु नहीं हैं या मेरे में नहीं हैं। वे मेरे कारण से नहीं हैं और मैं भी उनके कारण से नहीं हूँ। मैं ज्ञायक हूँ तथा वह ज्ञेय है, इतना मात्र ज्ञेय-ज्ञायकभाव है।

ज्ञेय-ज्ञायकभाव मात्र से परद्रव्यों के साथ परस्पर सम्बन्ध होने पर भी, प्रगट स्वाद में आते हुए स्वभावभेद के कारण भिन्नता है।

शिखरणी (श्रीखण्ड) की तरह मीठा व खट्टा–दोनों स्वाद मिले हुए होने पर भी मीठा स्वाद खट्टे से पृथक् जाना जाता है। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को भगवान आत्मा का स्वाद पर के स्वाद से जुदा ज्ञात होता है; ऐसा जाने व श्रद्धान करे, तब आत्मा को जाना, माना व अनुभव किया – ऐसा कहा जाता है। यह सम्यग्दर्शन तथा धर्म की रीति है। इस मूल को छोड़कर जीव ने महाव्रत धारण किए ब्रह्मचर्य पाला, केशलोंच किए इत्यादि बाह्य क्रियाकाण्ड में धर्म मानकर मूर्छित हो गया; किन्तु ये सब आत्मज्ञान के बिना निःसार हैं। ये तो शुभ विकल्प हैं, जबकि भगवान आत्मा निर्विकल्प है। भाई! 'मैं शुभविकल्पवाला हूँ', ऐसा विचार करने के बदले 'मैं चैतन्यघनस्वरूप अनादि-अनन्त तत्त्व हूँ' – ऐसा विचार क्यों नहीं करते? ज्ञानी तो कहते हैं कि 'मैं तो अनादि अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ भगवान आत्मा हूँ।'

अज्ञानी को भी जड़पदार्थों का स्वाद नहीं आता। मात्र उनका लक्ष्य करके 'यह ठीक है' ऐसे राग का ही स्वाद आता है। परन्तु धर्मी तो कहते हैं कि राग का भाव भी पर है, वह मेरे ज्ञान में मात्र परज्ञेयपने रहनेवाला तत्त्व है। राग है, इसलिए उसके कारण ज्ञान होता है – ऐसा भी नहीं है। भाई! तुझे अपने स्वभाव के सामर्थ्य की खबर नहीं है, श्रद्धा नहीं है। एक समय में लोकालोक को जाने, ऐसा तेरा स्वभाव है। भले ही श्रुतज्ञान हो, श्रुतज्ञान परोक्ष है व केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, मात्र इतना ही अन्तर है। श्रुतज्ञान में भी स्वयं स्व को जानता हुआ अपने में लोकालोक ज्ञात हो जाता है। वस्तुतः तो लोकालोक जाना जाता है – यह कहना भी व्यवहार है। अहाहा! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

भाई! भगवान आत्मा जानता है कि मैं तो प्रगट निश्चय से एक ही हूँ। अनेक परज्ञेयों को जानता हुआ मैं अनेकरूप नहीं हो जाता। अनेक परज्ञेय को जानता हुआ भी मैं अनेक में चला नहीं जाता तथा वे अनेक ज्ञेय भी मेरे ज्ञान में प्रवेश नहीं कर जाते। मैं ज्ञायकमात्र अनाकुल आनन्द को अनुभवता हुआ आत्मा हूँ। यहाँ अकेला 'जानना' नहीं लिया, क्योंकि ज्ञान के साथ आनन्द भी है; जैसे आत्मा में ज्ञान है, उसी तरह अतीन्द्रिय आनन्द भी है; इसलिए आत्मा की स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य है – ऐसा जाना तो ज्ञान के साथ आनन्द भी आता ही है। आनन्द आये बिना अकेला ज्ञान, ज्ञान ही नहीं कहलाता। यह सर्वज्ञ त्रिलोकीनाथ की दिव्यध्वनि में आई हुई बात है। भाई! तू आत्मा है न? अरे? तू प्रभु है, पामर नहीं है। प्रभु को पामर मानना मिथ्यात्व है।

अहाहा ! अनन्त ज्ञेयों को, ज्ञेयों में प्रवेश किए बिना तथा ज्ञेय ज्ञान में आये बिना, जानने की ताकतवाला तू आत्मा है। ऐसी तेरी प्रभुता है और ये ही तेरी ईश्वरता है। ३६वीं गाथा में भी आ गया है कि 'जिसकी निरन्तर शाश्वती प्रतापसम्पदा है' – इसमें भी आत्मा की प्रभुता बताई है। जैसा ज्ञानस्वभाव है, वैसा प्रभुता भी स्वभाव है। जिसने अपने ज्ञानस्वभाव व प्रभुतास्वभाव का भान किया, उसे पर्याय में प्रभुता प्रकट होती है। उसकी स्वयं की पर्याय स्वयं की सामर्थ्य से, अखण्ड प्रताप से स्वतन्त्ररूप से सुशोभित होती हुई प्रगट होती है।

प्रश्न :– इसके लिए हमको क्या करना चाहिए ?

उत्तर :– भाई ! यह करना कि – "मैं अन्दर ज्ञानस्वरूपी भगवान अनन्त-अनन्त गुणों का गोदाम, अनन्तस्वभाव का सागर प्रभु तथा अनन्त-शक्तियों का संग्रहालय हूँ, धाम हूँ।" – ऐसा जानना; किन्तु अज्ञानी को इसकी कहाँ खबर है ? वह इसे छोड़कर पर में (शरीरादि संयोगों में) सन्तुष्ट हो जाता है। भगवान ! तुझे यह क्या हो गया है ? तू अपना भिखारीपन तो देख ! यह तेरा पागलपन है ! अहा ! तू तीनलोक का नाथ ! इन क्षुद्र संयोगों में (सांसारिक सुखाभास में) सन्तुष्ट कैसे हो जाता है ? भगवान ! तू तो आनन्द का नाथ प्रभु है। ये परवस्तुयें (संयोग) तेरे में नहीं है और तू इनमें नहीं है। तेरा ज्ञान परवस्तुओं के कारण है – ऐसा भी नहीं है। तू अपनी सत्ता से स्व-पर को जानता है। स्व-पर को जानने की सामर्थ्यवाला तू भगवान है। उसे जाने अर्थात् अपनी भगवत्ता को पहिचाने तो अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आयेगा।

प्रश्न :– यहाँ 'ज्ञेय-ज्ञायकभावमात्र से' – ऐसा जो कहा, उसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर :– तात्पर्य यह है कि 'मैं ज्ञायक हूँ और ये परज्ञेय हैं' – यह तो कहनेमात्र का सम्बन्ध है। ऐसे ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध होने से परद्रव्यों का जैसा स्वरूप है, वैसा ज्ञान होता है। परन्तु प्रगट स्वाद में आने पर स्वभाव-भेद के कारण वे मुझसे भिन्न हैं – ऐसा ज्ञान भी होता है। मेरी आत्मा का स्वाद अतीन्द्रिय आनन्द है, जबकि धर्मास्तिकाय आदि परज्ञेय मुझसे भिन्न हैं। अहाहा ! भगवान के द्वारा देखे-जाने गये धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, अन्यजीव व कर्म आदि पुद्गलद्रव्य–ये सब परज्ञेय हैं और मैं तो ज्ञानस्वभाव में स्थित ज्ञायक अतीन्द्रिय आनन्द से भरा हुआ भगवान हूँ।

गुजराती में एक कहावत प्रचलित है कि – 'कर्म राजा, कर्म रंक, कर्म वाल्यो, आड़ो अंक', किन्तु भाई ! ये सब निमित्त के कथन हैं। अपनी पर्याय विकाररूप से परिणमे, तब घातिया कर्म को निमित्त कहा जाता है और संयोगी दशा में अघातियाकर्म निमित्त होता है। ये आठों ही कर्म, उनकी प्रकृतियाँ, प्रदेश, स्थिति व अनुभाग – ये सभी ज्ञान में परज्ञेय हैं। तीर्थंकरप्रकृति भी ज्ञान में परज्ञेय है। जैसे श्रीखण्ड में मीठास्वाद, खट्टे-स्वाद से भिन्नपने अनुभव में आता है; उसीप्रकार मेरा आत्मा का स्वाद, धर्मास्तिकाय आदि परज्ञेयों से भिन्न है। मेरा अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद परज्ञेयों से भिन्न है, इसलिए मैं उनसे भिन्न हूँ। ऐसा जिनेश्वर का मार्ग कोई अपूर्व है। परन्तु लोगों ने दया पालना, बाह्यव्रत पालने आदि में ही धर्म मान रखा है किन्तु ऐसा तो अनन्तबार किया है, यह तो राग की क्रिया है। इसमें आत्मा कहाँ है ? आत्मा तो ज्ञायक-स्वभाव है। लेकिन अज्ञानी को अपनी महिमा ख्याल में नहीं आती। पर के कारण मुझे ज्ञान होता है – ऐसा मानकर अज्ञानी अपना बड़प्पन (प्रतिष्ठा) दूसरों को देता है। अरे भगवान ! यह तुझे क्या हो गया है ? तू तो अनादि ब्रह्मस्वरूप भगवान है।

भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूपी ब्रह्मानन्द का नाथ है। उसका प्रकट स्वाद अतीन्द्रिय आनन्द है। धर्मादि परज्ञेयों का स्वभाव मुझसे भिन्न है। ऐसा प्रकट स्वाद आते ही स्वभावभेद से मैं धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल व अन्य जीव के प्रति निर्मम हूँ। मैं तीनलोक के नाथ तीर्थंकरदेव के प्रति निर्मम हूँ। तीर्थंकर मेरे नहीं है, देव मेरे नहीं है, गुरु व शास्त्र मेरे नहीं है। जब शुभभाव होता है, तब उनके प्रति लक्ष्य जाता है, किन्तु शुभभाव पर के कारण नहीं होते। ये शुभभाव तथा सब परवस्तुएँ परज्ञेय हैं। उन परज्ञेयों को मैं अपने ज्ञान में रहकर, अपने अतीन्द्रियस्वाद का वेदन करता हुआ, अपने से जुदा जानता हूँ। यह सम्यग्दर्शन व धर्म है। सम्यग्दृष्टि के जैसा स्वरूप है, वैसी प्रतीति हुई है। ज्ञानस्वरूप चैतन्यसूर्य भगवान आत्मा के अतिरिक्त समस्त परज्ञेय अपने बाह्यतत्वपने को छोड़ने में असमर्थ हैं और मैं अन्तरंगतत्त्व हूँ। जो अपने अनुभव में आनन्द को जानता हुआ, पर को भिन्न जानता हूँ। इसलिए मैं इन सर्व परज्ञेयों के प्रति निर्मम हूँ – ऐसा ज्ञानी जानता है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरी पत्नी, मेरा लड़का, मेरा मकान आदि। परन्तु भाई ! यह शरीर भी तेरा नहीं है तो मकान आदि तो तेरे कैसे होंगे ? अरे ! अन्दर जो राग है, वह भी तेरा नहीं है तो फिर पर

भावार्थ :– सर्व परद्रव्यों से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से जब भेद जाना; तब उपयोग के रमण के लिए अपना आत्मा ही रहा, अन्य ठिकाना नहीं रहा। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एकरूप हुआ, वह आत्मा में ही रमण करता है, ऐसा जानना ॥३१॥

कलश ३१ पर प्रवचन

इसप्रकार पूर्वोक्तानुसार भावकभाव तथा ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर अर्थात् ज्ञान व आनन्दस्वरूपी आत्मा पुण्य-पाप तथा राग-द्वेष के विकारीभावों से तथा शरीर, मन, वाणी, कर्म इत्यादि सब परज्ञेयों से भिन्न है। जीव अनादि से संसार में तो रखड़ ही रहा है। दया, दान, भक्ति तथा खाना-पीना-कमाना इत्यादि पुण्य व पाप के भाव आदि चार गति में भटकने के भाव हैं। इनसे जीव दुःखी है। जिन्हें जन्म-मरण मिटाना हो तथा धर्म प्रकट करना हो, उन्हें क्या करना चाहिए? इसकी यह बात है। प्रथम तो यह भगवान आत्मा भावक के भाव पुण्य-पाप, राग-द्वेष, दया-दान-भक्ति आदि के विकारीभावों से अपने को पृथक् जानता हुआ अनुभवता है। तथा परज्ञेयों के भाव शरीर, मन, वाणी, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी, देव, गरु, शास्त्र से भी स्वज्ञेयरूप आत्मा को भिन्न जानता है।

यहाँ कहते हैं कि अनादि से यह जीव विकार को तथा परज्ञेयों को अपना मानता था, वह मिथ्यात्व, भ्रम तथा अज्ञान था; परन्तु अब ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा को भेदज्ञान के द्वारा रागादि विकार से तथा परज्ञेयों से भिन्न करके आत्माराम हुआ है।

सर्व अन्यभावों से अर्थात् राग, दया, दान, व्रत, भक्ति, हिंसा, झूठ, चोरी, क्रोध, मान आदि विकारीभावों से तथा शरीर, वाणी, मन, कर्म, देव, गुरु, शास्त्र आदि परज्ञेयों से जब भिन्नता होती है; तब उपयोग आत्मरूप हो जाता है। भिन्न तो है ही, किन्तु जब परभाव और पर-ज्ञेय दोनों भिन्न हैं – ऐसी भिन्नता ज्ञान में ज्ञात होती है, तब उपयोग आत्मरूप हो जाता है। वस्तुधर्म अलौकिक है भाई! किन्तु जिसको सुनने को ही नहीं मिला हो तो क्या करे? बेचारे बहुत से जीव ऐसे ही दुःखी हो-होकर चार गति, चौरासीलाख योनियों में रखड़ते हैं। ये करोड़पति व अरबपति सब बेचारे हैं, क्योंकि इन्हें आत्मा की ज्ञानानन्दलक्ष्मी क्या है? इसकी खबर नहीं है। जो अपने में नहीं है, उसे अपना मान रहे हैं; अतः मूर्ख हैं, मिथ्यात्व के भ्रम में पड़े हैं।

आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु है। उसमें जो राग, पुण्य व पाप के शुभाशुभ भाव हैं; वे भावककर्म के निमित्त से हुए औपाधिक भाव हैं, वे आत्मा के स्वभावभाव नहीं हैं – इसप्रकार जब आत्मा से उन्हें भिन्न किया तथा परज्ञेय – चाहें वे देव-गुरु-शास्त्र हों या सम्मेदशिखर जैसा पावन-तीर्थ हो; उन सबसे भी स्वज्ञेय को भिन्न किया, तब उपयोग स्वयं स्वरूप में एकाकार हो जाता है अर्थात् जाननेवाला उपयोग जो अनादि से राग व पर-ज्ञेयों को अपना जानता-मानता था, वह अब राग व ज्ञेय से भिन्न होकर आत्मारूप हो गया, स्वभावरूप हो गया। यहाँ भेद करके व्यवहार से बात की है कि जो उपयोग है, वह स्वयं ही अपने एक आत्मा को धारण करता है। वास्तव में तो जो उपयोग है, वह स्वयं स्वरूप में एकाकार हो जाता है।

'यह उपयोग स्वयं ही अपने आत्मा को धारण करता है' – इसका अर्थ है कि उपयोग आत्मारूप हो गया। दया, भक्ति, पूजा, यात्रा आदि भाव तो विकार हैं, राग है, तथा देव-गुरु-शास्त्र परज्ञेय हैं, पर हैं। इन परज्ञेयों से व रागादि भावों से भेद करके निर्विकार उपयोग जब अन्दर स्व-ज्ञेय एक ज्ञायकभाव में जम जाता है, तब उपयोग आत्मारूप हुआ – ऐसा कहा जाता है और तभी आत्मा का धर्म प्रकट होता है।

अब कहते हैं कि जिनका परमार्थ प्रकट हुआ है, ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र से जिसने परिणति की है – ऐसा ज्ञानी अपने आत्मारूपी बाग में ही प्रवृत्ति करता है। क्या कहते हैं? सुनो! भगवान आत्मा ज्ञान व आनन्दस्वरूप है। जब उपयोग अन्दर ज्ञायक में लीन हुआ, तब शक्ति में से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति प्रकट हो गई। रागादि विकार तथा पर-ज्ञेयों से भेद करके, उपयोग जब वस्तु की ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि सामर्थ्य में जमा, तब शक्ति में से दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन पर्याय में हो गया। ऐसा वीतराग का मार्ग है, भाई! इस जीव ने इसे कभी सुना नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु शुद्ध है। उसे जिनेश्वरदेव केवलज्ञानी, परमेश्वर ने आत्मारूप से देखा है, वह आत्मा राग व पर-ज्ञेयों से भिन्न है। वह राग से भिन्न निर्विकारी है तथा पर-ज्ञेयों से भिन्न स्व-ज्ञेयरूप है। पर्याय में हुआ राग मेरा और परज्ञेय मेरे – ऐसी जो मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति थी, अब उस परिणति के पलटने पर ऐसा मानने लगा कि 'मैं तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा हूँ; परमानन्द का नाथ प्रभु मैं स्वयं हूँ' – ऐसा उपयोग अन्तर्लीन होकर

अन्दर में जमते ही श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की निर्मलपरिणतिरूप पर्याय प्रगट हो जाती है। इसप्रकार जिसने श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की परिणति की है, ऐसा ज्ञानी अपने आत्मारूपी आराम (बाग) या क्रीड़ावन में ही रमण करता है। यह भेद से बात की है। वास्तव में तो वह उपयोग ही आत्मारूप हो जाता है। 'राग, दया, दान हिंसा आदि के परिणाम मेरे हैं तथा परज्ञेयों में 'यह मैं हूँ' और ये मुझे लाभदायक हैं'—ऐसा जो मानता था, उस मान्यता से तथा रागादि से भिन्न होकर उपयोग आत्मा में जाता है, क्रीड़ा करता है व आत्मारूप हो जाता है। अहाहा! यह तो एक समय में तीन लोक व तीनकाल को जाननेवाले वीतराग परमात्मा अरहन्तदेव की वाणी है भाई! जिसका भाग्य हो, उसे सुनने को मिलती है।

आचार्य कहते हैं कि तू आत्मा परमानन्द की मूर्ति प्रभु है। तेरा उपयोग राग व परज्ञेयों में जाए तो यह व्यभिचार है और वह उपयोग पर से हटकर स्व में जमें तो अव्यभिचारी परिणाम है। ऐसी सूक्ष्मबात है। जो इसे तो समझे नहीं और यात्रा करे, पूजा करे, दान करे और माने कि धर्म हो गया, किन्तु इसमें तो धर्म नहीं होता है। सुन! मुक्ति का सोपान तो राग व परज्ञेयों से भिन्न होकर स्व में एकाकार होना है।

अरेरे! वीतराग के मार्ग को समझने की दरकार भी नहीं की और यों ही पशुओं की तरह बोझा ढो-ढोकर मरा जा रहा है। यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा का उपयोग अर्थात् जानने-देखने का भाव विकार-भाव से भी भिन्न है और जिसे अपना मानता था, उन परज्ञेयों से तो भिन्न है ही। अब वह जीव ऐसा विवेक—भेदज्ञान करके गुलाँट खाता है; अपनी मान्यता को पलटता है कि विकार व पर-ज्ञेयरूप मैं नहीं हूँ। मैं तो निर्विकारी स्वज्ञेय हूँ। ज्ञानी ऐसा भेदज्ञान करके अपने आत्मारूपी क्रीडावन से प्रवृत्ति करता है। यह तो व्यवहार से भेदज्ञान करके समझाया है। वास्तव में तो उपयोग आत्मारूप ही हो जाता है। उपयोग आत्मा में ही क्रीड़ा करता है, अन्य स्थान पर नहीं जाता अर्थात् जाननहारस्वरूप में एकाकार हुआ, इससे अब राग व पर में नहीं जाता। 'राग व पर मेरे हैं'—ऐसी मान्यतासहित उपयोग मलिन नहीं होता। इसी का नाम आत्मा को जानना है।

स्वयं को जो रागरूप व पर-ज्ञेयरूप मानता है तथा यह स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, दौलत, महल, मकान, गाड़ी आदि को अपना मानता है, उसका पूरा जीवन ही मर गया है। अन्तर में जिसने विकार को व पर को अपना माना है; वह आत्मा के भाव बिना मर ही चुका है। भगवान

आनन्द का नाथ जीवती चैतन्य-ज्योति है। उसे जीवित न रखकर, 'राग व पर मेरा है' – ऐसी मान्यता से इस अज्ञानी जीव ने अपने जीवन का घात किया है, हिंसा की है। भाई ! ऐसे जिनेश्वरदेव का वीतराग मार्ग सुनने को मिलना ही मुश्किल है, फिर उसको समझना श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करना तो अतिमुश्किल है। यह तो जन्म-मरण मिटाने का मार्ग है। सौ इन्द्रों द्वारा पूजित भगवान जिनेश्वरदेव की दिव्य-ध्वनि में आई हुई यह बात है। उसे छोड़कर जो दूसरों के पास यहाँ-वहाँ भटकता है, वह पाखण्ड में अटकता है।

कलश ३१ के भावार्थ पर प्रवचन

सर्व परद्रव्यों से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से अर्थात् ज्ञेयपरद्रव्यों से और भावक के भावों से जब भेद जाना, तब उपयोग के रमने के लिए अपना आत्मा ही रह गया। अहाहा। मैं तो चैतन्यसूर्य भगवान चैतन्य के तेज के नूर का पूर हूँ और ये रागादिभाव और परज्ञेय मुझ से भिन्न हैं, मुझ में नहीं हैं – ऐसा जब भेदज्ञान किया, तब उपयोग एक आत्मा में ही लीन हो गया और जम गया, क्योंकि उसे रमने के लिए आत्मा के सिवाय कोई अन्य स्थान रहा ही नहीं। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एकरूप होकर वह आत्मा में ही रमण करता है। अहाहा ! बात संक्षेप में ही है, पर कितना सार भरा है ! अनमोल रहस्य भरा है ! !

तत्त्वज्ञान की महिमा

तत्त्व की प्रतीति सौं लख्यौ है निज-परगुन,
 दृग-ज्ञान-चरण त्रिविधि परिनयौ है।
विसद विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ,
 आपुही में आपनौ सहारौ सोधि लयौ है।।
कहत बनारसी गहत पुरुषारथ कौं,
 सहज सुभाव सौं विभाव मिटि गयौ है।
पन्ना के पकायें जैसें कंचन विमल होत,
 तैसें सुद्ध चेतन प्रकासरूप भयौ है।।

– समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द ३४

अथैवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यात्मनः कीदृक् स्वरूपसंचेतनं भवतीत्यावेदयन्नुपसंहरति—

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि ॥३८॥

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी ।
नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥३८॥

यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्त-विस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः,

---

अब, इसप्रकार दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप परिणत आत्माको स्वरूपका संचेतन कैसा होता है, यह कहते हुए आचार्य इस कथन को समेटते हैं :—

मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से ।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे ! ॥३८॥

गाथार्थ :—दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणत आत्मा यह जानता है कि—[**खलु**] निश्चय से [**अहम्**] मैं [**एकः**] एक हूँ, [**शुद्ध**] शुद्ध हूँ, [**दर्शनज्ञानमयः**] दर्शनज्ञानमय हूँ, [**सदा अरूपी**] सदा अरूपी हूँ; [**किंचित् अपि अन्यत्**] किंचित्मात्र भी अन्य परद्रव्य [**परमाणुमात्रम् अपि**] परमाणुमात्र भी [**मम न अपि अस्ति**] मेरा नहीं है, यह निश्चय है ।

टीका :—जो अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त गुरु से निरन्तर समझाये जाने पर जो किसी प्रकार से समझकर, सावधान होकर, जैसे कोई (पुरुष) मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल गया हो और फिर स्मरण करके उस सोने को देखे – इस न्याय से, अपने परमेश्वर (सर्व सामर्थ्य के धारक) आत्मा को भूल गया था; उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण करके (–उसमें तन्मय होकर) जो सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ, वह

समस्तक्रमाक्रमप्रवर्त्तमानव्यावहारिकभावैश्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेकः, नारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावेनात्यंतविविक्तत्वाच्छुद्धः, चिन्मात्रतया सामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणाद्दर्शनज्ञानमयः, स्पर्शरसगंधवर्णनिमित्तसंवेदनपरिणतत्वेपि स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्परमार्थतः सदैवारूपी, इति प्रत्यगयं स्वरूपं संचेतयमानः प्रतपामि। एवं प्रतपतश्च मम बहिर्विचित्रस्वरूपसंपदा विश्वे परिस्फुरत्यपि न किञ्चनाप्यन्यत्परमाणुमात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति यद्भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्भावयति, स्वरसत एवापुनःप्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात्।

मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि – मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है; चिन्मात्र आकार के कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिकभावों से भेदरूप नहीं होता इसलिए मैं एक हूँ। नर, नारक आदि जीव के विशेष; अजीव पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षस्वरूप जो व्यावहारिक नवतत्त्व हैं, उनसे टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा, अत्यन्त भिन्न हूँ, इसलिये मैं शुद्ध हूँ। चिन्मात्र होने से सामान्य-विशेष उपयोगात्मकता का उल्लंघन नहीं करता, इसलिये मैं दर्शनज्ञानमय हूँ। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसका निमित्त हैं। ऐसे संवेदनरूप परिणमित होने पर भी स्पर्शादिरूप स्वयं परिणमित नहीं हुआ, इसलिये परमार्थ से मैं सदा ही अरूपी हूँ। इसप्रकार सबसे भिन्न ऐसे स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत हूँ। – इसप्रकार प्रतापवंत वर्तते हुवे ऐसे मुझे यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेकप्रकार की स्वरूप-सम्पदा के द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं; तथापि कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मझरूप भासते नहीं कि जो मुझे भावकरूप तथा ज्ञेयरूप से मेरे साथ एक होकर पुनः मोह उत्पन्न करें, क्योंकि निजरससे ही मोहको मूलसे उखाड़कर पनः अंकुरित न हो इसप्रकार नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।

भावार्थ:– आत्मा अनादिकाल से मोह के उदय से अज्ञानी था, वह श्री गुरुओं के उपदेश से और स्वकाललब्धि से ज्ञानी हुआ तथा अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ। ऐसा जानने से मोह का समल नाश हो गया, भावकभाव और ज्ञेयभाव से भेदज्ञान हुआ, अपनी स्वरूपसंपदा अनभव में आई; तब फिर पुनः मोह कैसे उत्पन्न हो सकता ? नहीं हो सकता।

गाथा ३८ की उत्थानिका गाथा, एवं उसकी टीका पर प्रवचन

ज्ञेयभावों एवं भावकभावों से भिन्न होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत आत्मा को स्वरूप का संचेतन किसप्रकार होता है ? – यह बात इस ३८वीं गाथा में बताकर आचार्यदेव रंगभूमि का उपसंहार करते हैं।

आचार्य कहते हैं कि अनादि मोहरूप अज्ञान के कारण अज्ञानी जीव चारगति में रखड़ता है। देखो ! ऐसा नहीं कहा कि अनादिकर्म के कारण रखड़ता है। कर्म विचारा क्या करे ? मोहरूप अज्ञान के कारण उन्मत्तपना है। स्वयं आनंद का नाथ सच्चिदानंद भगवान है, जो उसे भूलकर पुण्य-पाप के परिणाम और उसके फल को अपना माने, उसे उन्मत्त अर्थात् पागल कहा है। ये सेठ लोग ऐसा मानते हैं कि हम करोड़पति हैं, अरबपति है तथा इस बाह्यधनादि से गौरवान्वित होते हैं; परन्तु वे सब मोह से उन्मत्त हैं, पागल हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं। अपने स्वरूप की सावधानी छोड़कर यह जीव विकार व संयोगी चीज में सावधान हो रहा है; यही मिथ्यात्व है, मोह है।

'जो अनादि मोहरूप अज्ञान से·······'इन शब्दों से आचार्य ने टीका का प्रारम्भ किया है। इस गाथा में जीव अधिकार पूर्ण होता है, इसलिए जीव का पूर्णस्वरूप प्राप्त होने पर कैसी दशा होती है तथा इसके पूर्व अज्ञानदशा में इसकी भूल कैसी होती है ? – यह बताते हैं। पैसा, धन, दौलत, आबरू में मजा – आनंद मानता था; तब मोह से पागल था, अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था। अहाहा ! आत्मा एकसमय में ज्ञान, आनंद इत्यादि अनंत-अनंत शक्तियों का पिण्ड है, किन्तु इसके ऊपर इसकी अनंत काल से नजर नहीं गई है; क्योंकि वर्त्तमान पर्याय तो व्यक्त – प्रगट है, इसके ऊपर इसकी नजर है। जिनमत में साधु हुआ, दिगम्बर मुनि हुआ, जंगल में रहा; परन्तु इसकी दृष्टि का जोर वर्त्तमान पर्याय पर ही रहा, क्योंकि पर्याय का अंश प्रगट है, वह इसके ख्याल में आती है – इसकारण इसी में रुक गया है, अटक गया है। जीव की प्रगट पर्याय की दृष्टि जब और अधिक लम्बी होती है तो परपदार्थों पर जाकर अटकती है। इससे इस जीव को पर्याय, राग तथा पर की ही आत्मापने से स्वीकृति है। यह अनादि का भ्रम व अज्ञान है तथा इसीकारण अप्रतिबुद्ध है।

कोई कहे जिनमत में तो 'सब कर्म के कारण होता है' – ऐसा कथन आता है; इसलिए जीव कर्म के कारण अप्रतिबुद्ध है, ऐसा कहो तो क्या हानि है ? भाई जिनमत की मान्यता ऐसी नहीं है। कर्म तो जड़ –

अचेतन है, जड़ के कारण आत्मा में कुछ नहीं होता। जो शास्त्रों में ऐसा कथन आता है कि 'कर्म के कारण हुआ' सो वह तो निमित्त का ज्ञान करानेवाला कथन है। 'कर्म से जीव का कुछ होता है' – ऐसा है ही नहीं। जीव अनादि मोहरूप अज्ञान के कारण ही अप्रतिबुद्ध है।

अब ऐसा जीव जब स्वयं ही सुलटकर सम्यक् परिणमन करता है, तब इसे समझानेवाले कैसे गुरु का निमित्त प्राप्त होता है, वह कहते हैं :–

देखो ! यहाँ समझानेवाला गुरु 'विरक्त' लिया है। जो सम्यग्दृष्टि हों तथा चारित्रवान हों वे ही निर्ग्रन्थ मुनिराज सच्चे गुरु हैं। जो अन्तर में राग से मुक्त हो गये हैं तथा बाहर में वस्त्र-पात्र आदि से रहित हैं, उन्हें ही सच्चा गुरु कहते हैं। ऐसे विरक्त गुरु से 'निरन्तर समझाये जाने पर' – यहाँ निरन्तर समझाये जाने पर का यह अर्थ नहीं है कि गुरु चौबीसों घंटे समझाते हैं; बल्कि गुरु ने जो समझाया तो उस बात को सुननेवाले शिष्य को ऐसी धुन लग गई कि जो समझाया वह निरन्तर उसके चिन्तन में रहता है। इससे यहाँ 'निरन्तर समझाने पर' – ऐसा कहा है।

'तू स्वयं विकार व कर्म से भिन्न है। तू अनंत-अनंत ज्ञान व आनंद का सागर है।' – ऐसी देशना देनेवाले दिगम्बर भावलिंगी सन्त होते हैं। देखो, यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी की देशना धर्म को प्राप्त करने में निमित्त नहीं हो सकती। जैनधर्म में साधु दिगम्बर होते हैं, वनवासी होते हैं। वे राग से विरक्त और स्वरूप में विशेष रक्त होते हैं। ऐसे निर्ग्रन्थ गुरु की देशना धर्म प्राप्त करने में निमित्त होती है। ऐसे गुरुओं के पास से जो देशना मिले, उसे सुनकर शिष्य निरन्तर विचार करता है, मन्थन करता है, जुगाली करता है। इसी कारण 'निरन्तर समझाने पर' – ऐसा कहा है।

श्री गुरु ने देशना में कहा है कि 'भगवान तू चैतन्यस्वरूप है, तुझमें अनंतगुण भरे हैं। अहाहा प्रभु ! तू अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंत-आनंद, अनंतशान्ति, अनंतस्वच्छता, अनंतप्रभुता आदि अनंतशक्तियों का संग्रहालय है, स्थान है; तू विकार व देह का स्थान नहीं' – इस उपदेश को सुनकर शिष्य को स्वभाव की ऐसी धुन लगी कि उसका जीवन ही बदल गया और वह महाभाग्य से आत्मा का स्वरूप समझ गया। महाभाग्य अर्थात् महापुरुषार्थ से उसने स्वसंवेदन प्रगट कर लिया। अहो! मैं अतीन्द्रिय आनंद अतीन्द्रिय शान्ति आदि अनंतशक्तियों का समदाय आत्मा हूँ। – ऐसा सम्यग्दर्शन पर्याय में भान हुआ। ऐसा समझकर शिष्य स्वरूप के प्रति सावधान हुआ और उसने अभूतपूर्व एकमात्र करणीय सम्यग्दर्शन जैसा

महान कार्य कर लिया। शिष्य पहले राग व संयोगों में सावधान था, अब असंयोगी व अरागी आत्मा में सावधान हुआ।

'मैं तो ज्ञायकस्वरूप चैतन्यस्वभाव से भरा हुआ चैतन्य तेज के नूर का पूर हूँ।' – इसप्रकार सावधान होकर, जिसप्रकार कोई मुट्ठी में रखे स्वर्ण को भूल गया हो, फिर स्मरण करके उस सोने को देखता है – इस न्याय से अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था, उसे जानता है।

देखो! पेटी या पिटारे में रखे सोने को भूलने का उदाहरण नहीं दिया, किन्तु अपनी मुट्ठी में रखे सोने को भूलने की बात ली है। उसीप्रकार यहाँ अज्ञानी भी पुण्य-पाप की रुचि में अपने अन्दर विराजते हुए भगवान आत्मा को भूल गया था, उसे याद करके देख लिया। जैसे – लापसी ('हलुआ) बनती है और गीली लकड़ी का धुआँ निकलता है, तब बर्तन व लापसी दिखती नहीं है; उसीप्रकार पुण्य-पाप के धुआँ की आड़ में अन्दर बैठा भगवान आत्मा दिखाई नहीं देता। ये शुभाशुभ-विकल्प धुआँ है, मैल है तथा इनकी रुचि में अटक जाने से आत्मा जानने में नहीं आ पाता है।

जब विरक्त गुरु के उपदेश का निमित्त होने पर सावधान होकर शिष्य ने जाना कि अहो! मैं तो अतीन्द्रिय आनंद व शान्ति का सागर हूँ। आनंद, ज्ञान तथा वीतरागता के रस से छलाछल भरा हुआ परमेश्वर हूँ। पाठ में है न कि – 'अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था, उसे जानकर' – किसी-किसी को यह बात सुनकर ऐसा लगता है कि आत्मा अभी परमेश्वर कहाँ है? भाई! अभी जो आत्मा परमेश्वरस्वरूप न हो तो पर्याय में परमेश्वरपना प्रगट कहाँ से होगा? आत्मा शक्ति से वीतराग मूर्ति है, इसकारण उसकी पर्याय में वीतरागता प्रगट होती है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान! तू तेरे (अपने) परमेश्वर को भूल गया है। "अपने को आप भूल के हैरान हो गया" या 'अपने को भूल आप, आप दुःख उपायो" आदि छंद में भी यही कहा गया है।

अहाहा! भगवान आत्मा की सत्ता परमेश्वर स्वभाव से भरी है! अनंत सामर्थ्य से मंडित एक-एक शक्ति है और ऐसी अनंतशक्तिस्वभाव से भरा हुआ परमेश्वर स्वयं है। ऐसे निज परमेश्वर आत्मा को स्वयं भूल गया था; उसे याद करके ज्ञान लेना है और इसमें दृष्टिपात करते ही क्षणभर में नर से नारायण हो जाता है। भाई! जैसे पानी कुए में ही न हो तो बर्तन में कहाँ से आयेगा? उसीप्रकार शक्ति में यदि परमेश्वरपना न हो तो पर्याय में कहाँ से आवेगा?

आत्मा में ज्ञान की सामर्थ्य पूर्ण है, दर्शन की सामर्थ्य पूर्ण है। ऐसे अनंतगुणों की परिपूर्ण सामर्थ्यवाला प्रभु आत्मा है। आत्मा में एक प्रभुता गुण भी है। अनंतगुणों में उस प्रभुता गुण का रूप है। प्रभुत्वगुण दूसरे गुणों में नहीं है, किन्तु प्रभुता का रूप दूसरे गुणों में रहता है। जिसप्रकार ज्ञानगुण में अस्तित्वगुण का रूप है। देखो, ज्ञान 'है' पने स्वयं से है। ज्ञान है, ऐसा कहते ही ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। ज्ञानगुण व अस्तित्वगुण भिन्न-भिन्न है, किन्तु ज्ञानगुण में अस्तित्वगुण का रूप है। इसप्रकार एक-एक गुण में अनंतगुणों का रूप है ! 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' अर्थात् जिसका सिद्धसमान पद सदैव है, ऐसे अपने सच्चिदानंद परमेश्वर को भूल गया था। जब उसका भान हुआ तब विकार व पर को भूल गया। पहले आत्मा को भूल गया था, अब आत्मा में नजर करते ही पुण्य-पाप व पर को भूल गया। अब जान लिया कि अपनी शान्ति व आनंद का लाभ, राग व पर में से नहीं; किन्तु अपने परमेश्वर आत्मा में से मिलता है।

'अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था, उसे जानकर उसका श्रद्धानकर तथा उसी का आचरण करके जो सम्यक्-प्रकार एक आत्माराम हुआ' – अहो ! इन वचनों में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अमृत वर्षाया है। वे एक हजार वर्ष पहले भरत क्षेत्र में विराजमान थे। वे टीका में कहते हैं कि अज्ञानी जीव अपने परमेश्वर को भूल गया था, उसे जानकर उसका श्रद्धान किया। अपनी वर्त्तमान ज्ञान की पर्याय में स्वयं को पूर्णानंद के नाथ प्रभु आत्मा को ज्ञेय बनाकर जाना। अहाहा ! अपने परमेश्वर को स्वसंवेदन में जानकर ऐसा श्रद्धान किया कि मैं एकज्ञायकभावस्वरूप आत्मा पूर्ण आनन्द का नाथ हूँ। जाने बिना श्रद्धान किसका करे ? इससे जानकर श्रद्धान करके, उसका आचरण किया अर्थात् उसमें रमणता की।

भगवान आत्मा अनंतज्ञान व आनंद की सामर्थ्यवाला परमेश्वर है; उसे जानकर, श्रद्धान कर उसमें रमणता करना ही उसका आचरण है, चारित्र है। बाहर में वस्त्रों का त्याग करे, नग्नता धारण करे तथा महाव्रत ले, उससे वास्तविक चारित्र प्राप्त नहीं हो जाता। अन्दर भगवान आनंद का नाथ ज्ञाता-दृष्टास्वरूप से विराजता है। उसमें उग्रता से लीनता करके उसमें ही स्थित रहने का नाम चारित्र है। वहाँ वस्त्र का त्याग व नग्नता सहजरूप से होती ही है। वस्त्र रखकर साधुपना मानना मिथ्यात्व है। जैनदर्शन में वस्त्रसहित साधुपना तीनकाल में भी नहीं होता। वस्त्रों को छोड़ा हो, परन्तु आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से रहित हो तो

वह भी मिथ्यादृष्टि है। भले ही पंच-महाव्रतों को पाले, किन्तु महाव्रत के विकल्प को धर्म माने तो मिथ्यादृष्टि ही है। पंचमहाव्रत का विकल्प तो राग है, राग में रमने को चारित्र कैसे कहा जा सकता है ? आत्मा के आनन्द में रमणता करना ही चारित्र है, धर्म है।

जो भगवान आत्मा में रमे, उसे आत्माराम कहते हैं। पहले राग मेरा व परज्ञेय मेरे – ऐसे परभावों में अनेकरूप होकर रमता था, वह अब अपने परमेश्वर आत्मा को जानकर, उसका श्रद्धान व आचरण करके, सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ।

अब वह स्वयं स्वयं को कैसा अनुभव करता है, यह कहते हैं :–

"मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्य मात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ, जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। अग्नि की ज्योति, दीपक की ज्योति तो जड़ है, मैं तो चैतन्यमात्र ज्योति अर्थात् देखने-जानने के स्वभावरूप ज्योति हूँ। यह मेरे स्वयं के ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है।" यहाँ वजन अनुभव पर या आत्मा के आनन्द के वेदन पर है। पर से, विकल्प से या निमित्त से नहीं; किन्तु अपने ही अनुभव से मैं आत्मा को प्रत्यक्ष जानता हूँ। समयसार नाटक में भी कहा है कि :–

वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव ताकौ नाम।।

जिसमें आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरस का स्वाद आता है, ऐसे आनन्द के वेदनसहित मैं अपने आत्मा को प्रत्यक्ष जानता हूँ। यह जैन परमेश्वर का मार्ग है। वर्त्तमान में विदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान साक्षात् अरिहंतपद में विराजते हैं। इन्द्र व गणधर नतमस्तक होकर बहुत विनयपूर्वक उनकी दिव्यध्वनि सुनते हैं। यह मार्ग उस दिव्यध्वनि में भगवान के द्वारा कहा गया है। व्रत करो, दया पालो, दान करो, यात्रा करो, इत्यादि वीतराग जैनमार्ग नहीं है। क्या ऐसा मार्ग भगवान कहते होंगे ? अरे ! ऐसा तो बाल-गोपाल-कुम्भार आदि भी कहते हैं अर्थात् ऐसा उपदेश तो कोई भी दे सकता है, इसमें भगवान के द्वारा कहने जैसी क्या बात है ? भाई ! इस जैनमार्ग की बात, मोक्षमार्ग की बात महाभाग्यशालियों को ही सुनने को मिलती है।

यहाँ आचार्यदेव छद्मस्थदशा में सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीवों को कैसा अनभव होता है – यह बताते हुए कहते हैं कि मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ। अहाहा ! मैं त्रिकाली ज्ञानसत्त्व, सर्वज्ञस्वभाव, 'ज्ञ' भाव,

एकज्ञायकभावस्वरूप चैतन्यमात्र जलहल ज्योति हूँ, राग व पर मैं नहीं हूँ। एक समय की प्रगट पर्याय जितना भी मैं नहीं हूँ। तथा यह ज्ञायकस्वभावी आत्मा मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष जाना जाता है। अहाहा! यह ज्ञायक-भावस्वरूप आत्मा मेरे स्वसंवेदन ज्ञान में प्रत्यक्ष जाना जाता है। इसका अनुभव करने में किसी पर का, या विकल्प का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। मैं तो सीधा स्व तथा पर को अपने ज्ञान से ही जानता हूँ।

अरे! अज्ञानी चौरासी लाख योनियों में चक्कर काटकर जन्म-मरण के दुःख भोग रहा है, मर रहा है। जीवती-ज्योति को इसने मार डाला है। यह चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा मैं ही हूँ—ऐसा स्वीकार नहीं करता, किन्तु एक समय की रागादि पर्यायस्वरूप ही मैं हूँ—ऐसा जिसने माना उसने चैतन्यजीव का मानो घात ही कर दिया है, क्योंकि जीवित-सत् के सत्त्व से उसने इन्कार किया है। वस्तु तो वस्तु है, वस्तु का तो नाश नहीं होता; किन्तु पर्याय में चैतन्यजीव का घात हो जाता है।

यहाँ 'मैं चिन्मात्रज्योति आत्मा हूँ'—ऐसा कहकर जीव का स्वभाव ज्ञानमात्र है, ऐसा कहा। ज्ञानमात्र कहने से इसमें जो अन्य अनंतगुण हैं, उनका निषेध नहीं किया है; परन्तु रागादि विकार का निषेध किया है। अहाहा! मैं चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन के काल में अनभव होता है।

अब कहते हैं कि "चिन्मात्र आकार के कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तते हुए व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता, इसलिए मैं एक हूँ।"

नरकगति, मोक्षगति इत्यादि गतियाँ क्रम से होती हैं। एक के बाद एक होती है, इससे उन्हें क्रमरूपभाव कहा गया है। तथा पर्याय में कषाय, लेश्या, ज्ञान का उघाड वगैरह एक साथ होते हैं; इसकारण उन्हें यहाँ अक्रमरूप भाव कहा गया है। यहाँ क्रम माने पर्याय, अक्रम माने गुण—ऐसा नहीं समझना; किन्तु एक के बाद एक होनेवाली गति के भावों को क्रमरूप व उदय के रागादिभाव, लेश्या के भाव व ज्ञान की एक समय की पर्याय का भाव इत्यादि एक साथ होते हैं, उन्हें अक्रमरूप लिया है। ये सब क्रम-अक्रमरूप प्रवर्तते हुए व्यावहारिक-भावों से भेदरूप नहीं होने से मैं एक हूँ; क्योंकि मैं तो अभेद, अखण्ड, आनंदकंद प्रभु, एक, चिन्मात्र वस्तु हूँ।

अहाहा ! एक ज्ञायकभावपने के कारण में क्रम-अक्रमरूप प्रवर्तता व्यावहारिक-भावों से भेदरूप नहीं होता, इसलिए मैं एक हूँ। इस कारण इन क्रम-अक्रमरूप व्यावहारिक-भावों का अस्तित्व नहीं है—ऐसा नहीं समझना। गति, रागादि अवस्था, लेश्या का परिणाम या ज्ञान की पर्याय इत्यादि है ही नहीं—ऐसा नहीं है। उनकी अन्य-अन्य अपनी-अपनी अस्ति तो है, किन्तु उनकी अस्ति से मैं अखण्ड आनंद का नाथप्रभु भेदरूप नहीं होता। धर्म का उपदेश तो ऐसा है, परन्तु अज्ञानी जीव तो व्रत-उपवासादि बाह्यक्रिया करके उनमें ही धर्म मान लेता है, किन्तु ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्व है।

जब सम्यग्दर्शन व उसका आचरण हुआ, तब ज्ञानी ने आत्मा को कैसा जाना – यह बात करते हैं। अखण्ड एक ज्ञान स्वभाव के कारण क्रम से होती हुई गतियाँ व अक्रम से होती हुई ज्ञानपर्याय, राग, लेश्या, कषाय आदि सभी व्यावहारिकभावों के भेदों से मैं भेदरूप नहीं होता। अहाहा ! जैनदर्शन ऐसा सूक्ष्म व अपूर्व है। ऐसी बात अन्यत्र कहीं है ही नहीं। एकसमय में तीनलोक व तीनकाल को देखनेवाले भगवान की जो दिव्यध्वनि खिरी है, उसी बात को सन्तों ने आगम में दर्शाया है।

अरे प्रभु ! केवली भगवान का विरह पड़ा और मन:पर्ययज्ञान भी रहा नहीं, परन्तु वस्तुस्थिति को बतानेवाले ये शास्त्र रह गये हैं। अहो ! आचार्यों ने शास्त्रों की रचना करके केवलज्ञान के विरह को भुला दिया है। भाई ! तू कौन है ? कैसा है ? और अपने को यथार्थरूप से कैसे समझ सकता है ? आदि का अच्छी तरह स्पष्टीकरण आचार्यों ने शास्त्रों में कर दिया है। पर्याय के भेदों से जो भेदा नहीं जाता, ऐसा मैं चिन्मात्रज्योति एक हूँ। – ऐसा जानने पर ही यथार्थ जानना कहलाता है। तथापि यह समझना जरा कठिन पड़ता है, किन्तु मार्ग तो यही है। भाई ! इसे ही धीरे-धीरे समझना चाहिए भाई ! तूने बाहर की संभाल तो बहुत की है; किन्तु अन्दर जीती-जागती ज्योतिस्वरूप जो चैतन्य भगवान आत्मा विराजता है, उसकी अनंतकाल में एक क्षणमात्र भी संभाल नहीं की। वह चैतन्य भगवान आत्मा सम्यग्ज्ञान में कैसा ज्ञात हुआ, वही समझाते हुए कहते हैं कि क्रम-अक्रम से प्रवर्तते हुए व्यावहारिकभावों से मैं भेदरूप नहीं होता – ऐसा अभेद अखण्ड-आनंदस्वरूप मैं एक हूँ। वीतरागदेव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के विकल्प तथा 'मैं चिन्मात्र हूँ' ऐसे विकल्प से भी भेदरूप नहीं होता हुआ मैं अभेद एकरूप हूँ।

आत्मा वस्तु त्रिकाल निर्विकल्प है। पहले एक बार सती अनुसूया का नाटक देखा था। उसमें माता अपने बालक को सुलाते समय गाती थी कि 'शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, उदासीनोऽसि, निर्विकल्पोऽसि' – अर्थात् हे बेटा ! तू शुद्ध है, ज्ञानपिण्ड है, समस्त दुनिया से तेरी चीज जुदी है, इसलिए उदासीन है, निर्विकल्प है। तू निर्विकल्प है अर्थात् पर्याय में होनेवाले क्रमरूप व अक्रमरूपभावों से भेदी जा सके – ऐसी वस्तु तू नहीं है। आत्मा-वस्तु भेद रहित अभेद है। जब ऐसा जाने, तब आत्मा का यथार्थज्ञान हुआ – ऐसा कहा जायेगा। इसी आत्मा के श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। इसप्रकार 'मैं एक हूँ' – यह बोल पूरा हुआ।

अब 'म शुद्ध हूँ' – यह बोल कहते हैं। "नर, नारक आदि जीव के विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध तथा मोक्षस्वरूप जो व्यावहारिक नवतत्त्व हैं, उनसे टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा अत्यंत भिन्न हूँ, – इसलिए मैं शुद्ध हूँ।"

अनादि से जीव पुण्यभाव, पापभाव, आस्रवभाव तथा बंधभाव में रुका हुआ है। यद्यपि अनादि से इस जीव को मोक्ष नहीं है; तथापि संवर, निर्जरा व मोक्ष के विकल्प हैं। तथा जब आत्मा के भानपूर्वक अन्तर एकाग्रतासहित जो संवर, निर्जरा व मोक्ष की पर्याय प्रगट होगी, उस पर्याय जितना मैं नहीं हूँ, इन व्यावहारिक नवतत्त्वों से मैं भिन्न हूँ। पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष ये सब व्यावहारिक नवतत्व हैं; इन सबसे मैं भिन्न हूँ।

नियमसार, गाथा ३८ में कहा है कि सात तत्त्व नाशवान हैं। संवर, निर्जरा व मोक्ष की पर्याय भी नाशवान है, परन्तु मैं एक अविनाशी हूँ। मेरे अस्तित्व में इन पर्यायों का भेद नहीं है। इन भेदों में मैं आता नहीं और ये भेद भी मुझमें नहीं समाते। इसीकारण संवर, निर्जरा व केवलज्ञान की पर्याय से भी मैं भिन्न हूँ। मैं तो एक अखण्ड चैतन्य का पिण्ड हूँ, ज्ञान का पिण्ड हूँ, आनंद का कंद हूँ तथा पुरुषार्थ का पिण्ड हूँ। और व्यवहारिक नवतत्वों से अत्यन्त भिन्न हूँ, इसलिए शुद्ध हूँ।

अहाहा ! आत्मा केवल चैतन्य का दल है, त्रिकालस्वरूप है; एक समय की पर्याय में वह त्रिकाली द्रव्य कहाँ से आ सकता है अर्थात् नहीं आ सकता। इसकारण व्यावहारिक नवतत्त्वों के भेद – पर्यायें हैं ही नहीं। कोई ऐसा कहे तो उसका यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वे पर्यायरूप से तो हैं, परन्तु त्रिकाली ध्रुवद्रव्य में उनका निषेध किया है। समयसार

गाथा ४६ में अव्यक्त के ६ बोल आये हैं। वहाँ पाँचवें बोल में कहा है कि – व्यक्त व अव्यक्त दोनों एक साथ ज्ञात होते हुए भी व्यक्त यानि पर्याय को में स्पर्श नहीं करता – ऐसा मैं द्रव्य हूँ। प्रवचनसार में भी ४७ नयों का वर्णन किया गया है, उसमें अंतिम दो नय – एक अशुद्धनय व दूसरा शुद्धनय है। उसमें कहा है कि जो नय माटी को केवल माटीरूप से देखें, वह शुद्धनय है और माटी को अनेक जाति के आकार विशेषरूप से देखना अशुद्धनय है। इसी प्रकार भगवान आत्मा अकेली चिन्मात्र अभेद वस्तु शुद्ध है, यह शुद्धनय का विषय है तथा आत्मा को पर्यायरूप से देखना अशुद्धनय का विषय है। देखो, अशुद्धनय का विषय नवतत्त्व के भेदरूप पर्याय है तो अवश्य, परन्तु द्रव्य की सत्ता में या त्रिकाल ध्रुवसत्व में वे नहीं हैं। अतः कहते हैं कि नवतत्त्वों के व्यावहारिकभावों से भिन्न होने से मैं शुद्ध हूँ।

यह ३८वीं गाथा जीव अधिकार की अंतिम गाथा है। संपूर्ण जीवतत्त्व का सार इसमें प्रगट किया गया है। ज्ञानी ऐसा अनुभव करता है कि 'मैं शुद्ध हूँ' 'मैं शुद्ध हूँ' – ऐसा विकल्प नहीं; ऐसा साक्षात् अनुभव है। अहाहा ! वह ऐसा जानता है कि मेरा जो सत् का सत्त्व है, वह त्रिकाल है, ध्रुव है, नित्य है, अभेद व एकरूप है।

– इसकारण नवतत्त्वों के व्यावहारिक भावों से मैं अत्यंत भिन्न हूँ। भिन्नता के तीन प्रकार हैं :–

(१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से अत्यन्त भिन्न है।

(२) पुण्य-पाप के विकारी भावों से भगवान आत्मा भिन्न है।

(३) निर्मल पर्याय से भी भगवान आत्मा भिन्न है।

पहले प्रकार में स्वद्रव्य-परद्रव्य की भिन्नता, दूसरे प्रकार में विकार-भाव व स्वभाव की भिन्नता तथा तीसरे प्रकार में द्रव्य व पर्याय की भिन्नता बताई है। पुद्गलमय शरीर वगैरह परद्रव्य भगवान आत्मा को नहीं छूते, अन्दर पर्याय में वर्तते हुए विकारीभाव भी भगवान चैतन्यस्वभाव को नहीं छूते। यह तो ठीक, किन्तु भगवान ज्ञायकस्वभावी ध्रुव आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई निर्मल पर्याय भी द्रव्य का स्पर्श नहीं करती।

प्रवचनसार गाथा १७२ के अलिंगग्रहण के १९-२० बोल में यह बात आई है। १९वें बोल में ऐसा कहा है कि 'लिंग अर्थात् पर्याय ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध विशेष जिसके नहीं हैं, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार आत्मा पर्यायविशेष से आलिंगित न होनेवाला शुद्धद्रव्य है।' कहते हैं कि पर्याय द्रव्य को छूती नहीं है। २०वें बोल में ऐसा कहा है कि

लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण, ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्धपर्याय है।' आचार्य कहते हैं कि वेदन पर्याय में है, त्रिकाली ध्रुवद्रव्य में वेदन नहीं है। द्रव्य तो अक्रिय है, इसलिए द्रव्य पर्याय को छूता नहीं है। भाई! ये तो वस्तुस्थिति की अलौकिक बातें हैं। यही यहाँ कहते हैं कि नवतत्त्वों के व्यावहारिकभावों से मैं अखण्ड एक चैतन्य स्वभावरूप भिन्न हूँ और इसीकारण मैं शुद्ध हूँ। इस प्रकार 'मैं शुद्ध हूँ' – यह बोल पूरा हुआ।

अब दर्शन-ज्ञानमय का तीसरा बोल कहते हैं। 'चिन्मात्र होने से सामान्य-विशेष उपयोगात्मकपने का उल्लंघन नहीं करने से मैं दर्शन-ज्ञानमय हूँ। अहाहा! चिन्मात्र कहने से 'मैं चैतन्यस्वभावमात्र हूँ' – यह समझना चाहिए। दया, दान, व्रतादि विकल्परूप मैं नहीं हूँ, अल्पज्ञतारूप भी मैं नहीं तथा 'मैं ज्ञानदर्शनवाला हूँ' – ऐसा भेद भी मैं नहीं हूँ। मैं तो चिन्मात्र होने से दर्शन-ज्ञानमय हूँ। यहाँ चैतन्यसामान्य दर्शन है व चैतन्य-विशेष ज्ञान है। चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा का सामान्य-विशेष उपयोगात्मकपने का उल्लंघन नहीं होने से मैं दर्शन-ज्ञानमय हूँ। त्रिकाली वस्तुपने ऐसा हूँ। यह तीसरा बोल हुआ।

अब अरूपी का चौथा बोल कहते हैं। 'स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसका निमित्त है – ऐसा स्वसंवेदनरूप परिणमित होता हुआ भी स्पर्शादिरूप से स्वयं परिणमित नहीं हुआ; इसलिए परमार्थ से मैं सदा अरूपी हूँ।' देखो! स्पर्श, रस, आदि का जो ज्ञान होता है, वह मेरे स्वयं से होता है, निमित्त से नहीं होता तथा स्पर्शादि निमित्त का अस्तित्व है, इसलिए मुझे ज्ञान होता है – ऐसा भी नहीं है। तत्त्वसम्बन्धीज्ञानरूप से परिणमने की योग्यता मुझमें सहज स्वभाव से ही है।

स्पर्श, रस, गंध वर्ण आदि को जानते हुए भी वे स्पर्शादि मुझ में आते नहीं हैं और मैं भी स्पर्शादिरूप से परिणमित नहीं होता। मेरा ज्ञान व स्पर्शादि भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। ऐसा होने से मैं परमार्थ से सदा ही अरूपी हूँ। जबतक आत्मा ऐसा नहीं जानता – अनुभव नहीं करता, तबतक वह सम्यग्दृष्टि नहीं होता। तथा सम्यग्दर्शन के बिना जो व्रत व तप करता है, वह सब बालव्रत व बालतप हैं। व्रत, तप, यात्रा आदि के विकल्प तो शुभभाव हैं, पुण्य, हैं, राग हैं; परन्तु धर्म नहीं हैं। भाई! अन्दर तीनलोक का नाथ अखण्डानंदस्वरूप चैतन्य का पर्वत है; इसमें आरोहण करने से सच्ची यात्रा होती है। यही धर्म की नीति है।

प्रश्न :– 'स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसका निमित्त है, ऐसे संवेदनरूप से परिणमित होते हुए भी·······' – इस मूल पाठ में निमित्त का कथन है न ?

उत्तर :– हाँ, कहा है; इससे कौन इन्कार करता है, परन्तु इसका अर्थ स्पर्शादि निमित्त है, बस इतना ही लेना। निमित्त के अस्तित्व से इन्कार नहीं है, परन्तु स्पर्शादि निमित्तों से संवेदनरूप ज्ञान होता है – ऐसा नहीं मानना। ज्ञानरूप से परिणमन करने की मूलशक्ति तो मेरी अपनी है। मैं स्वयं संवेदनज्ञानरूप से परिणमित हुआ हूँ। यह मेरे शुद्ध उपादान से है, निमित्त से नहीं। स्पर्शादि निमित्तों के कारण तो मैं ज्ञानरूप परिणमित होता ही नहीं, किन्तु स्पर्श आदि निमित्त के अस्तित्व के कारण भी मैं ज्ञानरूप परिणमन नहीं करता। तथा स्पर्श आदि का ज्ञान होने पर भी ज्ञान स्पर्शादिरूप नहीं होता; संवेदनज्ञान तो मुझे स्वयं से होता है और वह मेरा है, स्पर्शादि का नहीं है; इसलिए मैं परमार्थ से सदा अरूपी हूँ।

कोई कहे कि संसार अवस्था में जीव रूपी है, क्योंकि रूपी कर्मों से जीव का सम्बन्ध है, किन्तु यह बात ठीक नहीं है। निमित्त की अपेक्षा से जीव को उपचार से रूपी कहा है। वास्तव में तो जीव सदा ही अरूपी है।

अब कहते हैं कि "इसप्रकार सबसे भिन्न ऐसे निजस्वरूप का अनुभव करता हुआ प्रतापवंत हूँ, ज्ञानी ऐसा जानता है कि सब से भिन्न अर्थात् राग व परज्ञेयों से भिन्न निज चैतन्यस्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत हूँ। मेरी सत्ता प्रतापवंत है, स्वतंत्ररूप से शोभायमान है। मेरे प्रताप को कोई खण्डित कर सके व मेरी स्वतंत्रता की शोभा को कोई लूट सके – ऐसी शक्तिवाली जगत में कोई वस्तु ही नहीं है।" 'ऐसा मैं प्रतापवंत हूँ' – इस वाक्य में 'ऐसा' कहकर आत्म वस्तु का प्रत्यक्षपना बताया है। मेरे प्रताप से ही मैं स्वसंवेदन में आया हूँ, निमित्त या अन्य के प्रताप से नहीं।

इसप्रकार प्रतापवंत वर्तते हुए ऐसे मुझे यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेक प्रकार की स्वरूप-सम्पदा के द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं, तथापि कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप नहीं भासते।

अहाहा ! धर्मीजीव ऐसा जानता है कि मैं निजस्वरूप का अनुभव करता हुआ स्वतंत्रपने से शोभायमान हूँ। तथा जगत् के समस्त परद्रव्य – पुद्‌गलादि पदार्थ व रागादि आश्रव अपने स्वरूप की सम्पदा से प्रगट हैं परन्तु ये समस्त परद्रव्य अनंत पुद्‌गलरजकण, अनंत आत्माएँ व रागादि भाव मुझे निजरूप से (अपनत्वपने) भासित नहीं होते। परमाणुमात्र भी

परद्रव्य अर्थात् पुद्गल का एक रजकरण या राग का एक अंश भी मेरा है – ऐसा मुझे भासित नहीं होता।

ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि दया, दान, व्रतादि के जो विकल्प उठते हैं या व्यवहार-रत्नत्रय का जो विकल्प है, वह मुझे निजपने भासित नहीं होता। अहाहा! यह धर्म है। जिसने ऐसा अनुभव किया, उसी ने आत्मा को जाना, धर्म किया – यह कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

'कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नहीं कि जो भावकरूप तथा ज्ञेयरूप से मेरे साथ एक होकर मुझे पुनः मोह उत्पन्न करे।' देखो! कैसी स्वरूप की निःशंकता व दृढ़ता है। धर्मात्मा जीव अप्रतिहत-पने क्षायिकभाव प्राप्त करनेवाला है, ऐसी दृढ़ता से बात करता है। वह कहता है कि कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र मुझरूप भासित नहीं होता तो भावकपने या ज्ञेयरूप से मेरे साथ एक होकर वह मुझे पुनः मोह कैसे उत्पन्न कर सकता है? अहाहा! कैसा दृष्टि का जोर! कैसा वैराग्य!! व कैसी उदासीनता!!! इस जोर में वे कहते हैं कि अब परद्रव्य मेरा है, ऐसा मोह उत्पन्न होना मुझे संभव हो नहीं, ऐसा हो ही नहीं सकता।

श्री प्रवचनसार ६२वीं गाथा में भी इसीप्रकार बात आई है कि – जो मोहदृष्टि आगम की कुशलता व आत्मज्ञान द्वारा नाश को प्राप्त हुई है, वह अब पुनः उत्पन्न होगी ही नहीं। यहाँ भी यही बात कही है कि वह मोह पुनः किसलिए उत्पन्न हो? क्योंकि निजरस से ही मोह को मूल से उखाड़ कर, पुनः अंकुर न उपजे – ऐसा नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है। ज्ञान व आनंद के रस से मैंने मोह को मूल से ही उखाड़ दिया है, पुनः मोह उत्पन्न न हो – ऐसा नाश किया है।

देखो! पंचमकाल के मुनिराज भगवान केवलज्ञानी का विरह होते हुए भी अपने अन्तर अनुभव की बात कहकर ऐसा फरमाते हैं कि मैं तो ज्ञानस्वरूपी भगवान हूँ, ऐसा महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है। इसकारण राग व परज्ञेय मेरे हैं, ऐसा मोह अब पुनः मुझे उपजनेवाला नहीं है; क्योंकि इसको मैंने मूल से ही उखाड़ दिया है। इसी का नाम आत्मा का जानना है और यही धर्म है।

गाथा ३८ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा अनादिकाल से मोह के उदय से अज्ञानी था अर्थात् दर्शनमोह का उदय था तथा इसको परतरफ का जुड़ान था। चैतन्यस्वभाव के प्रति

जुड़ान करना चाहिए था, वह तो नहीं करके इस आत्मा ने स्वभाव को छोड़कर भावकरूप मोहकर्म में जुड़ान किया। उससे उत्पन्न हुआ भाव्य जो मिथ्यात्व, उसके कारण यह आत्मा अनादिकाल से अज्ञानी था; परन्तु अब श्रीगुरु के उपदेश व अपनी काललब्धि से ज्ञानी हुआ। श्री समयसार-कलशटीका में २८वें कलश में आता है कि अनादि से जीव मरणतुल्य हो रहा है। दया, दान, व्रत के परिणाम से मुझे लाभ होता है—ऐसा मानकर जीव ने अपना घात किया है, अपने को मरणतुल्य बना लिया है। वह भ्रान्ति परमगुरु तीर्थंकरदेव के उपदेश सुनने से मिटती है। श्रीगुरु भी जो तीर्थंकर का उपदेश है, उसे ही कहते हैं। अरेरे! दया दान के विकल्प से मुझे लाभ होता है—ऐसा मानकर इस जीव ने इस जागती-जीवती चैतन्यज्योति का घात कर लिया है।

ऐसा अज्ञानीजीव श्रीगुरु के उपदेश से व अपनी काललब्धि से ज्ञानी हुआ। पुरुषार्थ करते हुए काललब्धि पक गई और वह ज्ञानी हो गया (यहाँ पाँचों समवाय एकसाथ होते हैं, ऐसा समझना) तथा उसने ही अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना 'कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शन ज्ञानमय हूँ'।

शास्त्र पढ़कर तो विकल्पों में स्वरूप को अनन्तबार जाना, परन्तु परमार्थ से स्वरूप नहीं जाना। अहाहा! सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है, इसकी लोगों को खबर नहीं है। स्वरूप को परमार्थ से जानने से मोह का समूल नाश हुआ, मिथ्यात्व का नाश हुआ। भावकभाव व ज्ञेयभाव से भेदज्ञान हुआ। भावकभाव अर्थात् मोहकर्म। जिसके निमित्त से जीव में राग-द्वेष-मोहरूप विकारी भाव्य-अवस्था प्रकट होती है, वह भावक है। ऐसे भावकभाव तथा ज्ञेयकभाव से अर्थात् समस्त परद्रव्यों से उसे भेदज्ञान हुआ तथा अपनी स्वरूप-सम्पदा अनुभव में आ गई। अहाहा! अनंत अतीन्द्रिय आनंद की लक्ष्मी, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय श्रद्धा, अतीन्द्रिय शांति आदि स्वरूप-सम्पदा अनुभव में आ गई। दया, दानादि राग जीव की स्वरूप-सम्पदा नहीं हैं, ये तो विभाव हैं। किसी को ऐसा लगे कि इसप्रकार से तो व्यवहार उड़ जाएगा, व्यवहार नष्ट हो जाएगा; परन्तु भाई! व्यवहार तो राग है, राग से जुदा पड़ा व भेदज्ञान हुआ तो लाभ ही हुआ। राग से भिन्न पड़ते ही स्वरूप-सम्पदा अनुभव मे आयी तो पुन: मोह उत्पन्न कैसे हो? अर्थात् नहीं होगा। मोह को जड़ से उखाड़ देने से पुन: मोह उत्पन्न नहीं होगा।

अब ऐसा जो आत्मानुभव हुआ, उसकी महिमा कहकर आचार्यदेव प्रेरणारूप काव्य कहते हैं कि ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा में समस्त लोक निमग्न हो जाओ ! :–

(मालिनी)

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ता: ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धु: ।।३२ ।।

श्लोकार्थ:– [**एष: भगवान् अवबोधसिन्धु:**] यह ज्ञानसमुद्र आत्मा [**विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण आप्लाव्य**] विभ्रमरूपी आड़ी चादर को समूलतया डुबोकर (दूर करके) [**प्रोन्मग्न:**] स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है; [**अमी समस्ता: लोका:**] इसलिये अब समस्तलोक [**शांतरसे**] उसके शांतरस में [**समम् एव**] एक साथ ही [**निर्भरम्**] अत्यन्त [**मज्जन्तु**] मग्न हो जाओ; जो शांतरस [**आलोकम् उच्छलति**] समस्त लोकपर्यंत उछल रहा है ।

भावार्थ:– जैसे समुद्र के आड़े कुछ आ जाये तो जल दिखाई नहीं देता और जब वह आड़ दूर हो जाती है, तब जल प्रगट होता है; वह प्रगट होने पर लोगों को प्रेरणायोग्य होता है कि 'इस जल में सभी लोग स्नान करो ।' इसीप्रकार यह आत्मा विभ्रम से आच्छादित था, तब उसका स्वरूप दिखाई नहीं देता था; अब विभ्रम दूर हो जाने से यथास्वरूप (ज्यों का त्यों स्वरूप) प्रगट हो गया, इसलिये अब उसके वीतरागविज्ञानरूप शांतरस में एक ही साथ सर्वलोक मग्न होओ' – इसप्रकार आचार्यदेव ने प्रेरणा की है ।

अथवा इसका अर्थ यह भी है कि जब आत्मा का अज्ञान दूर होता है, तब केवलज्ञान प्रगट होता है और केवलज्ञान प्रगट होने पर समस्त लोक में रहनेवाले पदार्थ एक ही समय ज्ञान में झलकते हैं, उसे समस्त लोक देखो ।।३२।।

कलश ३२ पर प्रवचन

आत्मानुभव की महिमा कहकर आचार्य देव ने इस प्रेरणा रूप काव्य में कहा है कि ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा में समस्त लोक निमग्न हो जाओ ! यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूपी आड़ीचादर को दूर करके स्वयं सर्वांग प्रकट हुआ है । जीव अधिकार का यह अन्तिम कलश

है। इसमें कहते हैं कि भगवान आत्मा ज्ञानसिन्धु है, स्वयं ज्ञानस्वरूप ही है। यहाँ 'यह' शब्द द्वारा इसका प्रत्यक्षपना बताया है।

जैसे अपने सामने बड़ा भारी समुद्र हो, किन्तु आँख व समुद्र के बीच चार हाथ की चादर हो तो समुद्र दिखाई नहीं देता। उसीप्रकार राग व पुण्यादिभाव मेरे हैं, इनमें ही मेरा अस्तित्व है, जब तक ऐसी मिथ्यात्वरूपी चादर की आड़ है, तब तक ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा दिखाई नहीं देता। चैतन्यस्वरूप से विपरीत राग, वह मेरा व एकसमय की पर्याय, वह मैं; अब तक ऐसी जो पर्यायबुद्धि थी, वही विभ्रम था। जब भेदज्ञान से उस विभ्रम की चादर को दूर कर दिया, हटा दिया, विभ्रम का नाश कर दिया; तब भगवान आत्मा स्वयं सर्वाङ्ग प्रकट हो गया।

आत्मा परमपरमेश्वरस्वरूप चिदानन्द भगवान है। 'रागादि मेरे हैं' – ऐसे विभ्रम का नाश करके स्वयं ज्ञान का समुद्र पर्याय में प्रकट हुआ। अतीन्द्रिय आनंद, अतीन्द्रिय शांति व अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय लेने पर विभ्रम की चादर नष्ट हुई तथा वह स्वयं पर्याय में सर्वाङ्ग प्रकट हो गया। वस्तु तो ध्रुव है। ध्रुव प्रकट नहीं होता, वह तो प्रकट ही है। ध्रुव पर दृष्टि जाते-ही मिथ्यात्वदशा का नाश हुआ और जैसा इसका शुद्धस्वरूप है, वैसा पर्याय में प्रकट हुआ अर्थात् शांति व अतीन्द्रिय आनंद की निर्मलदशा प्रकट हुई। अन्दर पूर्णानन्द का नाथ चैतन्यभगवान ज्ञान व आनंद से भरा हुआ है, उसकी दृष्टि होने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट परिणमित हुई।

यहाँ जीव अधिकार पूरा होता है। देखो ! जैसा स्वरूप है, वैसा प्राप्त होने पर अधिकार पूरा होता है। यहाँ लिखने में भी यह अधिकार (अध्याय) पूरा हो रहा है और भाव में भी। अत: आचार्य कहते हैं कि 'प्रोन्मग्न:' सर्वाङ्ग प्रकट हुआ। असंख्यप्रदेश में जो परिपूर्ण ज्ञान व आनंद स्वरूप है, उसमें दृष्टि करने से यह पर्याय में भी परिपूर्ण प्रकट हुआ। व्रत पालने से, दयादानादि करने से या उपवासादि करने से भगवान आत्मा प्रकट हुआ – ऐसा नहीं कहा; क्योंकि ये सब तो राग की क्रियाएँ हैं और राग से आत्मा प्रकट हो, यह तो भ्रम है। इस भ्रम को मिटाकर शुद्ध चैतन्यसागर पर दृष्टि निमग्न करने से अतीन्द्रिय आनंद से प्रकट होता है।

चैतन्यसिन्धु अर्थात् चैतन्य का पात्र। भगवान आत्मा चैतन्य का पात्र है, राग का नहीं है। कहा भी है 'शुद्धचेतनासिन्धु हमारो रूप है'।

अहाहा ! आचार्यदेव ने सबके लिए न्यौता (आमंत्रण) दिया है। वे कहते हैं कि यह चैतन्यसिन्धु प्रकट हुआ है, इसलिए समस्तलोक अर्थात्

सभी जीव उस आनंदसागर में निमग्न हो जाओ ! अध्यात्मतरंगिणी शास्त्र में इस कलश की टीका करते हुए सम्बोधन में 'भव्यजीव' लिया है। अभव्यजीव आत्मस्वरूप को नहीं पा सकते, इसलिए उन्हें नहीं लिया है।

अहाहा ! सन्तों की करुणा की धारा तो देखो !! कहते हैं कि तू आनन्द व शान्तरस का पात्र है, तू पूर्णप्रभुता का धाम है। प्रभु ! तू उसमें ठहर ! लोग बेचारे बाहर के क्रियाकाण्ड में पड़कर अज्ञान में जीवन बिता रहे हैं। यद्यपि व्रत, तप, उपवास, भक्ति वगैरह क्रियाकाण्ड के विकल्प आत्मा के स्वरूप नहीं है; तथापि अज्ञानीजीव क्रियाकाण्ड में जीवन बर्बाद कर देते हैं। उन्हें आचार्य आह्वान करके कहते हैं कि भगवान ! तू अकेला ज्ञान, आनन्द व शांति का धाम है। तू अपने इस धाम में आ जा ! पुण्य-पाप के स्थान में से निकल जा ! और अपने इस आनन्द के धाम में आ जा !

भगवान आत्मा शान्तरस का समुद्र चैतन्यसिन्धु अब प्रकट हुआ है। इससे समस्तलोक उस शान्तरस में एक साथ ही मग्न हो जाओ। आचार्यदेव कहते हैं हे कि समस्त भव्यजीवो ! तुम अतीन्द्रिय आनन्दगर्भित शांतरस में अर्थात् वीतराग-रस में एक ही साथ अत्यन्त मग्न हो जाओ ! अर्थात् ऐसे मग्न होओ कि फिर कभी इस आनन्द से बाहर निकलना होवे ही नहीं। अहाहा ! देखो तो सही, कैसी अचूक रामबाण वाणी है। नहीं पा सकोगे या थोड़ी सी ही प्राप्त कर सकोगे – ऐसी निराशाजनक बात नहीं की। आचार्यदेव ने स्वयं आनन्दरस प्राप्त कर लिया है, अतः वे यह चाहते हैं कि सभी जीव इस अतीन्द्रिय आनन्दरस को प्राप्त करें। सभी जीव शान्तरस – वीतरागरस में मग्न हो जाओ, ऐसा मधुर संदेश आचार्य देव ने दिया है। अभ्यास नहीं है, इसलिए कठिन लगता है; किन्तु वस्तु स्वरूप ही ऐसा है। भगवान त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेव ने भी इसी रीति से ही पूर्णदशा प्रकट की है और लोकालोक को जाननेवाला केवलज्ञान प्रकट किया है। अतः उन्होंने उपदेश भी ऐसा ही दिया है।

प्रश्न :– समयसार कलश ४ में तो आता है कि जिनवाणी में रमना चाहिए, परन्तु वह दो नयों के आश्रित है; अतः हम क्या करें ?

उत्तर :– श्री समयसार कलश ४ में आता है कि जिनवाणी में रमना, सो तो ठीक है; पर उसका अर्थ क्या ? इस पर भी थोड़ा गम्भीरता से विचार करना चाहिए। कलशटीका में उसका ऐसा स्पष्ट अर्थ लिखा है कि दिव्यध्वनि में कहा है कि उपादेयरूप शुद्धजीववस्तु है, उसमें सावधानपने रुचि – श्रद्धा – प्रतीति करना। सर्वज्ञ भगवान ने शुद्धात्मा,

पूर्ण-आनन्द के नाथ, प्रभु, जीवद्रव्य को उपादेय कहा है, वह ही आदर करने लायक है – ऐसा कहा है। राग में रमने की बात वहाँ नहीं कही, व्यवहार को तो मात्र जानने लायक कहा है।

भगवान आत्मा एकसमय में पूर्ण····पूर्ण····पूर्ण अनन्तगुणों से भरपूर आश्रय करने योग्य उपादेयतत्त्व है। ऐसा भगवान की वाणी में आया है। वह एक ही आदरणीय है, वही स्वीकार करने योग्य है, वही एक सत्कार करने योग्य है। प्रभु ! तू इसकी पूजा कर ! इसकी आरती उतार ! अपनी निर्मलपरिणामों की धारा से इस एक ही की भक्ति कर ! इसे भज !

आचार्य कहते हैं कि समस्तलोक इस शान्तरस में अत्यन्त मग्न हो जाओ। ऐसे मग्न होओ कि जिससे बाहर नहीं आना पड़े। यह तो जीव-अधिकार की अन्तिम गाथा है न; अतः कहते हैं कि शरीर को मत देख, क्योंकि यह तो मिट्टी है, हाड़-मांस का पिंजड़ा है। अन्दर राग है इसे भी मत देख, क्योंकि आत्मा राग का पात्र नहीं है। आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयंज्योति, सुखधाम है। निर्मलपर्याय प्रकट करके इस आत्मा को देख ! इसी में मग्न हो जा ! क्योंकि यही मार्ग है। जिनेश्वरदेव भी दिव्यध्वनि में ऐसा ही कहते थे और सन्तों ने भी भगवान का आड़तिया बनकर यही कहा है। भाई ! यह काम तो स्वयं ही करना है। स्वयं सर्वाङ्ग प्रकट हुआ है – ऐसा काम है न ? देव-शास्त्र-गुरु इसमें कुछ भी मदद नहीं करते, क्योंकि जो स्वभाव प्रकट करना है; उसका स्वयं ही पात्र है, स्थान है।

आत्मा अनन्त वीतरागी शांति का समुद्र है। आचार्य कहते हैं कि तू अपने स्वभाव को पर्याय में प्रकट कर ! तू स्वयं ही वीतरागी परिणति-रूप मोक्षमार्ग प्रकट कर ! व्यवहार से या निमित्त से मोक्षमार्ग का कार्य नहीं होता; तीनकाल में भी इनसे नहीं होता। वास्तव में तो जो मोक्षमार्ग प्रकट हुआ है, यह इसका जन्मक्षण है। स्वभाव के सागर भगवान आत्मा ने स्वयं अपना श्रद्धान-ज्ञान करके जो चारित्र प्रकट किया है; यह इस पर्याय की उत्पत्ति का जन्मक्षण है, इसको अन्य किसी की भी अपेक्षा नहीं है। वस्तु के क्रमबद्ध परिणमन में पर्याय का जब आने का क्रम होता है, तब वह स्वयं ही अकर्तापने से दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त होती है।

अब कहते हैं कि वह शान्तरस समस्त लोकपर्यन्त उछल रहा है। भगवान आत्मा ज्ञान व आनन्द आदि अनन्तगुणों से भरा शान्तरस का

समुद्र है। इसे उपादेय करके, इसी में एकाग्र होने पर, विभ्रम का नाश करके, शक्तियों का समूह पर्याय में प्रकट हुआ है। पूनम की रात्रि में जैसे सागर उछलता है, उसीप्रकार यह पूर्णवस्तु पूर्णपने उछल रही है। अहाहा! आचार्य कहते हैं कि जिसमें शान्तरस उत्कृष्टपने से उछल रहा है, ऐसे भगवान आत्मा में हे भव्यजीवो! तुम अत्यन्त निमग्न हो जाओ! जिससे भगवान आत्मा स्वयं चारित्र, शान्ति व अत्यन्त आनन्दरूप सुख की दशारूप परिणमित हो जाय। अहो! कैसी वीतरागवाणी!! कैसा समयसार!!!

जो शुद्धपने परिणमे उसको ही जीव कहा है। वस्तु तो जीवरूप से त्रिकाल है; किन्तु शुद्धपने परिणमे, तब उसे जीव कहा जा सकता है। कारणपरमात्मा तो त्रिकालशुद्ध ही है, इसको स्वीकार करने पर पर्याय में शुद्धता प्रकट होती है। निगोद की पर्याय हो या सिद्ध की, आत्मा तो पूर्णानन्द का नाथ प्रभु त्रिकालशुद्ध एकरूप ही है। 'मैं ऐसा हूँ' – ऐसा जो स्वीकार करे, उसको तो ऐसा आत्मा है और जो ऐसे निजरूप से विमुख होकर राग व विकल्प को अपना मानता है, उसे तो ऐसा आत्मा है ही नहीं; क्योंकि 'मैं ऐसा हूँ' – ऐसा इसने स्वीकार ही नहीं किया। मौजूद वस्तु भी इसे गैरमौजूद भासित होती है और रागादि जो आत्मा के स्वभाव में मौजूद हैं ही नहीं, वे मौजूद भासित होते हैं। भाई! इन रागादि का लक्ष्य छोड़कर शान्तरस के स्थान स्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा का लक्ष्य करके, इसमें अत्यन्त निमग्न हो जा! जिससे तुझे अतीन्द्रिय आनन्द होगा – ऐसा आचार्यदेव का संदेश है।

कलश ३२ के भावार्थ पर प्रवचन

जैसे समुद्र के आड़े कोई वस्तु आ जाती है तो समुद्र का पानी दिखाई नहीं देता और जब आड़ दूर हो जाती है, तब समुद्र का पानी प्रकट दिखाई देने लगता है। पानी के प्रकट दिखाई देने पर ही लोगों को यह प्रेरणा मिलती है कि इस शीतल जल में सर्वलोक स्नान करे। उसीप्रकार आत्मा विभ्रम से आच्छादित था अर्थात् दया-दान-भक्ति के जो रागरूप परिणाम है, उनसे मुझे लाभ (धर्म) होगा – ऐसे मिथ्याभ्रम में था, उस राग की रुचि में ही रुक गया था; इसकारण भगवान आत्मा आच्छादित था, ढक गया था; इसलिए अपना स्वरूप दिखाई नहीं देता था। राग की रुचि की आड़ में आनन्द से भरा हुआ भगवान दिखाई नहीं देता था। बहिर्लक्षी वृत्तियों के प्रेम में ज्ञान व आनन्दरूपी जल से भरा हुआ भगवान चैतन्यसमुद्र दिखाई नहीं देता था।

अब विभ्रम दूर हुआ। दया, दान, भक्ति का विकल्प भले ही वह मन्दकषायरूप हो; तथापि राग ही है, धर्म नहीं है, आत्मा का स्वरूप नहीं है। यह राग बंध का कारण है, हेय है। इसप्रकार जब भ्रम दूर हुआ, तब यथार्थस्वरूप प्रकट हुआ। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रकट हुआ। सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, अतः आनंद प्रकट हुआ। इसलिए सर्व जगत् अब उस वीतराग-विज्ञानस्वरूप शान्तरस में एक साथ मग्न हो जाओ! – ऐसी आचार्यदेव ने प्रेरणा की है।

भाई! वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर का मार्ग जुदा है; व्रत, तप, भक्ति आदि से धर्म मानना तो राग से धर्म मानना है; किन्तु ये जैनधर्म नहीं है। पर की दया पालने का भाव राग है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने राग को आत्मा की हिंसा का भाव कहा है। सुन प्रभु! सच्चा तत्त्व तूने सुना ही नहीं है। यह पूर्णानन्द का नाथ जीवती चैतन्यज्योति है – ऐसे आत्मा को यथार्थ समझना, निज-आत्मा की दया है। उस आत्मा को इससे उल्टा मानना, आत्मा की हिंसा है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव व श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव तो परमेष्ठी थे, वे स्वयं वीतराग शान्तरस में निमग्न थे तथा यहाँ परमकरुणा करके जगत को भी उसमें मग्न होने की प्रेरणा करते हैं। वे कहते हैं कि प्रभु! तुम भी आत्मा हो न? दुनिया के मानापमान को छोड़कर निर्मानस्वभावी आत्मा में अहंपना स्थापित होने पर वीतराग शान्तरस प्रकट होता है। अतः इस शान्तरस में सर्व जगत् निमग्न हो जाओ!

अथवा ऐसा भी अर्थ होता है कि जब आत्मा का अज्ञान दूर होता है, तब केवलज्ञान प्रकट होता है और केवलज्ञान प्रकट होने पर समस्त लोकालोक के पदार्थ एक ही साथ ज्ञान में झलकने लगते हैं। जिनका मिथ्यात्व व अज्ञान नाश हो जाता है, उसे अल्पकाल में केवलज्ञान प्रकट हो ही जाता है अथवा अज्ञान अर्थात् अल्पज्ञपना दूर हो जाता है, तब केवलज्ञान प्रकट होता ही है। केवलज्ञान एक समय में तीनलोक व तीनकाल को जानता है, सर्वजीव ऐसे केवलज्ञान को प्राप्त करो – ऐसी प्रेरणा की है।

पूर्वरङ्ग का उपसंहार

इति श्री समयसार व्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरंङ्गः समाप्त ।

इसप्रकार इस समयप्राभृत ग्रंथ की आत्मख्याति नामक टीका में टीकाकार ने पूर्वरङ्गस्थल कहा ।

यहाँ टीकाकार का यह आशय है कि इस ग्रंथ को अलङ्कार शैली में नाटक रूप में वर्णन किया है । नाटक में पहले रङ्गभूमि रची जाती है । वहाँ देखनेवाले, नायक तथा सभा होती है । नृत्य (नाट्य, नाटक) करनेवाले होते हैं, जो विविधप्रकार के स्वांग रखते हैं तथा शृङ्गारादिक आठ रसों का रूप दिखलाते हैं । वहाँ शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत – ये आठ रस लौकिक रस हैं; नाटक में इन्हीं का अधिकार है । नववाँ शांतरस है, जो कि अलौकिक है; नृत्य में उसका अधिकार नहीं है । इन रसों के स्थायीभाव, सात्विकभाव, अनुभावीभाव, व्यभिचारीभाव और उनकी दृष्टि आदि का वर्णन रसग्रंथों में है, वहाँ से जान लेना । सामान्यतया रस का यह स्वरूप है कि ज्ञान में ज्ञेय आया, उसमें ज्ञान तदाकार हुआ, उसमें पुरुष का भाव लीन हो जाये और अन्य ज्ञेय की इच्छा नहीं रहे, सो रस है । उन आठ रसों का रूप नृत्य में नृत्यकार बतलाते है । और उनका वर्णन करते हुए कवीश्वर जब अन्यरस को अन्यरस के समान भी वर्णन करते हैं, तब अन्यरस का अन्यरस अङ्गभूत होने से अन्यभाव रसों का अङ्ग होने से, रसवत् आदि अलङ्कार से उसे नृत्यरूप में वर्णन किया जाता है ।

यहाँ पहले रंगभूमिस्थल कहा । वहाँ देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषों की सभा है, उनको नृत्य दिखलाते हैं । नृत्य करनेवाले जीव-अजीव पदार्थ हैं और दोनों का एकपना, कर्ताकर्मपना आदि उनके स्वांग हैं । उनमें वे परस्पर अनेकरूप होते हैं, आठ रसरूप होकर परिणमन करते हैं; सो वह नृत्य है । वहाँ सम्यग्दृष्टि दर्शक जीव-अजीव के भिन्न स्वरूप को जानता है; वह तो इन सब स्वांगों को कर्मकृत जानकर शांतरस में ही मग्न है और मिथ्यादृष्टि जीव-अजीव में भेद नहीं जानते, इसलिये वे इन स्वांगों को ही यथार्थ जानकर उसमें लीन हो जाते हैं । उन्हें सम्यग्दृष्टि यथार्थस्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, उन्हें शांतरस में लीन करके सम्यग्दष्टि बनाता है । उसकी सूचनारूप में

रंगभूमि के अन्त में आचार्य ने 'मज्जंतु····इत्यादि' – इस श्लोक की रचना की है, वह अब जीव-अजीव के स्वांग का वर्णन करेंगे, इसका सूचक है; ऐसा आशय प्रगट होता है। इसप्रकार यहाँ तक रंगभूमि का वर्णन किया है।

नृत्य कुतूहल तत्त्व को, मरियवि देखो धाय।
निजानन्द रस में छको, आन सबै छिटकाय ॥

इसप्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री समयसार परमागम की (श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित) आत्मख्याति नामक टीका में पूर्वरंग समाप्त हुआ।

पूर्वरंग के उपसंहार पर प्रवचन

इसप्रकार जीव अधिकार की पूर्णता करते हुए जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है ? – यह बताया है। इस ग्रन्थ को अलंकार से नाटक के रूप में वर्णित किया है। नाटक में पहले रंगभूमिस्थल रचा जाता है। वहाँ देखनेवाली सभा होती है तथा नृत्य (नाटक) करनेवाला नायक (नट) होता है, जो अनेक स्वांग धारण करता है। तथा शृङ्गारादि आठ रसों के रूप प्रदर्शित करता है। नाटक में शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, भयानक, वीभत्स व अद्भुत – इसप्रकार आठ रस होते हैं, वे लौकिक-रस हैं (इन आठ रसों को भी श्री बनारसीदासजी ने लोकोत्तरस्वरूप में बताये हैं) नववाँ शान्तरस है, वह अलौकिक है। वीतरागभावरूप शान्तरस आत्मा का अलौकिकरस है। अतीन्द्रिय आनन्द व शान्ति का बिम्ब प्रभु आत्मा है। इस त्रिकाली शान्ति के बिम्ब भगवान आत्मा का आश्रय लेने पर परिणमन में जो शान्त····शान्त····शान्त अकषायभाव उत्पन्न होता है, उसे यहाँ शान्तरस कहा है। इसको शान्तरस, आनन्दरस, स्वरूपरस, अद्भुतरस, इसप्रकार अनेक नामों से कह सकते हैं।

जीव का वास्तविक स्वरूप ज्ञाता-दृष्टास्वभावी है। क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त से भी न्यायपूर्वक जीव ज्ञाता-दृष्टा मात्र है – यह सिद्ध होता है। अहाहा ! जीव की पर्याय क्रमबद्ध है। जिससमय जो पर्याय होना होती है, वही होती है – ऐसा कहकर जीव के अकर्तास्वभाव का वर्णन किया है। जो कुछ होता है, इसका कर्त्ता जीव नहीं है। इसलिए इसका अर्थ यह हुआ कि जीव ज्ञाता-दृष्टा है।

वीतराग का कोई भी वचन हो, उसका तात्पर्य तो वीतरागता ही है। क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त का भी तात्पर्य वीतरागता है। जीव को क्रमबद्धपर्याय का जब निर्णय होता है, तब वह ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है।

स्वयं ज्ञाता-दृष्टा होकर शास्त्र के तात्पर्यरूप वीतरागता प्रकट होती है। यह वीतरागता अपने त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से प्रकट होती है। इसलिए क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में भी ज्ञाता का निर्णय हुआ।

यह ग्रंथ नाटक के रूप में बनाया गया है। इसमें नाटक देखनेवाले सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) हैं। जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे तो ज्ञाता-दृष्टा हैं। अनेक प्रकार के स्वांग आते हैं; किन्तु सम्यग्दृष्टि दर्शक उन्हें ज्ञाता-दृष्टा होकर देखते हैं, उसमें अनुरंजित नहीं होते। चाहे अजीव का दृश्य आवे या कर्त्ता-कर्म का, वे इन सबको जानने-देखनेवाले हैं, इसी भाव से देखते हैं। ज्ञानी आश्रव-बंध, कर्त्ता-कर्म इत्यादि किसी स्वांग में क्यों न हो; परन्तु वह प्रत्येक स्वांग को ज्ञाता-दृष्टापने मात्र जानते ही हैं। बंध के स्वांग को व मोक्ष के स्वांग को भी मात्र जानते ही हैं। जो ज्ञाता है, वही वस्तुतः ज्ञायक है।

सम्यग्दृष्टि वास्तविक स्वाँग (भेष) का देखने-जाननेवाला है। तथा वह मिथ्यादृष्टियों की सभा को भी यथार्थस्वरूप बताता है। नृत्य करनेवाले अर्थात् बदलनेवाले, परिणमन करनेवाले, स्वाँग धरनेवाले जीव-अजीव द्रव्य हैं। वे दोनों एकरूप होकर प्रवेश करते हैं। जीवद्रव्य राग व शरीर के साथ एक है, ऐसा स्वाँग रखकर आता है। तथा जीव कर्त्ता व परद्रव्य इसका कार्य, जीव कर्त्ता व राग इसका कार्य – ऐसा कर्त्ता-कर्म का स्वाँग भी आता है। वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव-अजीव व स्वभाव-विभाव के भिन्न-भिन्न स्वरूप को यथार्थपने जानता है। वह तो इन सर्व स्वाँगों को कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न रहता है। दया, दान व काम, क्रोध इत्यादि जो विकल्प आते हैं, वे सब कर्मकृत स्वाँग हैं, मेरे स्वयं के स्वाँग नहीं, मैं तो एकमात्र ज्ञायकस्वरूप हूँ – ऐसी अन्तर एकाग्रता करके, वह शान्तरस में लीन रहता है। अहाहा! भगवान आत्मा आनन्द व शान्तरस का पिण्ड प्रभु अकेला ज्ञायक है। उसका जिसे अनुभव में सम्यक् भान हुआ, वह जीव रागादि या शरीरादि के संयोग को अपने से भिन्न जानता है और अपने आनन्द के रस में निमग्न हो जाता है।

मिथ्यादृष्टि जीव-अजीव के भेद को नहीं जानते। वे तो ऐसा मानते हैं कि शरीर मेरा, राग मेरा; इसप्रकार वे राग व शरीरादि के साथ एक-पना करके जानते हैं। राग को तो भावकभाव कहा है। भावक अर्थात् कर्म। राग कर्म के निमित्त से होनेवाला भाव है; इसलिए उसे भावकभाव कहा है, वह स्वभाव नहीं। जीव की पर्याय में होता है, तथापि ये स्वभावभाव नहीं है। रागादि निश्चय से अजीव हैं, उन्हें अपना मानकर अज्ञानी इसमें

ही लीन हो जाता है और अशान्तभाव का अनुभव करता है। शरीर, राग, पुण्य, पाप इत्यादि जो स्वांग हैं, वे अजीव हैं। वास्तव में वे भगवान आत्मा के सच्चे भेष नहीं हैं, तथापि अज्ञानी इन सब स्वाँगों को अपने स्वरूपमय जानकर उनमें तल्लीन हो जाते हैं और आकुलता का, दुःख का वेदन करते हैं।

भाई ! धर्म बहुत सूक्ष्म वस्तु है। आत्मा ज्ञायकस्वरूप है – ऐसा जहाँ भान हुआ, वहाँ जीव को पर्याय में रागादि का संयोग होता है, अजीव का संयोग होता है, चक्रवर्ती आदि पदों का संयोग होता है; तथापि इन सबको अपने ज्ञानस्वभाव में अर्थात् शान्तरसस्वरूप भगवान आत्मा में स्थित रहकर भिन्न जानता है। अहो ! आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय आनन्द इत्यादि गुणों का पिण्ड है। उसको जिसने निजस्वरूपपने अनुभव किया है, वे धर्मात्मा शान्तरस में निमग्न रहकर पर को मात्र परपने जानते हैं। अज्ञानी उनको अपना मानकर आकुलतामय अशान्त-भाव में रहता है।

उन अज्ञानियों को सम्यग्दृष्टि यथार्थस्वरूप बताकर, उनका भ्रम मिटाकर सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) बनाते हैं। सम्यग्दृष्टि अज्ञानी को अन्तर की बात समझाते हैं कि भाई ! यह रागादि व शरीरादि तो बाह्य स्वाँग हैं, तेरी वस्तु नहीं है; ये तेरे में नहीं हैं, तू इनमें नहीं है। राग, पुण्य व शरीर – ये जीव के अधिकार में नहीं है। जीव के अधिकार में तो ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनन्द, शान्ति इत्यादि हैं। भाई ! तू तो ज्ञायकस्वभावी त्रिकाल अखण्ड एकरूप वस्तु है। तेरी पर्याय में भी ज्ञान व आनन्द का रस आवे – ऐसा तेरा स्वरूप है। अतः रागादि का लक्ष्य छोड़कर अन्तर में एकाग्र हो जा; जिससे शान्तरस प्रकट होगा, आनन्दरस प्रकट होगा।

राग से भिन्न आत्मा चिदानन्दघन प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ है – ऐसा समकिती मिथ्यादृष्टि जीव को बताता है। तब ऐसा जानने-वाला स्वयं आनन्द के नाथ आत्मा में रम जाता है। राग से छूटकर निराकुल आनन्द व शान्ति को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वस्तु के यथार्थस्वरूप को जानकर भ्रम मिटाकर, शान्तरस में लीन होकर अज्ञानी सम्यग्दर्शन को प्राप्त होता है। उसकी सूचनारूप से रंगभूमि के अन्त में आचार्य 'मज्जन्तु' इत्यादि श्लोक कहते हैं। इसप्रकार रंगभूमि का वर्णन समाप्त हुआ।

रङ्गभूमि के अन्त में पंडित श्री जयचन्दजी छाबड़ा मंगलस्वरूप प्रेरणात्मक छन्द कहते हैं कि :–

नृत्य कुतूहल तत्त्व को, मरियवि देखो धाय।
निजानन्दरस में छको, आन सबै छिटकाय ।।

भाई ! मरकर भी – महाकष्ट हो, तथापि उग्र पुरुषार्थ करके तुम तत्त्व को देखो। सर्वज्ञ परमेश्वर भगवान जिनेश्वरदेव ने जैसा कहा है, वैसे निजज्ञानानन्दस्वरूपी आत्मा में स्थित हो जाओ। वे कहते हैं कि भाई ! तू राग के रस को छोड़ दे। तू इस जीवती ज्योतिस्वरूप जीव को जीवता देख ! (राग से जीव की हिंसा होती है।) चैतन्य जीवन से जीवित भगवान आत्मा को जानकर राग से निवृत्त हो जा ! दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि भाव आकुलता व दुःखमय हैं। उसमें तुझे जो रस आता है, उसे छोड़ दे। भगवान आत्मा शान्तरस का समुद्र है, उसमें निमग्न होकर शान्तरस को प्राप्त कर आत्मा के आनन्द के रस में मस्त हो जा ! अत्यन्त लीन हो जा ! समकिती सन्त व सर्व भगवन्त आनन्दरस का सागर एक भगवान आत्मा को ही बताते हैं। इसकारण अन्य सब छोड़कर एक निजानन्दरस में अत्यन्त लीन हो जाओ। इसप्रकार जीव-अजीव अधिकार का पूर्वरंग पूर्ण हुआ।

मिथ्यात्व-ग्रन्थि का भेदन

जैसैं कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
आवति अखारे निसि आड़ौ पट करिकैं।
दुहूँ ओर दीवटि संवारि पट दूरि कीजै,
सकल सभा के लोग देखैं दृष्टि धरिकैं।।
तैसैं ग्यान सागर मिथ्याति ग्रंथि भेद करि,
उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहुँ लोक भरिकैं।
ऐसौ उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
सुद्धता संभारैं जगजालसौं निसरिकैं।।

– समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द ३५

अनुभव सम नहिं और

अनुभव चिन्तामणि रतन,
अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोख को,
अनुभव मोक्षस्वरूप ।।१८।।

अनुभौ के रस कौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।
अनुभौ की जो रसा कहावै सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोरसा सौं ऊरध की दौर है।।
अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ कौ स्वाद पंच अमृत कौ कौर है।
अनुभौ करम तोरैं परम सौं प्रीति जोरै,
अनुभौ समान न धरम कोऊ और है ।।१९।।

अनुभव चिंतामणि-रत्न है, शान्तिरस का कुआँ है, मुक्ति का मार्ग है और मुक्तिस्वरूप है ।।१८।।

अनुभव के रस को जगत के ज्ञानी लोग रसायन कहते हैं, अनुभव का अभ्यास एक तीर्थभूमि है, अनुभव की भूमि सकल पदार्थों को उपजानेवाली (ज्ञान करानेवाली) है, अनुभव नर्क से निकालकर स्वर्ग-मोक्ष में ले जाता है, अनुभव का आनन्द कामधेनु और चित्रावेलि के समान है, अनुभव का स्वाद पंच अमृतों के भोजन के समान है। अनुभव कर्मों को क्षय करता है और परम-पद से प्रेम जोड़ता है, (कहाँ तक कहा जाय?) अनुभव के समान अन्य कोई धर्म नहीं है ।।१९।।

—समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द १८-१९

जीव-अजीव अधिकार

अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः ।

अब जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य – वे दोनों एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं ।

इसके प्रारम्भ में मंगल के आशय से (काव्य द्वारा) आचार्यदेव ज्ञान की महिमा करते हैं कि सर्व वस्तुओं को जाननेवाला यह ज्ञान है, वह जीव-अजीव के सर्व स्वाँगों को भलीभाँति पहिचानता है । ऐसा (सभी स्वाँगों को जाननेवाला) सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है – इस अर्थरूप काव्य कहते हैं :–

(शार्दूलविक्रीड़ित)

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्
आसंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ।
आत्मारामनंतधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ।।३३।।

श्लोकार्थ :– [**ज्ञानं**] ज्ञान है वह [**मनो ह्लादयत्**] मन को आनन्दरूप करता हुआ [**विलसति**] प्रगट होता है । वह [**पार्षदान्**] जीव-अजीव के स्वाँग को देखनेवाले महापुरुषों को [**जीव–अजीव–विवेक–पुष्कल–दृशा**] जीव-अजीव के भेद को देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि के द्वारा [**प्रत्याययत्**] भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कर रहा है । [**आसंसार–निबद्ध–बन्धन–विधि–ध्वंसात्**] अनादि संसार से जिनका बन्धन दृढ़ बँधा हुआ है – ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से [**विशुद्धं**] विशुद्ध हुआ है, [**स्फुटत्**] स्फुट हुआ है – जैसे फूल की कली खिलती है उसीप्रकार विकासरूप है । और [**आत्म–आरामम्**] उसका रमण करने का क्रीड़ावन आत्मा ही है, अर्थात् उसमें अनन्त ज्ञेयों के आकार आकर झलकते हैं, तथापि वह स्वयं अपने स्वरूप में ही रमता है; [**अनन्तधाम**] उसका प्रकाश अनन्त है और वह [**अध्यक्षेण महसा नित्य-उदितं**] प्रत्यक्ष

तेज से नित्य उदयरूप है। तथा वह धीर है, उदात्त (उच्च) है और इसीलिये अनाकुल है – सर्व इच्छाओं से रहित निराकुल है। (यहाँ [धीरोदात्तम्] धीर, उदात्त, [अनाकुलं] अनाकुल – यह तीन विशेषण शान्तरूप नृत्य के आभूषण जानना।) ऐसा ज्ञान विलास करता है।

भावार्थ :– यह ज्ञान की महिमा कही। जीव-अजीव एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं, उन्हें यह ज्ञान ही भिन्न जानता है। जैसे नृत्य में कोई स्वाँग धरकर आये और उसे जो यथार्थरूप में जान ले (पहिचान ले) तो वह स्वाँगकर्ता उसे नमस्कार करके अपने रूप को जैसा का तैसा ही कर लेता है; उसीप्रकार यहाँ भी समझना। ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि पुरुषों को होता है; मिथ्यादृष्टि इस भेद को नहीं जानते ॥३३॥

कलश ३३ पर प्रवचन

यहाँ जीव-अजीव – दोनों एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं। प्रारंभ में मंगलाचरण के रूप में आचार्यदेव ज्ञान की महिमा प्रगट करते हुए कहते हैं कि यह सम्यग्ज्ञान-सूर्य सर्व वस्तुओं को जानता हुआ, जीव-अजीव के सर्व स्वांगों को भली-भाँति पहचानता हुआ प्रगट होता है।

यहाँ आचार्य कहते है कि सम्यग्ज्ञान मन को आनंदरूप करता हुआ प्रगट होता है। यहाँ ज्ञान व आनंद मुख्यरूप से दो की बात की है। ज्ञान अर्थात् शुद्ध जीव की सम्यग्ज्ञानरूप अवस्था, मन को अर्थात् आत्मा को आनंदरूप करती हुई प्रगट होती है। ज्ञान प्रगट होने के साथ अतीन्द्रिय आनंद प्रगट हो तो ही ज्ञान प्रगट हुआ कहा जाता है। ज्ञान प्रगट होने की यह मुख्य पहचान है। अतीन्द्रिय आनंद प्रगट न हो तो ज्ञान का प्रगटपना भी नहीं कहा जाता।

अब कहते हैं कि वह भेदज्ञान जीव-अजीव का स्वांग देखनेवाले महापुरुषों को जीव-अजीव का भेद दिखानेवाली अति उज्वल निर्दोष दृष्टि द्वारा भिन्न-भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। भगवान आत्मा त्रिकाल एकरूप अखण्ड ज्ञान व आनंद का निधान है। तथा चैतन्यस्वभाव की जो दृष्टि प्रगट हुई अथवा निज-निधान को परखनेवाली जो दृष्टि उत्पन्न हुई वह दृष्टि अति उज्वल व निर्मल है, यह दृष्टि जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न करके देखती है। इस निर्मल दृष्टि द्वारा प्राप्त हुआ ज्ञान अचेतन शरीर व रागादि से चैतन्यधाम प्रभु आत्मा भिन्न है – यह स्पष्ट बता रहा है। अनादिकाल से निबद्ध ज्ञानावरणादि कर्मों के दृढ़ बन्धनों के नाश से विशुद्ध स्फुटित, फूल की कली की तरह विकासरूप; आठों कर्म व

उनके निमित्त से हुए भावों से रहित वह ज्ञान भगवान आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वभाव को प्रगट करता हुआ आनंद सहित प्रगट होता है।

भगवान आत्मा संसार अवस्था में भी आठकर्म व उनके निमित्त से हुए भावों से भिन्न ही है। सिद्धदशा में जो आठकर्मों से रहित होता है, वह तो पर्याय की अपेक्षा से कथन है। किन्तु जीवद्रव्य के स्वभाव में तो आठों ही अजीवकर्मों का त्रिकाल अभाव है। निश्चय से भगवान आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म से भिन्न ही है। ऐसे भिन्न आत्मा का भान होने पर कर्मों का नाश करके ज्ञान प्रगट होता है। जब स्वयं स्वभाव-सन्मुख होता है; तब विकार व कर्म दोनों छूट जाते हैं, इसे ही कर्मों का नाश करना कहा जाता है।

जैसे फूल की कली अनेक पांखुड़ीरूप विकसित होकर खिल उठती है, उसीप्रकार ज्ञान प्रगट होने पर भगवान आत्मा अनन्तगुणों की पंखुड़ियों से पर्याय में खिल जाता है। सम्यग्दर्शन होने पर अनन्तगुणों का विकास पर्याय में हो जाता है। शक्तिरूप से विद्यमान ज्ञान व आनन्द आदि अनन्तगुण पर्याय में प्रगट हो जाते हैं।

तथा वह ज्ञान कैसा है? यद्यपि उसमें अनन्त ज्ञेयों के आकार झलकते हैं, तथापि स्वयं अपने स्वरूप में ही अन्तर्मग्न रहता है, रमता है। देखो, अनन्त ज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान अपनी सामर्थ्य से ही प्रगट होता है, ज्ञेयों से नहीं। वह ज्ञान कहीं ज्ञेयों में नहीं जाता। अपने भाव में तथा अपने क्षेत्र में ही रमता है, आराम पाता है। अनन्त ज्ञेयों को जानते हुए भी स्वयं अपने ज्ञान में ही रमता है। अहाहा! ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा पर से पृथक् होकर जब अपनी ही सामर्थ्य से अपने स्वरूप में खिला, तब ज्ञेयों के प्रति अपनत्व की मान्यता छूट गई और अब ज्ञान ज्ञेयों को मात्र जाननेवाला है। अहो! एक-एक कलश में अमृतचन्द्राचार्य-देव ने गजब की बात की है। उनके वचनों में कैसी गम्भीरता है। अनन्त ज्ञेयों को जानता हुआ ज्ञान, ज्ञान में ही रमता है, अन्यत्र नहीं।

और कैसा है वह ज्ञान? वह अनन्त-अनन्त प्रकाशवाला है तथा प्रत्यक्ष तेज से नित्य उदयरूप है। भगवान ज्ञानस्वरूप आत्मा जब प्रगट होता है, तब से नित्य उदयरूप ही रहता है। केवलज्ञान हुआ हो या सम्यग्ज्ञान हुआ हो, वह सदैव प्रगट ही रहता है। वह ज्ञान धीर है अर्थात् चंचल नहीं है, निश्चल है, अचंचल है तथा उसमें प्रत्येक समय नई-नई पर्यायें प्रगट होती हैं – ऐसा उदात्त है। तथा अनाकुल है, इच्छाओं से

रहित निराकुल अतीन्द्रिय सुखस्वरूप है। धीर, उदात्त व अनाकुल – ये तीन विशेषण आत्मा के परिणमन के तीन आभूषण जानना। ऐसा ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव में ही सदा विलास करता है।

कलश ३३ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ वर्त्तमान प्रगट ज्ञान की महिमा बताई गई है। जीव-अजीव एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं। उन्हें यह ज्ञान ही भिन्न जानता है। जैसे नृत्य में कोई स्वाँग धर कर आये, उसे जो यथार्थरूप से जान ले (पहिचान ले) तो वह स्वाँगकर्त्ता उसे नमस्कार करके अपने असलीरूप को धारण कर लेता है। उसीप्रकार यहाँ भी जब ज्ञान राग को रागरूप व ज्ञान को ज्ञानरूप से यथार्थ जान लेता है, तब जिसका जो असली स्वरूप है, वे अपने उसी स्वरूप से भिन्न-भिन्न होकर रह जाते हैं। ज्ञान ज्ञानरूप से रहता है व राग रागरूप से रहता है। अपने-अपने स्वरूप में दोनों भिन्नपने रहते हैं।

ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि पुरुषों को होता है। जैसी वस्तु पूर्ण सत्य है, उसकी वैसी ही दृष्टि का नाम सत्दृष्टि या सम्यग्दृष्टि है। भगवान आत्मा पूर्ण प्रभु सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् अर्थात् शाश्वत ज्ञान व आनन्दस्वरूप परिपूर्ण वस्तु। ऐसे सत् की जिसको दृष्टि हुई, वह सम्यग्दृष्टि जीव है। सम्यग्दृष्टि को ही ऐसा भिन्नपने का यथार्थ ज्ञान होता है, मिथ्यादृष्टि इस भेद को नहीं जानते। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का जो राग आता है, उसे अज्ञानी अपना मानता है तथा उसका कर्त्ता बनता है। मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तबार साधु हुआ व इन विकल्पों को कर्त्ता होकर करता है, क्योंकि वह राग व ज्ञान के भेद को नहीं जानता। राग व स्वभाव को अज्ञानी एकपने से मानता है। सम्यग्दृष्टि को ही राग व स्वभाव की भिन्नता का यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान होता है।

समयसार गाथा ३९ से ४३

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेंति ।।३९।।

अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ।।४०।।

कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ।।४१।।

जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ।।४२।।

एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
ते ण परमट्ठवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा ।।४३।।

अब जीव-अजीव का एकरूप वर्णन करते हैं :-

को मूढ़, आत्म अजान जो, पर आत्मवादी जीव है,
है कर्म, अध्यवसान ही जीव – यों हि वो कथनी करे ।।३९।।

अरु कोई अध्यवसान में, अनुभाग तीक्षण-मंद जो ।
उसको ही माने आत्मा, अरु अन्य को नोकर्म को ।।४०।।

को अन्य माने आत्मा बस, कर्म के ही उदय को ।
को तीव्र-मंदगुणोंसहित, कर्मोंहि के अनुभाग को ।।४१।।

को कर्म आत्मा, उभय मिलकर जीव की आशा धरें ।
को कर्म के संयोग से, अभिलाष आत्मा की करें ।।४२।।

दुर्बु द्धि यों ही और बहुविध, आतमा पर को, कहै ।
वे सर्व नहिं परमार्थवादी, ये हि निश्चयविद् कहै ।।४३।।

आत्मानमजानंतो मूढास्तु पराश्मवादिनः केचित् ।
जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयन्ति ।।३९।।

अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागगं जीवम् ।
मन्यंते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीव इति ।।४०।।

कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छंति ।
तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ।।४१।।

जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छंति ।
अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छंति ।।४२।।

एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदंति दुर्मेधसः ।
ते न परमार्थवादिनः निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ।।४३।।

गाथार्थ :– [**आत्मानम् अजानंतः**] आत्मा को न जानते हुए [**परात्मवादिनः**] पर को आत्मा कहनेवाले [**केचित् मूढाः तु**] कोई मूढ़, मोही, अज्ञानी तो [**अध्यवसानं**] अध्यवसान को [**तथा च**] और कोई [**कर्म**] कर्म को [**जीवम् प्ररूपयंति**] जीव कहते हैं । [**अपरे**] अन्य कोई [**अध्यवसानेषु**] अध्यवसानों में [**तीव्रमंदानुभागगं**] तीव्र-मंद अनुभागगत को [**जीवं मन्यंते**] जीव मानते हैं [**तथा**] और [**अपरे**] दूसरे कोई [**नोकर्म अपि च**] नोकर्म को [**जीवः इति**] जीव मानते हैं [**अपरे**] अन्य कोई [**कर्मणः उदयं**] कर्म के उदय को [**जीवम्**] जीव मानते हैं, कोई [**यः**] जो [**तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां**] तीव्र-मंदतारूप गुणों से भेद को प्राप्त होता है [**सः**] वह [**जीवः भवति**] जीव है – इसप्रकार [**कर्मानुभागम्**] कर्म के अनुभाग को [**इच्छंति**] जीव इच्छते हैं (– मानते हैं)। [**केचित्**] कोई [**जीवकर्मोभयं**] जीव और कर्म [**द्वे अपि खलु**] दोनों मिले हुओं को ही [**जीवम् इच्छंति**] जीव मानते हैं [**तु**] और [**अपरे**] अन्य कोई [**कर्मणां संयोगेन**] कर्म के संयोग से ही [**जीवम् इच्छंति**] जीव मानते हैं । [**एवंविधाः**] इसप्रकार के तथा [**बहुविधाः**] अन्य भी अनेक प्रकार के [**दुर्मेधसः**] दुर्बुद्धि – मिथ्यादृष्टि जीव [**परम्**] पर को [**आत्मानं**] आत्मा [**वदंति**] कहते हैं । [**ते**] उन्हें [**निश्चयवादिभिः**] निश्चयवादियों ने (–सत्यार्थवादियों ने) [**परमार्थवादिनः**] परमार्थवादी (– सत्यार्थवक्ता) [**न निर्दिष्टाः**] नहीं कहा है ।

इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्क्लीबत्वेनात्यंतविमूढाः संतस्तात्त्विकमात्मानमजानंतो बहवो बहुधा परमप्यात्मानमिति प्रलपंति। नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानमेव जीवस्तथाविधाध्यवसानात् अंगारस्येव कार्ष्ण्यादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। अनाद्यनंतपूर्वापरिभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेणक्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव जीवस्ततोऽतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्र-

---

टीका :— इस जगत में आत्मा का असाधारणलक्षण न जानने के कारण नपुंसकता से अत्यन्त विमूढ़ होते हुए, तात्त्विक (परमार्थभूत) आत्मा को न जाननेवाले बहुत से अज्ञानीजन अनेक प्रकार से पर को भी आत्मा कहते हैं, बकते हैं। कोई तो ऐसा कहते हैं कि स्वाभाविक अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष के द्वारा मलिन जो अध्यवसान (मिथ्या-अभिप्राययुक्त विभावपरिणाम) वह ही जीव हैं, क्योंकि जैसे कालेपन से अन्य अलग कोई कोयला दिखाई नहीं देता, उसीप्रकार अध्यवसान से भिन्न अन्य कोई आत्मा दिखाई नहीं देता ।।१।। कोई कहते हैं कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है—ऐसी एक संसरणरूप (भ्रमणरूप) जो क्रिया है, उसरूप से क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता। ।।२।। कोई कहते हैं कि तीव्र-मंद अनुभव से भेदरूप होते हुए, दुरन्त (जिसका अन्त दूर है ऐसा) रागरूप रस से भरे हुये अध्यवसानों की संतति (परिपाटी) ही जीव है, क्योंकि उससे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ।।३।। कोई कहता है कि नई और पुरानी अवस्था इत्यादि भाव से प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है, क्योंकि इस शरीर से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ।।४।। कोई यह कहते हैं कि समस्त लोक को पुण्यपापरूप से व्याप्त करता हुआ कर्म का विपाक ही जीव है, क्योंकि शुभाशुभ भाव से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ।।५।। कोई कहते हैं कि साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मन्दत्वगुणों से

मंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कार्त्स्न्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । अर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाया इवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । एवमेवंप्रकारा इतरेऽपि बहुप्रकाराः परमात्मेति व्यपदिशन्ति दुर्मेधसः, किन्तु न ते परमार्थवादिभिः परमार्थवादिन इति निर्दिश्यंते ।

भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव ही जीव है, क्योंकि सुख-दुःख से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ।।६।। कोई कहते हैं कि श्रीखण्ड की भाँति उभयरूप मिले हुए आत्मा और कर्म, दोनों ही मिलकर जीव हैं, क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मों से भिन्न कोई जीव दिखाई नहीं देता ।।७।। कोई कहते हैं कि अर्थक्रिया में (प्रयोजनभूतक्रिया में) समर्थ ऐसा जो कर्म का संयोग, वह ही जीव है; क्योंकि जैसे आठ लकड़ियों के संयोग से भिन्न अलग कोई पलंग दिखाई नहीं देता, इसीप्रकार कर्मों के संयोग से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता । (आठ लकड़ियाँ मिलकर पलंग बना, तब वह अर्थक्रिया में समर्थ हुआ; इसीप्रकार यहाँ भी जानना) ।।८।। इसप्रकार आठ प्रकार तो यह कहे और ऐसे-ऐसे अन्य भी अनेक प्रकार के दुर्बुद्धि (विविध प्रकार से) पर को आत्मा कहते हैं, परन्तु परमार्थ के ज्ञाता उन्हें सत्यार्थवादी नहीं कहते ।

भावार्थ :– जीव-अजीव दोनों अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाहसंयोगरूप से मिले हुए हैं और अनादिकाल से ही पुद्गल के संयोग से जीव की अनेक विकारसहित अवस्थायें हो रही हैं । परमार्थदृष्टि से देखने पर, जीव तो अपने चैतन्यत्व आदि भावों को नहीं छोड़ता और पुद्गल अपने मूर्तिक जड़त्व आदि को नहीं छोड़ता, परन्तु जो परमार्थ को नहीं जानते वे संयोग से हुए भावों को ही जीव कहते हैं । क्योंकि पुद्गल से भिन्न परमार्थ से जीव का स्वरूप सर्वज्ञ को दिखाई देता है तथा सर्वज्ञ की परम्परा के आगम से जाना जा सकता है, इसलिये जिनके मत में सर्वज्ञ नहीं हैं वे अपनी बुद्धि से अनेक कल्पनायें करके कहते हैं । उनमें से वेदान्ती, मीमांसक, सांख्य, योग, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, चार्वाक आदि मतों के आशय लेकर आठ प्रकार तो प्रगट कहे हैं; और अन्य भी अपनी-अपनी बुद्धि से अनेक कल्पनायें करके अनेक प्रकार से कहते हैं, सो उन्हें कहाँ तक कहा जाये ?

गाथा ३६ से ४३ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब जीव-अजीव का एकरूप वर्णन करते हैं।

इस जगत में बहुत से अज्ञानीजन आत्मा का असाधारणलक्षण नहीं जानने के कारण नपुंसकता से अर्थात् पुरुषार्थहीनता से अत्यन्त विमूढ़ होते हुए तात्त्विक (परमार्थभूत) आत्मा को नहीं जानने से नानाप्रकार की कल्पनाएँ करके पर को आत्मा मानते हैं।

आत्मा का असाधारणलक्षण ज्ञान है। ज्ञान द्वारा ही यह आत्मा जाना जाता है एवं ज्ञान द्वारा ही आत्मा की अनुभूति व उपलब्धि हो सकती है। ज्ञान अर्थात् स्व-संवेदनज्ञान – सम्यग्ज्ञान। इस सम्यग्ज्ञान से ही आत्मलाभ हो सकता है; परन्तु भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी है, ऐसा नहीं जानने के कारण अज्ञानीजन विमूढ़ हो रहे हैं। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि शुभराग से – पुण्यभाव से धर्म होता है; इन्हीं से आत्मलाभ होता है – ऐसा माननेवालों को यहाँ आचार्यदेव ने 'नपुंसक' कहा है। जैसे नपुंसक को संतान नहीं होती, उसीप्रकार शुभभावों में धर्म माननेवालों को धर्म (रत्नत्रयरूप धर्म) की संतति नहीं होती। अज्ञानी को शुभभावों से भिन्न भगवान आत्मा की खबर नहीं है, इसकारण वह शुभभाव से हटकर शुद्ध में नहीं आता। इसीकारण वह नपुंसक है, पुरुषार्थहीन है। शुभाशुभभावों से भिन्न होकर अपने ज्ञानस्वभाव से जो निज को जाने, अनुभवे – उसे पुरुष कहा है, भले ही वह स्त्री का आत्मा हो। भाई! स्त्री तो देह है, आत्मा कहाँ स्त्री है? आत्मा तो शुभाशुभभावों का उच्छेदक अनंतवीर्य का स्वामी है।

भाई! राग तो आत्मा के चैतन्यस्वभाव को घायल करता है, यह आत्मा का घातक है। जो घातक हो या घायल करे, उससे आत्मा का लाभ कैसे हो सकता है? श्री समयसार की गाथा १५४ में कहा है कि मोक्ष के कारणभूत सामायिक की प्रतिज्ञा लेकर जो अत्यन्त स्थूल संक्लेशरूप अशुभ परिणामों को तो छोड़ता है, परन्तु अत्यन्त स्थूल विशुद्ध परिणामों (शुभभावों) में संतुष्ट होकर उन विशुद्ध परिणामों को छोड़ता नहीं है; वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। इसकारण उसको सामायिक नहीं होता। राग की मंदता हो तो पुण्य तो होता है, परन्तु वह पुण्य पवित्रता में बाधक है, आत्मा की पवित्रता का घात करनेवाला है। धर्म की बात अलौकिक व सूक्ष्म है। भाई! धर्म की पर्याय शुद्ध है, क्योंकि भगवान आत्मा स्वयं परमपवित्र शुद्धस्वरूप है। पवित्र के आश्रय से ही पवित्रता प्रगट होती है और पवित्रता प्रगट होना ही धर्म है।

श्री समयसार के परिशिष्ट में ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। वहाँ ऐसा कहा है कि आत्मा में एक वीर्य नाम की शक्ति है तथा अपने स्वरूप की रचना करना ही वीर्य गुण का कार्य है। स्वरूप की रचना करने के बदले में जो दया, दान, व्रत इत्यादि शुभभावरूप राग को रचे, उसे यहाँ नपुंसक कहा है।

भगवान आत्मा अनंतबलस्वरूप है। इसका बलगुण परिणमन करके निर्मलता प्रगट करता है। सम्यग्दर्शन आदि निर्मल निश्चयरत्नत्रय प्रगट करे – ऐसा ही इसका स्वरूप है। भगवान की स्तुति, वन्दना, सेवा, पूजा करो, व्रतादि पालो, उससे आत्मलाभ होगा – ऐसा कहने तथा माननेवाले सभी वीर्यगुण को नहीं जानते और आत्मा को भी नहीं जानते। भाई ! ज्ञान व शुद्धता जिसका स्वभाव है – ऐसे निर्मलानंद प्रभु आत्मा के लक्ष्य से जो निर्विकार स्वसंवेदनरूप निर्मल शुद्धज्ञान का परिणाम होता है, उससे आत्मा जाना जाता है। व्रत, तप, पूजा, भक्ति व्यवहार-रत्नत्रय के साधनों से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। निश्चयरत्नत्रय स्वभाव के बल से प्रगट होता है अर्थात् निश्चयरत्नत्रय स्वसन्मुखता के पुरुषार्थ से प्रगट होता है, व्यवहाररत्नत्रय के साधन से नहीं।

प्रश्न :– परमात्मप्रकाश, द्रव्यसंग्रह इत्यदि शास्त्रों में तो ऐसा आता है कि व्यवहाररत्नत्रय साधन है।

समाधान :– भाई ! वहाँ तो जब निश्चय प्रगट होता है, तब बाह्य निमित्त क्या होता है – इसका ज्ञान कराया है। करण (साधन) नाम का आत्मा में एक गुण है। इस गुण के कारण आत्मा स्वयं ही अपने निर्मलभाव का साधकतम साधन है। अंतर्मुख होकर निजस्वभाव को साधकपने से परिणमन करती हुई जो आत्मा की निर्मल (निश्चय-रत्नत्रयरूप) पर्याय प्रगट हुई, वह आत्मा के साधन गुण का कार्य है, व्यवहाररत्नत्रय का कार्य नहीं है।

पुण्यभाव से धर्म का लाभ है, यह आत्मा का कर्त्तव्य है – ऐसा माननेवाले तो अत्यन्त विमूढ़ हैं। 'अत्यन्त विमूढ़' ऐसा कठोर शब्द आचार्य ने प्रयोग किया है, परन्तु इसमें आचार्यदेव की करुणा ही टपकती है।

परमार्थरूप से भगवान आत्मा तो शुभाशुभ भाव से पार शुद्धता – पवित्रता का पिण्ड है, परन्तु अनेक अज्ञानीजन ऐसी पवित्रता से युक्त परमात्मस्वरूप शुद्धात्मा को नहीं जानते हुए राग, अध्यवसान विभावभाव आदि को आत्मा कहते हैं, वे नपुंसकपने से अत्यन्त विमूढ़ हो रहे हैं।

वे अज्ञानीजन ऐसा कहते हैं कि शुभभाव शुद्धभाव में जाने के लिए नसैनी (सोपान या सीढी) है। पहले अशुभ से छूटकर शुभ में आता है, पीछे शुभ के द्वारा शुद्ध में जाता है। परन्तु भाई! यह परमार्थ से नसैनी (सोपान) नहीं है। क्या कभी राग से वीतरागता में जाया जा सकता है? राग की दिशा परतरफ है व वीतराग की दिशा स्वतरफ है। दोनों की दिशा परस्पर विरुद्ध है। जिसकी दिशा विरुद्ध है, उसे शुद्धभाव की नसैनी कैसे कहा जा सकता है? परतरफ की ओर जानेवाले कदम रखते-रखते स्व में कैसे जाया जा सकता है? शास्त्रों में जो व्यवहार को निश्चय का साधन कहा है, वह तो निश्चय के साथ जो व्यवहार निमित्तरूप होता है, उसका ज्ञान कराने के लिए उपचार से कहा है।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने बहुत जोर देकर पुकार-पुकार कर कहा है कि मुनि तो नग्न दिगम्बर ही होते हैं। जो वस्त्र सहित हों, वे मुनि नहीं हैं। तथा जो वस्त्र सहित को मुनि माने-मनावे, स्त्री-मुक्ति माने-मनावे, जो इसीप्रकार की और भी अनेक अन्यथा बातें कहें, वे शास्त्र जैनशास्त्र नहीं हैं, वह शासन वीतराग शासन नहीं है।

(१) कोई तो ऐसा कहते हैं कि स्वाभाविक अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष से मलिन जो अध्यवसान हैं, वेही जीव हैं, क्योंकि जैसे कालेपने से भिन्न कोई कोयला देखने में नहीं आता; उसीप्रकार अध्यवसान से जुदा कोई जीव दिखाई नहीं देता। उन अध्यवसानों से जुदा कोई आत्मा ही नहीं है—ऐसी भी किन्हीं-किन्हीं अज्ञानियों की मान्यता है।

(२) कोई कहते हैं कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है व अनंत जिसका भावी अवयव है—ऐसी एक संसरणरूप (भ्रमणरूप) क्रिया से क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योंकि कर्म से भिन्न कोई जीव दिखाई नहीं देता। इसी बात को दूसरे प्रकार से कहें तो अनादि-अनन्त परिपाटी-रूप राग-द्वेषमय क्रिया के व्यापाररूप अवयव को धारण करनेवाला अवयवी आत्मा राग-द्वेषमय ही दिखाई देता है। अनादि संतानरूप चले आ रहे द्रव्यकर्मों का प्रवाह तथा उसमें जुड़ानरूप रागादि भावकर्म ही आत्मा है, क्योंकि आत्मा का इससे भिन्न कोई अन्य स्वरूप हमें भासित ही नहीं होता। जड़कर्म का उदय और उसके साथ रागरूप क्रिया ही जिसका अनादि-अनन्त कार्य है, वही आत्मा है; क्योंकि इनसे भिन्न कोई अन्य आत्मा हमारे ज्ञान में नहीं आता। द्रव्यकर्म के उदय व भावकर्म को एकमेक माननेवालों का ऐसा अभिप्राय है।

आत्मा त्रिकालशुद्ध चिद्रूप वस्तु है, उसे नहीं जानने के कारण स्वरूप से भ्रष्ट होकर रागादि कर्मरूप क्रिया में ही जो तीनों काल वर्त रहा है, अर्थात् जो रागादिरूप क्रिया में पहले था, अभी है व आगे रहेगा; बस, वही आत्मा है – ऐसी कुछ अज्ञानियों की मान्यता है। वे कहते हैं कि संसरण क्रियारूप से क्रीड़ा करता हुआ जो कर्म है, वही आत्मा है। कर्म के कारण जीव रखड़ता है और कर्म की क्रिया आत्मा की क्रिया है – ऐसा जो मानते हैं, उन्हें यहाँ मूढ़ व नपुंसक कहा है।

(३) अन्य कोई कहते हैं कि तीव्र-मन्द अनुभव से भेदरूप होते हुए दुरन्त (जिसका अन्त दूर है) रागरूप रस से भरे हुए अध्यवसानों की संतति (परिपाटी) ही जीव है, क्योंकि उससे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता। कितने ही अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि "राग तीव्र से मन्द व मन्द से तीव्र होता रहता है, राग का कभी अन्त नहीं आता, राग का अभाव हो – ऐसा आत्मा का स्वरूप ही नहीं है, अनादि-अनन्त राग की संतति ही आत्मा है, राग की संतति से रहित आत्मा का कोई स्वरूप नहीं है।" उन्हें यहाँ आचार्य ने मूढ़ व नपुंसक कहा है।

बहुत से ऐसा कहते हैं कि जीव का मोक्ष हो जाने के बाद भी वह पुनः संसार में जन्म धारण करता है। अरे भाई! यह बात सर्वथा असत्य है। क्या चना अग्नि में भुन जाने के बाद पुनः उग सकता है? जिसकी दृष्टि में शुभभाव का निषेध हुआ, वह पुनः कभी शुभ को नहीं करता (उसका कर्त्ता नहीं बनता), तो फिर मुक्त होने के बाद राग करे व संसार में आवे यह कैसे हो सकता है?

अज्ञानियों ने राग के रस से रहित आत्मा अनादिकाल से भूतकाल में कभी देखा नहीं है तथा भविष्य में भी अनन्तकाल तक आत्मा रागमय ही रहेगा – इसप्रकार वे राग की संतति को ही आत्मा कहते हैं।

(४) कोई कहता है कि नई व पुरानी अवस्था के भाव से प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है, क्योंकि इस शरीर से भिन्न कोई अलग आत्मा दिखाई नहीं देता। परन्तु भाई! दिखाई नहीं देता – ऐसा निर्णय किसने किया? जिसने यह निर्णय किया, वही आत्मा है। अर्थात् इसप्रकार तो आत्मा का ही अस्तित्व सिद्ध होता है।

भगवान आत्मा तो शुद्धज्ञायकस्वभावी वस्तु है। परन्तु ज्ञायक की ओर जिसका लक्ष्य नहीं है – ऐसे अज्ञानी पर्यायबुद्धि से शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं। वे कहते हैं कि शरीर की उत्पत्ति में ही जीव की

उत्पत्ति है, शरीर का जब तक सद्भाव है तब तक जीव है, शरीर का अवसान होते ही जीव का भी अवसान हो जाता है – ऐसा अज्ञानी जीवों का भ्रम है। उनका तर्क है कि अपनी इच्छानुसार शरीर में शारीरिक क्रियायें देखी जाती हैं। जैसे सोना, उठना, बैठना, चलना, फिरना, हाथ ऊपर उठाना – नीचे करना आदि सभी कार्य इच्छानुसार होते दिखाई देते हैं। अतः शरीर ही आत्मा है। इसप्रकार यह चार्वाक मत की मान्यता है।

(५) कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि समस्त लोक को पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता हुआ कर्म का फल ही जीव है, क्योंकि शुभाशुभभाव से पृथक् अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता। अज्ञानी को समस्त लोक में पुण्य-पाप का कर्तृत्व ही मात्र दिखाई देता है। शुभाशुभभावों से भिन्न भगवान आत्मा उसे दिखाई नहीं देता। परन्तु पुण्य-पाप से भिन्न आत्मा नहीं है – ऐसा निर्णय तो ज्ञान ने ही किया है न? किन्तु इस ज्ञान पर अज्ञानी की दृष्टि नहीं जाती। यहाँ पुण्य-पाप के कर्त्ता की बात कही है। शुभाशुभभाव से भिन्न कोई आत्मा अज्ञानी को दिखाई नहीं देता।

(६) इस छठवें बोल में भोक्तृत्व की बात ग्रहण की है। कहते हैं कि साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मन्दत्वरूप गुणों द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव ही जीव है, क्योंकि सुख-दुःख से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता। भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुणों का धाम है, परन्तु अज्ञानी की इस ओर दृष्टि नहीं है। यह तो साता में मन्द व असाता में तीव्र – ऐसे भेदरूप कर्म के अनुभव को ही जानता है और यही जीव है – ऐसा मानता है। साता के अनुभव में सुख (अल्प दुःख) का वेदन तथा असाता के उदय में दुःख (तीव्र दुःख) का वेदन दिखाई देता है। इसकारण जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, उसे ही जीव मान लेता है।

अज्ञानी की दृष्टि निरन्तर पर्याय पर ही रहती है। चैतन्यमूर्ति त्रिकाली शुद्धात्मा की ओर उसकी दृष्टि ही नहीं है। इसकारण साता-असाता के उदय में जो मोहजनित सुख-दुःख का वेदन है, उससे भिन्न शुद्ध आत्मजनित वेदन भी हो सकता है – इस बात का भावभासन अज्ञानी को नहीं होता। ऐसा पर्यायबुद्धि जीव अनन्तशक्तियों से मण्डित त्रिकाली शुद्ध आत्मद्रव्य की दृष्टि का अभाव होने से सुख-दुःख की कल्पनास्वरूप जो साता-असाता का वेदन होता है, उसे ही भ्रमवश आत्मा मानता है।

(७) अन्य कोई ऐसा कहते हैं कि श्रीखण्ड की भाँति उभयरूप मिले हुए आत्मा व कर्म – दोनों ही मिलकर जीव हैं, क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मों से भिन्न कोई जीव दिखाई नहीं देता। अज्ञानी कहता है कि समस्त कर्मों से रहित भी कोई आत्मा होता है – ऐसा ज्ञात नहीं होता, किन्तु भाई! निश्चय से तो वस्तु त्रिकाल कर्मरहित ही है। परन्तु वह वस्तु-स्वभाव पर दृष्टि करे तब न? यह तो पर्याय में आत्मा व कर्म – उभयरूप मिले हुए देखता है और इसकारण इसी को आत्मा मानता है। वास्तव में तो 'कर्म से भिन्न जीव नहीं है' – इसे जाननेवाला स्वयं जीव ही तो है।

एकसमय की पर्याय व्यक्त है, प्रगट है और त्रिकाली वस्तु (आत्मा) अप्रगट है। अव्यक्त वस्तु प्रगट पर्याय में नहीं आती है, इसलिए अव्यक्त - अप्रगट कहलाती है। यद्यपि वस्तु पर्याय में नहीं आती, तथापि उसका ज्ञान पर्याय में आता है। वस्तुतः ज्ञान की पर्याय में चैतन्य आत्मा ही ज्ञात हो रहा है। ज्ञान का निश्चय से स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने से ज्ञायक इसमें ज्ञात हो ही रहा है, परन्तु अज्ञानी जीव की दृष्टि ज्ञायक पर नहीं है। पर्यायबुद्धि से पुण्य-पाप करना तथा साता-असातारूप सुख-दुःख का वेदन करना ही जीव है – ऐसी अज्ञानी की मान्यता है।

जो शुद्धभाव का कर्त्ता व अतीन्द्रिय आनंद का भोक्ता है, वही जीव है, परन्तु यह बात अज्ञानी को बैठती नहीं है। इसका निर्णय करने के लिए उसके पास समय-ही कहाँ है? परन्तु भाई! आत्मा नहीं है, नहीं है – ऐसा निर्णय तू ज्ञान में करता है या पुण्य-पाप के भावों में करता है या सुख-दुःख की कल्पना में करता है? सुख-दुःख की कल्पना तो अचेतन है, तथा शुभाशुभभाव भी जड़ हैं, अचेतन हैं। ये अचेतन भाव चैतन्यस्वरूप जीव के निषेध का निर्णय कैसे कर सकते हैं? जो आप ऐसा कहोगे कि ये निर्णय चेतन करता है तो जीव इन सब कर्मों से जुदा है – यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है। परन्तु जिसकी मान्यता में पर्याय ही सर्वस्व है – ऐसे अज्ञानी जीव के समक्ष कर्म और आत्मा अलग-अलग खड़े दीखें, तब वह उन्हें अलग-अलग माने और ऐसा उसे कहीं दीखता नहीं; इसकारण वह आत्मा व कर्म दोनों मिलकर जीव हैं – ऐसा ही मानता है।

वैसे तो यह नववें ग्रैवेयक तक गया, तब शास्त्रों से धारणारूप में यह बात तो जानी थी कि शुभाशुभभाव व सुख-दुःख की कल्पना से आत्मा जुदा है। परन्तु यह बात धारणारूप से थी, वस्तुतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा सहित नहीं थी। ग्यारह अंग पढ़ा तो इसमें आत्मा और भेदज्ञान की सब बातें आई थीं, यहाँ तक कि तब यह अज्ञानी दूसरों को उपदेश भी देता

था कि आत्मा शुभाशुभभाव से भिन्न, अखण्ड, एक है; परन्तु इसे शुभाशुभ भाव से भिन्न आत्मा का अनुभव नहीं हुआ था। 'भगवान आत्मा आनंद-स्वरूप है' इस ओर इसकी दृष्टि नहीं गई थी। ऐसे आत्मा की प्रतीति नहीं हुई थी; शास्त्र के अनुसार कहता था, अनुभव के आधार पर नहीं।

यहाँ इस गाथा में तो स्थूलपने जो ऐसा मानता है कि 'कर्म से जुदा जीव दिखाई नहीं देता' उसकी बात कही है। किन्तु वास्तव में तो ग्यारह अंग के पाठी अज्ञानी की भी अंतरंग में ऐसी ही मान्यता है। शुभाशुभभाव का कर्त्तृत्व आत्मवस्तु में नहीं है, आत्मवस्तु तो ज्ञायक ही है। इसप्रकार की धारणा तो की, परन्तु पर्यायबुद्धि नहीं टूटी। कर्म व आत्मा पृथक् है, इसप्रकार नवतत्त्वों को जुदा जानता तो था, किन्तु भेद-ज्ञानपूर्वक उनसे आत्मा को जुदा अनुभव नहीं कर सकता था। यह ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्यशक्तिमय जो स्वतत्त्व है, वह पुण्य-पाप व सुख-दुःख के वेदन से भिन्न है – ऐसी धारणा (क्षयोपशमज्ञान में याद रखनेरूप जानकारी) तो थी; परन्तु भेदज्ञान प्रगट कर भिन्नता नहीं की थी, मान्यता नहीं पलटी थी, दृष्टि नहीं फिरी थी। पर व पर्याय पर जो लक्ष्य था वह वहीं अटका था। स्वद्रव्य की सन्मुखता किये बिना विमुखपने मात्र बाहर से धारणा की। परन्तु उससे क्या? आत्मा कहीं परलक्ष्य से, शास्त्रज्ञान से जाना जा सके – ऐसा पदार्थ नहीं है।

शुभभाव से रहित आत्मा चैतन्यस्वरूप है, ऐसा व्यवहार श्रद्धा में इसने माना था। व्यवहार श्रद्धा में अर्थात् अचेतन श्रद्धा में (राग में) माना था; परन्तु वस्तु जो त्रिकाल आनंद का नाथ प्रभु अकेला ज्ञायक सत्त्वपने विराजमान है, उसका अन्तर में माहात्म्य नहीं आया। यह तो पुण्य-पाप की महिमा में ही अटका रहा। इसने ऐसा तो सुना था कि 'जो आत्मा का शुद्ध वेदन करे, वही आत्मा है,' परन्तु वह पुण्य-पापसहित वेदन की धारणा थी। ज्ञायक अखण्ड चैतन्यशक्ति चिदानंदरूप ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव एकाकारस्वरूप ही वास्तव में है, पर्याय में इसका स्वीकार करके, यह चेतनतत्त्व ही मैं हूँ – ऐसा वेदन किये बिना विकल्प में ही अहंपने की धारणा की थी; परन्तु आत्मा का प्रत्यक्ष वेदन करके शुद्ध आत्मा में अहं स्थापित नहीं किया था। स्वभाव के अन्तर में जाकर 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं की थी। 'अन्तर में जाकर' का अर्थ ऐसा नहीं है कि वर्त्तमान पर्याय ध्रुव में एकमेक होकर जानती है। 'अन्तर में जाकर' अर्थात् स्वसन्मुख होकर। पर्याय जब ध्रुव के सन्मुख होती है, तब परिपूर्ण तत्त्व का प्रतिभास होता है। यही 'अन्तर में जाकर' का अर्थ है।

श्री समयसार की १४४वीं गाथा की टीका में यह बात कही है कि श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करके अत्यन्त विकल्परहित होकर तत्काल निजरस से ही प्रगट होता हुआ आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनाकुल, केवल एक सम्पूर्ण ही विश्व पर मानो तैरता हो; ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय·······अर्थात् पर्याय में अखण्ड का प्रतिभास होता है। अखण्ड वस्तु पर्याय में नहीं आती, परन्तु अखण्ड प्रतिभासमय आत्मा का ज्ञान पर्याय में आता है, पर्याय में परमात्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है – ऐसा ज्ञात हो तब पर्याय में परमात्मपना कार्यरूप में परिणमित होता है। पर्याय तो खण्ड है, अंश है। वह जब आत्मा की ओर ढलती है, तब उसमें अखण्ड प्रतिभासमय आत्मवस्तु सम्पूर्ण ज्ञात होती है, अनुभव में आती है।

वास्तव में तो द्रव्य, गुण, पर्याय में प्रमेयत्वगुण व्याप्त है, इस कारण पर्याय में (ज्ञान में) द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञात होते हैं; परन्तु अज्ञानी को त्रिकाली आत्मद्रव्य अपनी पर्याय में ही ज्ञात होता है – ऐसा लक्ष्य नहीं है, क्योंकि उसकी दृष्टि अन्तर्मुख नहीं है। अंतर्मुख ज्ञान की बात इसने (अज्ञानी ने) पर्याय में धारण तो की थी, परन्तु ज्ञान की वर्त्तमान प्रगट अवस्था को (प्रगट पर्याय को) स्वज्ञेय में नहीं ढाली थी। इसकारण धारणा में आकर के भी अज्ञानी ही रह गया। ज्ञान की प्रगट पर्याय त्रिकाली आत्मद्रव्य को तथा स्वयं को भी जानती है, परन्तु वस्तु के स्वभाव को स्पर्श नहीं करती। ज्ञान ज्ञान को जानता तो है, परन्तु 'मैं ज्ञान को जानता हूँ' – ऐसी इसको खबर नहीं। ज्ञान ज्ञान को जानता है – ऐसा निश्चित हो जावे तो ज्ञेय इसमें ज्ञात होते हैं – यह भी निश्चित हो जावे।

श्री नियमसार की ३८वीं गाथा में ऐसा आता है कि पर्याय है – यह तो व्यवहार आत्मा है। मोक्षमार्ग की पर्याय भी व्यवहार है। निश्चय आत्मा तो त्रिकाली, शुद्ध, ध्रुव····ध्रुव····ध्रुव पर्याय की सक्रियतारहित, निष्क्रिय वस्तु है। श्री समयसार की ३२०वीं गाथा की श्री जयसेनाचार्य की टीका में भी कहा है कि आत्मा निष्क्रिय है। परन्तु यह निष्क्रिय (आत्मा) सक्रिय (पर्याय) में ज्ञात होता है। सर्वज्ञ का यह ऐसा अद्भुत मार्ग है। जिसके पंथ में सर्वज्ञ नहीं है अर्थात् जो सर्वज्ञ को नहीं मानता उसके पंथ में सत्य बात होती ही नहीं है।

जो केवली के पहले दर्शनोपयोग पीछे ज्ञानोपयोग – ऐसा क्रम मानते हैं तथा केवली के क्षुधा की पीड़ा एवं उसकी निवृत्ति के लिए आहार का ग्रहण मानते हैं – उन्हें सर्वज्ञ के सच्चे स्वरूप की खबर नहीं है। पूर्ण

ज्ञान की महिमा व ज्ञान से वे परिचित नहीं हैं। आत्मा अन्दर सर्वज्ञशक्ति से परिपूर्ण भरा हुआ है। इसके सन्मुख होकर इसमें पूर्ण एकाग्र होने पर पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है। सर्वज्ञपना प्रगट होने पर अतीन्द्रिय आनंद की पूर्ण बाढ़ आती है – इसकी अज्ञानी को खबर नहीं है। केवली सर्वदर्शी व सर्वज्ञ एक ही साथ हैं, सर्वज्ञत्व व सर्वदर्शित्व में कालभेद नहीं है।

यहाँ इस गाथा में अज्ञानी कहता है कि 'कर्म व आत्मा दोनों एक हैं, क्योंकि कर्म की क्रिया के अनुभव से जुदा आत्मा हमें कहीं दिखाई नहीं देता।' परन्तु भाई! कहाँ से दीखे, जहाँ प्रभु (आत्मा) पड़ा है, वहाँ तू देखता ही नहीं है। 'कर्म व आत्मा दोनों मिलकर जीव हैं – यह तेरी मान्यता पूर्ण शुद्ध आनंदघन प्रभु आत्मा की हिंसा करनेवाली है। इस मान्यता से तू अपनी ही हिंसा करता है। जीवती जागती ज्योति (त्रिकाली जीवद्रव्य) का तू निषेध करता है, यही हिंसा है। भाई! वीतराग का, अहिंसा का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। जगत बेचारा व्रत, उपवास इत्यादि शुभभावरूप क्रियाकाण्ड में उलझ गया है, परन्तु निश्चय से शुभभाव व अशुभभाव – दोनों में चैतन्यस्वरूप की नास्ति है।

(८) इस आठवें बोल में अन्य कोई यह कहता है कि अर्थक्रिया में (प्रयोजनभूत क्रिया में) समर्थ ऐसा जो कर्म का संयोग है, वही जीव है; क्योंकि जैसे आठ लकड़ियों के संयोग से भिन्न अलग कोई पलंग दिखाई नहीं देता, इसीप्रकार कर्मों के सयोग से भिन्न अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता। यहाँ पलंग का दृष्टान्त देकर समझाया है कि खाट आठ लकड़ियों के संयोग से बनती है। चार पाये, दो पाटी एवं दो सियरा – इसप्रकार आठ लकड़ियों से मिलकर बनी खाट आठ लकड़ियों के अलावा कुछ नहीं है। इसीप्रकार अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि आठ कर्मों का संयोग ही जीव है। जबकि आत्मा संयोग से रहित असंयोगी शुद्धवस्तु है। अज्ञानी की वहाँ दृष्टि नहीं है। इसकारण उसे 'आठकर्म' मिलकर ही जीव है – ऐसा विपरीत भासित होता है।

इसप्रकार मिथ्या मान्यता के कितने ही प्रकार (भेद) यहाँ बताये हैं, इनके अतिरिक्त भी असंख्य प्रकार की मिथ्या मान्यताएँ होती हैं; परन्तु वस्तु को यथार्थ जाननेवाले गणधर आदि उन्हें सच्चा नहीं कहते।

गाथा ३९ से ४३ के भावार्थ पर प्रवचन

जीव-अजीव दोनों अनादि से एकक्षेत्रावगाह संयोगरूप मिल रहे हैं। दोनों आकाश के एक प्रदेश में रहते हैं। अनादि से ही जीव की पुद्गल

के संयोग से विकारसहित अवस्था हो रही है। परमार्थदृष्टि से देखने पर जीव तो अपने चैतन्य आदि भावों को नहीं छोड़ता और पुद्गल अपने मूर्तत्व, जड़त्व आदि को नहीं छोड़ता। आत्मा अपने ज्ञान-दर्शनस्वरूप आनंदस्वरूप, शान्तस्वरूप, स्वच्छतास्वरूप इत्यादि निजस्वभाव को कभी नहीं छोड़ता। पर्याय में अनेक प्रकार के विकारीभाव होने पर भी वस्तु में अपनी अनंतशक्ति से भरा हुआ जो एक चैतन्यस्वभाव है, वह उसे कैसे छोड़े ? जीव अपना अस्तित्व मिटाकर अजीव कैसे हो ? उसीप्रकार पुद्गल भी अपना जड़त्व छोड़कर जीवरूप कैसे हो ?

जीव-अजीव सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभाव में ही स्थित रहते हैं – ऐसी ही वस्तु के स्वरूप की मर्यादा है। परन्तु जो परमार्थ को नहीं जानते वे संयोग से हुए भावों को ही जीव कहते हैं। परमार्थ से पुद्गल से भिन्न जीव का स्वरूप सर्वज्ञ को दिखाई देता है, उसीप्रकार सर्वज्ञ की परम्परा द्वारा आगम से जाना जा सकता है। इसीकारण जिसके मत में सर्वज्ञ नहीं है – वे अपनी बुद्धि से अनेक कल्पना करके कहते हैं। वेदान्ती, मीमांसक, सांख्य, योग बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, चार्वाक आदि मतों के आशय लेकर आठ प्रकार तो प्रगट कहे तथा अन्य भी अपनी-अपनी बुद्धि से अनेक प्रकार से कथन करते हैं, उन्हें कहाँ तक कहें ? ऐसा कहनेवाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं ? यह बात अब आगे की गाथा में कहेंगे।

परम प्रतीति उपजाय गनधर की सी,
अन्तर अनादि की विभावता विदारी है।
भेदग्यान दृष्टि सौं विवेक की सकति साधि,
चेतन अचेतन की सदा निरवारी है।।
करम को नास करि अनुभौ अभ्यास धरि,
हिए मैं हरखि निज उद्धता संभारी है।
अंतराय नास भयौ सुद्ध परकास थयौ,
ग्यान कौ विलास ताकौ वंदना हमारी है।।

– समयसार नाटक, अजीवद्वार, छंद २

कुत :–

एदे सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ।।४४।।

एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः ।
केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यंते ।।४४।।

यतः एतेऽध्यवसानादयः समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिरर्हद्भिः पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ताः संतश्चैतन्यशून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहंते ततो न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिनः परमार्थवादिनः । एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागमः । इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्तिः । न खलु नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्व-

---

ऐसा कहनेवाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं सो कहते हैं :–

पुद्गलदरव परिणाम से, उपजे हुए सब भाव ये ।
सब केवली जिन भाषिया, किस रीत जीव कहो उन्हें ।।४४।।

गाथार्थ :– [**एते**] यह पूर्वकथित अध्यवसान आदि [**सर्वे भावाः**] भाव हैं, वे सभी [**पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः**] पुद्गलद्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुए हैं; इसप्रकार [**केवलिजिनैः**] केवली सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव ने [**भणिताः**] कहा है । [**ते**] उन्हें [**जीवः इति**] जीव – ऐसा [**कथं उच्यंते**] कैसे कहा जा सकता है ?

टीका :– यह समस्त अध्यवसानादि भाव, विश्व के (समस्त पदार्थों के) साक्षात् देखनेवाले भगवान (वीतराग सर्वज्ञ) अरहंतदेवों के द्वारा, पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहे गये हैं; इसलिये वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने के लिये समर्थ नहीं हैं कि जो जीवद्रव्य चैतन्यभाव से शून्य ऐसे पुद्गलद्रव्य से अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है; इसलिये जो इन अध्यवसानादिक को जीव कहते हैं – वे वास्तव में परमार्थवादी नहीं हैं, क्योंकि आगम, युक्ति और स्वानुभव से उनका पक्ष बाधित है । उसमें 'वे जीव नहीं हैं' – यह सर्वज्ञ का वचन है, वह तो आगम है और यह (निम्नोक्त) स्वानुभवगर्भित युक्ति है :– स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष के द्वारा मलिन

रस्येव श्यामिकाया अतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणलक्षणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरन्तरागरसनिर्भराध्यवसानसंतानो जीवस्ततोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु नवपुराणावस्थादिभेदेन प्रवर्तमानं नोकर्म जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाको जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभवो जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य

अध्यवसान हैं वे जीव नहीं हैं, क्योंकि कालिमा से भिन्न सुवर्णकी भाँति; अध्यवसान से भिन्न अन्य चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे चैतन्यभाव को प्रत्यक्ष भिन्न अनुभव करते हैं ।।१।। अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है — ऐसी एक संसरणरूप क्रिया के रूप में क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।।२।। तीव्र-मंद अनुभव से भेदरूप होनेपर, दुरंत रागरस से भरे हुये अध्यवसानों की संतति भी जीव नहीं है, क्योंकि उस संतति से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।।३।। नई पुरानी अवस्थादिक के भेद से प्रवर्तमान नोकर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि शरीर से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।।४।। समस्त जगत को पुण्यपापरूप से व्याप्त करता कर्मविपाक भी जीव नहीं है, क्योंकि शुभाशुभभाव से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।।५।। साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्रमंदतारूप गुणों के द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव भी जीव नहीं है, क्योंकि सुख-दु:ख से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।।६।। श्रीखण्ड की भाँति उभयात्मकरूप से मिले हुए आत्मा और कर्म

विवेचकः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयं जीवः कात्स्न्र्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोगो जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाशायिनः पुरुषस्येवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकः स्वयमुपलभ्यमानत्वादिति ।

दोनों मिलकर भी जीव नहीं है, क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मों से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।।७।। अर्थक्रिया में समर्थ कर्म का संयोग भी जीव नहीं है, क्योंकि आठ लकड़ियों के संयोग से (– पलंग से) भिन्न पलंग पर सोनेवाले पुरुष की भाँति, कर्मसंयोग से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।।८।। (इसीप्रकार अन्य किसी दूसरे प्रकार से कहा जाये तो वहाँ भी यही युक्ति जानना ।)

भावार्थ :– चैतन्यस्वभावरूप जीव, सर्व परभावों से भिन्न, भेदज्ञानियों के अनुभवगोचर है; इसलिये अज्ञानी जैसा मानते हैं, वैसा नहीं है।

गाथा ४४ की उत्थानिका, गाथा व उसकी टीका पर प्रवचन

पिछली गाथाओं में अनेक प्रकार की मिथ्या मान्यताएँ बताईं । अब यहाँ गाथा ४४ में उनका निराकरण करते हैं ।

इन अध्यवसानादि भावों का अस्तित्व है। अशुद्धता है ही नहीं – ऐसा कोई कहे तो उसका यह कहना भी ठीक नहीं है । यदि अशुद्धता हो ही नहीं तो फिर दु:ख से छूटने का उपदेश ही क्यों हो ? दु:ख न हो तो दु:ख से छूटने की बात ही नहीं रहती । दु:ख से मुक्त होने का जो जिनोपदेश है, उसका अर्थ ही यह है कि एक (शुद्ध) आत्मा के सिवाय संसारी जीवों को पर्याय में दु:ख भी है । कोई ऐसा कहे कि आत्मा में गुण नहीं हैं तो भी ठीक नहीं है । हाँ प्रकृति में जो रजोगुण तमोगुण इत्यादि हैं, वे आत्मा में नहीं हैं, यह बात तो ठीक है, किन्तु वस्तु के गुण तो वस्तु में हैं ही ।

प्रश्न :– श्री प्रवचनसार में अलिंगग्रहण के १८वें बोल में आता है कि 'आत्मा गुणविशेष से आलिंगित नहीं होता' – ऐसा शुद्धद्रव्य है ?

उत्तर :– भाई ! वहाँ बात दूसरी है । वहाँ ऐसा कहा है कि जो सामान्यवस्तु ध्रुव····ध्रुव····ध्रुव अखण्ड एकाकार है, वह गुणविशेषरूप से हुई नहीं है । ध्रुव सामान्य चिद्रूपवस्तु में गुण हैं तो अवश्य, परन्तु गुण व

गुणी का भेद नहीं है। गुण-गुणी का भेद लक्ष्य में लेने पर विकल्प – राग उठता है। इसकारण ध्रुवसामान्य गुणविशेषों का आलिंगन न करता हुआ शुद्धद्रव्य है। भाई! सूक्ष्म बात है। सम्यग्दर्शन का विषय अभेद एकाकार है, गुण-गुणी का भेद सम्यक्त्व का विषय नहीं है। सम्यग्दर्शन पूर्णसत्, अभेद, एकरूप, सामान्य, चैतन्यस्वरूप आत्मवस्तु के लक्ष्य से होता है। वस्तु त्रिकाल अभेद है। यद्यपि भेद की दृष्टि से देखने पर उसमें भेद भी हैं, तथापि वह कभी भी भेदरूप नहीं हुई है। वस्तु का सहजस्वरूप ही ऐसा है।

अरिहंत सर्वज्ञ परमात्मा के अनुसार ये सभी अध्यवसानादि भाव पुद्गलद्रव्यमय हैं। देखो! श्री अरिहन्तदेव विश्व के समस्त पदार्थों को साक्षात् जानते-देखते हैं। उनके केवलज्ञान व केवलदर्शन में स्व-परप्रकाशकपने की पूर्ण सामर्थ्य प्रगट हुई है, इससे वे विश्व को जानते-देखते हैं।

वास्तव में तो आत्मज्ञता ही सर्वज्ञता है। केवलज्ञान-पर्याय का स्वभाव ही ऐसा है कि वह स्व व पर को सम्पूर्णतया प्रकाशित करती है। लोकालोक है – इसकारण केवलज्ञानपर्याय में उसका ज्ञान होता है, ऐसी पराधीनता ज्ञान में नहीं है। स्व-परप्रकाशकपने की सामर्थ्य स्वयं से ही प्रगट हुई है। अरिहन्तदेव विश्व को साक्षात् देखते हैं अर्थात् अपनी पर्याय में ही पूर्णता को देखते हैं। जैसे रात्रि में सरोवर के पानी में तारे, चन्द्र वगैरह दिखाई देते हैं, वह वास्तव में तो पानी की अवस्था ही दिखाई देती है; उसीप्रकार ज्ञान वास्तव में तो ज्ञान को ही सम्पूर्णरूप से जान रहा है। श्री अरिहंतदेव के केवलज्ञान की दशा ऐसी स्वच्छ व निर्मल प्रगट हुई है कि इसे देखते ही सम्पूर्ण लोकालोक ज्ञान में आ जाता है। यहाँ सिद्ध भगवन्तों की बात नहीं की है, क्योंकि सिद्धों में अरिहंत की तरह वाणी (दिव्यध्वनि) नहीं होती। उन वीतराग सर्वज्ञ अरिहन्तदेव ने दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा, शील, संयम आदि शुभभावों को पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहा है।

प्रश्न :– शुभभावों को पुद्गलद्रव्य के परिणाममय क्यों कहा ?

उत्तर :– आत्मवस्तु तो चैतन्यघनस्वरूप है और ये शुभभाव चैतन्य के स्वभावमय नहीं हैं। श्री समयसार गाथा ६८ की टीका में कहा है कि 'कारण के अनुसार ही कार्य होता है' जैसे – जौ में से जौ ही होते हैं, उसीप्रकार चैतन्य में से चैतन्य परिणाम ही होते हैं। आत्मा ज्ञानानंदस्वभावी है; अतः उसमें से ज्ञान व आनंद की दशा ही उत्पन्न होती है। उसमें से जड़-अचेतन शुभाशुभभाव कैसे होंगे ? इसकारण पाँच महाव्रत, बारह व्रत,

आदि के जो शुभविकल्प हैं; वे पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय हैं, चैतन्य के परिणाममय नहीं हैं।

अशुद्धनिश्चयनय से उन्हें जीव के कहते हैं। अशुद्धनिश्चनय अर्थात् व्यवहारनय। वास्तव में तो वे पर के आश्रय (कर्मोदय के निमित्त) से होने से पर के ही हैं। यहाँ उनको पुद्‌गलद्रव्य के परिणाम भी न कहकर अभेदपने पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय अर्थात् पुद्‌गलद्रव्य के परिणामों से एकमेक कहा है। भाई! भगवान जिनेश्वर का मार्ग अद्‌भुत व अलौकिक है। भले ही मंदकषाय का भाव हो, भगवान केवली ने इसे पुद्‌गलद्रव्य का परिणाम कहा है; क्योंकि उसमें चैतन्य के नूर का अंश नहीं है। कोई इन्हें मोक्ष का मार्ग कहे तो यह महान विपरीतता है। भले ही इस राग के परिणाम में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं हैं; परन्तु इस परिणाम में चैतन्यपने का अभाव है, इसकारण पुद्‌गल के परिणाममय है। आगे गाथा ६८ की टीका में अतिस्पष्टरूप से कहा है कि ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्‌गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होने से सदा ही अचेतन हैं, अत: पुद्‌गल हैं, जीव नहीं हैं; क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है।

अब कहते हैं कि वे अध्यवसान आदि भाव चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने में समर्थ नहीं हैं। इसीकारण जीवद्रव्य को चैतन्यभाव से शून्य – ऐसे पुद्‌गलद्रव्य से अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है। भगवान आत्मा चैतन्यस्वभावमय एक ज्ञायकमात्र है। तथा जो ये रागादि परिणाम दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभभावरूप परिणाम हैं, उनको अरिहन्तदेव ने पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय कहा है; इसकारण वे चैतन्यभावमय जीवद्रव्य होने में समर्थ नहीं हैं। अहाहा! गजब की बात है। चाहे भगवान की स्तुति हो, वंदना हो, भक्ति हो या व्रत-तप के विकल्प हों अथवा छहकाय के जीवों की रक्षा के परिणाम हों – ये सभी पुण्यभाव जीवद्रव्य होने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि पुद्‌गलपरिणाममय हैं; अत: अधर्म के परिणाम हैं।

श्री समयसार कलश के १०८ वें कलश में **प्रश्न** उठाकर कहा है कि "यहाँ कोई जानेगा कि शुभाशुभक्रिया के आचाररूप जो चारित्र है, वह करने योग्य नहीं है, तो निषेध करने योग्य भी तो नहीं है? **उत्तर** इसप्रकार है कि – वर्जन करने योग्य है – कारण कि व्यवहारचारित्र होता हुआ दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है; इसलिए विषय-कषाय के समान क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है" – ऐसा कहा है। अत: शुभभावों की प्रतिज्ञा लेकर कोई ऐसा माने कि धर्म हो गया तो वह अज्ञान का पोषण करता है। शुभभाव भी विषय-कषाय की तरह ही अनिष्ट व आत्मघातक है। इसकारण

जिसप्रकार विषय-कषाय का निषेध है, उसीप्रकार पुण्य-परिणामरूप बाह्य चारित्र का भी निषेध है। यह बात लोगों को कठिन लगती है; परन्तु क्या करें ? व्यवहारचारित्र का परिणाम चैतन्यभाव से शून्य है, इसकारण वह जीवद्रव्य होने में समर्थ नहीं है तथा जो जीव होने में समर्थ नहीं है, वह मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है ?

इस पंचमकाल के साधु परमेष्ठी भगवान कुन्दकुन्दाचार्य व अमृतचन्द्राचार्य ने सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि का संदेश हम तक पहुँचाया है कि – ज्ञायकस्वभावमय, चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य चैतन्यस्वभाव से शून्य पुद्गलद्रव्य से भिन्न है; इसलिए जो अध्यवसानादि को जीव कहते हैं, वे वास्तव में परमार्थवादी नहीं हैं। व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसा कहने व माननेवाले परमार्थवादी नहीं हैं। शुभभावरूप जो व्यवहार है, वह तो अजीव है। यह अजीव मोक्षमार्ग का साधन कैसे हो ? जो बंध-स्वरूप है, वह मोक्ष का साधन कैसे हो ?

श्री प्रवचनसार में आता है कि 'मोक्षमार्ग का भाव' यह जीव का व्यवहार है, आत्म व्यवहार है। निश्चयसमकित, निश्चयज्ञान व निश्चय-चारित्र – ऐसी निश्चयरत्नत्रयरूप निर्विकल्प वीतराग परिणति आत्मा का सद्भूतव्यवहार है; रागादि विकल्प तो असद्भूतव्यवहार है, चारगतियों में रखड़ने का व्यवहार है। आत्मा परिपूर्ण आनंदस्वरूप चैतन्यघनस्वभावी भगवान है, उसके आश्रय से जो निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागी पर्याय प्रगट होती है, वह आत्मा का व्यवहार है। ऐसा मार्ग जिसके अन्तर में बैठे, उसकी दशा अलौकिक होती है।

यहाँ कहते हैं कि शुभभाव से आत्मा को लाभ होता है – इसप्रकार शुभभाव को जीव कहनेवाले व्यक्ति परमार्थवादी नहीं हैं, क्योंकि आगम, युक्ति व स्वानुभव से उनका पक्ष बाधित है।

शुभाशुभभाव में जीव नहीं है, ऐसा यह सर्वज्ञ का वचन आगम है। जिस आगम में पर की दया से धर्म माना हो, पर की दया को सिद्धांत का सार कहा हो, वह जैनागम नहीं है। जैनागम में तो पूजा, भक्ति, व्रत, तप, दया, दान आदि के विकल्पों में जीवपने का स्पष्ट निषेध किया है। आगमस्वरूप अर्हंत्-प्रवचन में शुभभावों को अजीव कहा है। 'पर की दया मैं पाल सकता हूँ' – ऐसी मान्यता जैनागम में मिथ्यात्व कही गई है। 'पर की मैं रक्षा करूँ', ऐसा जो विकल्प है – वह शुभभाव है, राग है। ये मिथ्या मान्यताएँ व राग जीव नहीं हैं – ऐसा जो सर्वज्ञ का वचन है, वह आगम है।

कोई ऐसा माने कि 'जीव की रक्षा करने के लिए या दूसरे जीव की हिंसा न करने के लिए भगवान की दिव्यध्वनि हुई है,' सो उसका यह मानना ठीक नहीं है; क्योंकि भगवान की वाणी में तो आत्मा के पूर्ण आनंद की व वीतरागी शान्ति की दशा प्रगट करने की बात कही है। भगवान की दिव्यध्वनि में तो ऐसा आया है कि पर जीव को तू मार या बचा नहीं सकता। तथा पर जीव की रक्षा करने का जो भाव होता है, वह राग वास्तव में तो अपने आत्मा की हिंसा करनेवाला परिणाम है। पर जीव की दया पालनेवाला भाव राग है, इसकारण वह स्वरूप की हिंसा करने वाला भाव है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में अमृतचन्द्राचार्य ने रागादि के प्रादुर्भाव को हिंसा तथा रागादि के अप्रादुर्भाव को अहिंसा कहा है। ऐसा मोक्षमार्ग है और ऐसे मोक्षमार्ग का कहनेवाला वीतराग सर्वज्ञदेव का वचन आगम है। उस आगम में राग को जड़स्वभाव अजीव कहा है, वह अजीवमय राग जीव को लाभकारी कैसे हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता।

(१) अब स्वानुभवगर्भित युक्ति से यही कहते हैं। स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष से मलिन अध्यवसानादिभाव जीव नहीं हैं, क्योंकि कालिमा से जुदे स्वर्ण की भांति अध्यवसानादि भावों से भिन्न चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे प्रत्यक्ष चैतन्यभाव का भिन्न अनुभव करते हैं।

अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि जैसे कालिमा से भिन्न कोई कोयला नहीं है; उसीप्रकार अध्यवसानादि भावों से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। उनको युक्ति से उत्तर देते हैं कि कालिमा से भिन्न जैसे स्वर्ण है; उसीप्रकार अध्यवसान से भिन्न अन्य चित्स्वभावमय आत्मा है। स्वर्ण में जो कालिमा (मैल) दिखाई देती है, उससे स्वर्ण भिन्न है। जो कालिमा है, वह स्वर्ण नहीं है, किन्तु मैल है; उसीप्रकार पर्याय में जो पुण्य-पापरूपभाव हैं, वे आत्मा नहीं हैं, वे तो मैल हैं। इसप्रकार कालिमा से भिन्न स्वर्ण की भाँति अध्यवसान से भिन्न चित्स्वभावमय जीव है – यह युक्ति कही है।

अब इसी बात को अनुभव से सिद्ध करते हैं। भेदज्ञान करनेवाले जीवों को राग से भिन्न – अध्यवसानादिभावों से भिन्न भगवान आत्मा स्वयं उपलभ्यमान है। अहाहा! अखण्ड एक ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा को भेदज्ञानी अध्यवसानादिभावों से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अध्यवसान से जुदा अर्थात् इसके आश्रय व अवलंबन के बिना आत्मा स्वयं को स्वयं से प्राप्त होता है, अनुभव में आता है। अहो! कैसी अद्भुत टीका है! इसे

सिद्धान्त व आगम कहते हैं। इसमें कहते हैं कि राग का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव की दृष्टि करने पर भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टियों को राग से भिन्न चित्स्वभावमय जीव अनुभव में आता है।

देखो ! यहाँ आगम, युक्ति व अनुभव से यह सिद्ध किया है कि ये अध्यवसानादिभाव जीव नहीं हैं, परन्तु इनसे भिन्न शुद्ध चैतन्यमय वस्तु जीव है। ऐसी बात दूसरी जगह कहीं नहीं है। वस्तु को सिद्ध करने के लिए कैसे-कैसे न्याय, तर्क एवं युक्तियाँ दी हैं। इन्द्रियाँ तथा राग के आश्रय के बिना भेदज्ञानियों को स्वयं शुद्ध जीववस्तु अनुभव में आती है। स्वयं को स्वयं से ही अनुभव में आती है। व्यवहार साधन व निश्चय साध्य – ऐसा जहाँ कहा है, वहाँ निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार-नय से कथन किया है। भाई ! वस्तु तो रागादि से भिन्न त्रिकालशुद्ध चैतन्यस्वभावमय है, और उसके सन्मुख होने पर वह अनुभव में आती है।

स्वसन्मुखता का अभ्यास न होने से यह बात कठिन लगती है। अनादि से पर की ओर झुकाव है, उसे अन्तर्मुख करना ही पुरुषार्थ है। जो ज्ञान की पर्याय रागादि की ओर ढल रही है, वह तो किसी तरह भी अन्दर नहीं जा सकेगी; परन्तु ज्यों ही दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर जावे तो उसी क्षण पर्याय स्वयं अन्दर में ढल जाती है। तब उसको अन्दर में ढाल लिया – ऐसा कहा जाता है। यहाँ 'स्वयमेव उत्पन्न हुए ऐसे राग-द्वेष' – कहा है। इसका यह अभिप्राय है कि वे (राग-द्वेष) आत्मा से उत्पन्न नहीं हुए हैं। तथा 'भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है' – ऐसा कहकर यह बताना है कि आत्मा का अनुभव करने में अन्य (राग, इन्द्रियाँ आदि) किसी की भी अपेक्षा नहीं है। आत्मा स्वयमेव स्वयं से ही अनुभव में आता है।

भाई ! ऐसे यथार्थस्वरूप का पहले निर्णय तो कर। अहाहा ! वस्तु ऐसी सहज चित्स्वभावमय है – ज्ञान में ऐसा विकल्पात्मक निर्णय तो कर। श्री समयसार गाथा १४४ में कहा है कि हे भाई ! तू सर्वप्रथम भगवान द्वारा कहे गये आगम से यह निर्णय कर कि आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। तत्पश्चात् मतिज्ञान व श्रुतज्ञान को मर्यादा में लाकर राग से भिन्न आत्मा का अनुभव न करे और राग से लाभ माने तो बाहर से भले ही कंचन-कामिनी का त्यागी हो, निर्वस्त्र दिगम्बर अवस्थाधारी हो; तथापि उसे साधु कैसे कहा जा सकता है ? राग से लाभ (धर्म) मानना तो मिथ्या-दर्शन है। यह कोई व्यक्ति विशेष के अनादर की बात नहीं है, परन्तु वस्तुस्थिति की बात है। अमुक को बहुत से शास्त्रों का अभ्यास है;

इसकारण वह आत्मज्ञानी है – ऐसा नहीं है; ये तो सब राग की – विकल्प की बातें हैं। वस्तु आत्मा तो शास्त्रज्ञान के विकल्प से पार निर्विकल्प है। ऐसे निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यमय आत्मा की दृष्टि करके उसका अनुभव करना आत्मदर्शन व आत्मज्ञान है।

इसप्रकार अध्यवसान को अर्थात् रागादि विभाव को जीव मानने वालों को आगम, युक्ति व अनुभव से असत्य ठहराया है।

यह एक बोल हुआ। अब दूसरा बोल कहते हैं।

(२) अनादि जिसका पूर्व अवयव है, अनन्त जिसका भविष्य अवयव है – ऐसी एक संसरण क्रियारूप से क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है; क्योंकि कर्म से जुदा अन्य चैतन्य स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

केवली भगवान ने कर्म को जीव नहीं कहा – यह आगम हुआ। तथा जिसप्रकार कालिमा से सोना भिन्न है, उसीप्रकार कर्म से भिन्न आत्मा है – यह युक्ति हुई। तथा भेदज्ञानी कर्म से जुदे चैतन्यस्वभावी जीव को प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं – यह अनुभव हुआ। टीका में ऐसा कहा है कि संसरणरूप क्रिया अर्थात् राग की क्रिया में कर्म क्रीड़ा करता है, राग में आत्मा क्रीड़ा नहीं करता।

पर व पर्याय से भिन्न चैतन्यस्वभाव का प्रत्यक्ष अनुभव करने को सम्यग्दर्शनादि धर्म कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन के बिना बाहर से व्रतादि धारण करके ऐसा मानने लगे कि – 'मैं संयमी हूँ' तो उसको संयम सम्बन्धी खोटी मान्यता से भारी नुकसान होता है, इस नुकसान की उसे खबर नहीं पड़ती – यह उसका अज्ञान है। किसी को इस बात की खबर न हो कि विष के सेवन से मृत्यु हो जायगी और सेवन कर ले तो उसके अज्ञान के कारण विष उसे माफ नहीं करेगा, जहर का परिणाम तो उसे मौत के रूप में भुगतना ही पड़ेगा। इसीप्रकार शुभभाव में धर्म मानने से जो आत्मघात-रूप हानि होती है, उसका परिणाम भी अज्ञानी को भुगतना ही पड़ता है।

देखो! जिनवाणी में सब जगह ऐसा लिखा है कि जीव तो चैतन्य स्वभावी ही है। चैतन्य स्वभावी अखण्ड, एकरूप त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव रूप जीव राग से व कर्म से भिन्न है। सम्यग्दृष्टि उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। यह अनुभव ज्ञान व आनन्द के वेदनसहित होता है। प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं – ऐसा कहा है। राग व मन के सम्बन्ध से जानते और अनुभव करते हैं – ऐसा नहीं कहा। प्रत्यक्ष अनभव में पर का आश्रय

बिल्कुल नहीं है। आत्मा पर के आश्रयरहित मतिश्रुतज्ञान से प्रत्यक्ष अनुभव में – वेदन में आता है। यह दूसरा बोल हुआ।

(३) तीव्र-मन्द अनुभव से भेदरूप होने पर, दुरन्त राग रस से भरे हुए अध्यवसानादि भावों की संतति भी जीव नहीं है, क्योंकि वह संतति से अन्य जुदा चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। देखो ! भगवान ने ऐसा कहा है, युक्ति से भी सिद्ध है तथा तीव्र-मन्द राग की परम्परा – संतति से अन्य चैतन्यस्वभावमय जीव भेदज्ञानी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

अज्ञानी को अनादि से तीव्र-मन्द राग की संतति का ही अनुभव है। उसमें जो मन्दराग है, उससे स्वयं का कुछ तो लाभ है – ऐसा वह मानता है; परन्तु भाई ! इससे कुछ भी लाभ नहीं है। मन्दराग तो अभव्यों के भी होता है। मिथ्यात्व की मन्दता व अनन्तानुबंधी कषाय की मन्दता तो अभव्य जीव को भी हो जाती है, किन्तु मन्दराग कोई वस्तु (आत्मा) नहीं है। राग मन्द हो या तीव्र, जाति तो कषाय की ही है। ये जीव नहीं हैं। जीव तो तीव्र-मंदराग की संतति से भिन्न, नित्य एकरूप चैतन्यस्वभावमय है। भेदज्ञानी अर्थात् राग व आत्मा की भिन्नता को यथार्थरूप से जाननेवाले धर्मात्मा जीव आत्मा का ऐसा ही अनुभव करते हैं।

(४) अब चौथा बोल कहते हैं – नयी-पुरानी अवस्था के भेद से प्रवर्तता हुआ नोकर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि शरीर से जुदा चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

नयी-पुरानी अवस्था, रोग-निरोग अवस्था, बाल-युवा-वृद्ध अवस्था, पुष्ट-जीर्णरूप अवस्था इत्यादि अवस्थाओं के भेद से नोकर्म अर्थात् शरीर प्रवर्तन करता है। अहा ! भाषा का मर्म व भाव तो देखो। बाल-युवा-वृद्धपने या पुष्ट-जीर्णपने या रोग-निरोगपने – पुद्गल के स्कन्धरूप शरीर ही परिणमता है, जीव नहीं परिणमता। शरीर की अवस्था का स्वतंत्र 'जन्मक्षण' है, जिससे शरीर की अवस्था स्वकाल में शरीररूप स्वयं परिणमन करती है। इन अनेक अवस्थाओं में परिणमन करनेवाला शरीर जीव नहीं है; क्योंकि शरीर से जुदा अन्य चिदानन्दस्वभावी जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। शरीर का प्रवर्तन कराना, जीव का स्वभाव नहीं है।

प्रश्न :– ईर्यासमिति में देखकर चलना – ऐसा तो कहा है न ?

उत्तर :– ईर्यासमिति में जीव शरीर को चलनेरूप प्रवर्तन कराता है – ऐसा नहीं है; किन्तु यह तो मुनि की भूमिका में शरीर कैसे चलता है, इसका कथन किया है – ज्ञान कराया है। अहो ! शरीर से जिसको भेद-दृष्टि हुई है – ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव शरीर से भिन्न चैतन्यस्वभावमय शुद्ध आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

भाई ! निवृत्ति लेकर इसका अभ्यास करना चाहिए। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि "देह की चिन्ता से अनन्तगुणी चिन्ता आत्मा की रखना; क्योंकि इस एक भव में ही अनन्त भव टालना है। यह भव अनन्त भव टालने के लिए है। अनन्त भव के जन्म-मरण को एक भव में टालना – यह कोई अलौकिक, असाधारण, अद्भुत काम है। प्रभु ! जो यह काम इस भव में नहीं किया तो अनन्त भव में अनन्त जन्म-मरण के दुःख भोगने पड़ेंगे। यहाँ से मरकर कहाँ जा पड़ेगा, क्या इसकी खबर है ? अरे ! कहीं नरक, निगोद, तिर्यञ्च में चला जायगा। तथा जिसकी इसी भव में त्रसपर्याय में रहने की स्थिति पूरी हो रही है और यदि वह आत्मानुभूति, भेदविज्ञान (सम्यग्दर्शन) आदि का कार्य नहीं कर पाया तो निगोद में चला जायगा। त्रस अवस्था में रहने की उत्कृष्ट स्थिति दो हजार सागर से कुछ अधिक है। इस दो हजार सागर की स्थिति पूरी होने पर मिथ्यादृष्टि नियम से निगोद में – एकेन्द्रिय में चला जाता है। कदाचित् इस बीच पंचेन्द्रिय में रहे तो एक हजार सागर रहता है तथा समग्रपने त्रस में रहने का अधिक से अधिक समय दो हजार सागर है। इस काल में जो सम्यग्दर्शनादि प्रगट करे तो अनंत सुखमय सिद्धपद प्राप्त करता है और जो सम्यग्दर्शनादि न करे तो महादुखमय निगोद अवस्था को प्राप्त होता है। वहाँ अनन्तकाल तक दुःख भोगता है।

सम्यग्दृष्टि जीव को अपनी ज्ञान की मति-श्रुतरूप दशा से आत्मा प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। देह आत्मा नहीं है, देह से भिन्न आत्मा चैतन्य-स्वभावमय जुदी वस्तु है, श्री समयसार गाथा ९५ की टीका में आता है कि यह शरीर मृतक-कलेवर है, मुर्दा है। इसमें अमृत का सागर भगवान मूर्छित हो गया है। 'मैं चैतन्यस्वभावमय अमृत का सागर हूँ' – इसप्रकार अनुभव करने के बदले 'यह मृतक शरीर मैं हूँ, यह शरीर मेरा है' – इसप्रकार मूर्छित हो गया है। प्रभु ! तू अमृत का सागर मृतक शरीर में उत्पन्न हुआ है – यह महान् कलंक की बात है, तुझे शोभा नहीं देती।

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं अन्य जीव ये छह द्रव्य हैं, ये सब मन के विषय हैं। तीनलोक का नाथ सर्वज्ञ परमात्मा भी अन्य जीव होने से मन का विषय है। इसीकारण सर्वज्ञ परमात्मा को इन्द्रिय भी कहा है। अन्दर जो खण्ड-खण्ड ज्ञान हो रहा है, वह भी भावेन्द्रिय है। भावेन्द्रियाँ ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप जनाती हैं, जबकि आत्मा चैतन्यस्वरूप अखण्ड है। इसकारण खण्ड-खण्ड का ज्ञान करानेवाली भावेन्द्रियाँ अखण्ड आत्मा से भिन्न परवस्तु हैं, ज्ञेय हैं। एकप्रकार से उन भावेन्द्रियों को पुद्गल का परिणाम भी कहा है; क्योंकि क्षयोपशमभाव आत्मा का स्वभाव नही है। श्री समयसार गाथा ४९ की टीका में कहा है कि क्षयोपशमभाव जीव का स्वभाव नहीं है। स्वभावदृष्टि से देखने पर क्षयोपशमभाव का आत्मा में अभाव है। अहो! वस्तु का स्वरूप अतिसूक्ष्म एवं गम्भीर है।

श्री समयसार गाथा ५० से ५५ में आता है कि शब्द, वाणी, शरीर, इन्द्रियाँ, मन – इन सब नोकर्मों से अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा भिन्न है। 'मैं शरीर से जुदा हूँ' – भले ही ऐसा विकल्प ज्ञान में, धारण में लिया हो; किन्तु ऐसे भिन्न चैतन्यस्वभावमय आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए। भेदज्ञानी देह से भिन्न आत्मा को प्रत्यक्ष शुद्ध चिदानंदमय अनुभव करते हैं।

(५) समस्त जगत के जीवों को पुण्य-पापरूप से व्यापता हुआ कर्म का फल भी जीव नहीं है; क्योंकि शुभाशुभभाव से अन्य भिन्न चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा सदा ही उपलभ्यमान है, अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

जगत के सभी संसारी जीवों को पुण्य-पापरूप कर्म का फल अनुभव में आता है। अतः वे पुण्य-पाप को ही जीव कहते हैं। यहाँ आचार्य कहते हैं कि जो पुण्य-पाप कर्म का विपाक है, वह आत्मा नहीं है। श्री कलश टीका के कलश १८९ में कहा है कि पठन-पाठन, श्रवण, चिन्तवन, स्तुति, वन्दना – ये सब क्रिया-कलाप विकल्प हैं, राग हैं। विकल्प व राग आत्मा नहीं हैं। पर जिन्हें पठन-पाठन की भी फुरसत नहीं है, उनकी यहाँ बात ही क्या करना? उन्हें तो शुभाशुभभाव से रहित शुद्ध चैतन्यधातुस्वरूप आत्मा की बात बैठ ही नहीं सकती। भाई! हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पाप के भाव तो जहर हैं ही; परन्तु ये पठन-पाठन, श्रवण, चिन्तन, स्तुति, वंदना, पूजन आदि के शुभभाव भी कोई अमृतस्वरूप आत्मा नहीं हैं। जिसको आत्मा के आनंद का अनुभव होता है, उसके शुभभाव को आरोप से अमृत कहा जाता है। त्रिकाल, ध्रुव, अखण्ड, एक चैतन्यस्वरूप के

अवलम्बन से जो निश्चयधर्म हुआ है, वही वास्तव में अमृत है; परन्तु उस धर्म का शुभभाव पर आरोप करके शुभभाव को भी अमृत कहा है, वास्तव में नहीं। अरे! जगत् को सत्य सुनने को मिलता नहीं है, ये विचारे कहाँ जायेंगे। ये लाखों रुपयों का दान देते हैं, दान देने का भाव पुण्यभाव है, इससे कहीं जन्म-मरण नहीं मिटता और इसे धर्म माने तो मिथ्यादर्शन है। पैसा तो अजीव है; जीव अजीव का स्वामी नहीं है। पैसा मेरा है – ऐसा माननेवालों ने स्वयं को अजीव माना है। भाई! पैसा पैदा करना, इसका संचय करना, उपयोग में लेना – ये कोई आत्मा की क्रिया नहीं हैं और दान देने का जो शुभभाव है; वह राग है, संसार है। शुभभाव जो कि संसार में प्रवेश करता है, उसे भला कैसे कहा जा सकता है?

पुण्य-पाप का भाव तो कर्म का विपाक है, यह कहीं भगवान आत्मा नहीं है। जो पुण्य-पाप का कर्त्ता बनता है, वह जीव नहीं; जीव तो निर्मल ज्ञानानंदस्वरूप है। वह तो ज्ञान का कर्त्ता है। जीव को विकार का कर्त्ता माननेवाले अपने स्वरूप को ही विकारी माननेवाले हैं। परन्तु भाई! आत्मावस्तु तो विकार से रहित चिन्मात्र है, वस्तु-तत्त्व बहुत सूक्ष्म है। बापू! जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त होने का उपाय अतिसूक्ष्म है।

लहसन व जमीकंद में जो निगोदिया जीव हैं, शुभाशुभभाव तो उनको भी होते हैं। क्षण में शुभ व क्षण में अशुभभाव तो उनको भी आते हैं। उनके भी शुभाशुभ कर्मधारा निरंतर चलती रहती है। भाई! यह सब तो कर्म का विपाक है। यह तो जड़ का फल है, यह कहीं चैतन्य का फल नहीं है। चैतन्यस्वरूप आत्मा तो पुण्य-पापरूप कर्म के फल से भिन्न है – ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। युक्ति से भी यही सिद्ध होता है और भेदज्ञानियों द्वारा शुभाशुभभावों से भिन्न चैतन्यस्वभावमय आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव भी किया गया है।

(६) साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मंदतारूप गुणों से भेदरूप होता हुआ जो कर्म का अनुभव है, वह भी जीव नहीं है। साता का वेदन अर्थात् कल्पना में अनुकूलपने सुख का वेदन होना, सुखरूप लगना तथा असाता का वेदन अर्थात् कल्पना में प्रतिकूलपने दुःखरूप लगना – ऐसे भेदरूप जो कर्म का अनुभव वह जीव नहीं है। शरीर तो रोग की मूर्ति है। शरीर के एक-एक रोम में ६६ रोग हैं। ऐसे सम्पूर्ण शरीर में रोग ही रोग भरे हैं। ये रोग जब प्रगट होते हैं, तब यह जीव असाता का वेदन करता है। यह पुद्गल का फल है। तथा जब शरीर

निरोगी रहे और बाहर की सामग्री – धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब, परिवार आदि अनुकूल हो; तब जो सुख की कल्पना का वेदन हो, वह भी पुद्गल का फल है। इस कल्पनामय सुख-दुःख के वेदन में कर्म का अनुभव है, आत्मा का नहीं। शरीर हृष्ट-पुष्ट निरोगी हो व करोड़ों की साहबी हो, तब जो सुख का अनुभव होता है; वह कर्म का अनुभव है, आत्मा का नहीं। इस सुख-दुःख में चैतन्यस्वरूप आत्मा नहीं है। यह साता-असाता का अनुभव आत्मा नहीं है। आत्मा तो सुख-दुःख से भिन्न चैतन्यस्वभावमय वस्तु है।

एक धर्मी सिवाय सारा जगत पागल है, क्योंकि जगत् दुःख को सुख मानता है। रंक से लेकर राजा तक व एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीव सुख-दुःख में रच-पच रहे हैं। सुख-दुःख की कल्पना से भिन्न पड़कर अनन्तसुख का धाम, जो शुद्ध चैतन्यस्वभावमय आत्मवस्तु है, इसमें दृष्टि करे तो स्वयं प्रत्यक्ष आनंद का अनुभव होता है। केवली को ही प्रत्यक्ष होता है, ऐसा नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान में भी स्वसंवेदन से आत्मा प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। सम्यग्दर्शन होने पर भेदज्ञानी को मति-श्रुतज्ञान से आत्मा प्रत्यक्ष वेदन में आता है।

(७) श्रीखण्ड की तरह उभयात्मकपने से मिले हुए आत्मा व कर्म – दोनों मिलकर भी जीव नहीं हैं। जैसे दही व शक्कर मिलकर श्रीखण्ड बनता है, वैसे आत्मा व कर्म मिलकर जीव नहीं बना है। भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वरूप प्रभु है। राग व कर्म वगैरह तो जड़ – अचेतन-स्वरूप हैं। इसकारण जीव व कर्म – दोनों भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु जैसे हाथी अनाज व घास को मिलाकर खाता है; उसीप्रकार अज्ञानी कर्म व आत्मा को एक करके अनुभव करता है।

जिसप्रकार कुत्ता हड्डी चबाता है और हड्डी की कनी डाढ़ में चुभ जाती है, तब वहाँ से खून निकलता है और कुत्ता अपने ही खून को चूसता हुआ ऐसा मानता है कि हड्डी का स्वाद आ रहा है। इसीप्रकार शरीर तो हाड़, मांस, विष्टा व चमड़ी की भरी थैली है, उसका स्पर्श करके यह ऐसा मानता है कि यह अच्छा है; अतः उसमें राग होता है, उस राग का ही वह अनुभव करता है; परन्तु स्त्री आदि के शरीर को मैं भोगता हूँ – ऐसी मिथ्या मान्यता रखता है। उसीप्रकार सर्पदंश हुआ हो तो उस दंश को नहीं भोगता; उससमय उसके लक्ष्य से जो द्वेषभाव होता है, उस द्वेष का अनुभव करता है। यहाँ तो यह कहते हैं कि ये राग-द्वेषरूप विकारी भाव व आत्मा – ये दोनों मिलकर जीव नहीं हैं। दोनों भोगते भी नहीं हैं।

आत्मा विकार से भिन्न है—यह अनुभवसिद्ध है; क्योंकि समस्तपने कर्म से जुदा चैतन्यस्वरूप आत्मा भेदज्ञानियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में आता है।

(८) अर्थक्रिया में समर्थ कर्म का संयोग भी जीव नहीं है। आठों कर्म मिलकर आत्मा हो—ऐसा भी नहीं है। जैसे पलंग (चारपाई) पर सोनेवाला व्यक्ति जुदा है, उसीप्रकार आठों कर्मरूपी पलंग से भगवान आत्मा भिन्न है। जो कभी विचार नहीं करता, मनन नहीं करता, पढ़ता नहीं, ज्ञानियों की सुनता नहीं, समझने की कोशिश करता नहीं; उसे यह बात कैसे जँचे ? कलश टीका में कलश १११ में स्वच्छन्दी निश्चयाभासी का कथन करते हुए कहा है कि वे जीव शुद्ध चैतन्य का विचार मात्र भी नहीं करते। आठ कर्मों के विपाक से भगवान आत्मा भिन्न है। भगवान आत्मा तो ज्ञानानंद स्वरूप, चैतन्यस्वरूप है। आठकर्मों से आत्मा बना है—यह तो स्थूल भूल है, मोटी भ्रमणा है; क्योंकि आठकर्मों के संयोग से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावमय जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है। भेदज्ञानी शुद्ध चैतन्यवस्तु का प्रत्यक्षरूप से अनुभव करते हैं।

इसीप्रकार यदि कोई अन्यप्रकार से मिथ्या कल्पनायें करे, तो भी यही युक्ति जानना।

गाथा ४४ के भावार्थ पर प्रवचन

जीव चैतन्यस्वभावमय है। जानना-देखना उसका स्वभाव है। स्वभाववान स्वयं आत्मा और चैतन्य उसका स्वभाव है। समस्त अध्यवसानादि भावों से आत्मा भिन्न है। राग से भिन्न यह आत्मा धर्मात्माओं को अनुभवगम्य है। भेदज्ञानी—समकिती जीव शुद्ध चैतन्य-स्वभावी आत्मा को प्रत्यक्षपने स्वसंवेदन द्वारा अनुभव करते हैं।

इसकारण जैसा अज्ञानी मानता है, वैसा नहीं है। कर्म, राग, शुभाशुभ भाव, पुण्य-पाप भाव या सुख-दुःख की कल्पना इत्यादि भी जीव नहीं हैं।

यहाँ पुद्गल से भिन्न आत्मा की उपलब्धि के प्रति विरोध करनेवाले (—पुद्गल को ही आत्मा जाननेवाले) पुरुष को (उसकी हितरूप आत्म-प्राप्ति की बात कहकर) मिठासपूर्वक (समभाव से) ही इसप्रकार उपदेश करना यह काव्य में बतलाते हैं :—

इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्नः साम्नैवैव-मनुशास्यः ।

(मालिनी)

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ।।३४।।

श्लोकार्थ :– हे भव्य ! तुझे [**अपरेण**] अन्य [**अकार्य – कोलाहलेन**] व्यर्थ ही कोलाहल करने से [**किम्**] क्या लाभ है ? तू [**विरम्**] इस कोलाहल से विरक्त हो और [**एकम्**] एक चैतन्यमात्र वस्तु को [**स्वयम अपि**] स्वयं [**निभृतः सन्**] निश्चल लीन होकर [**पश्य षण्मासम्**] देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से [**हृदय – सरसि**] अपने हृदय-सरोवर में, [**पुद्गलात् भिन्नधाम्नः**] जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश पुद्गल से भिन्न है – ऐसे उस [**पुंसः**] आत्मा की [**ननु किम् अनुपलब्धिः भाति**] प्राप्ति नहीं होती है [**किं च उपलब्धिः**] या होती है ?

भावार्थ :– यदि अपने स्वरूप का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है; यदि परवस्तु हो तो उसकी तो प्राप्ति नहीं होती । अपना स्वरूप तो विद्यमान है, किन्तु उसे भूल रहा है; यदि सावधान होकर देखे तो वह अपने निकट ही है । यहाँ छह मास के अभ्यास की बात कही है, इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि इतना ही समय लगेगा । उसकी प्राप्ति तो अंतर्मुहूर्तमात्र में ही हो सकती है, परन्तु यदि शिष्य को बहुत कठिन मालूम होता हो तो उसका निषेध किया है । यदि समझने में अधिक काल लगे तो छहमास से अधिक नहीं लगेगा; इसलिए यहाँ यह उपदेश दिया है कि अन्य निष्प्रयोजन कोलाहल का त्याग करके इसमें लग जाने से शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति हो जायेगी – ऐसा उपदेश है ।

कलश ३४ पर प्रवचन

हे भव्य ! अर्थात् धर्म प्राप्त करने की पात्रतावाले हे भव्य जीव ! वस्तुस्वरूप से विरुद्ध कोलाहल करने से तुझे क्या लाभ है ? चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध पुण्य-पाप के अचेतन भावों से तुझे क्या लाभ है ? व्यवहार साधन और निश्चय साध्य – ऐसा कोलाहल व्यर्थ है, यह कथन हो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए किया गया कथन है ।

आचार्यदेव प्रेरणा देते हुए कहते है कि 'ये अध्यवसानादि भाव जीव हैं।' – ऐसे मिथ्या विकल्पों के कोलाहल से तू विरक्त हो। व्यवहार से निश्चय होता है, राग से वीतरागता होती है, ऐसी वस्तुस्वरूप की विपरीतता के कोलाहल से विराम ले। राग से धर्म होगा – ऐसा माननेवाले राग को अपना स्वभाव मानते हैं, राग को ही आत्मा मानते हैं।

प्रश्न :– निर्विकल्प अनुभव होने के पहले अंतिम समय में शुभराग तो होता है; अतः शुभभाव से निर्विकल्प हुआ या नहीं ?

उत्तर :– भाई! इस शुभराग को छोड़कर **निर्विकल्प** हुआ है, शुभराग से निर्विकल्प नहीं हुआ। शुभभाव तो **विभावस्वभाव** व जड़-स्वभाव है, वह चैतन्यस्वभाव नहीं है और आत्मा तो **एकरूप चैतन्यघन**-स्वभाव, ध्रुवस्वभाव, सामान्यस्वभाव, अभेदस्वभाव, **चैतन्यमात्र वस्तु है।**

अब कहते हैं कि स्वयं निश्चल-लीन होकर एक **चैतन्यमात्र वस्तु** को प्रत्यक्ष करके देख! उसे देखने का छह महीना अभ्यास कर! **चैतन्य** वस्तु में प्रमेयत्व नाम का गुण है – इसकारण तुझे यह प्रत्यक्ष अनुभव में आयगी। इसलिए तू स्वरूप में एकाग्र होकर स्वसंवेदन द्वारा शुद्ध चिद्रूपमात्र वस्तु का अनुभव करने का प्रयत्न कर!

देखो! यहाँ यह नहीं कहा कि अमुक क्रिया करने पर आत्मानुभूति होगी। क्रिया पर नहीं, बल्कि समझने पर बल दिया है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी यही कहा है – 'सर्व जीव छे सिद्धसम, जो समझे ते थाय।'

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य सामान्यस्वरूप है। उसका अनुभव कर! 'स्वयं' शब्द कहकर यह ज्ञान कराया है कि आत्मानुभव में पर की कोई अपेक्षा – आवश्यकता नहीं। भगवान आत्मा सीधा स्वसंवेदन में ज्ञात होता है। विकल्पों का कोलाहल अनुभव में मददगार नहीं है; बल्कि उल्टे अटकाने वाला ही है, विघ्न करनेवाला ही है। नियमसार गाथा २ की टीका में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध रत्नत्रयात्मकमार्ग परम निरपेक्ष कहा है। वस्तु के स्वभाव को पर की अपेक्षा कैसी ?

यहाँ कहते हैं कि छह महीना चैतन्य के अनुभव का अभ्यास कर। भाई! तू व्यापार-धंधे में तो वर्षों गमाता है, बाल-बच्चों के पालन-पोषण में रात-दिन लगा रहता है, चौबीसों घंटे पाप की मजदूरी में निकालता है; परन्तु इसका फल मनुष्यभव खोकर पशुपर्याय प्राप्त करना है। इसलिए हे भाई! तू सर्व संसार के विकल्पों को त्यागकर एक छह महीना शुद्धात्मा का अभ्यास कर! वैसे तो अन्तर्मुहूर्त में चैतन्य की प्राप्ति हो

सकती है; परन्तु यदि तुझे अत्यन्त कठिन लगता हो तो छह महीना उसका अभ्यास कर! इसतरह छह महीना अभ्यास करने की बात की है। चिदानंद प्रभु चैतन्यस्वभावी, ज्ञायकस्वभावी, ध्रुव, एकरूप निज आत्मा है, उसकी लगन लगा! एकमात्र इसी में धुन लगा! तुझे वह शुद्धात्मा अवश्य प्राप्त होगा।

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है :–

जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्य पुरुषार्थ।
भवस्थिति आदि नाम लइ, छेदो नहिं आत्मार्थ ।।

परमानंद के नाथ परम-पदार्थ भगवान आत्मा की उपलब्धि की भावना हो तो सत्य पुरुषार्थ अर्थात् स्वभाव-सन्मुखता का पुरुषार्थ कर! 'जैसी होनहार होगी, वही होगा' या 'जब काललब्धि आयेगी, तब आत्म-लाभ होगा' – ऐसी मिथ्या अटक छोड़ दे। 'जब काललब्धि होगी तब हित होगा' – यह दुराग्रह आत्मा के हित का घातक है; इसलिए 'होनहार' का बहाना छोड़कर तू पुरुषार्थ कर! भाई! तुझे काललब्धि का बहाना करना है कि ज्ञान करना है? तुझे यथार्थ ज्ञान करना हो तो तू ज्ञायक के सन्मुख होकर पुरुषार्थ कर। ज्ञायक ज्ञान में आते ही तुझे पाँचों समवायों का वास्तविक ज्ञान होगा।

स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ करने पर सम्यक्त्व हुआ, तब ख्याल में आया कि काललब्धि पक गई है। द्रव्यसंग्रह, गाथा २१ की टीका में आया है कि काललब्धि हेय है, क्योंकि काल के – निमित्त के सन्मुख दृष्टि करने पर सम्यक्त्व नहीं होता। काल है, निमित्त है तथा अपनी पर्याय का जो स्वकाल है, वह भी है; परन्तु उस स्वभाव के सन्मुख जब पुरुषार्थ किया, तब काल पका – इसप्रकार स्वकाल (काललब्धि) का ज्ञान हुआ, भवितव्यता का भी ज्ञान हुआ तथा स्वभाव-सन्मुख पुरुषार्थ किया तो उस स्वभाव का भी ज्ञान हुआ और निमित्त (कर्म) का इतना अभाव है – ऐसा ज्ञान हुआ। इसप्रकार पाँचों ही समवायकारणों का यथार्थ ज्ञान हुआ।

यहाँ कहा है कि छह महीना चैतन्यस्वरूप निज शुद्ध आत्मद्रव्य के अनुभव का अभ्यास कर! इसकी ही अन्तर में लगन लगा और देख कि ऐसा करने से तेरे हृदय-सरोवर में जिसका तेज-प्रताप-प्रकाश पुद्गल से भिन्न है – ऐसे आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं?

समयसार नाटक में कहा है कि – ज्ञानरूपी सरोवर में तू ही स्वयं चैतन्यकमल है। स्वभाव-सन्मुख पर्याय के पुरुषार्थ को भ्रमर कहा, वह तू

ही है। तू ही उस चैतन्यकमल में भ्रमर बनकर एकत्व प्राप्त कर ! चैतन्य के आनंदरस का भोक्ता हो जा ! स्वयं चैतन्यकमल ज्ञानानंद के रस से अत्यन्त भरा हुआ है। उसमें तू निमग्न होकर अकेला ज्ञानानंदरस का पान कर।"

अहाहा ! तू निर्मल पर्यायरूप भ्रमर बनकर त्रिकाली एकरूप चैतन्यरस में निमग्न हो जा ! इससे तुझे आनंद का अद्भुत अनिर्वचनीय आस्वाद प्राप्त होगा। शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होगी। तू इसका अभ्यास करे और प्राप्ति न हो – ऐसा कभी नहीं हो सकता, अवश्य ही आत्मोपलब्धि होगी। आखिर क्यों नहीं होगी ? नहीं होगी – ऐसी शंका छोड़ दे।

भगवान आत्मा पुद्गल से भिन्न अर्थात् रागादि विकल्पों से भिन्न चतन्य के तेज से भरा हुआ चैतन्य के नूर का पूर है, उसके सन्मुख होकर अन्तर्निमग्न होने पर अवश्य ही आत्मोपलब्धि होती है। पुरुषार्थ करे और प्राप्ति न हो ऐसा कैसे हो सकता है ? इसकारण 'जब काललब्धि आयेगी तब प्राप्ति होगी', 'भगवान ने जब देखा होगा तब प्राप्त होगा' – इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्पों की बातें रहने दे ! ऐसी कमजोरी की बातों से आत्मा के पुरुषार्थ को ढीला मत कर ! स्वभाव-सन्मुखता के पुरुषार्थ द्वारा स्वात्मोपलब्धिरूप प्रयोजन की सिद्धि कर !

तथा कोई समयसार में उद्धृत 'जइ जिणमय पवज्जइ ता मा व्यवहारनिच्छए मुयह' आदि छन्द का आधार देकर कहते हैं कि जिनमत में प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार व निश्चय – दोनों नयों को मत छोड़ो ! यह तो ठीक है, परन्तु इसका यथार्थ अर्थ तो यह है कि व्यवहार है अवश्य, परन्तु व्यवहार आश्रय करने योग्य नहीं है। साधकपने का भाव, चौदहगुणस्थान आदि भाव सब व्यवहार हैं, इसमें जरा भी संदेह नहीं; परन्तु वे आश्रय करने योग्य नहीं हैं। श्री समयसार की गाथा ११ में कहा है कि भूतार्थ अर्थात् एक निश्चय का आश्रय करो; क्योंकि त्रिकाली भगवान जो विद्यमान पदार्थ अस्तिरूप महाप्रभु है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन होने के बाद शेष रही अशुद्धता एवं पर्याय की अपूर्णता, उस काल में जानने के लिए प्रयोजनवान है – ऐसा अर्थ गाथा १२ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने किया है।

सिद्ध, साधक व संसार – ये सब व्यवहार हैं। त्रिकाली ध्रुव निश्चय एवं पर्याय व्यवहार – दोनों हैं। व्यवहार है अवश्य, परन्तु जाना हुआ प्रयोजनवान है और निश्चय आदरणीय एवं प्रयोजनवान है। बापू ! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। भगवान ने ऐसा कहा है, शास्त्र में ऐसा ही है, तथा वस्तु की स्थिति भी ऐसी है।

अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि इस शास्त्र की टीका करने का जो विकल्प है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। हम तो उसके मात्र ज्ञाता हैं, स्वरूप-गुप्त हैं, टीका तो शब्दों द्वारा बन गई है। इसमें हमारा किंचित् भी कर्त्तव्य नहीं है। हम तो इन शब्दों व विकल्पों से भिन्न आत्मा में गुप्त हैं, शब्दों व विकल्पों में हमारा निवास नहीं है। आचार्य अमृतचन्द्र ने यह सत्य का ढिंढोरा पीटा है। थोड़े में ही सब-कुछ कह दिया है।

यहाँ तो कहते हैं वस्तु-स्वभाव की सन्मुखता कर, उसी में ढलकर एकाग्र होने पर भी उसकी प्राप्ति न हो – ऐसा कैसे बने ? स्व-सन्मुखता के अभ्यास से आत्मोपलब्धि अवश्य होगी ही।

कलश ३४ के भावार्थ पर प्रवचन

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। अन्तर्मुख होने का पुरुषार्थ करे और प्राप्ति न हो – ऐसा तीनकाल में भी नहीं हो सकता। यहाँ अभ्यास का अर्थ अकेला शास्त्रों को पढ़ना व सुनना मात्र नहीं है; किन्तु अभ्यास अर्थात् निज शुद्ध चैतन्य में एकाग्रता करने के पुरुषार्थ की बात है। भाई ! तू अपनी श्रद्धा में तो ले कि वस्तु ऐसी ही है। श्रद्धा में दूसरा कुछ लेगा तो आत्मा हाथ नहीं आयेगा, पुरुषार्थ अन्दर की ओर नहीं ढलेगा।

जिसने राग की रुचि छोड़ी और स्वभाव की रुचि की, उसे स्वभाव की प्राप्ति न हो – ऐसा होता ही नहीं है ! जो स्वरूप प्राप्त न हुआ हो तो यह समझना चाहिए कि अभी स्वभाव की तरफ के पुरुषार्थ में कुछ कमी है, त्रुटि है। हाँ, परवस्तु के प्रयत्न में – पुरुषार्थ में परवस्तु की प्राप्ति न हो तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि पर में तो पुरुषार्थ चलता ही नहीं है; परन्तु स्वरूप में पुरुषार्थपूर्वक अनुभव का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती ही है। आत्मा में वीर्य नाम का गुण है, उसका कार्य स्वरूप की ही रचना करना है। इसकारण अंतर्मुख होकर आत्मा में पुरुषार्थ करने पर स्वरूप की रचना निर्मल होती ही है, इसमें किंचित् भी संदेह नहीं करना।

भगवान ! तू है कि नहीं ? यदि है तो 'है' की प्राप्ति क्यों नहीं होगी ? परन्तु भाई ! 'मैं हूँ' ऐसे अपने अस्तित्व को अब तक अनंतकाल में स्वीकार ही नहीं किया। एकसमय की पर्याय व राग की स्वीकृति में ही अनंतकाल चला गया है, परन्तु अन्दर आत्मवस्तु चैतन्यघन महाप्रभु जो एकसमय की पर्याय में नहीं आता तथा जो पर्याय में ज्ञात हुए बिना

नहीं रहता — ऐसे शुद्धात्मा को तूने पूर्व में कभी जाना नहीं, पहचाना नहीं और उसके अस्तित्व को स्वीकार किया नहीं; इसलिए कठिन लगता है।

श्री समयसार की १७-१८वीं गाथा में आता है कि अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी अनादि बंध के वश परद्रव्यों के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ अज्ञानी जन को 'जो यह अनुभूति है, वही मैं हूँ' — ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता। अहाहा! इसकी ज्ञान की पर्याय में सदा त्रिकाली वस्तु ज्ञात होती है, क्योंकि ज्ञान की पर्याय का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। 'स्व' ऐसा जो द्रव्य वही उसके ज्ञान में आता है; परन्तु अज्ञानी का झुकाव स्वद्रव्य पर नहीं है, इसकारण ज्ञान की पर्याय में — प्रगट अवस्था में जाननेवाला आत्मा स्वयं ज्ञात होता है; ऐसा उसे भान नही होता, ऐसी उसे प्रतीति उत्पन्न नहीं होती। प्रभु! तेरा जो पूर्ण अस्तित्व है. वह एकसमय की पर्याय में सदैव ज्ञात होता है। भाई! यह तो सर्वज्ञ की वाणी है, यह तो परमागम है। ऐसी बात अन्यत्र कहीं है ही नहीं।

अज्ञानी पर्यायबुद्धि में, रागबुद्धि में अटका है। इसकारण जानने-वाला ज्ञायक आत्मा, स्वयं त्रिकाली आत्मा ज्ञात हो रहा है — ऐसा ख्याल में नहीं आता। अरे! ऐसे तत्त्व का निर्णय करने के लिए लोगों के पास समय नहीं है। एक-दिन में २३ घंटे तो खाने, कमाने, सोने और स्त्री, बच्चों व कुटुम्ब-परिवार की संभाल में ही चले जाते हैं। कभी एकाध घंटा धर्म के नाम पर निकालता भी है, सो वह भी कुगुरु-कुदेवादि की सेवा — उपासना में खो देता है। अहो! धर्म के नाम पर निकाला गया समय भी मिथ्यादृष्टि कुगुरुओं द्वारा युक्ति-कुयुक्ति बताकर लूट लिया जाता है।

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में १४वें पृष्ठ पर लिखा है कि 'जिन शास्त्रों में वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो, वे ही शास्त्र वांचने-सुनने योग्य हैं। राग की मंदता से संसार का अभाव होता है — ऐसा जहाँ लिखा हो वह शास्त्र ही नहीं है, क्योंकि इसमें तो अतत्त्वश्रद्धान की पुष्टि करके मोहभाव को प्रगट किया है — ऐसे शास्त्र शास्त्र नहीं, बल्कि शस्त्र हैं; क्योंकि राग-द्वेष-मोह द्वारा जीव अनादि से दुःखी हो रहा है। शुभराग की वासना तो उसे बिना सिखाये ही अनादि से है और इन शास्त्रों द्वारा भी इन्हीं का पोषण किया तो यहाँ भला होने की क्या शिक्षा दी? यह बात सुनने में जरा कठोर लगती है, परन्तु क्या करें? कहे बिना रहा भी तो नहीं जाता। जीवों को दुःखी देखकर सच्ची बात, वस्तुस्वरूप की बात कहे

बिना भी तो नहीं रहा जाता। जिसे हित करना हो, उसे मध्यस्थ – तटस्थ होकर वस्तुतत्त्व का विचार अवश्य करना चाहिए।

श्री पंचास्तिकाय गाथा १७२ में कहा है कि सर्व शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है। देखो, दिगम्बर सन्तों के बनाये शास्त्र यथार्थ व अविरुद्ध हैं। सर्व शास्त्रों में वीतरागता का ही पोषण किया गया है।

यहाँ कहते हैं कि अपने स्वरूप का अभ्यास करे तो आत्मोपलब्धि अवश्य हो। यहाँ राग का अभ्यास करने को नहीं कहा। रागादि परवस्तु में चाहे कोई कितना भी पुरुषार्थ क्यों न करे, प्राप्ति संभव नहीं है; क्योंकि वह परवस्तु है न ? पर में किसी का कोई पुरुषार्थ नहीं चलता। अहाहा ! विज्ञानघन स्वभावभावपने अस्ति धारण करनेवाली अपनी वस्तु प्रत्यक्ष मौजूद है, परन्तु उसे स्वयं भूल गया है। चेतकर देखे तो पास ही है; क्योंकि वह स्वयं ही है। देखो तो सही, पण्डित श्री जयचन्दजी ने कैसा सरल भावार्थ लिखा है। वे कहते हैं कि अन्तर में जागृत होकर देखे तो वह स्वयं आप ही है। उसका अभ्यास करने पर वह प्राप्त होता ही है।

यहाँ छह महीना अभ्यास करने को कहा। उसका अर्थ यह नहीं समझ लेना कि इतना समय लगेगा ही, स्वरूप की प्राप्ति तो मात्र अन्तर्मुहूर्त में होती है; परन्तु यदि अतिकठिन लगता हो तो धैर्य बंधाने के लिए ऐसा कहा है कि छह माह से अधिक समय तो किसी भी हालत मे नहीं लगेगा। व्यर्थ का कोलाहल छोड़कर ज्ञानानंदस्वभावी भगवान आत्मा में लगने से शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति होगी – ऐसा उपदेश है।

भैया जगवासी तू उदासी ह्वै कैं जगत सौं,
एक छह महिना उपदेस मेरौ मानु रे।
और संकलप विकलप के विकार तजि,
बैठि कैं एकन्त मन एक ठौरु आनु रे।।
तेरौ घट सर तामैं तू ही है कमल ताकौ,
तू ही मधुकर ह्वै सुवास पहिचानु रे।
प्रापति न ह्वै है कछु ऐसौ तू विचारतु है,
सही ह्वै है प्रापति सरूप यौं ही जानु रे।।

– नाटक समयसार, अजीवद्वार, छन्द ३

कथंचिदन्वयप्रतिभासेप्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावा इति चेत् –

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पोग्गलमयं जिणा बेंति ।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

अष्टविधमपि च कर्म सर्वं पुद्गलमयं जिना ब्रुवन्ति ।
यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य ॥४५॥

अध्यवसानादिभावनिर्वर्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति किल सकलज्ञज्ञप्तिः । तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते तदनाकुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षणत्वात्किल

अब शिष्य पूछता है कि इन अध्यवसानादि भावों को जीव नहीं कहा, अन्य चैतन्यस्वभाव को जीव कहा, तो यह भाव तो भी कथंचित् चैतन्य के साथ ही सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते हैं (वे चैतन्य के अतिरिक्त जड़ के तो दिखाई नहीं देते) तथापि उन्हें पुद्गल के स्वभाव क्यों कहा ? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं :–

रे ! कर्म अष्ट प्रकार का, जिन सर्व पुद्गलमय कहे ।
परिपाक में जिस कर्म का फल दुःख नाम प्रसिद्ध है ॥४५॥

गाथार्थ :–[**अष्टविधम् अपि च**] आठों प्रकार का [**कर्म**] कर्म [**सर्वं**] सब [**पुद्गलमयं**] पुद्गलमय है – ऐसा [**जिनाः**] जिनेन्द्रभगवान सर्वज्ञदेव [**ब्रुवन्ति**] कहते हैं – [**यस्य विपच्यमानस्य**] जो पक्व होकर उदय में आनेवाले कर्म का [**फलं**] फल [**तत्**] प्रसिद्ध [**दुःखम्**] दुःख है [**इति उच्यते**] – ऐसा कहा है ।

टीका :– अध्यवसानादि समस्त भावों को उत्पन्न करनेवाला जो आठों प्रकार का ज्ञानावरणादि कर्म है, वह सभी पुद्गलमय है – ऐसा सर्वज्ञ का वचन है । विपाक की मर्यादा को प्राप्त उस कर्म के फलरूप से जो कहा जाता है, वह (अर्थात् कर्मफल) अनाकुलतालक्षण – सुखनामक आत्मस्वभाव से विलक्षण है; इसलिये दुःख है । उस दुःख में ही आकुलतालक्षण अध्यवसानादि भाव समाविष्ट हो जाते हैं । इसलिये यद्यपि वे चैतन्य के

दुःखं; तदंतःपातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावाः। ततो न ते चिदन्वयविभ्रमेप्यात्मस्वभावाः किंतु पुद्गलस्वभावाः।

साथ सम्बन्ध होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं; तथापि वे आत्मस्वभाव नहीं हैं, किन्तु पुद्गलस्वभाव हैं।

भावार्थ :– जब कर्मोदय आता है, तब यह आत्मा दुःखरूप परिणमित होता है **और** दुःखरूप भाव है, वह अध्यवसान है; इसलिये दुःखरूप भावों में (**अध्यवसान में**) चेतनता का भ्रम उत्पन्न होता है। **परमार्थ से** दुःखरूप भाव चेतन नहीं हैं; कर्मजन्य हैं इसलिये जड़ ही हैं।

गाथा ४५ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

गाथा ४४ में अध्यवसानादि भावों को पुद्गलमय कहा है। अतः शिष्य यहाँ पूछता है कि हे गुरुदेव ! इन अध्यवसानादि भावों को आपने पुद्गलमय तथा जीव को इनसे भिन्न चैतन्यस्वरूप कहा है, किन्तु ये अध्यवसानादि भाव भी तो चैतन्य से सम्बन्धित प्रतिभासित होते हैं। राग-द्वेष आदि भाव जड़ के साथ सम्बन्ध नहीं रखते, बल्कि आत्मा के साथ सम्बन्ध रखते हैं। चैतन्य से भिन्न जड़ में – शरीरादि में राग देखने में नहीं आता। अतः आपने उनको पुद्गल का स्वभाव किस अपेक्षा से कहा ? ये राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव व सुख-दुःख का भोगना – ये सब चैतन्य की पर्याय में होते हैं, इसकारण यद्यपि चैतन्य के साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते हैं, तथापि उनको पुद्गल का स्वभाव क्यों कहा ? इसके उत्तरस्वरूप यह गाथा ४५ है।

अध्यवसान आदि समस्त भावों को उत्पन्न करनेवाले आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलमय हैं – ऐसा सर्वज्ञ का वचन है। अध्यवसानादि भावों अर्थात् पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि शुभभावों तथा काम, क्रोधादि अशुभभावों को उत्पन्न करनेवाले कर्म हैं। व्यवहाररत्नत्रय का भाव भी शुभराग है। जब इस शुभराग को अपना माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है, तब फिर शुभराग से लाभ (धर्म) होता है – यह बात ही कहाँ रही ? यहाँ कहते हैं कि शुभभाव निमित्तरूप कर्म के लक्ष्य से होता है और ये कर्म पुद्गलमय हैं – ऐसा सर्वज्ञ का वचन है। भगवान सर्वज्ञदेव का यह वचन है कि व्रत-अव्रत के शुभाशुभ भाव, हर्ष-शोक के भाव पुण्य-पाप के भाव आदि सभी भावों को उत्पन्न करनेवाला कर्म है और वह कर्म पुद्गलमय जड़ है। राग दिभावों को उत्पन्न करे – ऐसा जीव

का द्रव्यस्वभाव नहीं है। देखो ! कैसी सरस बात है। भाई ! पर की दया तो तू पाल ही नहीं सकता; किन्तु पर की दया पालने की, छह काय के जीवों की रक्षा करने की जो वृत्ति उठती है, उस वृत्ति को उत्पन्न करनेवाला कर्म है और वह पुद्गलमय है, आत्म-स्वभावमय नहीं है। अहाहा ! बहुत सूक्ष्म बात है। वीतरागी जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म है।

अब यहाँ कहते हैं कि विपाक की हद पर पहुँचे हुये कर्म के फलपने से कहे जानेवाले रागादि भाव दुःखरूप हैं। कर्म का विपाक होने पर जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे कर्म के फलपने से अनुभव में आते हैं और वे दुःखरूप हैं। अरे ! लोगों को सत्य बात समझ में नहीं आती और व्यवहार को परम्परा से कारण मानकर हठ करके बैठ गये हैं, परन्तु भाई व्यवहार-रूप शुभभावों को उत्पन्न करनेवाले तो कर्म पुद्गल हैं – ऐसा सर्वज्ञ का वचन है। इसे परम्परा कारण किसप्रकार कहा जा सकता है ? विपाक को प्राप्त कर्म के फल कहे जानेवाले अध्यवसानादि दुःखरूप भाव परम्परा मोक्षसुख के कारण कैसे हो सकते हैं ?

भगवान आत्मा त्रिकाल अनाकुल आनंदस्वभावी वस्तु है। अनाकुल सुख आत्मा का स्वभाव है। पुण्य-पाप का भाव उससे विलक्षण है, विरुद्ध लक्षणवाला है, आकुलता लक्षणवाला है। आकुलता लक्षणवाले अध्यव-सानादिरूप पुण्य-पाप के भावों का दुःख में ही समावेश होता है। आत्मा तो ज्ञानमय, श्रद्धामय, शान्तिमय, वीतरागमय, अतीन्द्रिय आनन्दमय है। आत्मा के अनाकुल आनन्दस्वभाव से विलक्षण पुण्य-पाप दुःखरूप हैं। वे सुख का साधन कैसे हो सकते हैं ? फिर भी उन्हें साधन कहा जाता है। जैसे मोक्षमार्ग दो प्रकार का नहीं है, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है; उसीप्रकार साधन दो प्रकार के नहीं, उनका कथन दो प्रकार से है। जब निश्चयसम्यग्दर्शन होता है, तब साथ में जो देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग होता है; उसे व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं। वस्तुतः राग तो चारित्र का दोष है। देव-शास्त्र-गुरु, छह द्रव्य, सात तत्त्वों की या नव पदार्थों की जो श्रद्धा है, वह तो विकल्प है, राग है; परन्तु निश्चयसम्यग्दर्शन का सहचर देखकर समकित का आरोप करके कथन किया है। शुभभाव निश्चय से तो अमृत नहीं है, किन्तु निश्चयसमकित का सहचर जानकर उसपर अमृत का आरोप करके कथन किया है। यहाँ कहते हैं कि सभी रागादिभाव दुःखरूप ही हैं, दुःख में ही समावेश पाते हैं; इसकारण वस्तुतः तो वे अजीव हैं। जीववस्तु तो ज्ञानानन्दस्वभावी है और ये पुण्य-पाप आदि भाव दुःखरूप हैं। आगे इसी ग्रंथ में इन्हें विषकुंभ तक कहा है।

भाई ! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा कहते हैं कि मेरी ओर देखने से तुझे राग होगा। यह राग दुःखरूप है। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अनाकुल आनन्दस्वरूप है। स्त्री आदि के लक्ष्य से अशुभभाव होता है और भगवान की वाणी आदि के लक्ष्य से शुभभाव होता है। इन दोनों को ही समयसार गाथा ३१ में इन्द्रिय कहा है और इन्द्रियों को जीतने के लिए कहा है अर्थात् इनसे हटने का उपदेश दिया है। अहो ! ऐसी हित की बात दिगम्बर जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है।

भगवान तेरा स्वभाव तो अनाकुल आनन्द है न ? उसे छोड़कर तुझे जो राग का विकल्प, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का विकल्प उठता है, वह आकुलतालक्षण, दुःखरूप है। अहाहा ! गजब बात है भाई ! वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा समझना पड़ेगा। सर्वज्ञ का वचन है कि शुभभाव पुद्गल से उत्पन्न हुआ भाव है, जीवद्रव्य से उत्पन्न हुआ नहीं है। पुद्गल के निमित्त से उत्पन्न हुआ है, इसलिए वह पुद्गलमय ही है। भगवान आत्मा अनाकुल आनन्दस्वरूप है और पुण्य उससे विपरीत लक्षणवाला दुःखरूप भाव है, अनाकुल आनन्दस्वभावी आत्मा में इसका समावेश नहीं होता। पर्याय में जो शुभराग हैं, पुण्यभाव है – वह दुःख है; इसकारण निश्चयनय से उसका आत्मस्वभाव के साथ सम्बन्ध नहीं है। तथा स्वभाव का पर्याय में अनुभव होता है, उस निर्मल निर्विकारी पर्याय के साथ भी उस शुभराग का सम्बन्ध नहीं है।

चिन्मात्र वस्तु के अनाकुल आनन्दस्वभाव को जिसने साधा है तथा उसी में ही दृष्टि, ज्ञान व रमणता होने पर जिसे निराकुल आनन्द का प्रगट स्वाद आया है, उस धर्मीजीव के मंदराग के भाव को सहचर देखकर परम्परा कारण कहा है। उसने स्वभाव के आश्रय के जोर से शुभ के काल में अशुभ को टाला है। वस्तुतः तो स्वभाव के जोर के कारण अशुभ टला है, किन्तु उसके बदले शुभभाव से अशुभ टला – ऐसा आरोप करके कहा है। मिथ्यादृष्टि के तो स्वभावतरफ का जोर ही नहीं है, इसकारण उसके अशुभ टला ही नहीं है। अतः उसके शुभभाव पर परम्परा कारण का आरोप भी नहीं आ सकता। मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है। उसका नाश नहीं किया, अतः उसके सम्पूर्ण भावों को अशुभ कहा है।

अब कहते हैं कि यद्यपि ये रागादि भाव चैतन्य से सम्बन्धित होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं; तथापि वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, पुद्गल-स्वभाव हैं। देखो ! एक ओर राम व एक ओर ग्राम। 'निज पद रमे सो राम

कहिये' चिदानंद भगवान निजपद है, उसमें रमते-रमते जो आनंद आया, उसका राग-ग्राम के साथ सम्बन्ध नहीं है। (राम व ग्राम भिन्न हैं)।

साधक को ज्ञानधारा और रागधारा – दोनों एक साथ रहती हैं; परन्तु रागधारा पुद्गल के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है, स्वभाव के सम्बन्ध से उत्पन्न नहीं हुई है। कहने का अभिप्राय यह है कि साधक को जो व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प होता है, वह दुःख में समावेश पाता है – इसकारण वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। भाई ! तेरी वस्तु अनन्त महिमावंत है, उसकी तुझे महिमा क्यों नहीं आती ? राग से लाभ होता है – ऐसी राग की महिमा क्यों आती है ?

चैतन्य चिदानन्द प्रभु तेरा नाथ है। जो प्राप्त की रक्षा करता है तथा अप्राप्त की प्राप्ति कराता है, उसे नाथ कहते हैं। आत्मा के निज चैतन्य-स्वभाव का आश्रय करने पर जो शान्ति व आनन्द की निर्मल दशा प्रगट हुई, उसकी रक्षा करनेवाला है तथा वर्त्तमान में परिपूर्ण शान्ति व परिपूर्ण आनन्द की दशा जो प्रगट नहीं हुई, उसको देनेवाला है। इसकारण आत्मा को नाथ कहते हैं। प्रगट शान्ति व वीतरागता की रक्षा करते-करते क्रमशः पूर्ण वीतरागता व केवलज्ञान प्राप्त करावे – ऐसा भगवान आत्मा नाथ है, परन्तु राग को प्राप्त करावे – ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है।

भाई ! सत्य को सत्यरूप में रखना। श्रीमद् राजचन्दजी ने कहा है कि वस्तुरूप से रखना, फेरफार नहीं करना। भगवान आत्मा ज्ञानानंद-स्वभावी निराकुल सुखस्वरूप है, उसे उसी में रखना। राग में आत्मा आ गया या आत्मा रागरूप हो गया – ऐसा नहीं मानना। श्री पण्डित बनारसीदासजी ने अपने नाटक समयसार में लिखा है :–

सद्गुरु कहे सहज का धन्धा, वादविवाद करे सो अन्धा।

शुद्ध आनन्दघन प्रभु चैतन्यरूप आत्मा अन्दर विराजता है। उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है। वस्तु का ऐसा सहज स्वभाव है। पर का आश्रय करने से तीनकाल में भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।

समयसार के बंध अधिकार में आता है कि पर को जिवाऊँ-मारूँ, सुखी-दुःखी करूँ, पर के प्राणों की रक्षा करूँ, उन्हें हनूँ, दूसरों को सुख के साधन जुटाऊँ, दुःख के साधन मिलाऊँ – इत्यादि जो अध्यवसान भाव हैं; वे अज्ञान हैं, मिथ्यात्व हैं। ऐसी मान्यता का भगवान ने निषेध किया है।

इसकारण हम ऐसा जानते हैं कि उनका निषेध करके भगवान ने समस्त पराश्रित भावों का निषेध किया है।

ऐसी बात कभी कान में भी नहीं पड़ी – इसकारण कितने ही लोग कहते हैं कि तुम कुछ करने का उपदेश तो कभी देते नहीं हो। परन्तु भाई! निज-शुद्धात्मा का ज्ञान करना, उसका श्रद्धान करना और उसी में रमणता करना, यह क्या कुछ करना नहीं है? अरे! मात्र यही करने लायक है, आत्मा यही कर सकता है। इसके सिवाय आत्मा अन्य कुछ कर सके, ऐसी योग्यता आत्मा में है ही नहीं।

प्रश्न :– शुभभाव तो प्रशस्तविकल्प है न?

उत्तर :– भाई! प्रशस्तविकल्प भी आत्मा की हानि करनेवाला भाव है, आत्मा को क्षत-विक्षत करनेवाला भाव है – ऐसा पुण्य-पाप अधिकार में कहा है। लोगों को अनादि संस्कार के कारण श्रद्धान में आत्मा बैठता नहीं है और राग बैठ जाता है; परन्तु भाई! यह राग का परिणाम तो दुःख में समावेश पाता है। ये रागादि भाव आत्मा के चैतन्य-स्वभाव में प्रतिष्ठा नहीं पाते, इसकारण ये पुद्गलस्वभाव ही हैं।

गाथा ४५ के भावार्थ पर प्रवचन

जब कर्म का उदय आता है, तब आत्मा दुःखरूप परिणमन करता है और दुःखरूप भाव अध्यवसान हैं। देखो, जब आत्मा कर्म के उदय के निमित्त से परिणमित होता है, तब रागरूप पुण्य-पाप के भावरूप होता है। शुभाशुभ राग के परिणाम दुःखरूप हैं, अध्यवसान भाव हैं तथा उन दुःखरूप अध्यवसान भावों में अज्ञानी को चेतना का भ्रम उत्पन्न होता है; जबकि वे वास्तव में चेतना के परिणाम नहीं हैं, किन्तु पुद्गल के ही हैं।

भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूपी है। 'दुखरूप भाव में आत्मा है' – ऐसा मानना तो भ्रम है। परमार्थ से दुःखरूप भाव चेतन नहीं हैं। रागादि भावों में चेतनपने का भ्रम उत्पन्न होता है, किन्तु वे परमार्थ से चेतन नहीं हैं। स्वभाव की दृष्टि से दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का राग कर्मजन्य है। समयसार के २४४वें कलश में आया है कि इस परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान व आनन्दरूप आत्मवस्तु का ही निरन्तर अनुभव करो।

यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत् –

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ।।४६।।

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः ।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ।।४६।।

सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम् । व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव । तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेद-

---

अब प्रश्न होता है कि यदि अध्यवसानादि भाव पुद्गलस्वभाव हैं तो सर्वज्ञ के आगम में उन्हें जीवरूप क्यों कहा गया है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं :–

व्यवहार ये दिखला दिया, जिनदेव के उपदेश में ।
ये सर्व अध्यवसान आदिक, भाव को जँह जीव कहे ।।४६।।

गाथार्थ :– [**एते सर्वे**] ये सब [**अध्यवसानादयः भावाः**] अध्यवसानादि भाव [**जीवाः**] जीव हैं, इसप्रकार [**जिनवरैः**] जिनेन्द्रदेव ने [**उपदेशः वर्णितः**]जो उपदेश दिया है, सो [**व्यवहारस्य दर्शनम्**] व्यवहारनय दिखाया है ।

टीका :– ये सब अध्यवसानादि भाव जीव हैं – ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है, तथापि व्यवहारनय को भी बताया है; क्योंकि जैसे म्लेच्छों को म्लेच्छभाषा वस्तुस्वरूप बतलाती है, उसीप्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को परमार्थ का कहने वाला है; इसलिए अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए वह (व्यवहारनय) बतलाना न्यायसंगत ही है । परन्तु यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो परमार्थ से (निश्चयनय से) शरीर से जीव को भिन्न बताया जाने पर भी जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का

दर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः। तथा रक्तद्विष्टविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेष-मोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः।

अभाव है, उसीप्रकार त्रस-स्थावरजीवों को निःशंकतया मसल देने – कुचल देने (घात करने) में भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इसकारण बन्ध का ही अभाव सिद्ध होगा। तथा परमार्थ के द्वारा जीव राग-द्वेष-मोह से भिन्न बताया जाने पर भी 'रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बँधता है – उसे छुड़ाना' – इसप्रकार मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जायेगा और इससे मोक्ष का ही अभाव होगा। (इसप्रकार यदि व्यवहारनय न बताया जाए तो बन्ध-मोक्ष का ही अभाव ठहरता है।)

भावार्थ :– परमार्थनय तो जीव को शरीर तथा राग-द्वेष-मोह से भिन्न कहता है। यदि इसी का एकान्त ग्रहण किया जाये तो शरीर तथा राग-द्वेष-मोह पुद्गलमय सिद्ध होंगे, तो फिर पुद्गल का घात करने से हिंसा नहीं होगी तथा राग-द्वेष-मोह से बन्ध नहीं होगा। इसप्रकार परमार्थ से जो संसार-मोक्ष दोनों का अभाव कहा है, एकान्त से यह ही ठहरेगा; किन्तु ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण अवस्तुरूप ही है, इसलिये व्यवहारनय का उपदेश न्यायप्राप्त है। इसप्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मिटाकर श्रद्धान करना सो सम्यक्त्व है।

गाथा ४६ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब शिष्य पूछता है कि हे गुरुदेव! यदि अध्यवसानादि भाव पुद्गलस्वभाव हैं तो उन्हें सर्वज्ञ के आगम में जीवस्वरूप क्यों कहा है? शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप एवं सुख-दुःख वेदन के भावों को यहाँ पुद्गलस्वभाव कहा है, परन्तु आगम में अन्यत्र इनको जीवरूप भी कहा है। जैसे कि कषायी-जीव, योगी-आत्मा इत्यादि। दोनों ही बातें सर्वज्ञकथित आगम की हैं, किन्तु दोनों में परस्पर विरोध-सा प्रतीत होता है। अध्यवसानादि भावों को कहीं तो जीव का कहा और कहीं पुद्गल का। अतः शिष्य की इस शंका का उत्तर आचार्य भगवान ने इस गाथा में दिया है।

'अध्यवसानादि भाव जीव के हैं' – ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह अभूतार्थ होने पर भी व्यवहारनय दिखाया है; क्योंकि जिसप्रकार

म्लेच्छभाषा म्लेच्छों को वस्तुस्वरूप बताती है; उसीप्रकार व्यवहारनय व्यवहारीजनों को परमार्थ का कहनेवाला है। इसकारण अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए व्यवहारनय का दिखाना न्यायसंगत ही है।

व्यवहारनय स्वयं परमार्थभूत न होने पर भी परमार्थ का कहनेवाला है। पर्याय में जो राग-द्वेष हैं, पाप-पुण्य के भाव हैं; वे स्वभाव की दृष्टि में अपरमार्थभूत हैं, फिर भी पर्याय में धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए पर्याय को बतानेवाले व्यवहारनय को दर्शाना न्यायसंगत ही है।

पर्याय में चौदह गुणस्थान हैं। यदि कोई गुणस्थानों का निषेध करेगा तो व्यवहार का ही निषेध हो जाएगा और चौथा, पाँचवाँ, छट्ठे आदि गुणस्थानों का निषेध हो जाने पर धर्मतीर्थ (मोक्षमार्ग) का ही निषेध हो जाएगा। अतः धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति चलाने के लिए व्यवहारनय का दर्शाना न्यायसंगत ही है। इससे ऐसा नहीं समझना कि व्यवहार से धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति होती है, व्यवहार से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्षमार्ग तो स्वद्रव्य के आश्रय से ही प्रगट होता है, किन्तु पर्याय में जो गुणस्थान आदि के भेद हैं; उन्हें न मानें तो तीर्थ का नाश हो जायेगा, धर्मतीर्थ की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी – यह अभिप्राय है। व्यवहार है तो अवश्य, व्यवहार न हो तो चौदह गुणस्थानों की सिद्धि ही नहीं होगी, संसारी व सिद्ध पर्यायों की भी सिद्धि नहीं होगी।

चौदह गुणस्थानों के भेद जीव का मूलस्वरूप नहीं होने से उन्हें बताने वाला व्यवहारनय वस्तुतः तो अपरमार्थभूत ही है, तथापि तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए अर्थात् चौथे, पाँचवें, छट्ठे आदि गुणस्थानों की दशा का ज्ञान कराने के लिए जिनवाणी में व्यवहारनय दर्शाया गया है। निश्चय से पर्यायें द्रव्य में नहीं हैं, किन्तु पर्यायें पर्यायरूप से तो हैं ही। बस, यहाँ इतना व्यवहार सिद्ध करना है। पर्याय के आश्रय से धर्म होता है, व्यवहार के आश्रय से तीर्थ प्रगट होता है – यह बात यहाँ नहीं है। लोगों को इसमें बड़ा भ्रम है कि व्यवहार से धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति होती है, परन्तु भाई! ऐसा नहीं है। धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति तो शुद्धनिश्चय के विषयभूत चैतन्यमात्र द्रव्य के आश्रय से ही होती है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव तथा चौदह गुणस्थान आदि के भाव पर्यायरूप से हैं – इसप्रकार पर्यायरूप व्यवहार की सिद्धि की है।

श्री समयसार की १२वीं गाथा की टीका में 'जइ जिणमयं पवज्जह ....' गाथा उद्धृत की है; उसमें आता है कि यदि जिनमत को

प्रवर्तांना चाहते हो तो व्यवहार व निश्चय – दोनों नयों को मत छोड़ो, उसका अभिप्राय यह है कि यदि निश्चयनय को न माना जाएगा तो तत्त्व का नाश होगा तथा व्यवहारनय को नहीं मानोगे तो जीव के त्रस-स्थावरादि भेद, संसारी व सिद्ध और गुणस्थानादि के भेद आदि कुछ भी सिद्ध नहीं होंगे। निश्चय से तो जीव अभेद एकरूप त्रिकाल है, इसमें पर्याय का भेद करना व्यवहार है। निश्चयदृष्टि में व्यवहार अभूतार्थ होते हुये भी ऐसा भेद रूप व्यवहार होता अवश्य है, किन्तु वह आश्रय करनेलायक नहीं है। व्यवहार का अस्तित्व है, मात्र इतना ज्ञान कराने का प्रयोजन है।

राग को मोक्षमार्ग कहने का व्यवहार है अवश्य, परन्तु वस्तुतः राग मोक्षमार्ग नहीं है। इसीप्रकार पर्यायों के भेद व गुणस्थान आदि भेद भी हैं, परन्तु वे शुद्ध जीवद्रव्य में नहीं हैं, त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में नहीं हैं। अतः जब जीव त्रिकाली शुद्धद्रव्य का आश्रय करता है, तब पर्याय का आश्रय नहीं रहता; तथापि पर्याय का अस्तित्व तो है ही।

अब कहते हैं कि यदि व्यवहार को न बताकर मात्र परमार्थ ही बताया जाय तो परमार्थ से तो जीव शरीर से सर्वथा भिन्न ही होने से जिसप्रकार जीव से सर्वथा भिन्न भस्म के मसल देने पर हिंसा नहीं होती है; उसीप्रकार त्रस-स्थावरादि जीवों का निःशंकरूप से घात करने पर भी हिंसा का अभाव ठहरेगा तथा फिर उससे बंध भी नहीं होगा। यहाँ त्रस-स्थावर जीवों का घात आत्मा कर सकता है – यह प्रश्न नहीं है; परन्तु यदि एकेन्द्रिय आदि पर्यायों को स्वीकार न करें तो उनका घात करने का जो भाव होता है, उस भाव में भी हिंसा का अभाव सिद्ध होगा। हिंसा के अभाव होने की जो युक्ति दर्शाई है, उसका तात्पर्य भावहिंसा का भी अभाव होगा – ऐसा समझना चाहिए।

देखो! परमार्थ से तो जीव शरीर से भिन्न ही है, परन्तु व्यवहार से जीव तथा शरीर का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। एकेन्द्रिय, द्वि-इन्द्रिय आदि जो छहकाय हैं, वे परमार्थ जीव नहीं हैं; परन्तु एकेन्द्रिय आदि जो छहकाय की पर्यायें हैं, वे व्यवहार से जीव हैं – उन्हें व्यवहार से जीव सिद्ध भी किया है। यद्यपि व्यवहार हेय है, तथापि हेय होकर भी उसका अस्तित्व तो है ही। जो है, उसी में हेयोपादेय का व्यवहार संभव होता है। जिसका अस्तित्व ही न हो, उसमें हेयपने की कल्पना कैसी ?

द्रव्य स्वयं निश्चय है तथा मोक्षमार्ग की पर्याय व्यवहार है। यदि पर्यायमात्र का निषेध करेंगे तो निश्चयमोक्षमार्ग भी सिद्ध नहीं होगा।

परमार्थवचनिका में आया है कि अक्रियरूप शुद्धद्रव्य निश्चय है तथा यथार्थमोक्षमार्ग साधना व्यवहार है। सम्यग्दृष्टि जीव निश्चय-व्यवहार का स्वरूप जानता है, किन्तु मूढ़जीव स्वयं जानते भी नहीं व सम्यग्दृष्टियों की मानते भी नहीं। यदि व्यवहार का सर्वथा अभाव हो तो फिर पर्याय, राग, एकेन्द्रिय आदि जीव, उनका शरीर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध – इत्यादि कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, गुणस्थान के भेद – ये सब व्यवहार हैं। निश्चय से तो आत्मा गुणस्थानादि से रहित है। निश्चय से राग आत्मा का नहीं है तथा व्यवहार से है – ये दोनों वचन सर्वज्ञकथित आगम के हैं। यहाँ पर्याय में होनेवाला रागरूप आस्रव-बंध तथा निज चैतन्यस्वभावी शुद्धद्रव्य के आश्रय से उन आस्रव-बंध का अभाव होकर जो संवर-निर्जरारूप शुद्धपर्यायें प्रगट होती हैं – उन सबका ज्ञान कराया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो निश्चयमोक्षमार्ग है, वह सद्भूतव्यवहार में तथा रागादि असद्भूतव्यवहार में आते हैं।

भाई ! संसार, मोक्षमार्ग व मोक्ष – ये सब पर्यायें हैं, धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति भी पर्यायरूप है। पर्याय है, इसलिए व्यवहार है। यद्यपि व्यवहार अपरमार्थभूत है, क्योंकि उसके आश्रय से निर्मलता प्रगट नहीं होती; तथापि उसका दर्शाना न्यायसंगत है, क्योंकि उसका अस्तित्व तो है न ? त्रिकाली शुद्धतत्त्व भूतार्थ है, सत्यार्थ है व पर्याय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। पर्याय आश्रय करने लायक नहीं है, इसलिए उसे अपरमार्थ कहा है। पर्याय है ही नहीं – ऐसा नहीं है। समयसार की १२वीं गाथा में ऐसा लिया है कि शुद्धता का अंश, अशुद्धता का अंश तथा शुद्धता-अशुद्धता का बढ़ता-घटता अंश – ये सभी व्यवहार जानने में आते हुए प्रयोजनवान हैं। जानने में आता हुआ प्रयोजनवान कहा। उससे वह है, ऐसी सिद्धि हो जाती है। जो व्यवहार ही नहीं तो उसको जानने का प्रश्न ही कहाँ रहा ? भाई ! वस्तु जैसी है, वैसी समझनी पड़ेगी। इसके बिना भव का अन्त नहीं आयेगा। जिसके करने से भव का अभाव नहीं हो, वह किस काम का ? भव का अभाव तो एक द्रव्य के (शुद्धद्रव्य के) आश्रय से होता है। तथा इस भव का अभाव हुआ, मोक्ष हुआ या मोक्षमार्ग प्रगट हुआ – यह सब व्यवहार हैं। समयसार गाथा ११ में कहा है कि सभी व्यवहार अभूतार्थ है। पर्यायमात्र अभूतार्थ है। वहाँ ऐसा लिया है कि व्यवहारनय अभूतार्थ होने से अभूत अर्थ को प्रगट करता है।

एकसमय की पर्याय व्यवहार है। पंचाध्यायी में द्रव्य को निश्चय व पर्याय को व्यवहार कहा है। केवलज्ञान की पर्याय को व्यवहार कहा है। परमात्मप्रकाश में आता है कि मति, श्रुत, अवधि व मन:पर्ययज्ञान भी विभावगुण हैं। श्री नियमसार में भी कहा है कि मति-श्रुतादि चारों ज्ञान विभावस्वभाव हैं और केवलज्ञान शुद्धस्वभावभाव है। केवलज्ञान प्रगट होने पर स्थिर रहता है – इसकारण स्वभाव कहा है तथा चार ज्ञान स्थिर नहीं रहते, होकर नष्ट हो जाते हैं – इसकारण उन्हें विभावगुण कहा है। यद्यपि केवलज्ञान स्वभावभाव है, तथापि भेदरूप (अंशरूप) होने के कारण उसे भी यहाँ व्यवहार कहा है। समयसार की शैली मुख्यरूप से परमार्थ को बतानेवाली है तथा साथ ही गौणरूप से अपरमार्थ का भी ज्ञान कराती है। समयसार की १४वीं गाथा के भावार्थ में कहा है कि मुख्य-गौण कथन सुनकर सर्वथा एकान्त नहीं करना। सर्व नयों का कथंचित् सत्यार्थपने का श्रद्धान करने पर ही सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं अर्थात् व्यवहारनय का भी यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। कोई कहे कि पर्याय है ही नहीं तो उसका ज्ञान खोटा है। पर्याय है – ऐसा ज्ञान करके द्रव्य का आश्रय करना योग्य है।

पर्याय है, पर्याय में राग है – इसे न जाने, न माने तो एकान्त हो जायेगा। अकेले निश्चय को ही ग्रहण करेगा, तो काम नहीं चलेगा। निश्चय को व्यवहार की अपेक्षा है। श्री फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने कहा है कि व्यवहार की उपेक्षा करना ही उसकी अपेक्षा है। पर्याय में जो राग है, उसकी उपेक्षा करके द्रव्य की अपेक्षा करना। व्यवहार की उपेक्षा की, वहीं उसकी अस्ति सिद्ध हो गई अर्थात् उसकी इतनी अपेक्षा आ गई। भाई! इस तत्त्व को समझने के लिए मध्यस्थ होना चाहिये, मध्यस्थ हुए बिना तत्त्व समझ में नहीं आयेगा।

शुद्धद्रव्यरूप वस्तु का निर्णय करनेवाला कौन है? उसका निर्णय करनेवाली अनित्य पर्याय ही है। भाई! स्याद्वाद की अपेक्षा से ही सब कुछ समझ में आयेगा, एकान्त से कुछ भी हाथ नहीं आयेगा; परन्तु स्याद्वाद का अर्थ यह नहीं है कि मोक्षमार्ग निश्चय से भी होता है और व्यवहार से भी होता है। 'व्यवहार है' – बस यहाँ इतना ही कहने का अभिप्राय है। इसी शास्त्र की ८वीं गाथा में आता है कि म्लेच्छ को 'स्वस्ति' अर्थात् 'तेरा अविनाशी कल्याण हो' – ऐसा अर्थ म्लेच्छ भाषा द्वारा ही समझाया जा सकता है, उसीप्रकार व्यवहारीजनों को वस्तुस्वरूप व्यवहारनय द्वारा ही समझाया जा सकता है; परन्तु जिसप्रकार ब्राह्मण को म्लेच्छ हो जाना योग्य नहीं है, उसीप्रकार समझनेवाले या समझानेवालों को व्यवहार का

अनुसरण करना योग्य नहीं है। वहाँ ऐसा कहा है कि व्यवहारनय म्लेच्छ भाषा के स्थानापन्न होने के कारण परमार्थ का प्रतिपादक होने से स्थापन करने योग्य तो है, परन्तु वह अनुसरण करने योग्य नहीं है।

श्री पुरुषार्थसिद्धयुपाय में आता है कि जब एकनय की विवक्षा हो, तब दूसरा नय ढीला करना – गौण करना। वहाँ मक्खन बिलोती हुई ग्वालिन की मथानी का दृष्टान्त देकर समझाया है कि जब ग्वालिन एक हाथ से रस्सी खींचती है तो दूसरे हाथ को ढीला करती है। इसप्रकार तत्त्वमंथन की प्रक्रिया से तत्त्व का मक्खन हाथ आता है; परन्तु यह तो तब की बात है, जब दोनों नयों के विषयों का ज्ञान करना हो। जब व्यवहार का ज्ञान करना हो, तब निश्चय को गौण रखें तथा जब निश्चय का ज्ञान करना हो, तब व्यवहार को गौण रखें; परन्तु आश्रय व श्रद्धा करने के लिए तो एक निश्चय ही मुख्य है। एक त्रिकाल भूतार्थ के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। वहाँ तो एक निश्चय के आश्रय से व्यवहार को ढीला करके पर्याय को स्वभाव में जोड़ देना है। एक भूतार्थ के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है, यह एक ही सिद्धान्त है। व्यवहार के आश्रय से भी समकित होता है – ऐसा स्याद्वाद का स्वरूप नहीं है।

स्याद्वाद का अर्थ यह नहीं है कि निश्चय से भी धर्म होता है व व्यवहार से भी धर्म होता है। जैसे म्लेच्छ भाषा म्लेच्छों को वस्तुस्वरूप बताती है, उसीप्रकार व्यवहारनय व्यवहारियों को परमार्थ का कहने वाला है, प्रगट करानेवाला नहीं; भेद अभेद का ज्ञान कराता है, अभेद का अनुभव नहीं कराता; इसलिए भेद आदरणीय नहीं है।

कहा है न कि व्यवहारनय का दिखाना न्यायसंगत ही है, क्योंकि वह विकारी-अविकारी पर्यायों के भेदों को बताता है; परन्तु इसकारण व्यवहारनय का आदर करना न्यायसंगत नहीं है। भाई! यह तो दिगम्बर सन्तों की वाणी है, ऐसी वाणी अन्यत्र कहीं है ही नहीं। दिगम्बर कोई पक्ष नहीं है। वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा ही यथार्थस्वरूप दिगम्बर सन्तों ने प्रसिद्ध किया है। निश्चय से रागरूपी वस्त्र से रहित ज्ञायकमात्र आत्मवस्तु दिगम्बर है और वस्त्ररहित शरीर की दशा बाह्य दिगम्बरपना है। अहो! दिगम्बरत्व कोई अद्भुत अलौकिक वस्तु है।

तथा परमार्थ द्वारा तो जीव राग-द्वेष-मोह से भिन्न ही बताया जाता है। यदि व्यवहारनय नहीं दिखाया जाय तो जो रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बंधे हैं, उनको छुड़ानेरूप मोक्ष के उपाय को ग्रहण करने का

अभाव होगा; क्योंकि परमार्थ ने तो जीव को राग-द्वेष से भिन्न ही बताया है। जब जीव बंधा ही नहीं तो छूटने का उपाय क्या निरर्थक सिद्ध नहीं होगा? और मोक्षमार्ग का अभाव होने पर मोक्ष का भी अभाव सिद्ध होगा। अतः व्यवहार का दिखाया जाना न्यायसंगत ही है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग – ये पाँच बन्ध के कारण वस्तु के स्वभाव में नहीं है; परन्तु ये बन्ध के कारण पर्याय में तो हैं ही। यदि व्यवहारनय नहीं दिखाया जाय तो बन्ध के कारण ही सिद्ध नहीं होंगे तो रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बंधे हैं – ऐसा भी नहीं कह सकेंगे। ऐसा होने पर मोक्ष के उपाय – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के ग्रहण का भी अभाव होगा।

समयसार गाथा ३४ में तो यहाँ तक आया है कि विकार के त्याग का कर्त्तापना आत्मा को नाममात्र है, परन्तु पर्याय में विकार है व उसका नाश होता है – ऐसा व्यवहार है तो सही न? परमार्थ से आत्मा को विकार के नाश का भी कर्त्तापना नहीं है। त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने पर विकार का नाश हो जाता है अर्थात् तब विकार ही उत्पन्न नहीं होता। इसकारण पूर्वपर्याय की अपेक्षा से विकार का नाश किया – ऐसा कहा जाता है। अतः पर्याय में विकार है तथा उसका उत्तर-पर्याय में नाश होता है – ऐसा व्यवहार है।

श्री परमात्मप्रकाश गाथा ८८ में आता है कि पर्याय होने से भाव-लिंगरूप शुद्धात्मस्वरूप का साधक निर्विकल्प मोक्षमार्ग भी जीव का स्वरूप नहीं है। भावलिंग भी पर्याय होने के कारण उपचारनय से जीव का स्वरूप होने पर भी परमसूक्ष्म निश्चयनय से भावलिंग भी जीव का स्वरूप नहीं है। निश्चय से तो बंध-मोक्ष की पर्याय आत्मा में है नहीं। वस्तु तो त्रिकाल एकरूप मुक्तस्वरूप ही है। मोक्ष की उत्पत्ति व संसार का नाश – ये दोनों पर्याय में हैं; इसकारण व्यवहार हैं।

यदि व्यवहार नहीं दिखाया जाय तो बंध-मोक्ष का ही अभाव ठहरेगा। नवीन मोक्ष की पर्याय प्रगट करना व बंध का नाश करना – ये सब पर्याय में हैं; इसलिए व्यवहार का दिखाना न्यायसंगत है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मंदरागरूप-व्यवहार मोक्षमार्ग का कारण है।

गाथा ४६ के भावार्थ पर प्रवचन

परमार्थनय तो जीव को शरीर तथा राग-द्वेष-मोह से भिन्न कहता है। यदि परमार्थ का ही एकान्त करेंगे तो शरीर तथा राग-द्वेष-मोह

पुद्गलमय ठहरेंगे। ऐसा होने पर पुद्गल के घातने से तो हिंसा नहीं होती और राग-द्वेष-मोह से बंध नहीं होता – ऐसा ठहरेगा। तथा इसीप्रकार परमार्थ से जो संसार व मोक्ष – दोनों का अभाव कहा है, वह भी एकान्त ठहरेगा; किन्तु ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। परमार्थ से जो संसार-मोक्ष का अभाव कहा, वह एकान्त से नहीं है। बंध-मोक्ष पर्याय में तो हैं ही। बंध, मोक्ष व मोक्ष का उपाय – ये सभी पर्यायरूप व्यवहार हैं।

एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान आचरण अवस्तुरूप ही होता है; इसलिए व्यवहारनय का उपदेश न्याय-प्राप्त है अर्थात् व्यवहारनय का विषय भी है। इसप्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध टालकर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। इन नयों का विरोध स्याद्वाद से मिट जाता है। पर्यायदृष्टि से आत्मा का राग-द्वेष-मोह आदि के साथ सम्बन्ध है तथा वस्तुस्वभाव की दृष्टि से सम्बन्ध नहीं है। पर्याय है, पर्याय में राग-द्वेष हैं – इनका ज्ञान करना; किन्तु जिनवचन में जिस एक को ही उपादेय कहा है, उस आनन्द के नाथ शुद्ध त्रिकाली भगवान आत्मा का आश्रय करना। इसप्रकार दोनों नयों का विरोध दूर करके श्रद्धान करने पर सम्यग्दर्शन होता है।

यद्यपि जिनवचन में शुद्ध त्रिकाली चैतन्यघनस्वरूप जीववस्तु उपादेय कही है; तथापि राग-द्वेष, बंध-मोक्ष इत्यादि सब पर्यायनय के – व्यवहारनय के विषय भी हैं, किन्तु वे आश्रय करने लायक नहीं हैं तथा 'हैं ही नहीं' – इसप्रकार निषेध करने लायक भी नहीं है।

स्याद्वाद की महिमा

निहचै मैं रूप एक विवहार मैं अनेक,
यही नय-विरोध मैं जगत भरमायौ है।
जग के विवाद नासिबे कौं जिन आगम है,
जामैं स्याद्वाद नाम लच्छन सुहायौ है ।।
दरसनमोह जाकौ गयौ है सहजरूप,
आगम प्रमान ताके हिरदै मैं आयौ है।
अनैसौं अखंडित अनूतन अनंत तेज,
ऐसो पद पूरन तुरंत तिनि पायौ है ।।

– समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द ५

अथ केन दृष्टान्तेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत् –

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया ॥४७॥

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो ॥४८॥

राजा खलु निर्गत इत्येष बलसमुदयस्यादेशः ।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ॥४७॥

एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानाम् ।
जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ॥४८॥

यथैष राजा पंच योजनान्यभिव्याप्य निष्क्रामतीत्येकस्य पंचयोजनान्यभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणां बलसमुदाये राजेति व्यवहारः, परमार्थ-

---

अब शिष्य पूछता है कि व्यवहारनय किस दृष्टान्त से प्रवृत्त हुआ है ? उसका उत्तर कहते हैं :-

'निर्गमन इस नृप का हुआ,' – निर्देश सैन्यसमूह में ।
व्यवहार से कहलाय यह, पर भूप इसमें एक है ॥४७॥

त्यों सर्व अध्यवसान आदिक, अन्यभाव जु जीव है ।
– शास्त्रन किया व्यवहार, पर जीव निश्चय एक है ॥४८॥

गाथार्थ :– जैसे कोई राजा सेनासहित निकला, वहाँ [**राजा खलु निर्गतः**] 'यह राजा नकला' [**इति एषः**] – इसप्रकार जो यह [**बलसमुदयस्य**] सेना के समुदाय को [**आदेशः**] कहा जाता है सो वह [**व्यवहारेण तु उच्यते**] व्यवहार से कहा जाता है, [**तत्र**] उस सेना में (वास्तव में) [**एकः निर्गतः राजा**] राजा तो एक ही निकला है; [**एवम् एव च**] इसीप्रकार [**अध्यवसानाद्यन्यभावानाम्**] अध्यवसानादि अन्य भावों को [**जीवः इति**] 'ये जीव हैं' – इसप्रकार [**सूत्रे**] परमागम में कहा है सो [**व्यवहारः कृतः**] व्यवहार किया है, [**तत्र निश्चितः**] यदि निश्चय से विचार किया जाये तो उनमें [**जीवः एकः**] जीव तो एक ही है ।

तस्त्वेक एव राजा; तथैव जीवः समग्रं रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तत इत्येकस्य समग्रं रागग्राममभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणामध्यवसानादिष्वन्यभावेषु जीव इति व्यवहारः, परमार्थतस्त्वेक एव जीवः ।

टीका :– जैसे यह कहना कि यह राजा पाँच योजन के विस्तार में निकल रहा है, सो यह व्यवहारीजनों का सेनासमुदाय में राजा कह देने का व्यवहार है; क्योंकि एक राजा का पाँच योजन में फैलना अशक्य है, परमार्थ से तो राजा एक ही है। (सेना राजा नहीं है।) उसीप्रकार यह जीव समग्र (समस्त) रागग्राम में (राग के स्थानों में) व्याप्त होकर प्रवृत्त हो रहा है – ऐसा कहना वह व्यवहारीजनों का अध्यवसानादिक भावों में जीव कहने का व्यवहार है, क्योंकि एक जीव का समग्र रागग्राम में व्याप्त होना अशक्य है; परमार्थ से तो जीव एक ही है। (अध्यवसानादिक भाव जीव नहीं हैं।)

गाथा ४७–४८ की उत्थानिका, गाथा एवं उनकी टीका पर प्रवचन

छियालीसवीं गाथा में व्यवहारनय की उपयोगिता बताई गई है। यहाँ सैंतालीसवीं तथा अड़तालीसवीं गाथा में व्यवहारनय की प्रवृत्ति किस-प्रकार होती है, यह दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।

गाथोक्त बात को ही अमृतचंद्राचार्यदेव टीका में कहते हैं कि जिस-प्रकार 'यह राजा पाँच योजन में व्याप्त होकर निकल रहा है' – यह व्यवहारीजनों के द्वारा सेनासमुदाय में राजा कहने का व्यवहार है, क्योंकि एक राजा का पाँच योजन में व्याप्त होना अशक्य है, परमार्थ से तो राजा एक ही है; उसीप्रकार 'यह जीव समस्त रागग्राम (राग के स्थान) में व्याप्त होकर प्रवृत्त हो रहा है' – यह व्यवहारीजनों का अध्यवसानादि अन्य भावों में जीव कहने का व्यवहार है, क्योंकि एक जीव का समस्त रागग्राम में व्याप्त होना अशक्य है, परमार्थ से तो जीव एक ही है।

जिसप्रकार सेना में राजा तो व्याप्त नहीं होता, परन्तु सेना में राजा का निमित्त है; अतः 'राजा पाँच योजन में व्याप्त है'– यह कथन होता है। उसीप्रकार शुद्ध आत्मवस्तु विकार के अनेक प्रकारों में व्याप्त नहीं होती, परन्तु अशुद्ध-उपादानभूत विकार के अनेक प्रकारों में आत्मा निमित्त है; अतः 'यह आत्मा अध्यवसानादि भावों में व्याप्त है' – ऐसा कहा जाता है। अशुद्ध-उपादान पर्याय का स्वतंत्र है, वहाँ द्रव्य को तो निमित्तमात्र कहा जाता है। श्री योगसार ग्रन्थ में भी कहा है कि विकार का मूल उपादान

आत्मा नहीं है। अशुद्ध-उपादान व्यवहार (पर्याय) का स्वयं स्वतंत्र है, आत्मा विकार का उपादान नहीं है, परन्तु निमित्त है; अतः 'आत्मा राग में व्याप्त है' – यह व्यवहार से कहा जाता है। भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का शासन अलौकिक है और इसे बहुत गंभीरता से समझना चाहिए।

परमार्थ से तो राजा एक ही है, सेना राजा नहीं है, क्योंकि सेना में राजा का व्याप्त होना अशक्य है। इसीप्रकार निश्चय से आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का पिंड, शुद्ध, चैतन्यघन, वस्तु एक ही है और जो मिथ्यात्व के असंख्यात, शुभभाव के असंख्यात और अशुभभाव के असंख्यात प्रकार हैं – वे आत्मा नहीं हैं, क्योंकि समस्त प्रकार के राग के स्थानों में आत्मा का व्याप्त होना अशक्य है।

भाई! त्रिकाल आनंद का घनपिण्ड शुद्ध नित्य प्रभु, असंख्य प्रकार की अशुद्धता या विकार में कैसे आये; अशुद्धता या विकार को करनेवाला तो आत्मा में कोई गुण, शक्ति या स्वभाव ही नहीं है। पर्याय में जो भी और जैसी भी अशुद्धता होती है, वह स्वतंत्ररूप से अशुद्ध-उपादान से होती है। अशुद्ध-उपादान कहें या व्यवहार कहें – एक ही बात है। शुद्ध-उपादानभूत वस्तु अशुद्ध-उपादान में किसीप्रकार भी कारण नहीं है। निमित्त तो है और निमित्त होने के कारण ही जिसप्रकार सेना को राजा कहा जाता है, उसीप्रकार विकार को भी जीव कहा जाता है।

अज्ञानी जीवों को समझाने के लिए व्यवहारनय के माध्यम से उपदेश दिया जाता है। कोई जीव व्यवहार के द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप का निर्णय करे तो सम्यक् है, परन्तु व्यवहार से निश्चय का ज्ञान तो न करे और व्यवहार में ही चिपट जाये तो वह उपदेश का भी पात्र नहीं है। अरे भाई! आत्मा कोई अद्भुत वस्तु है। यह तो भगवत्स्वरूप, परमात्मारूप, समयसार है। त्रिकाल, ध्रुव, परमानंदस्वरूप, चिद्घन वस्तु है। वही भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है, और वही समयसार कारणपरमात्मा है। समयसार ग्रंथराज की ११वीं गाथा में आता है कि त्रिकाली शुद्धवस्तु भूतार्थ है तथा असंख्यात प्रकार के विकार और समस्त प्रकार के पर्याय-भेद त्रिकाली की अपेक्षा से अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। पर्याय की अपेक्षा पर्याय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है; परन्तु द्रव्य की अपेक्षा पर्याय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। रागादि के असंख्यात प्रकारों में आत्मा उपादानभूत नहीं है, निमित्तरूप है। नित्य, एकरूप, सत्यार्थप्रभु आत्मा चिन्मात्रमूर्ति व पवित्रता का पिण्ड है; उसे राग में व्याप्त होनेवाला व्यवहारनय कहता है।

वस्तु तो शुद्ध-उपादानस्वरूप है, उसमें अशुद्धता की गंध भी नहीं है; अतः उसका अशुद्धतारूप अवस्था में फैलना अशक्य है। पर्याय में असंख्यात प्रकार की अशुद्धता होती है, वह बिना कारण के नहीं होती, उसमें अशुद्ध-उपादान स्वतंत्ररूप से कारण है। शुद्ध-उपादानस्वरूप द्रव्य वहाँ से कहीं चला नहीं गया है; वह वहाँ है, उसकी उपस्थिति है। अतः व्यवहार या अभूतार्थनय से आत्मा विकार में व्याप्त होनेवाला कहलाता है।

भाई ! यह बात सूक्ष्म तो है, परन्तु प्रयत्न करने से समझ में आ सकती है। सर्वज्ञ परमेश्वर की दिव्यध्वनि में यह बात आयी है तथा सन्तों ने इसे प्रसिद्ध किया है, इसका वाच्य अत्यन्त गहराईवाला, रहस्यमय और गंभीर है। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि पूर्णानंद के नाथ, नित्यानन्द, ध्रुव, प्रभु का विकार के विस्तार में व्यापना अशक्य है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि शुभभाव; हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, काम, आदि अशुभभाव तथा असंख्यात प्रकार के मिथ्यात्व भाव – इनमें शुद्धजीववस्तु अनादिअनंत ध्रुव एकरूप रहती है।

परमार्थ से जीव एक ही है, अध्यवसानादि भाव जीव नहीं हैं। अशुद्धता को करने की जीव में कोई शक्ति या गुण नहीं है। पर्याय में जो विकारी भाव होता है, वह जीव में है – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

पाँच महाव्रत पालने का विकल्प, छह काय के जीवों की रक्षा का विकल्प, अट्ठाईस मूलगुणों को धारण करने का विकल्प – आदि सब विकल्पों में आत्मा व्याप्त नहीं होता है। 'इन समस्त अध्यवसानादि भावों में आत्मा है' – यह व्यवहारनय है।

आत्मा तो उसे कहते हैं, जो एकशुद्ध चिद्घन है। दृष्टान्त में जैसे राजा एक है, उसीप्रकार आत्मा एक ही है। पाँच योजन में फैला हुआ राजा है – ऐसा कहना, यह तो सेना में राजा कहने का व्यवहार है। उसीप्रकार रागसमूह में आत्मा व्याप्त है – ऐसा कहना यह भी पर्याय में आत्मा कहने का व्यवहार है। वास्तव में तो पर्याय में आत्मा व्याप्त नहीं होता। – ऐसा कहकर आचार्य यह कहना चाहते हैं कि अनादि से जो पर्यायों के प्रपंच पर दृष्टि है, वह अशुद्ध-उपादान की दृष्टि है; उसका लक्ष्य छोड़कर एकरूप भगवान आत्मा पर दृष्टि करो, जिससे पर्याय निर्मल होगी। अहाहा ! दिगम्बर सन्तों की वाणी ने कमाल किया है !

यद्येवं तर्हि किं लक्षणोऽसावेकष्टंकोत्कीर्णः परमार्थजीव इति पृष्टः प्राह –

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।४९।।

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ।।४९।।

यः खलु पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरसगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारसनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावात्भावेन्द्रियावलंबेनारसनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्-

---

अब शिष्य पूछता है कि यह अध्यवसानादि भाव जीव नहीं हैं तो एक, टंकोत्कीर्ण, परमार्थस्वरूप जीव कैसा है ? उसका लक्षण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं :–

जीव चेतनागुण, शब्द-रस-रूप-गंध-व्यक्तिविहीन है ।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान उसका, ग्रहण नहिं है लिंग से ।।४९।।

गाथार्थ :– हे भव्य ! तू [**जीवम्**] जीव को [**अरसम्**] रस-रहित, [**अरूपम्**] रूपरहित, [**अगन्धम्**] गन्धरहित, [**अव्यक्तम्**] अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं – ऐसा [**चेतना गुण**] चेतना जिसका गुण है – ऐसा, [**अशब्दम्**] शब्दरहित, [**अलिंगग्रहणं**] किसी चिह्न से ग्रहण न होनेवाला और [**अनि र्दिष्टसंस्थानम्**] जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता – ऐसा [**जानीहि**] जान ।

टीका :–जीव निश्चय से पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, इसलिये उसमें रस-गुण विद्यमान नहीं है; अतः वह अरस है ।।१।। पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने से स्वयं भी रसगुण नहीं है, इसलिये अरस है ।।२।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व भी उसके नहीं है, इसलिये वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता; अतः अरस है ।।३।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाय तो उसके क्षायोपशमिक भाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता, इसलिये अरस है ।।४।।

केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेनारसनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरूपगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारूपणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारूपणात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरूपवेदनापरिणामापन्नत्वेनारूपणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रूपपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रूपरूपेणापरिणमनाच्चारूपः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानगंधगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमगंधगुण-

---

समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रसवेदनापरिणाम को पाकर रस नहीं चखता, इसलिये अरस है ।।५।। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है, परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का (एकरूप होने का) निषेध होनेसे रस के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता, इसलिये अरस है ।।६।। इस तरह छह प्रकार से रस के निषेध से वह अरस है ।

इसप्रकार जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें रूपगुण विद्यमान नहीं है, इसलिये अरूप है ।।१।। पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी रूपगुण नहीं है, इसलिये अरूप है ।।२।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी रूप नहीं देखता, इसलिये अरूप है ।।३।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी रूप नहीं देखता, इसलिये अरूप है ।।४।। सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रूपवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर रूप नहीं देखता, इसलिये अरूप है ।।५।। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है, परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से रूप के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं रूपरूप से नहीं परिणमता, इसलिये अरूप है ।।६।। इस तरह छह प्रकार से रूप के निषेध से वह अरूप है ।

इसप्रकार जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें गंधगुण विद्यमान नहीं है, इसलिये अगंध है ।।१।। पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी गंधगुण नहीं है, इसलिये अगंध है ।।२।।

त्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनागंधनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनागंधनात्, सकलगंध-साधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलगन्धवेदनापरिणामापन्नत्वेना-गंधनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात्गंधपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं गंधरूपेणापरिणमनाच्चागंधः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानस्पर्श-गुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमस्पर्शगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनास्पर्शनात्, स्वभावतः क्षायो-पशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेनास्पर्शनात्, सकलसाधारणैकसंवेदन-परिणामस्वभावत्वात्केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेनास्पर्शनात्, सकल-ज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात्स्पर्शपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं स्पर्श-

---

परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी गंध नहीं सूंघता, इसलिये अगंध है ।।३।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी गंध नहीं सूंघता, अतः अगंध है ।।४।। सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक गंधवेदना-परिणाम को प्राप्त होकर गंध नहीं संघता, अतः अगंध है ।।५।। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है, परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से गंध के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं गंधरूप नहीं परिणमता, अतः अगंध है ।

इसप्रकार जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उस में स्पर्शगुण विद्यमान नहीं है, इसलिये अस्पर्श है ।।१।। पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी स्पर्शगुण नहीं है, अतः अस्पर्श है ।।२।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी स्पर्श को नहीं स्पर्शता, अतः अस्पर्श है ।।३।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी स्पर्श को नहीं स्पर्शता, अतः अस्पर्श है ।।४।। सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक स्पर्शवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर स्पर्श को नहीं स्पर्शता, अतः अस्पर्श है ।।५।। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है, परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से स्पर्श के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं

रूपेणापरिणमनाच्चास्पर्शः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानशब्दपर्यायत्वात्, पुद्गलद्रव्यपर्यायेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमशब्दपर्यायत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येंद्रियावष्टंभेन शब्दाश्रवणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेन शब्दाश्रवणात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलशब्दवेदनापरिणामापन्नत्वेन शब्दाश्रवणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाच्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं शब्दरूपेणापरिणमनाच्चाशब्दः । द्रव्यांतरारब्धशरीरसंस्थानेनैव संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात्, नियतस्वभावेनानियतसंस्थानानंतशरीरवर्तित्वात्, संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात्, प्रतिवि-

---

स्पर्शरूप नहीं परिणमता, अतः अस्पर्श है ।।६।। इस तरह छह प्रकार से स्पर्श के निषेध से वह अस्पर्श है ।

इसप्रकार जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उस में शब्दपर्याय विद्यमान नहीं है, अतः अशब्द है ।।१।। पुद्गलद्रव्य की पर्यायों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी शब्दपर्याय नहीं है, अतः अशब्द है ।।२।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता, अतः अशब्द है ।।३।। अपने स्वभाव की दृष्टि मे देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता, अतः अशब्द है ।।४।। सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक शब्द-वेदनापरिणाम को प्राप्त होकर शब्द नहीं सुनता, अतः अशब्द है ।।५।। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है, परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से शब्द के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं शब्दरूप नहीं परिणमता, अतः अशब्द है ।।६।। इस तरह छह प्रकार से शब्द के निषेध से वह अशब्द है ।

(अब 'अनिर्दिष्टसंस्थान' विशेषण को समझाते हैं :–) पुद्गलद्रव्य-रचित शरीर के संस्थान (आकार) से जीव को संस्थानवाला नहीं कहा जा सकता, इसलिये जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है ।।१।। अपने नियतस्वभाव से अनियत संस्थानवाले अनन्त शरीर में रहता है, इसलिये अनिर्दिष्ट-संस्थान है ।।२।। संस्थान नामकर्मका विपाक (फल) पुद्गलों में ही कहा जाता है, (इसलिये उसके निमित्त से भी आकार नहीं है) इसलिये अनि-र्दिष्टसंस्थान है ।।३।। भिन्न-भिन्न संस्थानरूप से परिणमित समस्त वस्तुओं

शिष्टसंस्थानपरिणतसमस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहजसंवेदनशक्तित्वेऽपि स्वयमखिललोकसंवलनशून्योपजायमाननिर्मलानुभूतितयात्यंतमसंस्थानत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानः। षड्द्रव्यात्मकलोकाज्ज्ञेयाद्व्यक्तादन्यत्वात्, कषायचक्राद्भावकाद्व्यक्तादन्यत्वात्, चित्सामान्यनिमग्नसमस्तव्यक्तित्वात्, क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात्, व्यक्ताव्यक्तविमिश्रप्रतिभासेपि व्यक्तास्पर्शत्वात्, स्वयमेव हि बहिरंतःस्फुटमनुभूयमानत्वेपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यक्तः। रसरूपगंधस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वाभावेपि स्वसंवेदनबलेन नित्यमात्मप्रत्यक्षत्वे सत्यनुमेयमात्रत्वाभावादलिंगग्रहणः। समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथिना विवेचकजनसमर्पितसर्वस्वेन सकलमपि लोकालोकं कवली-

---

के स्वरूप के साथ जिसकी स्वाभाविक संवेदनशक्ति सम्बन्धित (अर्थात् तदाकार) है – ऐसा होने पर भी जिसे समस्त लोक के मिलाप से (सम्बन्ध से संस्थान रहित है इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है ॥४॥ इसप्रकार चार हेतुओं से संस्थान का निषेध कहा।

(अब 'अव्यक्त' विशेषण को सिद्ध करते हैं :–) छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है, उससे जीव अन्य है; इसलिये अव्यक्त है ॥१॥ कषायों का समूह जो भावकभाव व्यक्त है, उससे जीव अन्य है; इसलिये अव्यक्त है ॥२॥ चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अन्तर्भूत) हैं, इसलिये अव्यक्त है ॥३॥ क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है, इसलिये अव्यक्त है ॥४॥ व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तता को ही स्पर्श नहीं करता, इसलिये अव्यक्त है ॥५॥ स्वयं अपने से ही बाह्याभ्यंतर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है, तथापि व्यक्तता के प्रति उदासीनरूप से प्रकाशमान है; इसलिये अव्यक्त है ॥६॥ इसप्रकार छह हेतुओं से अव्यक्तता सिद्ध की है।

इसप्रकार रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसंवेदन के बल से स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से अनुमानगोचरमात्रता के अभाव के कारण (जीव को) अलिंगग्रहण कहा जाता है।

अपने अनुभव में आनेवाले चेतनागुण के द्वारा सदा अन्तरङ्ग में प्रकाशमान है, इसलिये (जीव) चेतनागुणवाला है। वह चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियों को (जीव को अन्यप्रकार से माननेरूप झगड़ों को) नाश करनेवाला है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है, जो समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत करके मानों अत्यन्त तृप्ति से उपशान्त हो गया हो; इसप्रकार (अर्थात् अत्यन्त स्वरूपसौख्य से तृप्त-तृप्त

कृत्यात्यंतसौहित्यमंथरेणेव सकलकालमेव मनागप्यविचलितानन्यसाधारणतया स्वभावभूतेन स्वयमनुभूयमानेन चेतनागुणेन नित्यमेवांतःप्रकाशमानत्वात् चेतनागुणश्च । स खलुभगवानमलालोक इहैकष्टंकोत्कीर्णः प्रत्यग्ज्योतिर्जीवः ।

होने के कारण स्वरूप में से बाहर निकलने का अनुद्यमी हो, इसप्रकार) सर्व काल में किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता और इसतरह सदा लेशमात्र भी नहीं चलित, अन्यद्रव्य से असाधारणता होने से जो (असाधारण) स्वभावभूत है। ऐसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप जीव है। जिसका प्रकाश निर्मल है – ऐसा यह भगवान इस लोक में एक, टंकोत्कीर्ण, भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है।

गाथा ४९ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

पूर्व गाथा में आचार्यदेव ने कहा था कि पुण्य-पाप के भाव आत्मा नहीं हैं तथा समस्त रागग्राम में आत्मा व्याप्त नहीं होता है। अध्यवसानादि भाव आत्मा का स्वरूप नहीं है, आत्मा एकस्वरूप है। तब शिष्य कहता है कि यदि पुण्य-पाप के भाव, विकारी भाव, सुख-दुःख के परिणाम, अध्यवसानादि भाव आत्मा नहीं हैं तो एक टंकोत्कीर्ण परमार्थस्वरूप जीव कैसा है ? – इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप यह ४९वीं गाथा है।

यह गाथा बड़ी अलौकिक है। यह गाथा श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित सभी ग्रंथों में एवं अन्य बहुत से प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों में भी पाई जाती है। प्रवचनसार में १७२वीं, नियमसार में ४६वीं, पंचास्तिकाय में १२७वीं, अष्टपाहुड़ (भावपाहुड़) में ६४वीं गाथा भी यही है। धवला ग्रंथ के तीसरे भाग में पहली, पद्मनन्दी पंचविंशतिका एवं लघु द्रव्यसंग्रहादि में भी यह गाथा उद्धृत है। इसका कारण यह है कि इस गाथा में आत्मा का वास्तविक स्वरूप अचिन्त्य और अलौकिक ढंग से व्यक्त किया गया है।

इस गाथा में सर्वप्रथम अरसस्वभाव की बात की गई है, क्योंकि जगत में सभी जीव परपदार्थों में रस मान रहे हैं। खाने-पीने, चलने-फिरने, रहन-सहन आदि में ही रस मान रहे हैं, तथा इसी में सुख मान रहे हैं। अतएव आत्मा में परपदार्थों के रस का अभाव बताया गया है। यहाँ आत्मा के अतीन्द्रिय आनंदस्वभाव व अतीन्द्रिय अनुभवरस की बात बताई गई है।

अब सर्वप्रथम टीका के माध्यम से अरसस्वभावी आत्मा के छह बोलों का विस्तार करते हैं।

पहला बोल :— निश्चय से पुद्‌गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण जीव में रसगुण विद्यमान नहीं है, अतः अरस है।

आत्मा अरस है। खट्टा, मीठा, कड़वा आदि पाँच प्रकार के रस पुद्‌गलद्रव्य के हैं, आत्मा के नहीं। परमार्थ से आत्मा पुद्‌गलद्रव्य से भिन्न है, और रस का स्वामी पुद्‌गल होने से वह आत्मा में विद्यमान नहीं है।

परमार्थ से आत्मा का पुद्‌गलद्रव्य के साथ कोई संबंध नहीं है। व्यवहारनय से शरीर और कर्म के साथ आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, परन्तु वह मात्र ज्ञान करने योग्य है।

विश्व में छह द्रव्य हैं, उसमें जीवद्रव्य पाँच द्रव्यों से भिन्न है, परन्तु यहाँ जीवद्रव्य को पुद्‌गलद्रव्य से भिन्न बताने का उद्देश्य यह है कि अज्ञानी मुख्यरूप से जीव-पुद्‌गल में ही एकत्व करता है, शरीर-मन-वाणी आदि में ही एकत्व करता है। अतः शरीरादि परपदार्थों से भेदज्ञान कराया गया है। आत्मा तो त्रिकाल चिदानंद रसमय वस्तु है, उसमें पुद्‌गलद्रव्य का अभाव होने से रसगुण विद्यमान नहीं है।

दूसरा बोल :— पुद्‌गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने से स्वयं भी रसगुण नहीं है, अतः अरस है।

प्रथम बोल में पुद्‌गलद्रव्य से भिन्नत्व की बात कही गई थी। इस बोल में पुद्‌गलद्रव्य के गुणों से भिन्नपने की बात है। आत्मा चैतन्यरस-स्वरूप वस्तु है, वह पुद्‌गलद्रव्य के गुणों से भिन्न है; अतः अरस है।

पुद्‌गलद्रव्य के जितने गुण हैं, उन सबसे आत्मा भिन्न है; अतः रसगुण से भी आत्मा भिन्न ही है।

तीसरा बोल :— परमार्थ से पुद्‌गलद्रव्य का स्वामित्व भी आत्मा को नहीं है, इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता, अतः अरस है।

मूलवस्तु की अपेक्षा जीव को पुद्‌गलद्रव्य का स्वामित्व नहीं है, इन जड़-इन्द्रियों का स्वामी आत्मा नहीं है; इसलिए आत्मा जिह्वा-इन्द्रिय के माध्यम से भी रस नहीं चखता।

प्रथम बोल में पुद्‌गलद्रव्य से आत्मा को भिन्न किया, द्वितीय बोल में पुद्‌गलद्रव्य के गुण से भिन्न किया। इस तीसरे बोल में पुद्‌गलद्रव्य की जड़-इन्द्रियरूप पर्याय से भिन्नता की बात की है।

चौथा बोल :– अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो क्षायोपशमिकभाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के अवलम्बन से भी रस नहीं चखता, इसलिए अरस है।

यह चतुर्थ बोल तृतीय बोल से अधिक सूक्ष्म है। अपने स्वभाव की दृष्टि से अर्थात् त्रिकाली **शुद्धज्ञायकभाव** की दृष्टि से देखें तो आत्मा में क्षयोपशमभाव का भी **अभाव है**। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान – इन चार ज्ञानों को **शास्त्र में विभावगुण** कहा गया है। यद्यपि इन्हें विभावगुण कहा गया है, तथापि ये सम्यग्ज्ञान ही हैं। अशुद्धनिश्चयनय से इन चार ज्ञानों का जीव के साथ संबंध है, तथापि शुद्धनिश्चयनय से कोई संबंध नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि जिस भावेन्द्रिय के द्वारा जाना जाता है, उस भावेन्द्रिय का ही स्वभाव-दृष्टि में अभाव है अर्थात् स्वभावदृष्टि का विषय भावेन्द्रिय नहीं है।

श्री समयसार शास्त्र की ३१वीं गाथा में आता है कि भावेन्द्रिय अपने विषय को खंड-खंडरूप से जानती है और वे विषय भी ज्ञान को खंड-खंडरूप से ही समर्पण करते हैं। आत्मा एक अखंड ज्ञायकभावरूप है, इसलिए भावेन्द्रिय निश्चय से आत्मा का स्वरूप नहीं। इसी ३१वीं गाथा में कहा गया है कि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उनके विषयों को जो जीते, वह जितेन्द्रिय है। उन्हें जीतने का तात्पर्य है कि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा उनके विषय आत्मा से भिन्न हैं अर्थात् परज्ञेय हैं। यद्यपि परज्ञेय का यथार्थज्ञान भी आत्मा के द्वारा ही होता है, तथापि जिसे ज्ञायक का स्वरूपग्राही ज्ञान होता है, उसे ही परज्ञेय का यथार्थज्ञान होना कहलाता है।

रस को जानने का वर्त्तमान ज्ञान का विकास, रस को जानने की वर्त्तमान ज्ञान की शक्ति, रस को जानने में अटकनेवाला ज्ञान, एक रस में प्रवृत्त होनेवाला ज्ञान – ये सब क्षायोपशमिकभाव हैं, उनका भी परमार्थदृष्टि से आत्मा में अभाव है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप परिपूर्णज्ञान है। इस स्वभाव की दृष्टि से देखा जाये तो अल्पज्ञान का इसमें अभाव है। चैतन्य आत्मा पूर्णज्ञान की मूर्ति है, अतः अपूर्णज्ञान भी उसका नहीं है।

पाँचवाँ बोल :– समस्त विषयों के विशेषों में साधारण – ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से केवल एक रसवेदनापरिणाम को प्राप्त करके रस नहीं चखता, इसलिए अरस है।

आत्मा अखण्ड ज्ञायकभावरूप वस्तु है, वह पाँचों इन्द्रियों के विषयों को अखण्डरूप से जाननेवाला है; मात्र एक इन्द्रिय के विषय का वेदन

करना अथवा उसे जानना आत्मा का स्वभाव नहीं है। पाँचों इन्द्रियों के ज्ञान का संवेदन एकसाथ आत्मा को हो – यह आत्मा का स्वभाव है। इसकारण वह एक रसवेदनापरिणाम को पाकर अर्थात् मात्र एक रस के ही ज्ञान को प्राप्त करके रस को नहीं चखता, अतः आत्मा अरस है।

छठवाँ बोल :– आत्मा को समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है, किन्तु ज्ञेय-ज्ञायक तादात्म्य का निषेध होने से रस के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता, इसलिए अरस है।

देखो! संपूर्ण विश्व ज्ञेय है और भगवान आत्मा ज्ञायक है। सभी ज्ञेयों को जानने की ज्ञायक आत्मा की सामर्थ्य है। इसलिए ज्ञेय-ज्ञायक संबंध का व्यवहार होने पर भी ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य अर्थात् एकत्व का निषेध तो है ही। ज्ञेय को जानते हुए भी ज्ञायक ज्ञेयरूप होता नहीं है। रस तो ज्ञेय है और आत्मा उसे जाननेवाला ज्ञायक है। रसरूप ज्ञेय को जानते हुए भी आत्मा का ज्ञान ज्ञेयरूप या रसरूप नहीं होता है। ज्ञान ज्ञानरूप रहता है और रस रसरूप रहता है। रस का ज्ञान ज्ञानका ही परिणमन है; वह ज्ञान के ही कारण है, रस के कारण नहीं है।

इसप्रकार ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य के निषेध द्वारा आत्मा को अरस सिद्ध करनेवाला यह छठवाँ बोल भी समाप्त हुआ।

इसीप्रकार आत्मा अरूप, अगंध और अस्पर्श है – इन पर भी पहले कहे अनुसार छह-छह बोल घटित कर लेना चाहिए।

अब अशब्दस्वभावी आत्मा का स्वरूप छह बोलों द्वारा बताते हैं।

प्रथम बोल :– जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें शब्दपर्याय विद्यमान नहीं है।

देखो! पहले जो रूप, रस, गंध और स्पर्श की बात कही थी; वह पुद्गलद्रव्य के गुणों की बात थी। परन्तु शब्द पुद्गलद्रव्य का गुण न होकर उसकी स्कंधरूप पर्याय है। भाषावर्गणारूप शब्दों का परिणमन आत्मा में तो होता नहीं, बल्कि आत्मा के द्वारा भी नहीं होता।

प्रश्न :– यदि ऐसा है तो फिर बोलता कौन है?

उत्तर :– भाई! बोलनेवाला अन्य पदार्थ है, बोलनेवाला आत्मा नहीं है। यद्यपि आत्मा बोलने का रागभाव करता है, तथापि आत्मा बोलता नहीं है। यह तो भाषावर्गणा का पर्यायरूप परिणमन है, इसमें जीव का बोलने का रागभाव निमित्त है। 'ध्वनि' जो सुनाई पड़ती है,

वह तो जड़ की पौद्गलिक पर्याय है। 'भगवान की दिव्यध्वनि', – यह भी व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में भगवान का आत्मा दिव्यध्वनि का कर्त्ता नहीं है। दिव्यध्वनि तो स्वयं के कारण अपने जन्मक्षण में होती है। भाषावर्गणा की उससमय उस पर्यायरूप परिणमन करने की अपनी योग्यता है, उसके कारण ही वह उस पर्यायरूप परिणमन करती है।

इस आत्मा को शाश्वत सुखरूप धर्म किसप्रकार प्रगट हो, इसकी बात यहाँ चलती है। शब्दरूप परिणमन मुझसे होता है अर्थात् आत्मा से होता है – ऐसा मानना मिथ्यात्व है, अधर्म है। वास्तव में स्वात्मा के ज्ञानपूर्वक मैं शब्द को जानता हूँ – ऐसी यथार्थ मान्यता (निर्विकल्प प्रतीति) को ही धर्म कहते हैं।

प्रश्न :– ज्ञान शब्द का कर्त्ता है – ऐसा कथन धवला ग्रंथ में आता है; उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– ऐसा ही प्रश्न 'खानियाँ तत्त्वचर्चा' में भी आया है, परन्तु भाई ! वहाँ तो ज्ञान का निमित्तपना बताने के लिए ऐसा कथन किया है। वास्तव में ज्ञान 'शब्द' की पर्याय का कर्त्ता नहीं है। 'शब्द' की पर्याय के काल में ज्ञान उसमें निमित्त है, इसलिए उपचार से 'ज्ञान शब्द का कर्त्ता है' – ऐसा कहा है; वास्तव में कर्त्ता नहीं है।

लोकालोक केवलज्ञान में निमित्त है (यहाँ लोकालोक में शब्द भी आ गये)। इसका अर्थ यह है कि लोकालोक लोकालोक के कारण है और केवलज्ञान केवलज्ञान के कारण है। लोकालोक केवलज्ञान के कारण नहीं और केवलज्ञान लोकालोक के कारण नहीं। केवलज्ञान की पर्याय का परिणमन लोकालोक से निरपेक्ष स्वयं स्वतन्त्र है और लोकालोक का अस्तित्व केवलज्ञान से निरपेक्ष स्वयं स्वतन्त्र है।

'केवलज्ञान लोकालोक को जानता है' – ऐसा कहना भी असद्भूत-व्यवहारनय का विषय है। वास्तव में केवलज्ञान स्वयं को ही जानता है। श्री समयसार कलशटीका में कलश २७१ में आता है कि "मैं ज्ञायक हूँ और छह द्रव्य मेरे ज्ञेय हैं – ऐसा नहीं है। तो कैसा है ? कि स्वयं ही ज्ञाता, स्वयं ही ज्ञान और स्वयं ही ज्ञेय – ऐसी ही वस्तु हैं"। यहाँ भी कहते हैं कि शब्द की पर्याय का ज्ञान आत्मा में स्वयं के कारण से होता है, शब्द के कारण से नहीं होता।

यहाँ भेदज्ञान की बात चलती है। शब्दपर्याय आत्मा में है भी नहीं और आत्मा से होती भी नहीं, अतः आत्मा अशब्द है।

दूसरा बोल :– पुद्गलद्रव्य की पर्यायों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी शब्दपर्याय नहीं है, अतः अशब्द है।

पहले बोल में जीव पुद्गलद्रव्य से भिन्न कहा है और इस बोल में जीव को पुद्गलद्रव्य की शब्द-अवस्था से भिन्न कहा है। जीव स्वयं शब्द-पर्याय नहीं है, अतः अशब्द है।

तीसरा बोल :– परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी आत्मा को नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के अवलम्बन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता, अतः अशब्द है।

कर्णेन्द्रिय का स्वामी भगवान आत्मा नहीं है, क्योंकि कर्णेन्द्रिय तो जड़ परमाणुमय है, उसका कर्त्ता आत्मा कैसे हो सकता है? तथा उसके अवलम्बन से आत्मा सुन भी कैसे सकता है? अतः कान के अवलम्बन से आत्मा शब्द को जानता है – ऐसा नहीं है। कान तो पुद्गल की पर्याय है और आत्मा ज्ञानस्वरूपी स्वयं है। आत्मा कान से बिल्कुल भिन्न पदार्थ है। यदि आत्मा कान के अवलम्बन से शब्द को सुने तो वह जड़-कर्णेन्द्रिय का स्वामी ठहरे, परन्तु जड़ का स्वामी तो आत्मा है ही नहीं।

वास्तव में आत्मा का स्वरूप तो यह है कि वह न तो सुनता है और न ही बहरा है। वह न तो बोलता है और न ही गूंगा है। आत्मा तो ज्ञातादृष्टा प्रभु है। जो यह मानता है कि आत्मा कान के अवलम्बन से सुनता है, वह अपने को पराधीन मानता है। उसे अपने स्वतन्त्र आत्मा के स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव की सत्ता का भान नहीं है। जैसे अग्नि उष्णता का पिण्ड है, उसीप्रकार आत्मा ज्ञान का पिण्ड है। उसमें अस्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व आदि साधारण और दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि असाधारण गुण हैं। ऐसे अनन्त-अनन्त स्वभाववाला आत्मा स्वयं जानने-वाला है। वह कान के द्वारा सुनता है, यह मानना तो पराधीनता है।

चौथा बोल :– अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आये तो क्षायोप-शमिकभाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के अवलम्बन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता, अतः अशब्द है।

यदि शुद्धज्ञायकवस्तु की दृष्टि से देखा जाय तो अखण्ड आत्मा में क्षायोपशमिकभाव नहीं है। स्वभाव की दृष्टि से आत्मा में भावेन्द्रिय का अभाव है। शुद्ध-आत्मवस्तु में भावेन्द्रिय का अभाव है। इसलिए भावेन्द्रिय के अवम्बन से भी आत्मा शब्द श्रवण नहीं करता है। इसप्रकार

आत्मा अशब्द है। शुद्ध-आत्मा का ऐसा स्वरूप जानना चाहिए 'जाण' शब्द से आचार्यदेव ऐसे आत्मस्वरूप को जानने का उपदेश देते हैं।

पाँचवाँ बोल :– सकल विषयों के विशेषों में असाधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक शब्दवेदना परिणाम को प्राप्त होकर शब्द नहीं सुनता, अतः अशब्द है।

देखो! ज्ञान का मात्र शब्द को जानने का स्वभाव नहीं है, परन्तु समस्त विषयों को अखण्डरूप से जानने का स्वभाव है। इसलिए केवल शब्दवेदना परिणाम को पाकर अर्थात् केवल शब्द का ही ज्ञान पाकर आत्मा शब्द सुनता नहीं है। अतः आत्मा अशब्द है।

छठवाँ बोल :– सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से शब्द के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं शब्दरूप परिणमित नहीं होता, अतः अशब्द है।

'शब्द का ज्ञान', – ऐसा यहाँ कहा गया है, परन्तु वास्तव में वह भी ज्ञान का ही ज्ञान है। शब्द का कोई ज्ञान नहीं होता, परन्तु यह ज्ञान शब्द-संबंधी है, यह बताने के लिए 'शब्द का ज्ञान' कहा जाता है। शब्द तो ज्ञेय है और शुद्ध-आत्मा ज्ञायक है। ज्ञेय-ज्ञायक के एकपने का निषेध होने से शब्द को जानते हुए भी ज्ञायक शब्दरूप नहीं होता, अतः अशब्द है।

इसप्रकार अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्श के छह-छह बोलों के पश्चात् अशब्द के छह बोलों द्वारा आत्मा को अशब्दस्वभावी सिद्ध किया।

अब गाथा में आये आत्मा के विशेषणों में 'अणिद्दिट्ठसंठाणं' अर्थात् 'अनिर्दिष्टसंस्थान' पद की व्याख्या चार बोलों द्वारा करते हैं।

प्रथम बोल :– पुद्‌गलद्रव्यरचित शरीर के संस्थान से जीव को संस्थानवाला नहीं कहा जा सकता है, अतः जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है।

आत्मा शरीराकार है, यह नहीं कहा जा सकता। वह शरीर के रूपी आकारवाला नहीं है, किन्तु अपने अरूपी आकारवाला है। आत्मा में पुद्‌गल से रचित जड़ का आकार नहीं है, अतः जड़ के आकारवाला नहीं होने से आत्मा अनिर्दिष्टसंस्थान है।

देखो! यहाँ आत्मा आकारवाला नहीं है, इसलिए अनिर्दिष्टसंस्थान है – ऐसा नहीं कहा है; बल्कि जड़ के आकारवाला न होने से अनिर्दिष्ट-संस्थान कहा है।

दूसरा बोल :– अपने नियतस्वभाव से अनियतसंस्थानवाले अनन्त-शरीरों में रहता है, इसलिए अनिर्दिष्टसंस्थान है।

भगवान आत्मा नित्य असंख्यातप्रदेशी है–ऐसा उसका नियत-स्वभाव है। शरीर के भिन्न-भिन्न आकार अर्थात् एकेन्द्रिय, दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय, पाँच-इन्द्रिय आदि के आकार अनियत हैं। ऐसे अनियत आकारोंवाले अनंत शरीरों में आत्मा रहता है, इसलिए वह नियतसंस्थानवाला नहीं कहा जा सकता है, अतः अनिर्दिष्टसंस्थान है।

तीसरा बोल :– संस्थान नामकर्म का विपाक (फल) पुद्गलों में ही कहा जाता है। (इसलिए उसके निमित्त से भी आकार नहीं है) अतः आत्मा अनिर्दिष्टसंस्थान है।

शास्त्रों में आठ प्रकार के कर्म कहे गये हैं, उनमें एक नामकर्म भी है, जिसकी ९३ प्रकृतियाँ हैं। उनमें से एक संस्थान नामकर्म की प्रकृति शरीर को आकार देती है अर्थात् नामकर्म की प्रकृति का फल शरीर ही प्राप्त करता है, आत्मा नहीं। संस्थान नामकर्म की प्रकृति के निमित्त से शरीर के छह प्रकार के आकार होते हैं। इसप्रकार नामकर्म की प्रकृति के निमित्त से भी आत्मा तो आकार ग्रहण नहीं करता है, अतः अनिर्दिष्टसंस्थान है।

यद्यपि आत्मा में एक प्रदेशत्वगुण है, उस गुण का कार्य आत्मा को आकार देना है, अतः उसके निमित्त से आत्मा का आकार अवश्य होता है; परन्तु उसकी यहाँ बात नहीं है।

चौथा बोल :– भिन्न-भिन्न संस्थानरूप से परिणमित समस्त वस्तुओं के स्वरूप के साथ जिसकी स्वाभाविक संवेदनशक्ति संबंधित (अर्थात् तदाकार) है, ऐसा होने पर भी जिसे समस्त लोक के मिलाप से (संबंध से) रहित निर्मल (ज्ञानमात्र) अनुभूति हो रही है–ऐसा होने से स्वयं अत्यन्त रूप से संस्थान रहित है, अतः अनिर्दिष्टसंस्थान है।

आत्मा में त्यागोपादानशून्यत्व नाम की एक शक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मा पर के ग्रहण करने व त्याग करने से शून्य है, रहित है, अर्थात् पर का ग्रहण-त्याग तो कभी भी नहीं करता है और न कर ही सकता है; किन्तु यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि दाल-भात-रोटी, शरीर, मकान आदि अनेक आकारवाली वस्तुओं को जानते हुए भी आत्मा उनके आकाररूप नहीं होता, उनके आकाररूप नहीं परिणमता है। पर के आकाररूप परिणमित नहीं होने से ही आत्मा संस्थानरहित है

अर्थात् अनिर्दिष्टसंस्थान है। इसप्रकार चार प्रकार से संस्थान का निषेध किया।

अनिर्दिष्टसंस्थान विशेषण की सिद्धि करने के पश्चात् अब यहाँ अमृतचन्द्राचार्यदेव 'अव्यक्त' विशेषण को सिद्ध करते हैं। इस विशेषण को भी अरसादि विशेषणों की तरह छह बोलों के द्वारा समझाया गया है। यह अव्यक्त विशेषण अलौकिक है।

पहला बोल :– छहद्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है, उससे जीव अन्य है; इसलिए अव्यक्त है।

जगत में छह द्रव्य हैं, वे ज्ञेय हैं। अनन्त आत्मायें, अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय और एक आकाशास्तिकाय – इसप्रकार छह द्रव्यों को सर्वज्ञ भगवान ने देखा है। इन छह द्रव्यों में देव-शास्त्र-गुरु, सम्मेदशिखर आदि समस्त तीर्थक्षेत्र, द्वीप समुद्र आदि समस्त जगत समाविष्ट हो जाता है। इन सभी छह द्रव्यों से आत्मा भिन्न है। अहाहा ! छह द्रव्यों को जाननेवाली पर्याय यह जानती है कि छह द्रव्यों से मेरी चीज भिन्न है। छह द्रव्य ज्ञेय और व्यक्त हैं – उससे भिन्न भगवान आत्मा ज्ञायक और अव्यक्त है।

इस बोल में एक ओर समस्त द्रव्य तथा उन्हें जाननेवाली ज्ञान पर्याय है और दूसरी ओर अकेला आत्मा है; एक ओर सम्पूर्ण विश्व है और एक ओर अकेला स्वयं; एक ओर सारा ग्राम है और एक ओर राम। यह आत्माराम सब का ज्ञाता है और अव्यक्त है। तथा समस्त द्रव्य आत्मा से बाहर हैं, अतः ज्ञेय हैं, व्यक्त हैं।

आचार्य कहते हैं कि आत्मा का अस्तित्व छह द्रव्य के कारण नहीं है। ज्ञान की पर्याय में छह द्रव्य का ज्ञान हुआ, वह स्वयं ही हुआ है; छह द्रव्य के कारण नहीं। तथा छह द्रव्य का ज्ञान है, इसलिए छह द्रव्य हैं – ऐसा भी नहीं है। छह द्रव्य और उन्हें जाननेवाली पर्याय बाह्य हैं, व्यक्त हैं और आत्मा अव्यक्त है। 'जाण' कहकर आचार्य कहते हैं कि तू उसे जान।

श्री धर्मदास क्षुल्लक ने 'स्वात्मानुभव मनन' में आत्मा को छह द्रव्य व उसे जाननेवाली पर्याय से भिन्न होने के कारण सातवाँ द्रव्य कहा है। यद्यपि आत्मा छह द्रव्य के अन्दर ही है, तथापि यहाँ दृष्टि के विषयभूत निजशुद्धात्मद्रव्य को अव्यक्त कहकर छह द्रव्य से भिन्न किया गया है।

दृष्टि का विषय त्रिकाली शुद्ध आत्मा द्रव्यरूप में तो सदा प्रगट ही है, तो भी प्रगट व्यक्त पर्याय में द्रव्य आता नहीं है, उस अपेक्षा से द्रव्य

को अप्रगट – अव्यक्त कहा गया है। अनन्त-अनन्त गुणों का पिण्ड सच्चिदानन्द प्रभु अस्तिपने विद्यमान पदार्थ है, प्रगट है, व्यक्त है; परन्तु फिर भी प्रगट पर्याय की अपेक्षा उसे अव्यक्त कहा गया है। भाई! आत्मा को जाने नहीं अर्थात् आत्मा कौन है, कहाँ है, कैसा है; यह जाने नहीं और धर्म हो जाय – यह कैसे संभव है?

छहद्रव्यरूप तो आत्मा है ही नहीं, पर छह द्रव्यों को जाननेवाली एकसमय की व्यक्त पर्याय जितना भी आत्मा नहीं है। एकसमय की पर्याय जितना आत्मा को माननेवाला मूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

समयसार के परिशिष्ट में यह बात स्पष्ट की गई है। परिशिष्ट में कहा गया है कि जो एकसमय की पर्याय को नहीं मानता है, वह छह द्रव्यों को ही नहीं माननेवाला मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि छह द्रव्यों का ज्ञान पर्याय में होता है। अतः पर्याय को नहीं माननेवाला छह द्रव्यों को ही नहीं मानता, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि ही है। इसप्रकार ज्ञानपर्याय और छह द्रव्यों का परस्पर ज्ञेय-ज्ञायक संबंध होने से और आत्मा का उनसे कोई भी संबंध न होने से वह उनसे भिन्न अव्यक्त ही है। पाठ में जीव शब्द है, किन्तु जीव कहो या आत्मा, दोनों एक ही बात है। वेदान्ती जीव व आत्मा – दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न बताते हैं, किन्तु वह बात ठीक नहीं है।

एकसमय की पर्याय को स्वीकार करने पर ही द्रव्य का अस्तित्व माना – यह कहा जा सकता है। इसीप्रकार द्रव्य को जाननेवाली व्यक्त पर्याय पर से भी दृष्टि हटाकर त्रिकाली अव्यक्त की दृष्टि करने पर ही स्वद्रव्य को माना – यह कहा जा सकता है। आत्मा को जाननेवाली एक समय की पर्याय में भी जो आत्मा व्याप्त नहीं होता – उस आत्मा को जानने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्म होता है।

नियमसार शास्त्र में निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य कहा गया है। स्ववस्तु अखण्ड, अभेद, एक है; उसका जिसे यथार्थज्ञान होता है, वही सम्यग्ज्ञान है। यद्यपि यह सम्यग्ज्ञान होता तो पर्याय में है, तथापि इस सम्यग्ज्ञान का ज्ञेय त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकभगवान है, पर्याय नहीं। पर्याय के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान यथार्थज्ञान नहीं है, ऐसी शुद्धतत्त्व की बात जो समझे नहीं और अनेक प्रकार का क्रियाकाण्ड करे, वह सब जंगल में शोर मचाने जैसा निष्फल प्रयत्न है।

'मैं छह द्रव्य से भिन्न सातवाँ द्रव्य हूँ' – ऐसा विचार करनेवाली पर्याय स्वद्रव्य की तरफ ढलती है। विकल्पात्मक दशा में जब तक ऐसा

विचार करता है, तब तक भी सूक्ष्म भेद का अंश रहता है; परन्तु जब पर्याय स्वद्रव्य में ढलती है, तब यह भेद भी छूट जाता है। भाई ! आचार्यों के द्वारा ये गूढ़तम भाव भी सरल भाषा में व्यक्त हो गये हैं।

सैकड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी छहद्रव्यस्वरूप लोक में समा जाता है, क्योंकि शास्त्रज्ञान के लक्ष से स्वद्रव्य का लक्ष नहीं होता। वास्तव में तो दृष्टि के विषय शुद्ध त्रिकालीद्रव्य के लक्ष से ही ज्ञान सम्यक् होता है। भाई ! वस्तु अतीन्द्रिय आनन्दमथ है। इस आनन्द का स्वाद जब तक पर्याय में नहीं आता, तब तक 'वस्तु ऐसी ही है' — ऐसी प्रतीति कैसे हो ?

श्री जयसेनाचार्यदेव ने इस बोल की टीका में लिखा है कि विकल्प के विषयरहित वस्तु सूक्ष्म और अव्यक्त है। ज्ञायक आत्मा तो निर्विकल्प ध्यान का विषय है। निर्विकल्पता ही ध्यान है, उसका विषय अखण्ड आत्मवस्तु है। ध्यान का ध्येय ध्यान नहीं, बल्कि अखण्ड शुद्ध आत्मवस्तु है। यथार्थ में तो एक अखण्ड शुद्ध चिन्मात्र वस्तु के अलावा सब कुछ छह द्रव्य में समाविष्ट हो जाता है, चाहे वह ध्यान हो या मोक्षपर्याय हो।

दूसरा बोल :— कषायों का समूह जो भावक-भाव व्यक्त है, उससे जीव अन्य है; इसलिए अव्यक्त है।

विकार होने में निमित्त कर्म का उदय तो भावक है और कर्म के उदय में होनेवाला विकार भावक का भाव है। विकार भगवान आत्मा का भाव नहीं है। अज्ञानदृष्टि में तो जीव भावक है और विकार उसका भाव बनता है; परन्तु स्वभावदृष्टि होने पर कर्म का उदय भावक और विकार उसका भाव होता है। ऐसा भावक-भावरूप परिणमन व्यक्त है, बाह्य है और ज्ञेय है; उससे भगवान आत्मा अन्य है, अतः अव्यक्त है।

कषायों के समूह में शुभ और अशुभ — दोनों प्रकार के विकल्पों के समूह को भावक-भाव कहा गया है और उससे भिन्न आत्मा अव्यक्त है। कर्त्ता-कर्म अधिकार में कहा है कि मैं अबद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मल हूँ, एक हूँ, नित्य हूँ — इत्यादि सब विकल्प हैं। यहाँ कहते हैं कि अबद्धादि विशेषणों संबंधी विकल्प या अन्य सर्व विकल्प भगवान आत्मा से भिन्न हैं।

व्यवहारसंबंधी विकल्पों से भगवान आत्मा भिन्न है। जो विकल्प भगवान आत्मा से भिन्न हैं, उनसे भगवान आत्मा कैसे प्राप्त हो सकता है ? यदि विकल्पों से भगवान आत्मा प्राप्त हो तो आत्मा विकल्पों से अभिन्न ठहरे और विकल्प जीव का स्वभाव हो जाय। भगवान आत्मा तो अपनी स्वभाव-परिणति से ही प्राप्त हो सकता है, राग-परिणति से

नहीं। राग तो परद्रव्य की परणति है, वह द्रव्यांतर है – ऐसा समयसार शास्त्र के पुण्य-पाप अधिकार में कहा गया है।

मैं शुद्ध हूँ, एक हूँ, अखण्ड हूँ, इत्यादि विकल्प कषाय में समाविष्ट होते हैं, आकुलता में समाविष्ट होते हैं। ये आकुलतामय भावक-भाव बाह्य हैं, व्यक्त हैं, परज्ञेय हैं; और अखण्ड शुद्धजीववस्तु अन्तरङ्ग है, अव्यक्त है, ज्ञायकरूप स्वज्ञेय है।

श्री समयसार की १४२वीं गाथा में लिया है कि व्यवहार के विकल्पों का तो हम पहले से ही निषेध करते आये हैं, परन्तु अब 'मैं शुद्ध हूँ, ज्ञायक हूँ' इत्यादि निश्चयनय के विकल्पों का निषेध किया गया है। इन विकल्पों का भी जब तक अतिक्रमण नहीं होता, तब तक अज्ञानरूप कर्त्ता-कर्मपना टलता नहीं है। 'मैं कर्त्ता हूँ और विकल्प मेरा कर्म है' – ऐसा जब तक यह जीव मानता है, तब तक अज्ञानदशा है। वास्तव में तो राग स्वयं ही कर्त्ता है और राग स्वयं ही कर्म है, आत्मा उसका कर्त्ता नहीं है।

पुण्य-पाप अधिकार की अन्तिम गाथाओं की टीका में आचार्य श्री जयसेन ने एक **प्रश्न** किया है कि प्रभु! यह पाप का अधिकार चलता है, यहाँ आप व्यवहार रत्नत्रय की बात क्यों करते हैं; क्योंकि व्यवहार रत्नत्रय तो पुण्यभाव है? आचार्यदेव स्वयं **उत्तर** देते हैं कि एक तो व्यवहार रत्नत्रय में आने से जीव पराधीन होता है और दूसरा स्वरूप से पतित होने पर ही व्यवहार रत्नत्रय का भाव आता है। अतः निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार रत्नत्रय का भाव पाप ही है। यहाँ तो कहते हैं कि कषाय का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश भी भावक-भाव है, व्यक्त है और भगवान आत्मा उससे भिन्न है, अव्यक्त है।

तीसरा बोल :– चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अन्तर्भूत) हैं, इसलिए अव्यक्त है।

चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त पर्यायें निमग्न हैं। जो पर्यायें भविष्य में होनेवाली हैं और जो पर्याय भूतकाल में हो गई हैं, वे सब पर्यायें चैतन्यसामान्य में अन्तर्लीन हैं। वर्त्तमान पर्याय चैतन्य में निमग्न नहीं है। यदि वर्त्तमान पर्याय भी उसमें निमग्न हो तो जानने का काम कौन करेगी? वर्त्तमान पर्याय के अलावा भूत-भविष्य की समस्त पर्यायें चैतन्य में अन्तर्लीन हैं, इसलिए गाथा में 'जाण' शब्द का प्रयोग भी किया गया है। तात्पर्य यह है कि जाननेवाली वर्त्तमान पर्याय तो चित्सामान्य से बाहर

ही रही और इसी वर्त्तमान व्यक्त पर्याय में अव्यक्त ज्ञायकवस्तु को जान – ऐसा आचार्य कहते हैं।

जिसप्रकार पानी की तरंग पानी में समा जाती है; उसीप्रकार व्यक्त होनेवाली पर्याय द्रव्यरूप ही हो जाती है। इसीतरह जब निर्मलपर्याय प्रगट होती है, तब क्षयोपशम, क्षायिक या उपशमभावरूप होती है; परन्तु जब अन्दर द्रव्य में ही व्यय होकर समा जाती है, तब वह पारिणामिक-भावरूप ही हो जाती है अर्थात् उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशमभावरूप नहीं रहती है। भूतकाल और भविष्यकाल की समस्त पर्यायें द्रव्यसामान्य में पारिणामिकभावरूप हैं। व्यक्त वर्तमान ज्ञान की पर्याय में जो अव्यक्त सामान्य का ज्ञान है, वह निश्चय का ज्ञान है और निश्चय के ज्ञान के साथ वर्त्तमानपर्याय का ज्ञान प्रमाणज्ञान है। निश्चय के ज्ञानपूर्वक जब वर्त्तमान पर्याय मात्रपर्याय का ज्ञान करती है, तब व्यवहार का ज्ञान कहलाता है। यह प्रमाणज्ञान और नयज्ञान – दोनों पर्यायरूप हैं।

भाई ! निश्चयनय की विषयभूत जो ध्रुव, एक, अखण्ड, चैतन्य-सामान्यवस्तु है, वह एक ही इस जीव को शरणरूप है। पर्याय को एक द्रव्य ही शरणभूत है।

द्रव्य को प्रसिद्ध करनेवाली प्रगट पर्याय द्रव्य में घुस नहीं जाती, क्योंकि यदि वह भी द्रव्य में घुस जायगी तो 'यह द्रव्य है' – ऐसा कौन जानेगा ? अव्यक्त को जाननेवाली पर्याय तो अव्यक्त से भिन्न रहकर ही उसे जानती है। द्रव्य की प्रतीति करनेवाली पर्याय भी यदि द्रव्य में घुस जाय तो प्रतीति करनेवाली पर्याय के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

अहो ! दिगम्बर सन्तों ने जगत को आत्मा हथेली पर रखकर दिखाया है। जिस जीव की योग्यता होगी, वह अवश्य प्राप्त करेगा।

चौथा बोल :– क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं, इसलिए अव्यक्त है।

तीसरे बोल में सर्व व्यक्तियों की सामान्य बात कही थी, परन्तु यहाँ चौथे बोल में क्षणिक व्यक्ति अर्थात् एकसमय की मात्र वर्त्तमान पर्याय की बात की गई है। आत्मा क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है, अतः अव्यक्त है। एकसमय की पर्याय जो व्यक्त है, वह क्षणिक है। जब आत्मा शुद्ध चैतन्य-सामान्य त्रिकाल है तो क्षणिक व्यक्तिमात्र या प्रगट पर्याय के बराबर कैसे हो सकता है, अतः आत्मा अव्यक्त है। इस बोल का तात्पर्य यह है कि पर्याय एकसमय मात्र का सत् होने से दृष्टि करने योग्य और आश्रय करने

योग्य नहीं है। अतः अनंतकाल में जिसका आश्रय नहीं किया है – ऐसे एक शुद्ध त्रिकाली अव्यक्त आत्मस्वभाव का आश्रय करना योग्य है।

भाई ! जब तक तेरी इन्द्रियाँ शिथिल नहीं पड़ीं तथा शरीर को रोगों ने नहीं घेरा, उसके पहले ही तू चिन्मात्र शुद्ध आत्मा का अनुभव कर ले। यह शिक्षा उसे दे रहे हैं, जिसका पुरुषार्थ कमजोर है। अन्यथा अनन्त प्रतिकूलताओं के बीच रहता हुआ, असह्य पीड़ा भोगता हुआ सातवें नरक का नारकी भी उग्र पुरुषार्थ करके आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। वृद्धावस्था, रोगी-अवस्था, निर्धनता आदि चाहे जैसी प्रतिकूलतायें हों; तथापि आत्मा अपना पुरुषार्थ जागृत करके आत्मानुभव कर सकता है, क्योंकि परद्रव्य व परद्रव्य की पर्यायों को भगवान आत्मा छूता तक नहीं है। शरीर में चाहे जैसी वेदना हो, उस वेदना का आत्मा स्पर्श नहीं करता। इसीकारण तो कहते हैं कि क्षणिक व्यक्ति (पर्याय) को तू अव्यक्त आत्मा की तरफ ले जा ! तुझे आत्मा मिलेगा और आनन्द भी अवश्य आयेगा।

पाँचवाँ बोल :– व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तता को ही स्पर्श नहीं करता, इसलिए अव्यक्त है।

एकसमय की पर्याय में, पर्याय (व्यक्तता) और द्रव्य (अव्यक्तता) – दोनों एक साथ प्रतिभासित होते हैं; तथापि भगवान द्रव्यस्वभाव पर्याय को स्पर्शता नहीं है। श्री प्रवचनसार की १७२वीं गाथा के २०वें बोल में कहा है कि पर्याय द्रव्य को छूती नहीं है, परन्तु यहाँ कहते हैं कि द्रव्य पर्याय को छूता नहीं है।

व्यक्त अर्थात् प्रगट ज्ञान की पर्याय और अव्यक्त अर्थात् त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक – दोनों का एकमेक मिश्रितरूप से एक साथ पर्याय में ज्ञान होता है, फिर भी ज्ञायकद्रव्य ज्ञान की पर्याय को स्पर्श नहीं करता अर्थात् द्रव्य पर्याय में व्याप्त नहीं होता। अहाहा ! कैसी विचित्र बात है कि जिस व्यक्त पर्याय में अव्यक्त का ज्ञान-श्रद्धान हुआ है, उस व्यक्त पर्याय को भी वह अव्यक्त स्पर्श नहीं करता। अव्यक्त व्यक्त में आता ही नहीं, व्याप्त ही नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्य द्रव्यरूप ही रहता है और पर्याय पर्यायरूप ही रहती है। अहो ! ऐसा सूक्ष्ममार्ग उपयोग को सूक्ष्म करने पर ही समझ में आ सकता है।

यह द्रव्य है, यह ज्ञानगुण है और यह जाननेवाली पर्याय है; इस-प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों का पर्याय में ज्ञान होता है। अतः द्रव्य व पर्याय

का मिश्रितरूप से ज्ञान होने पर भी अव्यक्त भगवान आत्मा स्व-परप्रकाशक ज्ञान की व्यक्त पर्याय को स्पर्श नहीं करता अर्थात् उस पर्याय में द्रव्य व्याप्त नहीं होता। एकसमय की ज्ञानपर्याय में स्व व परस्वरूप छहद्रव्य का ज्ञान होता है, तथापि उस ज्ञानपर्याय में ज्ञायक भगवान व्याप्त नहीं होता, भिन्न ही रहता है।

अहाहा ! अनन्त केवलज्ञान की पर्यायें एक ज्ञानगुण में (शक्तिरूप से) विद्यमान हैं, श्रद्धा की अनन्त पर्यायें एक श्रद्धागुण में विद्यमान हैं, निर्मल चारित्र की अनन्त पर्यायें एक चारित्रगुण में विद्यमान हैं तथा अतीन्द्रिय आनन्द की अनंत पर्यायें एक आनन्दगुण में विद्यमान हैं; इस-प्रकार प्रत्येक गुण की अनन्त पर्यायें उन-उन गुणों में शक्तिरूप से विद्यमान हैं। ऐसे गुण और उसे धारण करनेवाले त्रिकालीद्रव्य को यहाँ अव्यक्त कहा गया है और इस द्रव्य को जाननेवाली वर्तमान प्रगट पर्याय को व्यक्त कहा गया है।

यद्यपि ध्रुवद्रव्य स्वयं स्वयं से प्रगट ही है; तथापि यहाँ व्यक्त-पर्याय से भिन्नता बताने की अपेक्षा से उसे अव्यक्त कहा गया है। वस्तु सूक्ष्म और अत्यन्त गंभीर है। यहाँ द्रव्य और पर्याय को भिन्न-भिन्न सिद्ध करते हैं। ज्ञायक भगवान आत्मा परद्रव्य से तो भिन्न है ही, परन्तु उसे जाननेवाली व देखनेवाली अपनी पर्याय से भी भिन्न है – ऐसा सिद्ध करते हैं। अहो ! सम्यग्दर्शन का विषय अद्भुत है।

जिसप्रकार दर्पण में बिम्ब का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है; उसी-प्रकार एकसमय की पर्याय में संपूर्ण द्रव्य का प्रतिभास होता है। जगत में छह द्रव्य हैं, उनमें अरहंत, सिद्ध आदि पाँचों परमेष्ठी भी हैं – उन सबका, स्वद्रव्य का और स्वयं पर्याय का भी प्रतिभास पर्याय में एकसाथ होता है; तथापि पर्याय को द्रव्य स्पर्श नहीं करता है। भाई ! गजब बात है। जिसे यह बात अन्तरङ्ग में बैठ जाये, उसका भवभ्रमण मिटे बिना न रहे अर्थात् अवश्य नाश को प्राप्त हो जाये।

छठवाँ बोल :– स्वयं अपने से ही बाह्याभ्यंतर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है, तथापि व्यक्तता के प्रति उदासीनरूप से प्रकाशमान है, इसलिए अव्यक्त है।

यद्यपि अपने से ही बाह्य अर्थात् पर्याय और अभ्यन्तर अर्थात् द्रव्य – दोनों का स्पष्ट अनुभव होता है, तथापि व्यक्तता के प्रति वह उदासीनरूप से ही प्रद्योतमान है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य पर्याय के वेदन के प्रति

उदासीन ही है। वेदन की पर्याय का यह स्वरूप है कि वह पर्याय के वेदन में ही नहीं अटकती और ध्रुववस्तु की तरफ गुलांट खा जाती है। वेदन की पर्याय द्रव्य की तरफ ही ढलती है, पर्याय में नहीं अटकती।

स्वयं अपने से स्पष्ट अनुभव में आ रहा है – इसका तात्पर्य यह है कि किसी राग या निमित्त के कारण अनुभव में नहीं आता, बल्कि ज्ञान की पर्याय में ज्ञान और द्रव्य का स्वयं ही प्रत्यक्ष वेदन होता है।

स्वयं अपने से ही स्पष्ट अनुभव में आ रहा है, तथापि व्यक्तता के प्रति उदासीनरूप से प्रकाशमान है अर्थात् व्यक्त पर्याय में ज्ञान अटकता नहीं है। यद्यपि आनन्द का वेदन पर्याय में ही होता है; तथापि आनन्द का वेदन करनेवाला पर्याय में अटकता नहीं है, बल्कि वह पर्याय के प्रति उदास····उदास····उदास ही वर्त्तता है।

अथवा आत्मा पर्याय के प्रति उदासीनरूप से ही प्रकाशमान है, क्योंकि यदि एकसमय की पर्याय का ही आत्मा आनन्दभोग करे तो दूसरी पर्याय का भोग कभी भी नहीं हो सकेगा। सिद्ध भगवान भी तीनों काल की पर्यायों का आनन्द एकसमय में नहीं भोगते; किन्तु दूसरे समय दूसरी, तीसरे समय तीसरी पर्याय का ही आनन्द भोगते हैं।

आत्मा का मूल स्वभाव क्या है ? उसकी मूल शक्ति क्या है ? यह जानने से आत्मा का स्वभाव प्रगट हो जाता है। आत्मा का कोई भी गुण या स्वभाव आत्मा से बाहर नहीं है। अतः आत्मा से बाहर दृष्टि डालने से आत्मा की शक्ति प्रगट नहीं होती और अन्तरङ्ग में दृष्टि डालने से प्रगट हो जाती है। – इसप्रकार छह बोलों द्वारा अव्यक्तता सिद्ध की है।

छह बोलों द्वारा आत्मा की अव्यक्तता सिद्ध करने के पश्चात् अब उपसंहार करते हुए कहते हैं :–

इसप्रकार रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसंवेदन के बल से स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से अनुमान-गोचरमात्रता के अभाव के कारण (जीव को) अलिंगग्रहण कहा जाता है।

अहाहा ! आचार्यदेव कहते हैं कि जिसप्रकार भगवान आत्मा में रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द व संस्थान का अभाव है; उसीप्रकार व्यक्तपर्याय का भी अभाव है। ऐसा होने पर भी वर्त्तमान पर्याय में स्वसंवेदन के बल से अर्थात् अपने प्रत्यक्ष वेदन से आत्मा सदा ही प्रत्यक्ष है। आत्मा स्वयं तो सदा प्रत्यक्ष और प्रगट ही है। प्रवचनसार की गाथा १७२ की टीका में अलिंगग्रहण के छठवें बोल में कहा है कि 'भगवान आत्मा स्वभाव

से जाना जाए, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है।' आत्मा का स्वभाव ही प्रत्यक्ष होने का है। परोक्ष रहने का उसका स्वभाव ही नहीं है। इन्द्रियों, मन या अनुमानज्ञान से आत्मा जाना जाये – ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नहीं है।

'जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ आत्मा है और जहाँ-जहाँ ज्ञान नहीं है, वहाँ-वहाँ आत्मा नहीं है' – ऐसा अनुमानज्ञान भेदरूप होने से व्यवहार है। राग या व्यवहारज्ञान (अनुमानज्ञान) की जिसमें अपेक्षा नहीं, ऐसे स्वसंवेदन के बल से सदा प्रत्यक्ष होने से अनुमानगोचरमात्रता का भी उसमें अभाव है।

प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाला अनुमान व्यवहार नाम पाता है, परन्तु यहाँ इस व्यवहारज्ञान से भी आत्मा ज्ञात नहीं होता – यह कहते हैं।

समयसार कलशटीका के ८वें श्लोक की टीका में कहा है कि – "कैसी है आत्म-ज्योति ? 'उन्नीयमानं' – चेतनालक्षण से जानी जाती है, इसीलिए अनुमानगोचर भी है। अथ दूसरा पक्ष – 'उद्योतमानं' – प्रत्यक्षज्ञानगोचर है। भावार्थ इसप्रकार है कि भेदबुद्धि करते हुए जीववस्तु चेतनालक्षण से जीव को जानती है, वस्तु विचारने पर इतना विकल्प भी झूठा है। शुद्ध-वस्तुमात्र है, ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है।"

समयसार के अन्त में, परिशिष्ट के अन्तर्गत ४७ शक्तियों का वर्णन है। वहाँ एक 'प्रकाश' नाम की शक्ति कही है। इस शक्ति के कारण आत्मा स्वयं से ही जाना जाता है, ऐसा ही स्वभाव है। 'स्वयं प्रकाशमान विशद ऐसी स्वसंवेदनमयी प्रकाशशक्ति है।' यहाँ जो स्वसंवेदनप्रत्यक्ष लिया गया है, वह प्रकाशशक्ति की अपेक्षा ही लिया गया है। आत्मा को जानने में राग या निमित्त की अपेक्षा तो नहीं, परन्तु अनुमानज्ञान की अपेक्षा भी नहीं है। आत्मा स्वसंवेदन के बल से प्रत्यक्ष होने के स्वभाववाला ही है।

आनन्द के वेदन की अपेक्षा से यहाँ प्रत्यक्ष कहा गया है। अतीन्द्रिय आनन्द को आत्मा सीधे वेदन करता है, अतः उसके जोर में प्रत्यक्ष कहा गया है। आत्मा के आनन्द के स्वाद में श्रुतज्ञानी और केवलज्ञानी में अन्तर नहीं है। आत्मा के गुण और उसके आकार, केवली भगवान को जिसप्रकार प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं; उसप्रकार श्रुतज्ञानी के प्रत्यक्ष नहीं होते, परन्तु स्वानुभूति में आनन्द का वेदन तो श्रुतज्ञानी को भी प्रत्यक्ष ही है। श्रुतज्ञानी भी अन्य किसी आनन्द को थोड़े ही वेदन करता है। अतः श्रुतज्ञान की अपेक्षा से आत्मा परोक्ष भले ही हो, परन्तु वेदन की अपेक्षा प्रत्यक्ष ही है; स्वसंवेदन के बल से आत्मा प्रत्यक्ष ही है।

जिसप्रकार अन्धा पुरुष शक्कर खावे या देखनेवाला पुरुष शक्कर खावे, तो इससे उनके मिठास के वेदन में कोई अन्तर नहीं है। अन्धा पुरुष शक्कर को प्रत्यक्ष नहीं देखता, परन्तु उसे शक्कर की मिठास के स्वाद में कोई कमी नहीं है; उसीप्रकार आत्मा के आनन्द के वेदन में तो श्रुतज्ञानी और केवलज्ञानी में कोई अन्तर नहीं है।

समयसार कलशटीका के कलश १६ में आता है कि "श्रुतज्ञान से आत्मस्वरूप विचारने पर बहुत विकल्प उत्पन्न होता है। एक पक्ष से विचारने पर आत्मा अनेकरूप है, दूसरे पक्ष से विचारने पर आत्मा अभेद-रूप है – ऐसे विचारते हुए तो स्वरूप-अनुभव नहीं। यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि ऐसे विचारते हुए स्वरूप-अनुभव नहीं, तो अनुभव कहाँ है? उत्तर इसप्रकार है कि प्रत्यक्षरूप से वस्तु को आस्वादते हुए अनुभव है।" इसीप्रकार समयसार कलशटीका के ९३वें श्लोक की टीका में भी पांडे राजमलजी कहते हैं कि – "जितना नय है, उतना श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान परोक्ष है (क्योंकि सविकल्प है), अनुभव प्रत्यक्ष है (क्योंकि निर्विकल्प है); अतः श्रुतज्ञान (विकल्प) बिना जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष अनुभव है। इसकारण प्रत्यक्षरूप से अनुभवता हुआ जो कोई शुद्धस्वरूप आत्मा है, वही ज्ञानपुञ्ज वस्तु है – ऐसा कहा जाता है।"

यहाँ कलशटीका के ९३वें श्लोक में तो श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा गया है, परन्तु वास्तव में श्रुतज्ञान का अनुभव प्रत्यक्ष है।

समयसार की गाथा १४४ की टीका में कहा है कि जब जीव इन्द्रियों और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियों को मर्यादा में लेकर मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख करके और अनेक विकल्पों को मिटाकर श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करके अत्यन्त विकल्परहित होकर निजपरमात्मस्वरूप समय-सार को अनुभवता है, उस समय ही आत्मा सम्यक्रूप से दिखाई देता है।

इसप्रकार १४४वीं गाथा में श्रुतज्ञान के द्वारा अनुभव हुआ कहा गया है और कलशटीका में श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा गया है; परन्तु इनमें कोई विरोध नहीं है। भाई! जहाँ जो अपेक्षा हो, वहाँ वह यथार्थ जानना चाहिए। श्रुतज्ञान के विकल्पों में आत्मा परोक्ष है, परन्तु श्रुतज्ञान के अनुभव में – वेदन में आत्मा प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान की अपेक्षा तो चारों ही ज्ञानों को परोक्ष कहा है।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी में आगम-अनुमानादिक परोक्षज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव होता है, ऐसा कहा है। वहाँ पर अनुभव के पूर्व जैनागम में

जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है, वैसा जानकर; अनुमान से वस्तु का निश्चय होता है, यह बताने का प्रयोजन है। वहाँ भी ऐसे विकल्पों से आत्मानुभव होता है, यह बताना इष्ट नहीं है। भाई ! आत्मा का स्वरूप अतिसूक्ष्म है। जहाँ जो विवक्षा हो, वह बराबर जाननी चाहिए। यहाँ तो यह कहते हैं कि वस्तु तो स्वसंवेदन के बल से सदा प्रत्यक्ष है और इसलिए अनुमानगोचरमात्रपने का अभाव होने से जीव को अलिंगग्रहण कहा है।

इस ४९वीं गाथा की टीका में अब तक आत्मा का स्वरूप निषेधपरक ही बताया गया। यहाँ प्रश्न है कि आत्मा का अस्तिपरक भी कुछ स्वरूप है या नहीं ? अत: अब आत्मा का अस्तिपरक लक्षण बताते हैं कि आत्मा चेतनालक्षणवाला है।

अब कहते हैं कि अपने अनुभव में आनेवाले चेतनागुण के द्वारा सदा अन्तरङ्ग में प्रकाशमान है, अतः जीव चेतनागुणवाला है। वह चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियों को नाश करनेवाला है। जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है, जो समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत करके मानों अत्यन्त तृप्ति से उपशान्त हो गया हो। (अर्थात् अत्यन्त स्वरूपसौख्य से तृप्त-तृप्त होने के कारण स्वरूप में से बाहर निकलने का अनुद्यमी हो।) इसप्रकार वह सर्वकाल में किञ्चित्मात्र भी चलायमान नही होता और इसतरह सदा लेशमात्र भी अन्यद्रव्य से विचलित न होने के कारण असाधारण स्वभावभूत है।

एकमात्र देखना-जानना ही जिसका स्वभाव है, ऐसा चेतनागुणवाला भगवान आत्मा है। आत्मा का चेतना के द्वारा अनुभव होता है, राग के द्वारा अनुभव नहीं होता। अन्तर्मुख होनेवाली पर्याय ऐसा जानती है कि 'यह चैतन्यमय आत्मा मैं हूँ'। बस ! भगवान आत्मा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, व्यक्तता आदिरूप नहीं है; परन्तु चैतन्यमय चेतनागुणवाला है। वास्तव में तो ऐसे भेदवाला भी आत्मा नहीं है, आत्मा तो अभेद है।

आत्मा का यह चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियों का नाश करनेवाला है। रागवाला, कर्मवाला, पुण्यवाला, व्यवहारवाला, शरीरवाला जीव है; ऐसा अनेक प्रकार की विपरीत मान्यताओं का निषेध करनेवाला चेतनालक्षण है। ऐसा स्वीकारने पर आत्मा कषाय की मंदता से, अन्तिम शुभभाव से या अनुभव के पूर्व किसी विकल्प द्वारा जानने में आता है — इत्यादि अनेक मान्यताओं के झगड़े खत्म हो जाते हैं।

भेदज्ञानी जीव ही आत्मा के सर्वस्वस्वरूप को जानने में समर्थ हैं। टीका में भी यह वचन है कि आत्मा ने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है। भेदज्ञानी जीवों को यह पूरा-पूरा ख्याल आ गया है कि मेरा आत्मा मेरे ज्ञान से सीधे जानने में आता है, परन्तु देव-गुरु शास्त्र या दिव्यध्वनि या राग से जानने में नहीं आता।

आत्मा ज्ञानलक्षण द्वारा ज्ञात होता है। ज्ञान कहो या उपयोग कहो, उसके द्वारा ही आत्मा जाना जाता है। उपयोग दो प्रकार का है। (१) जानने-देखनेरूप त्रिकाली गुण और (२) जानने-देखनेरूप त्रिकाली गुण का निर्णय करनेवाली पर्याय। जाननेवाली पर्याय व्यक्त है, प्रसिद्ध है। जानना....जानना....जानना – यह प्रसिद्ध लक्षण है; अतः प्रसाध्यमान आत्मा को सिद्ध करता है, उसे जानने में समर्थ लक्षण है।

वर्त्तमान ज्ञान की दशा को अंतर में ढालने पर आत्मा जानने में आता है। कहा भी है कि 'परथी खस, स्वमां वस; टूंकूं टच, ऐटलू बस' अर्थात् पर से हटना और स्व में बसना – यही दो टूक बात है।

चेतनागुण का स्वभाव ऐसा है कि मानो उसने सारे लोकालोक को ग्रासीभूत कर लिया हो। एक केवलज्ञान की पर्याय की इतनी सामर्थ्य है कि समस्त लोकालोक को एक साथ जान ले। अरे ! ऐसे-ऐसे अनंत लोकालोक भी हों तो उन्हें जानने की सामर्थ्य भी केवलज्ञान में है, श्रुतज्ञान की पर्याय में भी ऐसी ताकत है; मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद है।

लोकालोक को ग्रासीभूत करके जो अत्यन्त तृप्ति से स्थिर हो गया है। अहो ! अनंत आनंद का का नाथ अन्दर जागृत होने पर आनंद का वेदन करता है। जिसमें प्रतिसमय आनंद प्रगट होता है, ऐसा आनंद का भोग करनेवाला भगवान आत्मा अत्यन्त तृप्त हो गया है।

स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से अथवा दृष्टि के जोर में तो राग का भोक्ता आत्मा नहीं है, परन्तु ज्ञान की अपेक्षा देखो तो धर्मी – साधक आनंद का भोक्ता है। एक अपेक्षा से वह राग का भी भोक्ता है। धर्मी को 'राग भोगने योग्य है' – ऐसी बुद्धि तो नहीं है, परन्तु उनके वेदन में राग का भी वेदन होता है; अतः इस अपेक्षा से भोक्ता भी कहा है।

जिसप्रकार ब्राह्मण भरपेट लड्डुओं को खाकर मस्ती में झूमता हुआ चलता है; उसीप्रकार धर्मीजीव आनंद में मग्न होकर झूमता हुआ चलता है। धर्मीजीव अत्यन्त स्वरूपसौख्य के द्वारा तृप्त-तृप्त होने से ऐसा स्थिर हो गया है कि स्वरूप में से बाहर निकलने का अनुद्यमी हो

गया है। अतः सर्वकाल किञ्चित् भी चलायमान नहीं होता। वह पूर्ण-दशा को प्राप्त होने से सर्वकाल किञ्चित्मात्र भी चलित नहीं होता—यह अनुभव का फल है। इसप्रकार सदाकाल थोड़ा भी अन्यद्रव्य से चलायमान नहीं होने से असाधारणपने के कारण चेतनागुण स्वभावभूत है।

धर्मीजीव अन्तर में इतना तृप्त-तृप्त हो गया है कि उसका समस्त समय आत्मतत्त्व के आनंद को भोगने में ही बीतता है। अहो ! समयसार में तो चौदह ब्रह्माण्ड के भाव भरे हैं। यह समयसार ऐसी शैली में लिखा गया है कि इसमें कोई अधूरापन नहीं है। ऐसा चैतन्यलक्षणवाला परमार्थ-स्वरूप जीव है, जिसका प्रकाश निर्मल है—ऐसा यह भगवान इस लोक में टंकोत्कीर्ण भिन्न ज्योतिस्वरूप विराजमान है।

यहाँ परमार्थ शब्द का तात्पर्य यह है कि पर = उत्तम, मा = लक्ष्मी और अर्थ = पदार्थ; अर्थात् उत्तमलक्ष्मीवाला पदार्थ। चैतन्य की उत्तम लक्ष्मीवाला जीवपदार्थ ही परमार्थ है, जिसका प्रकाश निर्मल है—ऐसा यह भगवान इस लोक में एक टंकोत्कीर्ण भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है।

इसप्रकार यह ४९वीं गाथा का व्याख्यान समाप्त हुआ।

अब इसी अर्थ का द्योतक कलशरूप काव्य कहकर ऐसे आत्मा के अनुभव की प्रेरणा देते हैं :—

मालिनी

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम् ॥३५॥

श्लोकार्थ :— [**चित्-शक्ति-रिक्तं**] चित्शक्ति से रहित [**सकलम् अपि**] अन्य समस्त भावों को [**अह्नाय**] मूल से [**विहाय**] छोड़कर [**च**] और [**स्फुटतरम्**] प्रगटरूप से [**स्वं चित्-शक्तिमात्रम्**] अपने चित्शक्ति-मात्र भाव का [**अवगाह्य**] अवगाहन करके, [**विश्वस्य उपरि**] समस्त पदार्थसमूहरूप लोक के ऊपर [**चारु चरन्तं**] सुन्दर रीति से प्रवर्तमान -ऐसे [**इमम्**] यह [**परम्**] एकमात्र [**अनन्तम्**] अविनाशी [**आत्मानम्**] आत्मा का [**आत्मा**] भव्यात्मा [**आत्मनि**] आत्मा में ही [**साक्षात् कलयतु**] अभ्यास करो ! साक्षात् अनुभव करो !

भावार्थ :—यह आत्मा परमार्थ से समस्त अन्यभावों से रहित चैतन्य-शक्तिमात्र है; उसके अनुभव का अभ्यास करो ! ऐसा उपदेश है ॥३५॥

कलश ३५ पर प्रवचन

हे भव्यात्मा ! चित्शक्ति से रहित अन्य समस्त भावों को मूल से ही छोड़कर, प्रगटतया अपने चित्शक्तिमात्र भाव का अवगाहन करके, समस्त पदार्थसमूहरूप लोक के ऊपर प्रवर्तमान एकमात्र केवल अविनाशी आत्मा का आत्मा में ही साक्षात् अनुभव करो !

आत्मा के अनुभव की प्रेरणा देते हुए आचार्य अमृतचंद्राचार्यदेव क्या कहते हैं कि 'चित्शक्ति से रहित अन्य समस्त भावों को मूल से ही छोड़कर' अर्थात् शुभाशुभभाव चैतन्यशक्ति से रहित भाव हैं। चाहे तीर्थंकर-प्रकृति को बाँधनेवाला भाव हो, चाहे पंचमहाव्रत का विकल्प हो, चाहे गुण-गुणी के भेदरूप विकल्प हो – ये समस्तभाव चैतन्यशक्ति से खाली हैं, अन्य हैं। इन सभी भावों को तू मूल से ही छोड़ – ऐसा उपदेश देते हैं।

प्रगटतया अपने चित्शक्तिमात्र भाव का अवगाहन करके अर्थात् ज्ञानस्वभावमात्र वस्तु स्वयं प्रगट है; उसमें डुबकी लगा ! प्रवेश कर !! अवगाहन कर !!! जिसप्रकार समुद्र में डुबकी लगाई जाती है, अवगाहन किया जाता है; उसीप्रकार चैतन्यसमुद्र में डुबकी लगा, वर्त्तमान पर्याय के द्वारा त्रिकाल ज्ञानस्वभावी शुद्ध चैतन्यसिन्धु में प्रवेश कर ! अवगाहन कर !! इस जीव ने पुण्य-पाप के भावों में तो अनादिकाल से अवगाहन किया है; परन्तु ये चैतन्य के भाव नहीं हैं, ये तो चैतन्य से खाली हैं।

अहो ! कैसी दो टूक और सारभूत बात है। जिन भावों से बंधन हो, वे सब भाव अचेतन हैं। अतः जिनमें चैतन्यशक्ति का अभाव है – ऐसे अनेक प्रकार के अचेतन शुभाशुभभावों का लक्ष छोड़ दे और शुद्ध चित्शक्तिमात्र भाव को ग्रहण कर !

कैसा है आत्मा ? समस्तपदार्थसमूहरूप लोक के ऊपर सुंदर रीति से प्रवर्तमान एक, अविनाशी है। विकल्प से लेकर समस्त जगत से जुदा सर्वोत्कृष्ट पदार्थ आत्मा है। सुंदर रीति से प्रवर्तमान है अर्थात् अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप पदार्थ है। पुण्य-पाप में प्रवर्तना तो दुःखरूप है, परन्तु आत्मा तो अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है।

जिसप्रकार पानी में डाला हुआ तेल ऊपर ही ऊपर तैरता रहता है, उसीप्रकार आत्मा का स्वभाव भी समस्त राग-द्वेष के भावों और परद्रव्यों के ऊपर-ऊपर तैरने का है; वह सबका ज्ञान करनेवाला तो है, किन्तु किसी में मिलने का स्वभाव उसका नहीं है।

भगवान आत्मा चारित्र की अपेक्षा वीतरागस्वभावी है, ज्ञान की अपेक्षा ज्ञानस्वभावी है और आनन्द की अपेक्षा आनन्दस्वभावी है। ऐसे ज्ञान, आनन्द और वीतरागता आदि स्वभावों से भरपूर अखण्ड एकरूप चैतन्य भगवान है। यहाँ कहते हैं कि हे भव्यात्मा! एक, अखण्ड, अविनाशी आत्मा का आत्मा में ही अभ्यास करो! साक्षात् अनुभव करो!! अहाहा! भगवान आत्मा में तो माल ही माल भरा है, परन्तु अनादिकाल से यह आत्मा पुण्य-पाप के व्यवहारिक भावों में उलझ गया है, जकड़ गया है। अतः आचार्यदेव समझाते हैं कि सर्व व्यवहारिकभावों का लक्ष छोड़कर चित्शक्तिस्वरूप आत्मा का आत्मा में ही साक्षात् अनुभव करो!

यहाँ चित्शक्तिस्वरूप आत्मा है – इसप्रकार भेद से कथन किया गया है, परन्तु वस्तु में कोई भेद नहीं समझना चाहिए। करें क्या? वस्तु को समझाने का अन्य कोई उपाय तो है नहीं। यदि समझनेवाला अत्यधिक बुद्धिवाला हो तो भी समझाने में कालभेद होता ही है, सम्पूर्ण आत्मा को एक साथ समझाना अशक्य है। 'जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त करे, वह आत्मा है' अथवा थोड़े में 'ज्ञान आत्मा है' – ऐसा भेद करके समझाया जा सकता है। भेद किए बिना ही समझना-समझाना तो असंभव है।

श्री समयसारकलश की बालबोधिनी टीका में पाँचवें कलश की व्याख्या करते हुए पाण्डे राजमलजी लिखते हैं कि "जीववस्तु निर्विकल्प है, वह तो ज्ञानगोचर है। उस जीववस्तु को कहना चाहें, तब ऐसे ही कहने में आता है कि जिसके गुण दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वह जीव है। जो कोई बहुत साधिक (बहुत बुद्धिमान) हो तो भी ऐसे ही कहना पड़े; तथा इतने कहने का नाम ही व्यवहार है।"

यहाँ यह जानना चाहिए कि व्यवहार का ज्ञान तो कराया गया है, परन्तु वह अनुसरण करने योग्य नहीं है। भेद करके समझाया तो अवश्य गया है, परन्तु भेद का अनुसरण करना योग्य नहीं है। त्रिकाल अभेद-स्वरूप वस्तु का ही अनुसरण करना योग्य है।

जिसमें भव और भव के भाव का अभाव है, ऐसा भगवान आत्मा शुद्ध चेतनासिन्धु है। नाटक समयसार के जीवद्वार में कहा है :–

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं,
अपने रस सौं भर्यो आपनी टेक हौं।
मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है,
शुद्धचेतनासिन्धु हमारो रूप है।।३३।।

यह रागादि भाव चाहे शुभराग हो तो भी भ्रम का कूप है, भव का ही कूप है। जिसका बेहद अपरिमित ज्ञानस्वभाव है, ऐसा भगवान आत्मा शुद्धचैतन्य का दरिया है। ऐसे शुद्ध चैतन्य में अवगाहन कर ! इसके सन्मुख होकर इसमें मग्न हो जा ! जिससे समस्त विश्व के भावों से भिन्न मात्र आनन्दस्वभाव में तेरा प्रवर्तन हो। प्रभु ! यही धर्म है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि इसका कोई साधन है या नहीं? श्री पंचास्तिकायसंग्रह नामक शास्त्र में भी आता है कि व्यवहार, निश्चय का साधन है। उसे **उत्तर** देते हैं कि भाई ! वहाँ तो निमित्त कैसा होता है, इसका ज्ञान कराने के लिए व्यवहार को साधन कहा है। वास्तव में तो व्यवहार साधन है ही नहीं, एकमात्र निश्चय ही मोक्ष का साधन है। निश्चय के साथ-साथ राग किस जाति का होता है, इसका ज्ञान कराने के लिए व्यवहार में साधनपने का उपचार किया है।

इस कलश में भी व्यवहार का निषेध ही बताया गया है। शुभाशुभराग चैतन्यशक्ति से खाली है, अतः उसे छोड़ने का ही उपदेश दिया है। व्यवहाररत्नत्रय का राग भी चैतन्यशक्ति से खाली है। यह सम्यक्-एकान्त का स्वरूप बताया है। निश्चय से भी होता है और व्यवहार से भी होता है – ऐसा मानना सम्यक्-अनेकान्त नहीं, मिथ्या-अनेकान्त है।

कलश ३५ के भावार्थ पर प्रवचन

पण्डित जयचन्दजी ने भी इस कलश के भावार्थ में कहा है कि "यह आत्मा परमार्थ से समस्त अन्य भावों से रहित चैतन्यशक्तिमात्र है; उसके अनुभव का अभ्यास करो ! – ऐसा उपदेश है।"

१४८ प्रकृतियाँ जिस भाव से बँधती है, वे सभी भाव अचेतन हैं। चैतन्य के भाव से – निर्मल परिणमन से बंधन नहीं होता। अचेतनप्रकृति का बंधन तो चैतन्य से खाली, ऐसे अचेतनभावों से होता है।

यहाँ कोई कहता है कि जिस भाव से पुण्यप्रकृति बंधती है, उस पुण्यभाव को आप अधर्म क्यों कहते हैं ? अरे भाई ! पुण्यभाव आत्मा के आनन्दरूप परिणमन के विरुद्धभाव है। यदि आत्मा का आनन्दरूप प्रवर्तन धर्म है तो दुखरूप पुण्यभाव का प्रवर्तन अपने आप अधर्म सिद्ध हो गया।

नित्य, ध्रुव, आनन्द का नाथ भगवान आत्मा चिन्मात्र वस्तु है – उसके अनुभव का अभ्यास करो – ऐसा यहाँ उपदेश दिया गया है। अतः आत्मा के अनुभव का अभ्यास करना ही श्रेयस्कर है; क्योंकि वही धर्म है, वही मोक्षमार्ग है, वही आनन्द का मार्ग है।

अब चित्शक्ति से अन्य जो भाव हैं, वे पुद्गलद्रव्यसंबंधी हैं – ऐसी सूचनिकारूप श्लोक कहते हैं :–

चित्शक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ।।३६।।

श्लोकार्थ :– [**चित्-शक्ति-व्याप्त-सर्वस्व-सारः**] चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्वसार है – ऐसा [**अयम् जीवः**] यह जीव [**इयान्**] इतना मात्र ही है; [**अतः अतिरिक्ताः**] इस चित्शक्ति से शून्य [**अमी भावाः**] जो ये भाव हैं, [**सर्वे अपि**] वे सभी [**पौद्गलिकः**] पुद्गल-जन्य हैं – पुद्गल के ही हैं ।।३६।।

कलश ३६ पर प्रवचन

चित्शक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्वसार है – ऐसा यह जीव इतना मात्र ही है । इस चित्शक्ति से शून्य जो अन्य भाव हैं, वे सभी पुद्गलजन्य हैं । पुद्गल के ही हैं । कैसी है चित्शक्ति ? जो शान्ति आदि अनन्तगुणों के दल से मंडित है और यही जिसका सर्वस्वसार है, ऐसा जीव इतना मात्र ही है । चैतन्यशक्ति से ही जो पूर्णरूप से व्याप्त है, वह ही आत्मा है ।

चैतन्यशक्ति से शून्य जो अन्य भाव हैं, वे सभी पुद्गलद्रव्य से उत्पन्न हुए हैं; अतः पुद्गल के ही हैं । दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति, तप इत्यादि विकल्प पुद्गलद्रव्य के ही हैं । चाहे व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प हो, चाहे तीर्थंकर प्रकृति को बाँधनेवाला शुभभाव हो – ये सभी भाव चित्शक्ति से खाली हैं, शून्य हैं; अतः पुद्गलसंबंधी हैं, पुद्गल ही हैं ।

प्रश्न :– इस कलश में रागादिभावों को पौद्गलिक क्यों कहा है ?

उत्तर :– ये आत्मा की चैतन्यजाति के परिणाम नहीं हैं । रागादि को उत्पन्न करे, ऐसा आत्मा में कोई स्वभाव या गुण नहीं है; अतः ये भाव आत्मा के नहीं हैं । आत्मा में उत्पन्न होने पर भी ये भाव पुद्गल के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, इसलिए ये सब पुद्गल के ही हैं; ऐसा कहते हैं । यदि ये आत्मा के सर्वथा हों तो कभी भी आत्मा से भिन्न नहीं हो सकते ।

चित्शक्ति से शून्य ये समस्त भाव पुद्गल के ही हैं । पर्याय आत्मा की तरफ ढलने के बदले पुद्गल की तरफ ढलती है, अतः इसप्रकार उत्पन्न होनेवाले भाव पुद्गलसंबंधी ही हैं ।

शास्त्र में कहीं पर यह कथन आता है कि रागादि भाव अपने अशुद्ध-उपादान से होते हैं, पर के कारण नहीं होते हैं । पर्याय में उत्पन्न

होने का उनका वह जन्मक्षण है। वहाँ अशुद्ध-उपादान की स्वतन्त्रता बताने का उद्देश्य है। यहाँ तो उसे पुद्गलजन्य कहा है, परन्तु वह शुद्ध-उपादानरूप नहीं है, शुद्ध-उपादान के कार्यरूप भी नहीं है – यह बताने का उद्देश्य है। भाई ! यह तेरे परमहित की बात है।

यहाँ कोई **शंका करे** कि आप स्वयं कहते हैं कि उपदेशमात्र से लाभ नहीं होता तो फिर आप स्वयं उपदेश क्यों देते हैं ?

समाधान :– भाई ! वाणी तो अपने स्वकाल में अपनी योग्यता से निकलती है और सुननेवाले को अपनी योग्यता के काल में वाणी का निमित्तपना भी होता है। वाणी से ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। वहाँ ज्ञान की पर्याय उत्पन्न होने का वह जन्मक्षण ही है। श्री प्रवचनसार शास्त्र की १०२वीं गाथा में जन्मक्षण की बात आती है। स्वसन्मुख होकर निर्मल पर्याय होती है, उस काल में उतनी निर्मलता होने का स्वकाल ही है और निमित्तादि भी होते हैं। निमित्तादि हैं, इसीलिए निर्मलता होती है; ऐसा नहीं है। निर्मल पर्याय होने की योग्यता के काल में यथार्थ उपदेश का निमित्तपना होता है; परन्तु उपदेश का निमित्तपना होता है और उपदेश सुनने के काल में उस संबंधी विकल्प होता है, इसीलिए ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है।

निमित्तादि वस्तु के जन्मक्षण को उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं। देखो ! वस्तु का जो जन्मक्षण है, वह जन्म से व्याप्त है। उत्पाद उत्पाद से व्याप्त है, व्यय व्यय से व्याप्त है और ध्रुव ध्रुव से व्याप्त है। प्रवचनसार ग्रंथ में यह बात है। प्रवचनसार तो दिव्यध्वनि का सारभूत है !

सर्वज्ञदेव परमात्मा का यह फरमान है कि – तुम हमारी वाणी सुनते हो, इसलिए तुम्हें ज्ञान की उत्पत्ति होती है – ऐसा नहीं है। भाई ! ज्ञान की उत्पत्ति का जन्मक्षण है, इसीलिए ज्ञान उत्पन्न होता है।

अमृतचन्द्राचार्यदेव ने भी प्रवचनसार के अन्त में कहा है कि हे जीवों ! मैं समझानेवाला हूँ और तुम समझनेवाले हो – ऐसे मोह में मत नाचो ! मैं प्रवचनसार ग्रंथ का व्याख्याता हूँ – ऐसा मत मानो ! मैं तो ज्ञान में ही हूँ, वाणी में तो मैं आया ही नहीं। अतः मैं समझानेवाला हूँ – ऐसा नहीं है। साथ ही वाणी से मैंने समझाया है – ऐसा भी नहीं है।

यह दुनिया से बिल्कुल पृथक् बात है। भाई ! इसे अवश्य समझो ! ! तुम्हारा कल्याण होगा ! ! !

समयसार गाथा ५० से ५५

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ।।५०।।

जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ।।५१।।

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणाणि ।।५२।।

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ।।५३।।

णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ।।५४।।

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा ।।५५।।

नहिं वर्ण जीव के, गंध नहिं, नहिं स्पर्श, रस जीव के नहीं ।
नहिं रूप अर संहनन नहिं, संस्थान नहिं, तन भी नहीं ।।५०।।

नहिं राग जीवके, द्वेष नहिं, अरु मोह जीव के है नहीं ।
प्रत्यय नहीं, नहिं कर्म अरु नोकर्म भी जीव के नहीं ।।५१।।

नहिं वर्ग जीव के, वर्गणा नहिं, कर्मस्पर्द्धक है नहीं ।
अध्यात्मस्थान न जीव के, अनुभागस्थान भी हैं नहीं ।।५२।।

जीव के नहीं कुछ योगस्थान रु, बंधस्थान भी है नहीं ।
नहिं उदयस्थान न जीव के, अरु स्थान मार्गणा के नहीं ।।५३।।

स्थिति-बंधस्थान न जीव के, संक्लेशस्थान भी हैं नहीं ।
जीव के विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान भी हैं नहीं ।।५४।।

नहिं जीवस्थाम भी जीव के, गुणस्थान भी जीव के नहीं ।
—ये सब ही पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, जानो यही ।।५५।।

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः ।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननम् ॥५०॥

जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः ।
नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति ॥५१॥

जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्धकानि कानिचित् ।
नो अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि ॥५२॥

जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा ।
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित् ॥५३॥

नो स्थितिबंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा ।
नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा ॥५४॥

ऐसे इन भावों का व्याख्यान छह गाथाओं में करते हैं :–

गाथार्थ :–[**जीवस्य**] जीव के [**वर्णः**] वर्ण [**नास्ति**] नहीं, [**न अपि गंधः**] गंध भी नहीं, [**रसः अपि न**] रस भी नहीं [**च**] और [**स्पर्शः अपि न**] स्पर्श भी नहीं, [**रूपं अपि न**] रूप भी नहीं, [**न शरीरं**] शरीर भी नहीं, [**संस्थानं अपि न**] संस्थान भी नहीं, [**संहननम् न**] संहनन भी नहीं; [**जीवस्य**] जीव के [**रागः नास्ति**] राग भी नहीं, [**द्वेषः अपि न**] द्वेष भी नहीं, [**मोहः**] मोह भी [**न एव विद्यते**] विद्यमान नहीं, [**प्रत्ययाः नो**] प्रत्यय (आस्रव) भी नहीं, [**कर्म न**] कर्म भी नहीं [**च**] और [**नोकर्म अपि**] नोकर्म भी [**तस्य नास्ति**] उसके नहीं है; [**जीवस्य**] जीव के [**वर्गः नास्ति**] वर्ग नहीं, [**वर्गणा न**] वर्गणा नहीं, [**कानिचित् स्पर्धकानि न एव**] कोई स्पर्धक भी नहीं, [**अध्यात्मस्थानानि नो**] अध्यात्मस्थान भी नहीं; [**च**] और [**अनुभागस्थानानि**] अनुभागस्थान भी [**न एव**] नहीं है; [**जीवस्य**] जीव के [**कानिचित् योगस्थानानि**] कोई योगस्थान भी [**न संति**] नहीं [**वा**] अथवा [**बंधस्थानानि न**] बंधस्थान भी नहीं [**च**] और [**उदयस्थानानि**] उदयस्थान भी [**न एव**] नहीं, [**कानिचित् मार्गणास्थानानि न**] कोई मार्गणास्थान भी नहीं है; [**जीवस्य**] जीव के [**स्थितिबंधस्थानानि नो**] स्थितिबंधस्थान भी नहीं [**वा**] अथवा [**संक्लेशस्थानानि न**] संक्लेशस्थान भी नहीं, [**विशुद्धिस्थानानि**] विशुद्धिस्थान भी [**न एव**] नहीं [**वा**] अथवा [**संयमलब्धिस्थानानि**] संयमलब्धिस्थान भी [**नो**] नहीं है; [**च**] और [**जीवस्य**] जीव के

नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य ।
येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः ।।५५।।

यः कृष्णो हरितः पीतो रक्तः श्वेतो वा वर्णः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः सुरभिर्दुरभिर्वा गंधः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः कटुकः कषायः तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः स्निग्धो रूक्षः शीतः उष्णो गुरुर्लघुर्मृदुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यदौदारिकं वैक्रियिकमाहारकं तैजसं कार्मणं वा शरीरं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् ।

[**जीवस्थानानि**] जीवस्थान भी [**न एव**] नहीं [**वा**] अथवा [**गुणस्थानानि**] गुणस्थान भी [**न संति**] नहीं है; [**येन तु**] क्योंकि [**एते सर्वे**] ये सब [**पुद्गलद्रव्यस्य**] पुद्गलद्रव्य के [**परिणामाः**] परिणाम हैं ।

टीका :— जो काला, हरा, पीला, लाल और सफेद वर्ण है—वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।। १ ।। जो सुगन्ध और दुर्गन्ध है — वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।२।। जो कडुवा, कषायला, चरपरा, खट्टा और मीठा रस है — वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।३।। जो चिकना, रूखा, ठण्डा, गर्म, भारी, हलका, कोमल अथवा कठोर स्पर्श है — वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।४।। जो स्पर्शादि सामान्यपरिणाममात्र रूप है — वह जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।५।। जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस अथवा कार्मण शरीर है — वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।६।। जो समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन अथवा हुंडक संस्थान है — वह

यत्समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमंडलं स्वाति कुब्जं वामनं हुंडं वा संस्थानं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचमर्धनाराचं कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका वा संहननं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययास्ते सर्वेऽपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायरूपं कर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्षट्पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः शक्तिसमूह-

---

सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥७॥ जो वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका अथवा असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है – वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥८॥ जो प्रीतिरूप राग है – वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलपरिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥९॥ जो अप्रीतिरूप द्वेष है – वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥१०॥ जो यथार्थतत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप (अप्राप्तिरूप) मोह है – वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥११॥ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जिसके लक्षण हैं, ऐसे जो प्रत्यय (आस्रव) हैं – वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥१२॥ जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप कर्म है – वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥१३॥ जो छह पर्याप्तियोग्य और तीन शरीरयोग्य वस्तु – (पुद्गलस्कंध) रूप नोकर्म है – वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥१४॥

लक्षणो वर्गः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वापि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि मंदतीव्ररसकर्मदलविशिष्टन्यासलक्षणानि स्पर्धकानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विशुद्धचित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कायवाङ्‌मनोवर्गणापरिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बन्धस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि

जो कर्म के रस की शक्तियों का (अर्थात् अविभागप्रतिच्छेदों का) समूहरूप वर्ग है– वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनभूति से भिन्न है ।।१५।। जो वर्गों का समूहरूप वर्गणा है – वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।१६।। जो मन्दतीव्ररसवाले कर्मसमूह के विशिष्ट न्यास (जमाव) रूप (वर्गणा के समूहरूप) स्पर्धक हैं – वह सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।१७।। स्व-पर के एकत्व का अध्यास (निश्चय) हो तब (वर्तने पर), विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नरूप जिनका लक्षण है, ऐसे जो अध्यात्मस्थान हैं – वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।१८।। भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के रस के परिणाम जिनका लक्षण है, ऐसे जो अनुभागस्थान है – वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ।।१९।। काय, वचन और मनोवर्गणा का कम्पन जिनका लक्षण है, ऐसे जो योगस्थान – वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।२०।। भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के परिणाम जिनका लक्षण है, ऐसे जो बन्धस्थान हैं – वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से

स्वफलसंपादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालांतरसहत्वलक्षणानि स्थितिबंधस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्तिलक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वीं-

---

(अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।२१।। अपने फल के उत्पन्न करने में समर्थ कर्म-अवस्था जिनका लक्षण है, ऐसे जो उदयस्थान – वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ।।२२।। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका लक्षण है, ऐसे जो मार्गणास्थान हैं – वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ।।२३।। भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का अमुक मर्यादा तक कालान्तर में साथ रहना जिनका लक्षण है, ऐसे जो स्थितिबन्धस्थान हैं – वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ।।२४।। कषायों के विपाक की अतिशयता जिसका लक्षण है, ऐसे जो संक्लेशस्थान हैं – वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ।।२५।। कषायों के विपाक की मन्दता जिनका लक्षण है, ऐसे जो विशुद्धिस्थान हैं – वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ।।२६।। चारित्रमोह के विपाक की क्रमशः निवृत्ति जिनका लक्षण है, ऐसे जो संयमलब्धिस्थान हैं – वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ।।२७।। पर्याप्त एवं अपर्याप्त ऐसे बादरसूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,

द्रियत्रींद्रियचतुरिंद्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेंद्रियलक्षणानि जीवस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टयसंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिबादरसां-परायोपशमकक्षपकसूक्ष्मसांपरायोपशमकक्षपकोपशान्तकषायक्षीणकषायस-योगकेवल्योगकेवलिलक्षणानि गुणस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

चतुरिन्द्रिय, संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे जो जीवस्थान हैं– वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ।।२८।। मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्त-संयत, अपूर्वकरण–उपशमकतथा क्षपक, अनिवृत्तिबादरसांपराय–उपशमक तथा क्षपक; सूक्ष्मसांपराय–उपशमक तथा क्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली जिनका लक्षण है, ऐसे जो गुणस्थान हैं–वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ।।२९।। (इसप्रकार ये समस्त ही पुद्गलद्रव्य के परिणाममय भाव हैं; वे सब जीव के नहीं हैं। जीव तो परमार्थ से चैतन्यशक्तिमात्र है।)

गाथा ५० से ५५ तक की गाथाओं व उनकी टीका पर प्रवचन

भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ नित्यानन्द प्रभु ध्रुव है। उसमें ये समस्त चैतन्यशक्ति से शून्य परिणाम नहीं हैं। ये समस्त भाव पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय हैं – यही छह गाथाओं में कहा गया है।

(१) काला, पीला, लाल, हरा अथवा सफेद आदि वर्ण जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने ने अनुभूति से भिन्न हैं।

ये वर्ण रूपगुण की पर्यायें होने से पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं। भाषा तो देखो – 'पुद्गल के परिणाम' न कहकर 'पुद्गलद्रव्य के परिणाम-मय' कहा है। रूपगुण की ये सभी पर्यायें पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं। यहाँ जीवद्रव्य से भिन्न न कहकर अनुभूतिपर्याय से भिन्न कहा है। आशय यह है कि चैतन्यस्वभावी निज-आत्मा का अनुभव होने पर अनुभूति में 'इस रूपगुण की पाँचों ही पर्यायों से मैं भिन्न हूँ' – ऐसा ज्ञान होता है।

पर्याय में स्वद्रव्य की ओर झुकने से जो अनुभूति होती है, उस अनुभूति से रूप की पर्यायें भिन्न रह जाती हैं। समयसार की ७३वीं गाथा में 'सर्वकारकों के समूह की प्रक्रिया से पार निर्मल अनुभूति का व्याख्यान है' – वह त्रिकाली शुद्ध अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा की बात है, परन्तु वह दूसरी बात है। यहाँ तो ऐसा कहा है कि पर से हटकर स्वद्रव्य में ढलने पर जो स्वानुभूति होती है, उससे रूप की पाँचों ही पर्यायें भिन्न हैं।

(२) जो सुगन्ध और दुर्गन्ध है, वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है।

समयसार नाटक में आता है कि मुनियों की श्वास सुगन्धमय होती है। जिनको बहुत निर्मलता प्रगट हुई है तथा जो अतीन्द्रिय आनन्द की मौज में रहते हैं। वे दन्तमंजन नहीं करते, तथापि उनके दाँत पीले नहीं पड़ते। निर्मलता की दशा में मुनियों के श्वास में भी सुगन्ध आती है, तथापि उस सुगन्ध से आत्मा भिन्न है; क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से सुगन्ध या दुर्गन्ध गन्धगुण की पर्यायें हैं, अतः वे अनुभूति से भिन्न हैं। अर्थात् जब स्वरूप का अनुभव होता है, तब वह गन्ध से भिन्न हो जाता है। 'भिन्न है' ऐसा कब कहा जाय ? जब गन्ध से हटकर आत्मा की अनुभूति में आवे, तब 'भिन्न है' – ऐसा यथार्थपने कहा जा सकता है।

(३) कड़वा, कषायला, खट्टा, चरपरा या मीठा रस जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है।

(४) इसीप्रकार रूखा, चिकना, कड़ा, नरम, हल्का, भारी, ठंडा, गरम आदि स्पर्श भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से वे अनुभूति से भिन्न हैं।

(५) अब पाँचवें बोल में उपरोक्त चारों ही बोलों को मिलाकर कहते हैं कि जो स्पर्शादि सामान्य परिणाममात्ररूप है, वह जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है।

(६) जो औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तेजस अथवा कार्माण शरीर हैं, वे सब जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

देखो ! कार्माण शरीर भी जीव का नहीं है, जीव में नहीं है; क्योंकि वह जड़ के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है, स्वतंत्र है। आत्मा व कर्म के निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध को भी यहाँ नहीं बताया गया है। यहाँ तो ऐसी शैली है कि पुद्गल के परिणाम को आत्मद्रव्य से भिन्न न

कहकर अनुभूति से भिन्न कहा है। जिसने पर से भिन्न होकर अनुभूति के द्वारा आत्मा को जाना है – उसके लिए ये सर्व 'पर' हैं।

संस्कृत टीका में 'अपनी अनुभूति' ऐसा पाठ नहीं है, परन्तु पण्डित जयचन्दजी ने 'अपनी अनुभूति' ऐसा लिखा है। इसलिए यहाँ 'अपनी' शब्द कोष्ठक में लिखा है। अहाहा ! आत्मा अखण्ड, निर्मल, आनंदस्वरूप वस्तु है और उसकी निर्मलदशा 'अनुभूति' है। पर से भेदज्ञान करके आत्म-सन्मुख होकर आत्मा को जानने से अनुभूति की निर्मलदशा प्रगट होती है। उस अनुभूति से कार्माण शरीर आदि भिन्न हैं – ऐसा यहाँ कहा है।

पञ्चाध्यायीकार ने नयाभास के प्रकरण में ऐसा प्रश्न उठाया है कि शरीर व आत्मा के कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध तो नहीं है, परन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो है न ? इसके उत्तररूप में ५७१वें श्लोक में कहा है कि द्रव्य स्वयं स्वतः परिणमनशील है तो निमित्त का क्या काम है ? देखो भाई ! शरीर अपने कारण परिणमता है और आत्मा भी अपने कारण परिणमता है। द्रव्य स्वयं परिणमनशील है, ऐसा वहाँ कहा है।

प्रश्न :– कभी उपादान से और कभी निमित्त से परिणमन होता है, ऐसा स्याद्वाद करो न ?

उत्तर :– भाई ! कार्य हमेशा निज-उपादान से ही होता है, निमित्त से कभी भी नहीं होता – ऐसा अस्ति-नास्तिरूप स्याद्वाद है। निमित्त तो परवस्तु है, उसका परिणमन उसके कारण व स्व का परिणमन स्व के कारण होता है; इसमें निमित्त का क्या काम है ?

प्रश्न :– यहाँ प्रश्नकार पुनः प्रश्न करता है कि शरीर चलता है, उसमें आत्मा का निमित्त तो है न ?

उत्तर :– भाई ! निमित्त तो है; परन्तु निमित्त है, इसका अर्थ क्या ? क्या निमित्त है – इसलिए शरीर चलता है, परिणमता है ? तथा आत्मा की अनुभूति का परिणमन क्या शरीर से होता है ? यहाँ जो आत्मानुभूति हुई है, क्या वह कार्माण शरीर के उदय के अभाव के कारण हुई है ? नहीं, ऐसा है ही नहीं। प्रत्येक का परिणमन स्वतंत्र है। पं० बनारसीदासजी ने भी कहा है :–

उपादान बल जहाँ तहाँ, नहिं निमित्त को दाव।
एक चक्र सौं रथ चले, रवि कौ यहै स्वभाव॥

जहाँ अपना बल (उपादान शक्ति) है, वहाँ निमित्त क्या करे ? स्व व पर का एकपना तीनकाल में भी नहीं होता, इसलिए निमित्त के

कारण अपने में परिणमन होता है – ऐसा मानना ठीक नहीं है। शरीर का परिणमन जीव के निमित्त से या जीव की अनुभूति का परिणमन अन्य के निमित्त से नहीं हुआ है। शरीर की परिणति शरीर में तथा आत्मा की परिणति आत्मा में है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

'किसीसमय निमित्त से व किसीसमय उपादान से कार्य होता है' – ऐसा भी स्याद्वाद का स्वरूप नहीं है। सर्वत्र व सदैव अर्थात् तीनलोक व तीनोंकाल में चैतन्य व जड़ का क्रमबद्धपरिणमन अपने-अपने उपादान से होता है, इसमें पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। उपादान का परिणमन हमेशा निमित्त से निरपेक्ष ही होता है।

यहाँ तो कार्माण शरीर की बात कहना है। कार्माण शरीर के निमित्त से जीव में रागादि परिणमन होता है और स्वानुभूति प्रगट होने के कारण कार्माण शरीर अकर्म अवस्थारूप परिणमित हो जाता है – ऐसा नहीं है। इन दोनों के बीच ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ कहते हैं कार्माण शरीरादि, जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलपरिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं। यहाँ आत्मा से भिन्न न कहकर अनुभूति से भिन्न कहा, क्योंकि इन शरीरादि से भिन्न होकर निज चैतन्यस्वभावी आत्मा का लक्ष्य करने पर 'मैं देह से भिन्न हूँ' – ऐसा निज चैतन्यस्वरूप वस्तु का अनुभव होता है। भाई ! बात बहुत सूक्ष्म है, पर समझने जैसी है।

देखो, परमाणु और आत्मा – दोनों स्वतन्त्र निर्बाध परिणमन-स्वभावी होने से निमित्त निरपेक्ष क्रमप्रवाहरूप से स्वत: निरन्तर परिणमते रहते हैं। कालद्रव्य न हो तो परिणमन नहीं होता – ऐसा जहाँ कहा है, वहाँ तो (यथार्थ निमित्त का ज्ञान कराकर) कालद्रव्य को सिद्ध करने का प्रयोजन है। वस्तुत: तो सर्वद्रव्यों का स्वतन्त्र परिणमनस्वभाव है। कोई कहे कि कालद्रव्य परिणमन में निमित्त तो है न ? हाँ 'निमित्त है', निमित्त का कौन निषेध करता है ? परन्तु सर्वद्रव्यों का परिणमन क्या कालद्रव्य के कारण है ? नहीं, ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपने-अपने उपादान के कारण ही होता है। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वकाल में क्रमश: क्रमबद्धप्रवाहरूप से परिणमन करते हैं।

प्रवचनसार की गाथा ९३ में द्रव्य के विस्तारसमुदाय तथा आयत-समुदाय की बात आती है। 'द्रव्य में जो अनन्तगुण एक साथ हैं, वे विस्तारसमुदाय हैं' तथा 'क्रमप्रवाहरूप से दौड़ती हुई जो पर्यायें हैं, वे आयतसमुदाय हैं।' पर्यायें धारावाही दौड़ती हुई क्रमबद्धप्रवाहरूप से हैं।

अर्थात् पदार्थ में पर्याय की उत्पत्ति होने का जो अपना स्वकाल है, उसमें वह होती है। निमित्त के कारण वे पर्यायें उत्पन्न नहीं होतीं। निमित्त, निमित्त में है तथा उपादान, उपादान में है। किसी काल में भी यदि निमित्त के कारण उपादान में परिणमन होवे तो 'क्रमप्रवाहरूप से उपादानवस्तु परिणमित होती है' – यह बात कहाँ रही ? प्रत्येक वस्तु में पर्याय का क्रमबद्धप्रवाह होता है और बीच में एकसमय का भी अन्तर नहीं पड़ता। उन पर्यायों के प्रवाहक्रम में अपने-अपने स्वकाल में पर्याय उत्पन्न होती है; उससमय निमित्त उपस्थित होता है, परन्तु वह कुछ करता नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य की काललब्धि होती है। छहों द्रव्य काललब्धिसहित हैं अर्थात् द्रव्य में जिससमय पर्याय होती है, वह समय ही उसकी काललब्धि है। उससमय यद्यपि निमित्त भी होता है, तथापि निमित्त के कारण पर्याय नहीं होती। पर्याय स्वकाल में स्वयं; स्वयं के कारण ही होती है, निमित्त से नहीं – ऐसा कहना व मानना ही स्याद्वाद है।

जहाँ यह कहा हो कि दोनों कारणों से कार्य होता है, वहाँ निमित्त का ज्ञान कराने का प्रयोजन है – ऐसा समझना चाहिए। निश्चय से तो उससमय का कार्य स्वयं से ही हुआ है। यह निश्चय रखकर, निमित्त का ज्ञान कराने के लिए जब व्यवहार से कहा जाता है कि दो कारणों से कार्य हुआ है, तब प्रमाणज्ञान होता है। प्रमाणज्ञान में 'कार्य स्वयं से ही होता है, यह निश्चय की बात रखकर; निमित्त का ज्ञान कराने के लिए निमित्त से होता है – यह कहा है। प्रमाणज्ञान में निश्चय का निषेध करके निमित्त से कार्य होता है – ऐसा नहीं कहा। प्रमाणज्ञान की अपेक्षा भी जो परिणमन होता है; वह निश्चय से, स्व-आश्रय से, स्वयं से ही होता है; यह बात रखकर प्रमाण का ज्ञान कराने के लिए निमित्त को शामिल किया है। जो निश्चय को छोड़ दे, उसे तो प्रमाणज्ञान ही सच्चा नहीं होता। निश्चय की बात तो जैसी है, वैसी (यथार्थ) रखकर प्रमाणज्ञान कराया है। उपादान के यथार्थ ज्ञानपूर्वक निमित्त का ज्ञान कराया है।

नयचक्र में आता है कि प्रमाण पूज्य नहीं है; किन्तु निश्चयनय पूज्य है, क्योंकि प्रमाण में पर्याय का निषेध नहीं होता है।

प्रश्न :– निश्चयनय में तो मात्र द्रव्य ही है, जबकि प्रमाणज्ञान में द्रव्य-पर्याय – दोनों ही आते हैं, फिर प्रमाणज्ञान पूज्य क्यों नहीं है ?

उत्तर :– क्योंकि निश्चयनय में पर्याय का निषेध है और स्व का आश्रय है। वह पर्याय के निषेधपूर्वक स्व का आश्रय करता है, इसकारण निश्चयनय पूज्य है।

प्रश्न :– यदि उपादान से ही कार्य होता हो तो इन प्रवचनों की, शिविरों की क्या आवश्यकता है ? परन्तु आप तो प्रवचन करते हो, शिविर लगाते हो; अतः आपके प्रवचन तो हमें समझने में निमित्त हैं न ?

उत्तर :– भाई ! निमित्त तो है । जो 'है' उसका निषेध कौन कर सकता है ? परन्तु यहाँ बात तो यह है कि 'निमित्त कर्त्ता नहीं है ।' शरीर के एक-एक रजकरण का उस-उस काल में परिणमन करने का स्वभाव है, इसलिए वह अपने कारण स्वकाल में परिणमन करता है; उसमें निमित्त को कुछ करने का अवसर ही कहाँ है ? शतरंज के खेल में जब दाव आता है, तब पासा फेंकते हैं; परन्तु यहाँ तो निमित्त का कभी दाव ही नहीं आता । जैसे सूर्य का रथ एक पहिये से चलता है; उसीप्रकार प्रत्येक पदार्थ अकेले अपने परिणमनस्वभाव से ही परिणमन करता है । शरीर को अपने परिणमन में जीव की अपेक्षा नहीं है । जीव को भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धरत्नत्रय के परिणमन में पर की अपेक्षा नहीं है ।

श्री नियमसार की दूसरी गाथा की टीका में आता है कि 'निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है ।' इसप्रकार निश्चयमोक्षमार्ग को व्यवहार या निमित्त की अपेक्षा है ही नहीं । यह परम वीतरागी दिगम्बर सन्तों के शास्त्रों का कथन है, अतः परम सत्य है ।

यहाँ कार्मारण शरीर की बात चलती है । जो कर्म का उदय है – वह जड़ की पर्याय है, पुद्गल के परिणाममय है; इसलिए वह भगवान आत्मा से भिन्न है – ऐसा कहते हैं । पाठ में तो शरीर को आत्मा से भिन्न न कहकर अनुभूति से भिन्न कहा है; क्योंकि राग, कर्म व शरीर की परिणति से लक्ष्य हटाकर एक चैतन्यस्वभावी आत्मा के लक्ष्य से जो अनुभूति प्रगट की है, उस अनुभूति से वे रागादि भिन्न हैं, ऐसा ज्ञान होता है । शरीरादि को कहा तो आत्मा से भिन्न ही है; परन्तु जब शरीरादि से भिन्न परिणति करें, तभी 'वे भिन्न हैं' ऐसा ख्याल में आता है । अतः वे शरीरादि अनुभूति से भिन्न हैं, क्योंकि भिन्नता का ज्ञान तो अनुभूति होने पर ही हुआ है ।

औदारिक शरीर पुद्गलमय परिणाम है । उसका क्षण-क्षण में जो परिणमन होता है, वह भी जड़ – पुद्गलमय है; वह जीवमय नहीं है, जीव के परिणाममय भी नहीं है । शरीर के अन्दर आत्मा है; इसलिए आत्मा के कारण वह शरीर चलता है, परिणमता है – ऐसा नहीं है । राग के कारण कर्मों को चारित्रमोहरूप परिणमन करना पड़ता है – ऐसा

भी नहीं है। उससमय परमाणु में उस रीति से परिणमन करने का स्वकाल है; इसलिए उससमय उस रीति से वह परिणमन करता है, उसमें राग की कुछ भी अपेक्षा या सहकार नहीं है। इसीप्रकार आहारक ऋद्धिधारी मुनि को प्रश्न पूछने का विकल्प आया, इसकारण आहारक शरीर बना – ऐसा भी नहीं है। उससमय आहारक शरीर बनने का स्वकाल था, इसलिए आहारक शरीर बना है। ऋद्धिधारी मुनि ने उसको बनाया – ऐसा कहना तो व्यवहार वचन है।

वैक्रियक शरीर अनेकरूप धारण करता है। उस वैक्रियक शरीर के परमाणुओं की पर्याय पुद्‍गलमय है। जीव की इच्छा के कारण शरीर अनेकरूप धारण नहीं करता। जिसक्षण जिसरूप से परिणमन का उनका स्वकाल है, उसरूप से वे शरीर स्वयं परिणमन करते हैं। इसतरह औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तेजस तथा कार्माण – ये पाँचों ही शरीर जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्‍गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं। निज शुद्ध परमात्मा की अनुभूति में वे भिन्न भासित होते हैं, अतः वे जीव के नहीं हैं। पर से भिन्न होकर जब जीव आत्मानुभूति करता है, तब वे शरीर के परिणाम अनुभूति से भिन्न रह जाते हैं।

देखो! औदारिक, वैक्रियक आदि शरीर, शरीररूप से हैं तो अवश्य; परन्तु वे सब जीव के नहीं हैं। जीव तो शरीररहित चैतन्यरूप से त्रिकाल है। विश्व में अनंत वस्तुएँ हैं। जो अनंत हैं, वे अनंतपने कब रहें? जबकि वे एक दूसरे के कार्य को नहीं करें, तब ही वे अनंतपने रह सकती हैं। एक दूसरे में मिलें नहीं तो वस्तुएँ अनंतपने रहें। जो एक से दूसरे का कार्य हो तो पृथक्‌पने अनंत वस्तुएँ नहीं रह सकतीं। जो प्रत्येक वस्तु की परिणति स्वयं से हो और दूसरे से न हो, ऐसी ही रहें तो ही अनंत वस्तुओं की अनंतपने से सिद्धि हो सकती है। इसकारण जीव और औदारिक आदि शरीर जैसे हैं वैसे पृथक्-पृथक् समझना चाहिए।

(७) जो समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन अथवा हुँडक संस्थान हैं, वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्‍गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

समचतुरस्रसंस्थानरूप जो शरीर का आकार है, वह भी पुद्‍गलमय परिणाम है। वह अपने स्वयं के कारण से होता है, नामकर्म के उदय के कारण नहीं। अहाहा! गजब बात है भाई! जीव के पुण्य का उदय हैं, इसलिए उसके पास पैसा आता है – ऐसा भी नहीं है, क्योंकि उदय का

परिणाम भिन्न है और जो पैसा आता है, उसकी परिणति भिन्न है। इसलिए कर्म के कारण पैसा आता है – यह बात यथार्थ नहीं है। साता के उदय के कारण अनुकूल संयोग मिलते हैं – ऐसा कहना भी कथनमात्र है, वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। इसीप्रकार असाता के उदय के कारण शरीर में रोग होते हैं – यह भी निमित्त का कथन है, व्यवहारवचन है। वस्तुतः तो शरीर के परमाणुओं का रोग के रूप में परिणमने का काल होने से वे परमाणु रोगरूप में परिणमन करते हैं।

समचतुरस्र संस्थान की तरह न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन अथवा हुण्डक संस्थान आदि भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं। इस शरीर का जो आकार है – वह सब जड़ का आकार है, पुद्गल के परिणाममय है। आत्मा के कारण तो उनमें कुछ होता ही नहीं है; परन्तु पूर्वकृत शुभाशुभभावों से बंधे हुए कर्मों के कारण भी उनमें कुछ नहीं होता। (क्योंकि कर्म के परमाणु भिन्न सत्तावाले हैं और शरीर के परमाणु भिन्न सत्तावाले हैं।)

(८) जो वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका अथवा असंप्राप्तासृपाटिका संहनन हैं, वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

अब संहनन अर्थात् हड्डियों की मजबूती की बात करते हैं। वज्रर्षभनाराचसंहनन बिना केवलज्ञान नहीं होता, ऐसा शास्त्र में आता है; उसका क्या अर्थ है ? अरे भाई ! निश्चय से तो केवलज्ञान की पर्याय अपने कारण होती है, द्रव्य व गुण के कारण भी नहीं। उस पर्याय का परिणमन अपने षट्कारकों से उस काल में उसीरूप में होने का है, इसकारण होता है। वज्रर्षभनाराच संहनन है, इसलिए केवलज्ञान होता है – ऐसा नहीं है। कर्मभूमि की स्त्रियों के अंतिम तीन संहनन होते हैं और इसकारण उन्हें केवलज्ञान नहीं होता – ऐसा भी शास्त्र में आता है; परन्तु वहाँ तो इस बात का ज्ञान कराया है कि स्त्रीपर्याय में केवलज्ञान होने की योग्यता ही नहीं है। जब केवलज्ञान होने की योग्यता नहीं होती, तब निमित्त कैसा होता है ? उसका वहाँ ज्ञान कराया है। स्त्री के शरीर के कारण साधुपना नहीं आता – ऐसा भी नहीं है; परन्तु जिसकी स्त्रीदेह हो तो उसके आत्मा की परिणति में छठवें गुणस्थान होने की योग्यता ही नहीं होती, ऐसा निमित्त का यथार्थज्ञान कराया है।

यद्यपि जिसे पूर्णज्ञान होता है उसके शरीर की दशा नग्न ही होती है, वस्त्रसहित मुनिपना आवे अथवा वस्त्रसहित केवलज्ञान हो – ऐसा वस्तु

का स्वरूप ही नहीं है; तथापि परद्रव्य के कारण केवलज्ञान – न होता है, न रुकता है। बड़ी विचित्र बात है ! एक ओर तो ऐसा कहते हैं कि वस्त्र सहित को मुनिपना आता नहीं तथा दूसरी ओर यह कहते हैं कि परद्रव्य कुछ भी नुकसान (हानि) करता नहीं। भाई ! मुनिपने की दशा संवर-निर्जरा की दशा है। जो संवर-निर्जरा की दशा है, उस काल में वस्त्रादि ग्रहण करने का विकल्प हो ही नहीं सकता। इसकारण जिसको वस्त्र-ग्रहण का विकल्प है, उसको उस भूमिका में मुनिपने की संभावना ही नहीं है। इसकारण जो कोई वस्त्रसहित होकर भी मुनिपना मानते हैं, उन्होंने आस्रवसहित सातों ही तत्त्वों के समझने में महान भूल की है। कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने अष्टपाहुड़ में कहा है कि वस्त्र का एक धागा भी रखकर जो कोई मुनिपना मानते हैं या मनवाते हैं, वे निगोद के पात्र हैं।

(६) जो प्रीतिरूप राग है, वह जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय है, इसलिए अनुभूति से भिन्न है।

दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि शुभराग हैं – वे सभी जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं; इसकारण अनुभूति से भिन्न हैं। यहाँ कहते हैं कि जो महाव्रत के परिणाम हैं, वे पुद्गल के परिणाम हैं। यद्यपि आत्मा के स्वभाव में तो ऐसा कोई गुण नहीं है जो रागरूप से परिणमन करता हो; तथापि पर्याय में जो राग होता है, वह निमित्त के आधीन होने पर होता है। इसलिए जो राग होता है, उसको पुद्गलपरि-णाममय कहा है। इसकारण जो व्यवहाररत्नत्रय से निर्जरा होना मानते हैं; वे अचेतन पुद्गल से चैतन्यभाव होना मानते हैं, परन्तु यह भूल है।

चैतन्यस्वरूप ज्ञानपुंज प्रभु भगवान आत्मा आनन्द का कन्द है। प्रीतिरूप राग का अंश भी उसके नहीं है, क्योंकि राग पुद्गलपरिणाम-मय है। त्रिकाली शुद्धचैतन्य में झुकी हुई अनुभूतिस्वरूप पर्याय से राग भिन्न रह जाता है। अहाहा ! त्रिकाली शुद्ध-उपादान में निमग्न हुई अनुभूति से सभी राग भिन्न रह जाता है। भाई ! जिसे प्रीतिरूप राग से प्रेम है, मंदराग से प्रेम है; उसे वस्तुतः पुद्गल से ही प्रेम है, आनन्द के नाथ भगवान आत्मा से प्रेम नहीं है। जिसको शुभराग का प्रेम है; वह आत्मा के स्वरूप में पहुँचा ही नहीं है, उसको आत्मा के प्रति अनादर है। यहाँ कहते हैं कि स्वद्रव्य के आश्रय से जो निर्मल अनुभूति प्रगट होती है, उस अनुभूति से शुभ और अशुभ सभी प्रकार का राग पररूप होने से भिन्न रह जाता है। इसकारण सभी प्रकार का राग जीव में नहीं है।

प्रश्न :– राग को पुद्‌गलपरिणाममय कैसे कहा ? शास्त्र में तो ऐसा आता है कि जीव को दसवें गुणस्थान तक राग होता है ?

उत्तर :– भाई ! राग है, किन्तु वह वस्तुस्वरूप की दृष्टि से देखने पर स्वभावभूत नहीं है। राग में चैतन्य के नूर का अंश भी नहीं है। चिन्मात्र-स्वरूप भगवान आत्मा अनन्तशक्तियों से मण्डित महिमावंत पदार्थ है। यद्यपि उसमें एक भी शक्ति ऐसी नहीं है – जो राग उत्पन्न कर सके, विकार-रूप से परिणमे; तथापि पर्याय में जो राग होता है, वह पर्याय का धर्म है। निमित्त के आधीन होकर परिणमित हुई पर्याय में राग होता है और स्वभाव के आधीन होने पर राग नहीं होता। स्वानुभूति होने पर वह आत्मा से भिन्न पड़ जाता है, इसलिए असंख्यात प्रकार का शुभाशुभराग जीव का स्वभाव नहीं होने से तथा अनुभूति से भिन्न होने के कारण निश्चय से पुद्‌गलपरिणाममय कहा है, जिसे अशुद्धनिश्चयनय से जीव की पर्याय भी कहा जाता है। यहाँ जो अशुद्धनिश्चयनय है, वही व्यवहारनय है। पर्याय का यथार्थज्ञान कराने के लिए सिद्धान्त में अशुद्धनिश्चयनय से अर्थात् असद्‌भूतव्यवहारनय से दसवें गुणस्थान तक जीव को राग होता है – ऐसा कहा है। वास्तव में राग पररूप, अचेतन, जड़, पुद्‌गलपरिणाममय है। यदि राग जीव का हो तो वह कभी भी जीव से भिन्न नहीं हो सकता। जीव को रागरहित निर्मल अनुभूति हो ही नहीं सकती। भाई, यह वीतराग सर्वज्ञ का मार्ग अद्‌भुत है ! इसे पूरी रुचि से समझना चाहिए।

(१०) जो अप्रीतिरूप द्वेष है, वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्‌गलपरिणाममय है, इसलिए अनुभूति से भिन्न है।

असंख्य प्रकार के जो द्वेष के भाव हैं, वे सब जीव के नहीं हैं; क्योंकि जब आत्मानुभूति होती है, तब द्वेषभाव अनुभूति से भिन्न रह जाते हैं। द्वेषभावों में चैतन्य के ज्ञान का अंश भी नहीं है। इसकारण वे जीव से अन्य अजीव पुद्‌गलपरिणाममय हैं। यहाँ अजीव अधिकार चल रहा है। जीव तो चैतन्यमय चित्स्वरूप है, उस चैतन्यशक्ति का अंश द्वेष में नहीं है; इसलिए सभी द्वेष अचेतन – अजीव हैं।

(११) जो यथार्थतत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप मोह है, वह सर्व भी जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

वास्तविक चिद्‌घनस्वरूप चिदानन्दमय आत्मा की विपरीत मान्यतारूप मोह आत्मा के नहीं है, क्योंकि वह पुद्‌गलपरिणाममय होने

से अपनी अनुभूति से भिन्न है। अहाहा ! जिसने निजचैतन्यमय स्वद्रव्य का आश्रय लिया है; वह मिथ्यात्व के परिणाम से भिन्न पड़ जाता है, उसमें मिथ्यात्व का परिणाम नहीं रहता – ऐसा यहाँ कहते हैं। सभी प्रकार का मोह जीव का नहीं है, क्योंकि चैतन्य की सत्ता में उस मोह का प्रवेश ही नहीं है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव करने पर सभी प्रकार के मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। जगत में तत्त्व के स्वरूप से विपरीत अनेक मिथ्या मान्यताएँ होती हैं। वे सब जड़ – पुद्गल के परिणाममय होने से स्वानुभूति से भिन्न हैं अर्थात् स्वानुभूति होने पर मिथ्या मान्यताओं का अभाव हो जाता है, इसलिए वे मिथ्याभाव जीव के नहीं हैं।

(१२) मिथ्यात्व, अविरति कषाय व योग जिसके लक्षण हैं – ऐसे जो प्रत्यय अर्थात् सभी प्रकार के आस्रवभाव जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

अब आस्रव की बात करते हैं, यहाँ कषाय में प्रमाद गर्भित हो जाता है। यहाँ मलिनपर्याय को – भावास्रव को पुद्गल के परिणाममय कहा है; क्योंकि स्वयं जीव जब चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का आश्रय करता है, तब आस्रव का परिणाम अनुभूति से भिन्न रह जाता है। मिथ्यात्व तो वहाँ होता ही नहीं; किन्तु अन्य आस्रव भी भिन्न रह जाते हैं। यहाँ जड़ मिथ्यात्व की बात नहीं है, यहाँ तो मलिनपरिणामरूप आस्रव अर्थात् मिथ्यात्वभाव, अविरतिभाव, छट्ठे गुणस्थान का प्रमादभाव, कषायभाव और योग जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे अनुभूति से भिन्न हैं। यदि वे चैतन्यस्वरूप जीव के परिणाम हों तो सदैव चैतन्य के साथ रहने चाहियें; परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि वे चैतन्य के अनुभव से भिन्न रह जाते हैं।

आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान है। उसके परिणाम ज्ञान व आनन्दमय ही होते हैं। चित्शक्ति जिसका सर्वस्व है – ऐसी चैतन्यमय वस्तु के परिणाम चैतन्य की जाति के ही होते हैं। शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुए परिणाम शुद्ध चैतन्यमय ही होते हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने ऐसा कहा है कि 'भावकर्म आत्मा का भाव है और वह निश्चय से आत्मा का ही है, परन्तु कर्म के निमित्त से होता है, इसकारण व्यवहार से उसको कर्म का कहते हैं।' तथा पञ्चास्तिकाय संग्रह में भी भावकर्म आत्मा का है – ऐसा कथन है। जो भावकर्म होता है, वह अपना है और जो अपने से होता है, उसे कर्म का कहना तो निमित्त से – व्यवहार से कहा जाता

है; निश्चय से तो विकारी परिणाम जीव में ही होते हैं और उनको जीव करता है। ऊपर कहे हुए इन दोनों शास्त्रों की शैली जुदी है। वहाँ इन शास्त्रों में राग अपनी पर्याय में होता है – यह ज्ञान कराने का प्रयोजन है। स्वभाव को पहिचाने बिना कोई ऐसा मान ले कि 'आस्रव के परिणाम जड़ के हैं, वे जड़ से होते हैं' तो उसको पर्याय का यथार्थज्ञान कराने के लिए वहाँ ऐसा कहा है कि भावकर्म जीव के परिणाम हैं, अन्यथा वह आस्रवों से निर्वृत्त होने का उपाय भी किसलिए करेगा ?

यहाँ इस गाथा में कथन करने की अपेक्षा जुदी है। भावकर्मों को पहले आत्मा की अवस्था में होते हैं, यह सिद्ध करके पश्चात् वे जीव के नहीं हैं – ऐसा कहा है। अहाहा ! आत्मा चैतन्यस्वरूप ज्ञायकस्वभावी सम्पूर्णरूप से अभेद चैतन्यदल है। ऐसी आत्मा का अनुभव करने पर आस्रव स्वपने अनुभव में नहीं आते, अलग ही रह जाते हैं; इसलिए वे निश्चय से जीव के नहीं हैं। यहाँ दृष्टि की अपेक्षा से कथन किया है। भाई ! वीतराग परमेश्वर का मार्ग सूक्ष्म है। जहाँ जो शैली व अपेक्षा हो, उसे वहाँ यथार्थ समझना चाहिए।

समयसार की गाथा १६४-१६५ में मिथ्यात्व के दो प्रकार कहे हैं। एक संज्ञ अर्थात् जीव-मिथ्यात्व (चैतन्य के विकार), दूसरे असंज्ञ अर्थात् अजीव-मिथ्यात्व (पुद्गल के विकार); परन्तु वहाँ तो जीव के परिणाम जीव में तथा जड़ के परिणाम जड़ में इतना ज्ञान कराने के लिए यह कथन है। जबकि यहाँ तो कहते हैं कि चैतन्यस्वरूप त्रिकाली शुद्ध आत्मा के आस्रवपरिणाम नहीं हैं, क्योंकि अनुभूति की पर्याय निज चैतन्यस्वभाव में ढलने पर आस्रवभाव अनुभूति से भिन्न रह जाते हैं, अनुभव में नहीं आते। भाई ! यह तो अन्तर के अनुभव की बात है। इसमें कोरी (मात्र) पण्डिताई या क्षयोपशमज्ञान से पार नहीं पड़ेगा।

अहाहा ! चैतन्यस्वरूपी जीववस्तु के मिथ्यात्वादि आस्रवभाव नहीं हैं; क्योंकि चैतन्यस्वरूप भगवान की अनुभूति करने पर वे आस्रवादि जुदे रह जाते हैं। उन आस्रवों का अस्तित्व न हो – ऐसी बात नहीं है। उनका अस्तित्व है, तथापि उन आस्रवादि का अस्तित्व अजीव के समान है। आस्रव, जीव के सिद्ध नहीं होने से यह नहीं समझना कि वे पर्याय में भी सर्वथा उत्पन्न ही नहीं होते। यद्यपि जैसे-जैसे गुणस्थान बढ़ता है, आत्मविशुद्धि बढ़ती है; वैसे-वैसे रागादि आस्रवभावों का भी क्रमशः अभाव होता जाता है तथापि नीचे के गुणस्थानों में यथासंभव भूमिका

अनुसार वे उत्पन्न तो होते ही हैं। आत्मानुभव होने पर मिथ्यात्व का परिणाम तो उत्पन्न ही नहीं होता, किन्तु दूसरे अविरत आदि सम्बन्धी आस्रव तो हैं; परन्तु स्वरूप में झुकी हुई अनुभूति से वे भिन्न ही रहते हैं। इसलिए वे जीव के नहीं हैं, पुद्गल के परिणाम हैं। अहो ! वस्तु का स्वरूप ! ! अहो ! समयसार ! ! इसमें कितना सार भरा है !

कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि अकेला समयसार शास्त्र ही पढ़ते हैं ? पर भाई ! इसमें दोष क्या है ? समयसार नाटक में पण्डित बनारसीदासजी ने अन्तिम प्रशस्ति में स्वयं लिखा है :-

पांडे राजमल्ल जिनधर्मी, समैसार नाटक के मर्मी।
तिन गिरंथ की टीका कीनी, बालबोध सुगम कर दीनी ।।२३।।

इह विधि बोध वचनिका फैली, समै पाय अध्यातम शैली।
प्रगटी जगमांही जिनवाणी, घर-घर नाटक कथा बखानी ।।२४।।

जगत में जिनवाणी का प्रचार हुआ और घर-घर समयसार नाटक की चर्चा होने लगी। इस ग्रन्थ की चर्चा फैली, इसका अर्थ यह तो नहीं कि अन्य शास्त्र ठीक नहीं हैं। जिन शास्त्रों का प्रचार कम हो, वे खोटे हैं – ऐसा अर्थ कहाँ से लाये ? बापू ! ऐसा अर्थ नहीं है। उसके आगे यह भी लिखा है कि रूपचन्दजी आदि पाँचों ही विवेकी पण्डित एक स्थान में बैठकर परमार्थ की ही चर्चा करते थे, दूसरी कोई चर्चा नहीं करते थे। 'परमारथ चरचा करें, इनके कथा न और' इससे क्या यह एकान्त हो गया ? परन्तु जिनकी बुद्धि ही मैली है, वे इस बात को नहीं समझ सकते। भाई ! समयसार तो दिव्यध्वनि का सार है।

(१३) ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र व अन्तराय – ये आठ कर्म जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

प्रश्न :- कर्म आत्मा को रोकता है – शास्त्रों में ऐसा आता है न ?

उत्तर :- आत्मा को कौन रोक सकता है ? आत्मा स्वयं विकारों में रुकता है, तब 'कर्म रोकते हैं' – ऐसा कहा जाता है। कर्म तो जड़ हैं। क्या जड़ चेतन को रोक सकता है ?

'कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई'

भूल मेरी स्वयं की ही है। 'अधिकाई' अर्थात् अधिक ऐसा अर्थ नहीं है, परन्तु अपनी भूल से विकार होता है – ऐसा अर्थ है। यहाँ तो

कहते हैं कि अन्दर अनुभूति होने पर विकार का परिणाम भिन्न रह जाता है, अनुभव में नहीं आता। ऐसा अलौकिक जैन परमेश्वर का मार्ग लोगों ने लौकिक जैसा कर डाला है।

प्रश्न :– जब ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो, तभी तो ज्ञान प्रगट हो ?

उत्तर :– नहीं, अपनी योग्यता से ही ज्ञान प्रगट होता है और उसी प्रकार अपनी योग्यता से ही आत्मा में विकार होता है।

प्रश्न :– जीव का स्वभाव तो केवलज्ञान का है, तथापि वर्त्तमान में संसार-अवस्था है। अतः ज्ञान में जो कमी है, वह कर्म के उदय के कारण है या कर्म के उदय बिना ही है ?

उत्तर :– वर्त्तमान संसार-अवस्था में ज्ञान की जो कमी है, न्यूनता है; वह अपने कारण है, कर्म के उदय के कारण नहीं है। इसका उपादान-कारण स्वयं आत्मा है। अपनी योग्यता से ही ज्ञान में न्यूनता हुई है, कर्म के कारण नहीं। कर्म तो जड़, अचेतन व परवस्तु है; इस कारण ज्ञाना-वरणादि कर्म आत्मा में कुछ भी नहीं करते। अपना अशुद्ध-उपादान है, इससे ज्ञान में कमी व न्यूनता हुई है; कर्म तो वहाँ निमित्त मात्र है। कर्म रास्ता देवें तो क्षयोपशम हो – ऐसा नहीं है। अपनी योग्यता से अपने में और कर्म के कारण कर्म में क्षयोपशम होता है। कर्मोदय के कारण ज्ञान हीन नहीं होता, किन्तु वह जब स्वयं ज्ञान की हीनदशा के रूप में परिणमित होता है, तब ज्ञानावरणीय कर्म निमित्तमात्र होते हैं।

परन्तु यहाँ दूसरी बात है। यहाँ तो यह कहते हैं कि वस्तु जो शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा है, उसमें झुकने पर कर्म का परिणाम अनुभव में नहीं आता, अनुभूति से भिन्न रह जाता है। कर्म का जो परिणाम है, वह जड़-पुद्‌गल से उत्पन्न हुआ है; इसकारण शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा से वह भिन्न है – यह बात तो अपनी जगह है; परन्तु यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि शुद्ध चैतन्यवस्तु का अनुभव करने पर उन कर्मों की ओर झुकने वाली विकारीदशा अनुभूति से भिन्न रह जाती है, इसलिये वे आठों ही कर्म जीव के नहीं हैं – ऐसा सिद्ध हुआ।

६८वीं गाथा में कहा है कि जिसप्रकार जौ पूर्वक जौ ही उत्पन्न होता है, उसीप्रकार रागादिभाव भी पुद्‌गलकर्म की प्रकृति के उदय से होते हैं; अतः वे भी पुद्‌गल ही हैं। वहाँ अपेक्षा यह है कि जीव के स्वभाव में विकार नहीं है तथा विकार उत्पन्न करे – ऐसी जीव में कोई शक्ति

या स्वभाव नहीं है; तथापि पर्याय में विकार है, सो इस विकार का कर्त्ता पुद्गल है। यहाँ तथा गाथा ६८ में पर्यायबुद्धि छुड़ाने के लिए यहाँ तक कह दिया है कि चौदह गुणस्थान भी जीव के नहीं हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है कि 'तत्त्वनिर्णय करने में कर्म का तो कुछ दोष है नहीं, किन्तु तेरा ही दोष है। तू स्वयं तो महंत रहना चाहता है और अपना दोष कर्मों के माथे मढ़ता है, परन्तु जिनआज्ञा माने तो ऐसी अनीति संभवे नाहीं।' देखो! विकार कर्म से होता है – ऐसा माननेवाले अनीति करते हैं और ऐसी अनीति तो जैनदर्शन में संभवित नहीं है। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि विकार अपने अपराध से ही होता है, कर्म या निमित्त से नहीं होता। जबकि इस गाथा में ऐसा कहा है कि जीव के विकार नहीं है, क्योंकि स्वानुभूति करने पर विकार का परिणाम व उसका निमित्त कर्म – दोनों भिन्न रह जाते हैं। इसकारण आठों ही कर्म जीव के नहीं हैं। इस गाथा में स्वभाव की दृष्टि कराने का मूल प्रयोजन है।

(१४) जो छहपर्याप्ति के योग्य व तीनशरीर के योग्य पुद्गल-स्कन्धरूप नोकर्म हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास – ये छह-पर्याप्तियों तथा तीन शरीर के योग्य जो पुद्गलस्कन्ध हैं, वे नोकर्म हैं; वे सब भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गल के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

(१५) जो कर्म के रस की शक्तियों के समूहरूप वर्ग हैं, वे जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

(१६) जो वर्गों के समूहरूप वर्गणायें हैं, वे जीव की नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(१७) जो मन्द-तीव्ररसवाले कर्मसमूहों के विशिष्ट न्यासरूप (जमावरूप – वर्गणाओं के समूहरूप) स्पर्धक हैं, वे जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

जीव का स्वरूप तो सच्चिदानंदशक्तिमय है। निजस्वरूप में झुकाव करने पर परिणाम में आनन्द का अनुभव आता है, परन्तु उसमें कर्मों के वर्गों एवं वर्गणाओं के समूह का अनुभव नहीं आता। जड़ तो जीव से भिन्न ही है। कर्म के वर्ग व वर्गणायें सब पुद्गल हैं, इसकारण वे शुद्धचैतन्य से भिन्न ही हैं; परन्तु उनकी ओर के झुकाव का भाव भी स्वानुभूति से

भिन्न है। जड़ की ओर के झुकाववाली दशा स्वद्रव्य के झुकाववाले भाव से पृथक् हो जाती है, इसलिए स्पर्धक आदि भी जीव के नहीं हैं।

(१८) स्व-पर के एकत्व का अध्यास (निश्चय) हो, तब विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नरूप जिनका लक्षण है, ऐसे जो अध्यात्मस्थान हैं, वे सब ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

स्व-पर के एकपने के अध्यासरूप परिणामों को अध्यात्मस्थान या अध्यवसाय कहते हैं। ये अध्यात्मस्थान भी विशुद्ध चैतन्यपरिणामों से भिन्नलक्षणवाले होने से जीव के नहीं हैं। अध्यात्मस्थान का अर्थ यहाँ आत्मा के स्थान नहीं लेना चाहिए। स्व-पर की एकताबुद्धि के अध्यवसाय को यहाँ अध्यात्मस्थान कहा है। वे सब अध्यात्मस्थान जीव के नहीं हैं। स्व-पर की एकताबुद्धिवाले जितने भी भाव हैं, वे सब जीव के नहीं हैं। विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से अर्थात् स्व की एकता के परिणाम से स्व-पर की एकता का परिणाम भिन्न है।

बन्ध अधिकार के १७३वें कलश में आता है कि – "मैं परजीव की रक्षा करूँ, उसके प्राणों का नाश करूँ, उन्हें सुख-दुःख दूँ – आदि जो अध्यवसायरूप स्व-पर की एकताबुद्धि है, वह मिथ्यात्व है; उसका भगवान ने निषेध किया है। इसकारण मैं (अमृतचन्द्राचार्य) ऐसा समझता हूँ कि पर के आश्रयभूत सम्पूर्ण व्यवहार छुड़ाया है।"

आचार्यदेव कहते हैं कि परवस्तुओं में जो अध्यवसान होता है, वह सब जिनेन्द्र भगवन्तों ने पूर्वोक्त रीति से त्यागने योग्य कहा है। इसकारण हम ऐसा समझते हैं कि पर के आश्रय से जितना भी व्यवहार होता है, वह सब भगवान ने छुड़ाया है। ये महाव्रत, समिति, गुप्ति, आदि के सभी विकल्प पर के आश्रय से सहित हैं, इसकारण यह व्यवहार भी छुड़ाया है। इसके बाद भी सत्पुरुष एक सम्यक्-निश्चय को ही निष्कम्पपने अंगीकार करके शुद्धज्ञानघनस्वरूप निजमहिमा में स्थिर क्यों नही होते ? आचार्य कहते हैं कि इसप्रकार देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का भाव, पंचमहाव्रत का भाव व व्यवहाररत्नत्रय का भाव, ये सब त्याज्य हैं; फिर भी सन्तजन एक निजशुद्धचैतन्य में ही लीन क्यों नहीं रहते ? अर्थात् निजचैतन्य में ही लीन रहना चाहिए – ऐसी प्रेरणा की है।

'मैं पर को जीवित रख रखता हूँ, उसके प्राणों की रक्षा कर सकता हूँ, पर के प्राण हर सकता हूँ, अनुकूलता या प्रतिकूलता दे सकता हूँ, भूखों

को अनाज व प्यासों को पानी दे सकता हूँ, गरीबों के लिए रोटी-कपड़ा-मकान की व्यवस्था कर सकता हूँ' – इत्यादि नानाप्रकार के अहंकार व ममकार की जो बुद्धि है, वह सब पर से एकताबुद्धिरूप अध्यवसाय है, मिथ्यात्व है। ऐसा पर के साथ एकताबुद्धि का भाव व अध्यवसाय निज-चैतन्यद्रव्य में झुके हुये विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्न हैं, क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं। बापू! 'मै पर को कुछ दे सकता हूँ' – यह बात ही झूठी है, क्योंकि कोई पर का कुछ भी नहीं कर सकता है।

भगवान आत्मा शुद्धचैतन्यस्वभावी वस्तु है। उस एक के आश्रय से – स्वाश्रय से जो परिणाम होता है, वह विशुद्ध चैतन्यपरिणाम है। उस चैतन्य के परिणाम से ये सभी मिथ्या अध्यवसाय भिन्न हैं, जुदे हैं। जब चैतन्य के विशुद्ध परिणाम हों, तब स्व-पर की एकताबुद्धि का यह अध्यवसाय नहीं रहता है; ऐसा यहाँ कहा है। इसकारण सभी अध्यात्मस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गलपरिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं। स्वानुभूति होने पर स्व-पर की एकताबुद्धि के सभी परिणाम भिन्न पड़ते हैं अर्थात् अभावरूप हो जाते हैं।

प्रश्न :– हे **गुरुदेव**! **स्वरूप** को समझने के सिवाय आप अन्य कुछ करने-धरने की **बातें भी तो बताइये**?

उत्तर :– भाई! स्वरूप की समझ बिना ही तो जीव अनन्तकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी यही कहा है:–

सर्व जीव हैं सिद्ध सम, जे समझे ते थाय।
सद्गुरु आज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण मांय॥

इस बोल में एक विशेषता है। दूसरे सब बोलों में तो समुच्चयरूप से लिया है। जैसेकि सभी प्रकार का प्रीतिरूप राग है, वह जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है। इस बोल में जो स्व-पर की एकताबुद्धि के भावरूप अध्यवसाय कहा, वह विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नलक्षणवाला है। यहाँ यह कहना है कि निजस्वरूप के आश्रय से जो विशुद्ध चैतन्यपरिणाम होता है, उसमें ये मिथ्या अध्यवसाय नहीं आते, उत्पन्न नहीं होते। तथा अध्यवसाय में – स्व-पर की एकताबुद्धि के भाव में विशुद्ध चैतन्यपरिणाम नहीं रहते, उत्पन्न होते। दूसरे बोलों की अपेक्षा इसमें यह विशेषता है कि स्व-पर की एकताबुद्धि में चैतन्य के विशुद्ध परिणाम नहीं हैं और चैतन्य के विशुद्ध परिणाम होने पर स्व-पर की एकताबुद्धि नहीं रहती।

प्रश्न :– हे गुरुदेव ! हम गृहस्थ हैं, हमें व्यापार-धंधा भी करना है, कुटुम्बादि का भरण-पोषण भी करना है, इज्जत-आबरू का भी ध्यान रखना पड़ता है। क्या आपके कहे अनुसार मात्र यही सब-कुछ समझते रहें ?

उत्तर :– भाई ! आत्मा का हित करने का, सुखी होने का तो एकमात्र यही मार्ग है। "मैं पर का हिताहित कर सकूँ, व्यापार कर सकूँ, पैसा कमा सकूँ, पैसा रख सकूँ, दूसरे को पैसा दे सकूँ, स्वयं उसको उपयोग कर सकूँ, कुटुम्ब का पोषण कर सकूँ, पर की दया पाल सकूँ, आबरु-इज्जत कमा सकूँ" – इत्यादिरूप जो स्व-पर की एकताबुद्धि का अध्यवसाय है; वह विशुद्धचैतन्य के परिणाम से विलक्षण है, जुदा है। इस मिथ्या अध्यवसाय की उपस्थिति में शुद्ध चैतन्यपरिणाम उत्पन्न नहीं होता। यहाँ अध्यात्मस्थान का अर्थ स्व-पर की एकताबुद्धि का अध्यवसाय है। ये अध्यवसाय विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से जुदे हैं। अरे ! चैतन्यपरिणाम से भिन्नता ही उसका लक्षण है। बहुत सूक्ष्म बात है। अहो ! ऐसी बात दिगम्बर शास्त्रों के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है।

सभी अध्यात्मस्थान जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नलक्षणवाले हैं। देखो ! विशुद्ध चैतन्य के परिणमन से अध्यात्मस्थानों को भिन्नलक्षणवाला कहा है। अभिप्राय यह है कि जब तक स्व-पर में एकताबुद्धि बनी रहे, तब तक शुद्ध चैतन्य के परिणाम उत्पन्न नहीं होते और निज शुद्धात्मा के आश्रय से – स्वानुभूति प्रगट होने से पर में एकताबुद्धि का परिणाम उत्पन्न नहीं होता।

(१६) जुदी-जुदी प्रकृतियों के रस का परिणाम जिसका लक्षण है – ऐसे कर्मों के सभी अनुभागस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

अनुभागस्थान तो जड़रूप हैं ही, किन्तु उनके निमित्त से आत्मा में जो भाव उत्पन्न होते हैं; वे भी वस्तुतः जीव के नहीं हैं। कर्म के अनुभाग के निमित्त से आत्मा में जो परिणाम होते हैं; वे अनुभागस्थान हैं, परन्तु वे जीव के नहीं हैं। अकेले जड़ के अनुभागस्थानों की यह बात नहीं है। जीव की पर्याय में कर्म के रस के निमित्त से जो भाव होते हैं, वे भी अनुभागस्थान हैं। वे भाव हैं तो अपनी पर्याय में ही, किन्तु उन्हें भी यहाँ पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहा है। स्वभाव की दृष्टि से देखने पर स्वभाव, विकार के अनुभागरूप परिणमन करे – ऐसा ऐसा कभी होता ही नहीं है। आत्मा में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो विकाररूप से परिणमन

करे। तथा निज आत्मद्रव्य का अनुभव करने पर, वे अनुभागस्थान अनुभूति से भिन्न रह जाते हैं; इसकारण सभी अनुभागस्थान जीव के नहीं हैं।

(२०) कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणाओं का कम्पन जिनका लक्षण है, ऐसे सभी योगस्थान भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे सर्व ही पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

इस बात का तीन प्रकार से विचार करते हैं।

प्रथम बात :– आत्मा में जो योग का कम्पन है, उसे जीव के स्वभाव की अपेक्षा से पुद्गल का परिणाम कहा है। कम्पन है तो जीव की पर्याय, तथापि जीव के स्वभाव की दृष्टि से उसे पुद्गल का परिणाम कहा है।

दूसरी बात :– समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की ३७२वीं गाथा में आता है कि प्रत्येक द्रव्य का परिणाम स्वयं से होता है। जैसे घड़ा मिट्टी (उपादान) से होता है, कुम्हार (निमित्त) से नहीं होता; उसी प्रकार जीवद्रव्य की कम्पन या राग की पर्याय उससमय स्वतंत्रपने अपने कारण होती है, निमित्त के कारण नहीं। वहाँ अशुद्ध-उपादान से उत्पन्न हुई दशा अपनी है – ऐसा सिद्ध किया है। जबकि यहाँ शुद्ध-उपादान की दृष्टि से वह कम्पन का परिणाम पुद्गल का है, यह कहा गया है।

तीसरी बात :– स्वयंभूस्तोत्र में आता है कि बाह्य व अभ्यन्तर – दो कारणों से कार्य होता है; उसका अर्थ यह है कि कार्य तो वस्तुतः अभ्यन्तर कारण से ही होता है; परन्तु कार्य के काल में साथ में परसंयोगरूप से निमित्त कौन है? इसका ज्ञान करना वहाँ प्रयोजन है; इसलिए दूसरा बाह्यकारण भी कहा है। जैसे निश्चयस्वभाव का भान होने पर भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, उसे निश्चयनय कहा तथा पर्याय में जो अशुद्धता है, अपूर्णता है; उसके जानने को व्यवहारनय कहा। उसीप्रकार जीवद्रव्य में कम्पन या राग की उत्पत्ति स्वतः स्वयं से होती है, पर से नहीं। यद्यपि वे परिणमन अपने ही हैं, तथापि बाह्यकारण से होते हैं; ऐसा कहना – यह निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार का कथन है। इसप्रकार जानने के लिए निमित्त का भी ज्ञान कराया है, क्योंकि निमित्त जाना हुआ प्रयोजनवान है। व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है, ऐसा बारहवीं गाथा में कहा है न? ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। वह ज्ञान स्व को तो जानता ही है और पर – निमित्तों को भी जानता है। निमित्त से कार्य नहीं होता, परन्तु कार्य के काल में निमित्त की उपस्थिति अवश्य है। इसकारण निमित्त जाना हुआ प्रयोजन-

वान है, आश्रय के लिए नहीं। बाह्यनिमित्त से राग उत्पन्न होता है या व्यवहाररत्नत्रय से निश्चयरत्नत्रय उत्पन्न होता है – ऐसा कहना व्यवहार है। निश्चय से तो निश्चयरत्नत्रय स्वद्रव्य के आश्रय से ही होता है।

यहाँ तो अकेली स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से बात है। इसकारण राग के कम्पनरूप परिणाम को पुद्गल कहा है; क्योंकि विभाव है, क्षणिक है, नाशवान है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु है, अतः उसका परिणमन भी अशुद्ध कैसे हो? शुद्धचैतन्यमय वस्तु का परिणमन तो शुद्धचैतन्यमय ही होता है, अशुद्ध नहीं होता; इसलिए यहाँ अशुद्ध परिणमन को पुद्गल के परिणाममय कहा है। भाई ! यहाँ त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की – शुद्ध-उपादान की दृष्टि कराने का प्रयोजन है।

समयसार की गाथा ३७२ में जो विकारी अशुद्ध परिणाम होता है, वह जीव का जीव में होता है; ऐसा कहा है। वहाँ उस-उस समय के पर्याय के जन्मक्षण की सिद्धि की है। रागादि विकार कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, ऐसा नहीं है; परन्तु स्वयं स्वयं में स्वतन्त्रपने होते हैं।

स्वयंभूस्तोत्र में भक्ति का अधिकार होने से श्री समन्तभद्रस्वामी ने निमित्त की बहिर्व्याप्ति सिद्ध करने के लिए कहा है कि 'अभ्यन्तर व बाह्यकारण की समग्रता कार्य की उत्पत्ति में कारण हैं।' यद्यपि कार्य की उत्पत्ति का वास्तविक कारण तो स्व (अभ्यन्तरकारण) ही है; तथापि साथ में जो निमित्त है, उसका ज्ञान कराने के लिए उसे सहचर देखकर, उपचार से आरोप करके, निमित्त से कार्य हुआ है – ऐसा व्यवहार-नय से कहा है। इससे ऐसा न समझना कि निमित्त आया, इसलिये कार्य हुआ है या निमित्त से कार्य हुआ है। पर्याय में जो विकार होता है, वह क्या वस्तु है? वह है तो अपना ही अपराध ! वह किसी निमित्त या कर्म द्वारा किया हुआ नहीं है। विकारी या निर्विकारी पर्याय स्वतन्त्रपने होती है और उस काल में निमित्तरूप से दूसरी वस्तु भी मौजूद होती है।

जीव स्वयं (अशुद्ध-उपादानरूप से) विकार का कारण है, यही निश्चयकारण है। यहाँ तो शुद्धजीव विकार का कारण है ही नहीं, यह सिद्ध करना है। शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन निर्मल आनन्दप्रभु भगवान आत्मा में ऐसा है ही क्या जो पुण्य-पाप को उत्पन्न करे? अतः द्रव्य-स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से विकार के परिणाम को पुद्गल का कहकर जीव में से निकाल दिया है। परन्तु कोई ऐसा पकड़कर (हठ करके) ही बैठ जावे कि विकारी पर्याय कर्म की है और कर्म के कारण है तो उसे ऐसा

कहा कि विकार जीव में, जीव से, जीव के कारण होता है। भाई ! यदि तू 'पर्याय है' – इसे ही नहीं मानता है तो तू मूढ़ है और यदि तू मात्र पर्याय मात्र में ही लीन है तथा स्वभावदृष्टि नहीं करता है तो भी तू मूढ़ है, मूर्ख है। इसकारण पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय कराकर, पश्चात् त्रिकाल-स्वभाव की दृष्टि करने के लिये वह पुद्गल है – ऐसा कहा है।

प्रश्न – एक कार्य में दो कारण होते हैं न ?

उत्तर – दो कारण होते हैं – यह बात तो बराबर है, परन्तु एक यथार्थ – वास्तविककारण है तथा दूसरा उपचरितकारण है। वास्तविक कारण तो सदा एक ही है। निश्चय से स्व-शक्तिरूप निज उपादान से कार्य होता है – इस बात को लक्ष्य में रखकर, निमित्त में कारण का उपचार करके, दो कारणों से कार्य होता है – ऐसा प्रमाणज्ञान कराया है। निश्चयकारण की बात रखकर ही प्रमाणज्ञान दूसरे निमित्तकारण को स्वीकार करता है, निश्चयकारण को उड़ाकर या निषेध करके नही। जो निश्चयकारण का लोप करे तो प्रमाणज्ञान ही न हो, दो कारण ही सिद्ध न हों।

यहाँ इस गाथा में जीवस्वभाव का वर्णन चलता है। आत्मा के स्वभाव में योग के कम्पन होने का कोई गुण नहीं है। इसकारण योग के कम्पन को पुद्गल के परिणाममय कहा है। इसी शास्त्र की गाथा ३७२ में कहा है कि 'तदनुसार कम्पन का जो परिणाम है, वह स्वद्रव्य की जीव की अपनी पर्याय है।' वह स्वयं से होती है, निमित्त से या वर्गणा से नहीं। जहाँ पर्याय क्रमबद्धरूप से स्वतन्त्रपने परिणमन करती है तो वहाँ पर-निमित क्या करे ? अपने परिणाम का उत्पादक पर है ही नहीं। वहाँ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में परिणाम की स्वतन्त्रता सिद्ध की है और यहाँ त्रिकालीस्वभाव का परिणमन विकारी नहीं हो सकता, इसलिए योग के कम्पन को पुद्गलपरिणाममय बताकर स्वभाव की दृष्टि कराई है।

जहाँ दो कारण कहे हैं, वहाँ जो निश्चय – उपादानकारण है, उसे ध्यान में रखकर व्यवहारकारण को सम्मिलित किया है; निश्चयकारण की उपेक्षा करके या निषेध करके व्यवहारकारण को स्थापित नहीं किया। निश्चय से योग का कम्पन जीव का ही है और जीव से ही होता है – यह बात रखकर निमित्त को स्थापित किया है, निश्चय को उड़ाकर जो निमित्त को स्थापित करे तो दोनों ही कारणों का यथार्थज्ञान प्रमाणिक नहीं होगा। भाई ! जैसे व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है, उसीप्रकार 'यह निमित्त भी है' – ऐसा जानना प्रयोजनवान है। निमित्त से कार्य नहीं होता, परन्तु कार्य में अन्य पदार्थ निमित्त है–ऐसा जानना प्रयोजनवान है।

जिसप्रकार जो निश्चयमोक्षमार्ग है – वही मोक्ष का कारण है, क्योंकि मार्ग तो एक ही है; परन्तु साथ में देव-शास्त्र-गुरु आदि के राग को सहचर देखकर, मोक्षमार्ग का निमित्त जानकर व्यवहारमोक्षमार्ग कहा है। उसीप्रकार निमित्त है अवश्य, परन्तु वह उपादान में कुछ भी नहीं करता। अहो! वस्तु का सत्यस्वरूप ही ऐसा है। इसमें कोई करे क्या?

निश्चय से प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने-अपने 'जन्मक्षण' (जो उत्पत्ति का काल है, उसी काल में) होती है – यह निश्चय है, यथार्थ है। अब इस निश्चय को यथार्थपने रखकर दूसरी वस्तु का – निमित्त का ज्ञान कराने के लिए दो कारण उपचार से कहे हैं। दूसरे प्रकार से कहें तो प्रमाण स्वयं व्यवहार का विषय है, क्योंकि वह भी दो मिलकर हुआ है न? कार्य का निश्चयकारण स्व और उसका निमित्त पर, इसप्रकार प्रमाण दो मिलकर बना; इसलिये वह व्यवहार का विषय ही हो गया। एक वस्तु के ज्ञान में, दूसरी वस्तु का भी साथ में ज्ञान किया अर्थात् दोनों का एकसाथ ज्ञान किया; अतः प्रमाणज्ञान हुआ। इसप्रकार प्रमाणज्ञान सद्भूत-व्यवहारनय का विषय हुआ। पंचाध्यायी में भी इसीप्रकार कहा है।

'आत्मा राग को जानता है' – यह कथन उपचरितसद्भूतव्यवहार-नय से है। जानना स्वयं में है, इसलिये सद्भूत और स्वयं को ही जानता है, तथापि राग को जानता है – ऐसा कहना उपचार है। 'ज्ञान वह आत्मा' – ऐसा भेद डालना, अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय से है।

अहो! देखो, आचार्यों ने कैसी स्पष्टता की है। प्रमाणज्ञान स्व-द्रव्य और रागरूप परद्रव्य – दोनों को एक साथ जानता है। अतः प्रमाण-ज्ञान स्वयं ही सद्भूतव्यवहार का विषय हो गया। वस्तुस्थिति ही ऐसी है। बापू! यह किसी के घर की बात नहीं है, अपितु वस्तु के घर की बात है।

यहाँ कहते हैं कि कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणा के निमित्त से आत्मा में जो कम्पन होता है, वह पुद्गल का परिणाम है। यहाँ भी जो कम्पन की बात है, वह जड़वर्गणाओं के कम्पन की बात नहीं है। मन-वचन-काय के परमाणु तो जड़ हैं ही, परन्तु यहाँ तो उनके निमित्त से आत्मा में हुए कम्पन के परिणाम को जड़ कहा है। योग का जो कम्पन है, वह जीव की पर्याय है तथा वह पर्याय अपने से उस काल में स्वयं के ही जन्मक्षण में होती है। वह जड़वर्गणा से नहीं हुई है; परन्तु वह जीव के स्वभाव से हुई हो – ऐसा भी नहीं है। इसकारण निमित्त के होने पर जीव में हुये कम्पन को पुद्गल का परिणाम कहा है।

इसप्रकार तीन तरह से कथन किया है :-

(१) विकारी भाव जो जीव में होते हैं, वे निश्चय से जीव की स्वयं की पर्यायें हैं।

(२) विकारी भाव में कर्म निमित्त है – ऐसा (निमित्त-उपादान के साथ) ज्ञान करना प्रमाणज्ञान है। विकारीभाव निश्चय से जीव की पर्याय है – ऐसा निश्चय रखकर साथ में निमित्त का ज्ञान करना प्रमाण-ज्ञान है। यह भी उपचरित-सद्भूतव्यवहार है।

(३) भगवान आत्मा जो अनन्त-अनन्त गुणों से परिपूर्ण शुद्ध चैतन्यदल, चैतन्यरस का सम्पूर्ण त्रिकाली सत्त्व है, वह कभी भी विकाररूप से परिणमित नहीं होता; इसलिये निमित्त से हुए विकार को निमित्त में डालकर पुद्गल का परिणाम कहा है। भाई ! यह कोई कोरी पण्डिताई का विषय नहीं है। भगवान वीतरागदेव का मार्ग जैसा है, वैसा अन्दर में बैठना चाहिये।

श्री वासुपूज्य भगवान की स्तुति करते हुये स्वयंभूस्तोत्र में श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि कार्यों में बाह्य व अभ्यन्तर (निमित्त व उपादान) दोनों कारणों की समग्रता होना आपके मत में द्रव्यगत स्वभाव है। श्री अकलंकदेव ने भी कहा है कि दो कारणों से कार्य होता है – यहाँ भी दोनों कारण – निमित्त व उपादान सिद्ध करना है तथा प्रमाण का ज्ञान कराना है; इसलिए ऐसा कहा है।

वास्तव में तो जो कार्य होता है, वह स्वयं से स्वयं के कारण ही होता है तथा उस काल में निमित्त भी होता तो अवश्य है, परन्तु कार्य होने में निमित्त की अपेक्षा नहीं होती। श्री पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में आता है कि पर्याय में जो विकार होता है, वह अपने षट्कारकों से होता है। द्रव्य व गुण से तो नहीं, परन्तु निमित्त से भी नहीं होता। यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करना है। इसकारण जो विकार है, वह पर्याय के षट्कारक का परिणमन है – ऐसा कहा है। अहाहा ! विकार का कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधि-करण स्वयं विकार है। एकसमय की पर्याय में षट्कारक का परिणमन द्रव्य व गुण की या परनिमित्त की अपेक्षा बिना ही होता है। इसप्रकार वहाँ निश्चय से विकार के परिणमन में अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है – ऐसा कहा है।

यहाँ स्वभाव की दृष्टि कराना है– इसकारण ऐसा कहा है कि विकार का परिणाम पुद्गल का है।

जहाँ दो कारण कहे वहाँ निश्चय से तो पर्याय स्वयं से ही अपने षट्कारकों से होती है; परन्तु साथ ही निमित्त होता है, उसे मिलाकर प्रमाणज्ञान कराया है। भाई ! वास्तव में तो कारण एक ही है। जैसे– मोक्षमार्ग एक ही है। मार्ग कहो या कारण कहो– दोनों का एक ही अर्थ है। अर्थात् जैसे मोक्ष का कारण एक ही है, उसीतरह पर्याय का कारण भी निश्चय से एक ही है। प्रभु ! सत्य तो ऐसा ही है। जो इसमें कोई फेरफार करेगा तो सत् का विनाश होगा। भाई ! वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है और यथार्थपने ऐसा ही समझ में बैठना चाहिए।

योगस्थान अर्थात् कम्पन। यह जीव के योगगुण की विकारी पर्याय है। यह कर्म-ग्रहण में निमित्त है, कर्म परमाणुओं का आना तो उनके स्वयं के उपादान के कारण से होता है। परमाणुओं का भी उससमय उसी रीति से परिणमन करने का काल है, इसकारण उसी रीति से कर्मरूप परिणमन करते हैं। उस परिणमन में योग का निमित्त कहना, व्यवहार है। यहाँ योग का परिणाम आत्मा का नहीं, किन्तु पुद्गल का है–ऐसा जो कहा है, वह स्वभाव की दृष्टि कराने के लिए कहा है। योग के कम्पन का विकारी परिणाम, स्वभाव से उत्पन्न नहीं होता। इसकारण स्वभाव की दृष्टि कराने के लिए, पर्याय में जो परलक्ष्य से विकार होता है उसको पर में डालकर, पुद्गल का परिणाम है– ऐसा कहा है। भाई ! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

प्रश्न :– कार्य तो दो कारणों से होता है और तुम एक कारण से मानते हो; इसलिए एकान्त हो जाता है।

उत्तर :– भाई ! समयसार की गाथा ३७२ में आता है कि "मिट्टी घटभावरूप से उत्पन्न होती हुई कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न होती है या मिट्टी के स्वभाव से ? यदि कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न होती हो तो जिसमें घट को बनाने के अहंकार से भरा हुआ पुरुष विद्यमान है और जिसका हाथ (घड़ा बनाने का) व्यापार करता है, ऐसे पुरुष के शरीराकार घट होना चाहिए; परन्तु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता। यदि ऐसा है तो फिर मिट्टी कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती है, परन्तु मिट्टी के स्वभाव से ही उत्पन्न होती है; क्योंकि अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है।"

इसप्रकार घड़ा मिट्टी से हुआ है, कुम्भकार से नहीं। निमित्त से कार्य हुआ है – ऐसा हमें दिखाई नहीं देता। भले ही कुम्भकार 'घड़ा मैं करता हूँ' ऐसे अहंकार से भरा हो, तथापि उसका स्वभाव कहीं घड़े में आता-जाता या पसरता नहीं है, अन्यथा कुम्भकार के स्वभाव से घड़ा होता हुआ दिखाई देना चाहिए; परन्तु घड़ा तो मिट्टी के स्वभाव से ही होता है, कुम्भकार के स्वभाव से नहीं। इसलिए घड़ा मिट्टी का ही है, कुम्भकार का नहीं है। परन्तु जहाँ दो कारण कहे हैं, वहाँ जो वास्तविक कारण तो नहीं है, परन्तु उपचारमात्र कारण है; उसे सहकारी देखकर उस काल में वह होता है – ऐसा जानकर, दूसरा कारण यह भी है – ऐसा कहा है। इसप्रकार दो कारणों से कार्य होता है, यह व्यवहार कथन किया है। ऐसी वस्तुस्थिति है। वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है और गहन है।

(२१) भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के परिणाम जिनके लक्षण हैं – ऐसे जो बन्धस्थान हैं, वे जीव में नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं। जितने प्रकार के बन्ध के परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं; इसलिए वे अनुभूति से भिन्न हैं।

(२२) अपना फल उत्पन्न करने में समर्थ कर्म-अवस्था जिसका लक्षण है, ऐसे उदयस्थान भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

यह पर्याय में हुए विकारी भावों की बात है, कर्मों की नहीं। जिसको जीव अर्थात् द्रव्यस्वभाव कहते हैं, उस द्रव्यस्वभाव के ये उदयस्थान नहीं हैं। जीव की पर्याय में उदय के जो असंख्यप्रकार बनते हैं, वे सब जीव के नहीं हैं। चार गति, क्रोध-मान-माया-लोभ आदि जितने उदय के प्रकार हैं; वे सब परमस्वभावभावरूप भगवान आत्मा के नहीं हैं; इसलिए उन सब उदयस्थानों को पुद्गलपरिणाममय कहा है। वैसे तो उदय के स्थानों का भाव जीव की स्वयं की पर्याय है और वह कर्म के निमित्त की अपेक्षा बिना स्वयं से हुई है, परन्तु जिसे परमस्वभावभावरूप भगवान की दृष्टि हुई है – ऐसे धर्मी जीव को उदय के स्थान पर्याय में हैं, परन्तु द्रव्यदृष्टि से वे उसके नहीं हैं। वे उदयस्थान जीव में से निकल जाते हैं, इसलिए भी उन्हें पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहा है।

उदय के – विकार के जितने प्रकार हैं; वे सब निश्चय से तो जीव से हुए हैं, कर्म से नहीं; क्योंकि कर्म तो परद्रव्य हैं, वे जीव को छूते ही नहीं हैं; तो फिर उनसे उदयभावरूप विकार कैसे हो? तत्त्वार्थसूत्र में भी

उदयभाव जीव के स्वतत्त्वरूप कहे हैं, क्योंकि वे जीव की पर्याय में उसकाल में स्वयं से उत्पन्न होते हैं; परन्तु यहाँ पुद्गल के परिणाममय कहा है, क्योंकि त्रिकालीस्वभाव में विकार उत्पन्न करने का कोई गुण नहीं है। अत: त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि से निमित्त के आधीन हुए भाव निमित्त के हैं – ऐसा कहा है, परन्तु इसकारण ऐसा नहीं समझ लेना कि उदयभाव निमित्त से होते हैं। निमित्त उपचारमात्र है, यथार्थकारण तो उपादान है।

उदयस्थान जीव के परिणाम हैं, परन्तु इस गाथा में वे शुद्धजीव के नहीं हैं – ऐसा कहा है; वह स्वभाव की अपेक्षा से कहा है। आत्मा त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वभावमय है। उस चैतन्यस्वभाव की दृष्टि होने पर विकार का परिणाम नहीं होता, इसकारण पुद्गल का परिणाम कहा है। वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा यथार्थ समझना चाहिए।

(२३) गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका लक्षण है; ऐसे जो मार्गणास्थान – वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

अब मार्गणास्थानों की बात कहते हैं। उसमें पहले गति की बात है। गति का परिणाम तो जीव का है, यह शरीर गति नहीं है। अन्दर गति का जो विशेषभाव – उदयभाव है, वह गति है। मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नरकगति के परिणाम जीव के हैं, परन्तु वे विकारी परिणाम होने से त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि होने पर छूट जाते हैं; इसलिए वे परिणाम पुद्गल के हैं – ऐसा कहा है। यहाँ सभी चौदह मार्गणास्थानों को पुद्गल का परिणाम कहा है। भाई ! आत्मा वस्तु तो शुद्ध परमात्मस्वरूप चिद्घन है, अनादि-अनन्त है, एकसमय में परिपूर्णस्वरूप प्रभु है, वस्तु तो वर्त्तमान में पूर्ण है। अहाहा ! अकेला स्वभाव का पिण्ड – ऐसे स्वभाव की दृष्टि में गति के विकारी परिणाम पुद्गल के हैं; क्योंकि वे परिणाम निकल जाते हैं, सदैव रहनेवाले नहीं हैं। पर्याय में जो विकारी परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे द्रव्य या गुण से उत्पन्न नहीं होते। अहो ! वीतरागदेव का मार्ग अद्भुत और अलौकिक है।

अब भावेन्द्रियाँ और द्रव्येन्द्रियाँ – सभी पुद्गल के परिणाम हैं, यह कहते हैं। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय महाप्रभु है। उसकी अपेक्षा भावेन्द्रियों को भी पुद्गल का परिणाम कहा है। ये इन्द्रियाँ तो जड़ – पुद्गलरूप हैं, परन्तु भावेन्द्रियाँ पर्याय अपेक्षा तो जीव के ही परिणाम हैं।

द्रव्यदृष्टि से देखने पर भावेन्द्रियाँ त्रिकाली अतीन्द्रियस्वभाव में नहीं हैं और वे निकल जाती हैं, सदैव नहीं रहतीं; इसलिए भावेन्द्रियों को पुद्गल का परिणाम कहा है। दूसरे प्रकार से कहें तो भावेन्द्रियों का परिणाम तो स्वयं से ही है, जिसमें कर्म के क्षयोपशम का निमित्तपना है। इसप्रकार भावेन्द्रिय के परिणाम दो कारणों से होते हैं – जहाँ ऐसा कहा; वहाँ प्रमाण का ज्ञान कराने के लिए कहा है, निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कहा है। गजब बात है! शास्त्र की शैली कोई ऐसी अनोखी है कि चारों ओर से मेल खाता है। अहो! अद्भुतधारा बहती है!!

इसी शास्त्र की ३१वीं गाथा में आया है कि भावेन्द्रियाँ खण्ड-खण्डज्ञान को जनाती हैं, पूर्ण आत्मा को नहीं; इसकारण वे परज्ञेय हैं। भावेन्द्रियों का विषय जो खण्ड-खण्डज्ञान है, वह ज्ञायक की अपेक्षा परज्ञेय है। इन्द्रियों को जीतना – इसका क्या तात्पर्य है? तो कहते हैं :–(१) खण्ड-खण्डज्ञानरूप भावेन्द्रियाँ (२) जड़रूप द्रव्येन्द्रियाँ (३) और उनके विषय देव-शास्त्र-गुरु आदि – ये सब परज्ञेय हैं; इन तीनों को जीतना अर्थात् उनसे भिन्न एक ज्ञायकभाव को जानना ही इन्द्रियों को जीतना है।

अब काय की बात करते हैं। यहाँ बाह्य शरीर की बात नहीं है, परन्तु अन्दर की योग्यता की बात है। यह काय जीव की नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल के परिणाममय है।

अब योग अर्थात् मन-वचन-काय के निमित्त से जो अन्दर आत्मा में योग की क्रिया या कम्पन होता है, वह जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय है। यह बात पहले विस्तार से आ गई है।

इसीप्रकार पुरुष आदि वेद के जो परिणाम हैं, वे सब जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गल के परिणाम हैं। जो तीन प्रकार के वेद के परिणाम होते हैं, वे उनके 'जन्मक्षण' में होते हैं, इसकारण स्वयं से होते हैं। उन्हें जिसप्रकार पर की अपेक्षा नहीं है, उसीप्रकार द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं है। द्रव्य-गुण की अपेक्षा उन्हें क्यों हो? क्योंकि द्रव्य-गुण तो शुद्ध हैं और पर की अपेक्षा भी क्यों हो? क्योंकि पर तो भिन्न है। तो फिर दो कारण कैसे कहे हैं? यह तो प्रमाण का ज्ञान कराने के लिए कहा है। तथा जो वासना उत्पन्न होती है, वह है तो जीव की पर्याय; परन्तु त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में वह नहीं है तथा स्वभाव की दृष्टि करने पर वह परिणाम जीव में से निकल जाता है, इसकारण उस वासना के परिणाम को यहाँ पुद्गल का परिणाम कहा है।

दूसरे प्रकार से कहें तो वेद के भावरूप जो विकारी वासना होती है, उसका अशुद्ध-उपादान तो स्वयं ही है तथा जड़ वेद का उदय, उसमें निमित्त है। यहाँ उपादान कारण के साथ ही औपचारिक कारण जो निमित्त है, उसको मिलाकर प्रमाणज्ञान कराया है, परन्तु उसके कारण परनिमित्त से विकार की वासना होती है – ऐसा नहीं समझना। अपनी पर्याय में विकार अपने से ही होता है, वह परकारकों की अपेक्षा नहीं रखता। (देखो पंचास्तिकाय गाथा ६२)

प्रश्न :– यदि विकार पर से न हो और अपने से ही हो, फिर तो वह स्वभाव हो जाएगा ?

उत्तर :– विकाररूप होना उससमय पर्याय का स्वभाव है। 'स्वस्य भवनं स्वभाव:'। स्वयं से वह पर्याय होती है, इसलिए स्वभाव है। विकार भी उससमय का सत् है कि नहीं ? हाँ, है; तो निश्चय से सत् का कोई हेतु नहीं हो सकता। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य – तीनों ही सत् हैं। भले ही उत्पाद या व्यय विकाररूप हों; परन्तु वे सत् हैं और सत् अहेतुक होता है। उस काल का वह स्वतंत्र सत् है तो उसमें असत् (उससे अन्य) की अपेक्षा कैसे हो ? परन्तु यहाँ तो उस सत् को त्रिकाली सत् की भी अपेक्षा नहीं है। विकारी पर्याय अपनी अपेक्षा से, वर्त्तमान सत् होने पर भी, उसको अपेक्षा से पुद्गल का परिणाम कहा है। विकारी पर्याय वर्त्तमान सत् का सत्त्व है – उस अपेक्षा से देखें तो वेद का विकारी परिणाम स्वयं से होता है; वह वेदकर्म के उदय से आत्मा में हुआ है – ऐसा बिलकुल नहीं है। अहो ! वीतराग का पंथ परम अद्भुत है।

श्री पण्डित बनारसीदासजी ने भी कहा है :–

ज्ञान नैन किरिया चरन, दोऊ शिवमग धार;
उपादान निहचै जहाँ, तहाँ निमित्त व्यवहार ।।३।।

उपादान निहचै जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय;
भेदज्ञान परवान विधि, बिरला बूझै कोय ।।४।।

उपादान बल जहाँ-तहाँ नाँहि निमित्त को दाव;
एक चक्र सौं रथ चले, रवि को यहै स्वभाव ।।५।।

अब कषाय की बात करते हैं। क्रोध, मान, माया व लोभ के परिणाम, शुभ या अशुभभाव, सभी कषायें तथा जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है – वे सभी भाव पुद्गल के परिणाममय हैं। भगवान आत्मा तो अकषायस्वरूप वीतरागमूर्ति प्रभु है। उसमें कषाय के परिणाम

नहीं हैं। जो कषाय के परिणाम जीव की पर्याय में हुए हैं; वे निश्चय से स्वयं से हुए हैं, परकारकों से नहीं। स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे कषाय के परिणाम स्वभावभूत नहीं हैं और पर्याय में से निकल जाते हैं, इसलिए उन्हें पुद्गल के परिणाम कहा है। यदि कषाय की उत्पत्ति दो कारणों से कहें तो निमित्तकारण को मिलाकर उपचार से कह सकते हैं, परन्तु निमित्तकारण वास्तविक कारण नहीं है। यहाँ तो इस सिद्धान्त का निर्णय कराते हैं कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल में, उत्पन्न होनेवाली है; उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी काल में, अपने स्वयं के कारण से होती है; पर से या निमित्त से नहीं होती।

इसीप्रकार ज्ञान के भेद भी त्रिकाली, शुद्ध, एक, ज्ञायकभावस्वरूप आत्मा में नहीं हैं। ये मति, श्रुत आदि ज्ञान के भेद जीव में नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं। अहाहा! यह तो गजब बात है! चैतन्यस्वभावी शुद्ध जीववस्तु त्रिकाल एकरूप अभेद है। उसमें ज्ञानमार्गणा का अर्थात् ज्ञान के भेदों का अभाव है। अभेदस्वभाव में भेद का अभाव है – ऐसा कहा है। श्री नियमसार के शुद्धभाव अधिकार की ४३वीं गाथा में कहा है कि शुद्धभाव में मार्गणास्थान नहीं हैं और यहाँ कहा है कि जीव में मार्गणास्थान नहीं हैं – दोनों एक ही बात हैं। शुद्धभाव में विकल्प (भेद) जिसके लक्षण हैं, ऐसे मार्गणास्थान नहीं हैं। शुद्धभाव अर्थात् दृष्टि का विषय जो त्रिकालशुद्ध अभेद जीववस्तु है, उसमें ज्ञान के भेद नहीं हैं। पाँचे ज्ञान व तीन अज्ञान – ये सब ज्ञान के भेद, अभेद चैतन्य-स्वरूप आत्मा में नहीं हैं। भेद वास्तव में व्यवहार हैं और इसकारण वे भेद त्रिकालीस्वभाव में – निश्चयस्वरूप में नहीं हैं, ऐसा कहा है। पर्याय में जो ज्ञान के भेद हैं, वे अशुद्धनिश्चयनय से जीव के हैं; परन्तु शुद्धनिश्चय-नय से देखें तो वे ज्ञान के भेद शुद्धजीववस्तु में नहीं हैं।

प्रश्न :– बन्ध का एकमात्र कारण रागादि होते हुए भी प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न बँधती हैं और उनकी स्थितियाँ भी भिन्न-भिन्न पड़ती हैं – इसका क्या कारण है?

उत्तर :– अपने उपादान कारण से ऐसा होता है। उपादान स्वतंत्र है, इसलिए ऐसा होता है। निमित्तरूप से राग एक जैसा ही होता है, तथापि अपनी योग्यता के कारण प्रकृति-विशेष की योग्यता से पर्यायें भिन्न-भिन्नरूप हैं। विपरीतभाव एक होते हुए भी ज्ञानावरणीकर्म की स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागर, मोहनीयकर्म की स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी

सागर और नामकर्म की स्थिति बीस कोड़ा-कोड़ी सागर बँधती है। यह अन्तर उपादान से – उससमय बंधनेवाले परमाणुओं की पर्यायगत योग्यता से ही है; निमित्तकारणों से नहीं। निमित्त तो सबका एक है, तथापि प्रकृतियों के कार्य में जो भेद पड़ता है, वह स्वतंत्र अपने-अपने उपादान के कारण से है। परमाणु की स्थिति कम या अधिक होना, वह उसकी स्वयं की योग्यता है।

धवला के छठे भाग में पृष्ठ १६४ पर भी लिखा है कि "प्रकृति-विशेष होने से इन सूत्रोक्त प्रकृतियों का यह स्थितिबन्ध होता है। सभी कार्य एकान्त से बाह्य अर्थ की अपेक्षा करके ही उत्पन्न नहीं होते हैं, अन्यथा धान्य के बीज में से जौ के अंकुर की भी उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होगा। किन्तु इसप्रकार के द्रव्य तीनों ही काल में किसी भी क्षेत्र में नहीं हैं, जिनके बल से धान्य के बीज से जौ के अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति हो सके। यदि ऐसा होने लगे तो अनवस्था दोष प्राप्त होगा, इसलिए अंतरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है – ऐसा निश्चय करना चाहिए।"

देखो! अतिस्पष्ट कहा है कि सभी कार्य बाहर की एकान्त अपेक्षा करके उत्पन्न नहीं होते। यदि कार्य बाह्य कारण से ही उत्पन्न हों तो धान्य से जौ की उत्पत्ति होगी। यदि पर के कारण कार्य हो तो जड़ में से चेतन और चेतन में से जड़ उत्पन्न होंगे। तथा कार्यसंबंधी कोई नियम ही नहीं ठहरेगा, किसी निमित्त का भी मेल नहीं रह सकेगा; इसलिए कोई भी कार्य हो, वह अंतरंग कारण से ही उत्पन्न होता है – ऐसा निश्चित करना। निमित्तकारण एक होते हुए भी उपादान की योग्यता से ही प्रकृतियों की स्थिति भिन्न-भिन्न बंधती है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने दो कारण सिद्ध करने के लिए दो कारणों से कार्य होता है – ऐसा कहा है। स्वयंभूस्तोत्र तो भक्ति का स्तोत्र है; अतः उपादान के कार्यकाल में निमित्त होता है, यह बात ग्रहण की है। यदि निमित्त उपस्थित हो, परन्तु उपादान का कार्यकाल न हो तब भी निमित्त से कार्य हो जाय – ऐसा नहीं होता है। यद्यपि जब-जब उपादान का कार्यकाल होता है, तब-तब निमित्तरूप से अन्य वस्तु उपस्थित रहती ही है; तथापि निमित्त के कारण उपादान में कार्य हुआ, ऐसा नहीं है। निमित्त और उपादान – दोनों साथ में ही हैं तो भी ऐसा निर्णय करना चाहिए कि अभ्यन्तर कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

अरे भगवान! तू क्या करता है? प्रभु! तू परमानन्द का नाथ भगवान है न? आत्मा तो सदा भगवानस्वरूप या परमात्मस्वरूप

ही है। भाई ! सिद्ध के स्वरूप और तेरे स्वरूप में क्या अन्तर है ? जो 'जिन' का स्वरूप है, वही आत्मा का स्वरूप है। वर्त्तमान में ही तेरा परमात्म-स्वभाव है; इसलिए उसमें दृष्टि दे तो तेरा कल्याण होगा !

दृष्टि की पर्याय स्वयं है तो क्षणिक, परन्तु उस पर्याय में त्रिकाली भगवान की स्वीकृति होने से पर्याय में परमात्मा दिखाई देता है, ज्ञात होता है; व्यवहार के विकल्प से आत्मा प्राप्त नहीं होता। जैसे व्यवहार हो भले ही, परन्तु वह निश्चय में मदद नहीं करता; उसीप्रकार निमित्त हो भले, परन्तु वह पुद्गल या जीव – किसी की भी उस-उस समय उत्पन्न होनेवाली पर्याय की कुछ भी मदद नहीं करता।

प्रश्न :– निमित्त सहकारी है – ऐसा शास्त्रों में तो आता है न ?

उत्तर :– यहाँ सहकारी का अर्थ समकाल है, मात्र इतना ही समझना। कार्य की उत्पत्ति के समय साथ-साथ रहनेवाला है, इसलिए सहकारी कहा है। कुछ सहायता करने की अपेक्षा से सहकारी नहीं कहा। यदि निमित्त कार्य में सहायता करता हो तो धर्मास्तिकाय तो अनादि से पड़ा है, उसके कारण निरन्तर गति होना ही चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता। जीव स्वयं गति करे, तब धर्मास्तिकाय निमित्त होता है; अन्यथा नहीं। गति के समय जैसे धर्मास्तिकाय निमित्त है; उसीप्रकार (गतिपूर्वक) स्थिति के काल में अधर्मास्तिकाय निमित्त है। जब गति करता है, तब भी अधर्मास्तिकाय तो मौजूद है ही; फिर वह निमित्त क्यों नहीं हुआ ? भाई ! इसका अर्थ इतना ही है कि परिणमनस्वभावी जीव और पुद्गल जब स्वयं गतिरूप परिणमन करें, तब धर्मास्तिकाय निमित्त होता है और जब गतिपूर्वक स्वयं रुकें, तब अधर्मास्तिकाय निमित्त होता है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, इसमें तर्क नहीं चलता।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञान में भेद डालना, वह पुद्गल का परिणाम है। भगवान आत्मा अभेद एकरूप चैतन्यवस्तु है, उसमें ज्ञान के भेदों का लक्ष्य करने पर राग ही उत्पन्न होता है और राग पुद्गलद्रव्य का परिणाम है। नियमसार, शुद्धभाव अधिकार (गाथा ४२) में ज्ञान के भेदरूप जो मार्गणा-स्थान हैं, उनको 'विकल्पलक्षणानि' कहा है। भेद का स्वरूप ही 'विकल्पलक्षण' है। गति, इन्द्रिय आदि भेदस्वरूप जो चौदहगुणस्थान हैं, वे सब जीव के नहीं हैं। जीव कहो या शुद्धभाव कहो – दोनों एक ही हैं। नियमसार में त्रिकाल शुद्धभाव को जीव कहा है और यहाँ जीव को त्रिकाल शुद्धभाव कहा है। रागादि तो जीव के स्वरूप हैं ही नहीं, किन्तु

भेद भी निश्चय से जीव के स्वरूप नहीं हैं। नियमसार की गाथा ५० में आता है कि पर्याय पर है, इसलिए निश्चय से वह जीव का स्वरूप नहीं है। भाई! अभेददृष्टि हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और अभेद की दृष्टि उत्पन्न होने में निमित्त या व्यवहार कुछ भी मददगार नहीं हैं।

आत्मा अभेद एकरूप त्रिकालीद्रव्य है। उसमें भेद कैसा? राग कैसा? उसमें एकसमय की पर्याय भी कैसी? भाई! गंभीर बात है! समय थोड़ा है और करने को बहुत है। अधिकांश जीवों को बाहर का मोह अधिक है। बाहर के त्याग की बात देखकर वे खुश हो जाते हैं, परन्तु बाहर का त्याग आत्मा में है ही कहाँ? यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञान के भेद ही आत्मा में नहीं हैं तो ये सब बाह्य क्रिया-काण्ड आत्मवस्तु में कैसे संभव हैं? मिथ्यात्व के त्याग बिना दूसरा कोई त्याग हो ही नहीं सकता। निमित्त, राग व भेद को दृष्टि में से छोड़ना और अभेद एकरूप निर्मल आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि करना ही मिथ्यात्व छोड़ना है।

अब संयम अर्थात् चारित्र की बात करते हैं। संयम के भेद भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलपरिणाम हैं। आत्मा शुद्ध ज्ञायकभाव त्रिकाल एकस्वरूप है। उसमें संयम के भेद कैसे? भेद के लक्ष्य से तो राग ही होता है; इसलिए अभेद में चारित्र के भेद भी पुद्गल के परिणाम हैं। चारित्र पर्याय भी है और त्रिकाली गुण भी है। त्रिकाली चारित्र-गुण के पर्यायरूप भेद विकल्प के कारण हैं। इसकारण भेद को पुद्गल का परिणाम कहा है। संयमस्थान 'विकल्पलक्षणाणि' अर्थात् भेदस्वरूप हैं; इसलिए त्रिकाली शुद्ध जीवद्रव्य में ये संयम के भेदस्थान नहीं हैं। भाई! मार्ग बहुत अलौकिक है, परन्तु लोगों ने इसे बाहर के माप से कल्पित कर लिया है कि यह त्याग किया और राग को घटाया; परन्तु ध्रुव चैतन्यवस्तु दृष्टि में आये बिना राग कैसे घटे? अहाहा! राग तथा भेद का जिसमें अभाव है—ऐसे दृष्टि के विषय को दृष्टि में लिए बिना राग किसप्रकार घट सकता है अर्थात् वास्तव में राग तब तक नहीं घटता, जब तक भेदविज्ञान होकर आत्मानुभव नहीं हो जाता।

मोक्षमार्गप्रकाशक में शिष्य ने प्रश्न किया है कि प्रभु! शुभभाव वालों के अशुभराग तो घटता है; इसलिए इतना चारित्र तो कहो? इसके उत्तर में वहाँ कहा है कि जिनको सम्यग्दर्शन हुआ है, अभेद की दृष्टि हुई है, उनके ही वास्तव में अशुभभाव घटता है; परन्तु जिन्हें वस्तुस्वभाव की दृष्टि नहीं हुई है. चैतन्यनिधान नजर में नहीं आया है; उन जीवों के

शुभभाव के समय भी अशुभभाव घटा ही नहीं। शुभाशुभभावरहित शुद्ध-चैतन्य के जाने बिना शुभभाव के समय अशुभभाव घटे – ऐसा तीनकाल में भी कभी बनता नहीं है, क्योंकि उनके मिथ्यात्व तो पूरा का पूरा पड़ा है। भाई! त्रिकाली पूर्णानन्द के नाथ को जिन्होंने अनुभव में लिया है, उनके ही शुभभाव के समय अशुभभाव घटते हैं और क्रम-क्रम से घटकर राग नष्ट हो जाता है। अहाहा! जिसमें राग नहीं है, भव नहीं है, भव का भाव नहीं है, अपूर्णता नहीं है – ऐसे पूर्णस्वभावमय शुद्ध चैतन्यभगवान के निधान को जिसने देखा है, उसे शुभभाव के समय अशुभभाव घटता है और वही शुद्ध चैतन्यवस्तु के आश्रय से शुभभाव को भी घटाकर क्रम-क्रम से स्वाश्रय की पूर्णता करके मुक्ति प्राप्त करेगा।

दृष्टि में पूर्णशुद्ध परमात्मस्वरूप नहीं आवे तो राग कैसे घट सकता है? मिथ्यात्व की उपस्थिति में अशुभ कैसे घटे? भाई! मिथ्यात्व मन्द हो – यह कोई अपूर्व उपलब्धि नहीं है। वैसे तो अभव्य को भी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का रस मन्द हो जाता है, परन्तु मन्द या तीव्र – यह कोई उपलब्धि नहीं है, उपलब्धि तो मिथ्यात्व के अभाव में है।

समयसार की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि अभव्य जीव जब शुभभाव अति उग्ररूप से करता है, तब उसे मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी के अनुभाग का रस मन्द होता है; परन्तु मन्द पड़े, उससे क्या लाभ? अभाव होना चाहिए, वही वास्तव में लाभप्रद है।

यहाँ कहते हैं कि संयम के स्थान 'विकल्पलक्षणाणि' अर्थात् भेद-स्वरूप होने से भगवान आत्मा में नहीं हैं। यह अजीवतत्त्व का अधिकार चलता है, इसलिये वे अजीव के होने से जीव के नहीं हैं; इसप्रकार प्रतिषेध से बात की है। पहले जीव का स्वरूप 'ऐसा है, ऐसा है' – इसप्रकार अस्ति से बात की थी; परन्तु यहाँ जीव में 'ये नहीं हैं, ये नहीं हैं' – इसप्रकार निषेध से बात करते है।

अब चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन – ऐसे दर्शन के जो भेद-स्थान हैं, वे वस्तु में – त्रिकालशुद्ध जीवद्रव्य में नहीं हैं; ऐसा कहते हैं। शुद्ध वस्तु तो परमपवित्र है; परन्तु पर्याय में जो अशुद्धता होती है – वह अपने विपरीत पुरुषार्थ से होती है, कर्म के कारण नहीं होती। स्वयं राग में अटका है – रुका है; कर्म के कारण नहीं रुका है, बल्कि अपनी ही भूल के कारण रुका है। पंचास्तिकाय में आता है कि 'विषय की प्रतिबद्धता है, इसकारण जीव रुका है, कर्म के कारण नहीं।' भाई! पूर्णानन्द का

नाथ भगवान अन्दर विराजता है, उसका तो आश्रय लिया नहीं और पर का आश्रय लिया है – यह तेरा स्वयं का ही अपराध है। वह अपराध पर-पदार्थों ने भी नहीं कराया है।

प्रश्न :– कोई कहता है कि ५०% (पचास प्रतिशत) उपादान का और ५०% (पचास प्रतिशत) निमित्त का अपराध मानो न ?

उत्तर :– भाई ! शत-प्रतिशत आत्मा का – उपादान का ही अपराध है। अंशमात्र भी पर का – निमित्त का अपराध नहीं है। आत्मा की भूल शत-प्रतिशत आत्मा में है और निमित्त शत-प्रतिशत अपने में है। अरे ! सच्चा वस्तु का स्वरूप कैसा है ? इसकी जिसको खबर नहीं हो, उसे धर्म कहाँ से हो ? कैसे हो ? भाई ! इस संसार में से तो निकल जाना ही श्रेयस्कर है। ये संसार के भाव और भेद के भाव इस शुद्ध जीववस्तु में नहीं हैं। जो ये भेद हैं, वे सब वस्तु में स्वयं के कारण ही हैं, कर्म के कारण नहीं। कर्म के कारण ज्ञान रुक गया है – ऐसा नहीं है। ज्ञान स्वयं ही उल्टी परिणति से हीनपने परिणमता है और इसकारण ही अल्पज्ञपना है, उसमें उपादानकारण तो निज का है, ज्ञानावरणीय कर्म तो निमित्त मात्र है।

कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल – ऐसे जो लेश्याओं के भेद हैं, वे शुद्ध जीवद्रव्य में – वस्तु में नहीं हैं।

भव्य व अभव्य – ऐसे भेद भी जीव के नहीं हैं। भव्य व अभव्यपना तो पर्याय में है। चैतन्यस्वभावी वस्तु में भव्य-अभव्यपने का भेद नहीं है। इसकारण भव्य हो या अभव्य, वस्तुपने शुद्ध होने से प्रत्येक जीव समान है।

अब कहते हैं कि क्षायिक, औपशमिक तथा क्षायोपशमिक – ऐसे जो समकित के भेद हैं, वे जीव के नहीं हैं। सम्यग्दर्शन का विषय जो अखण्ड ध्रुव आत्मद्रव्य है, उसमें सम्यग्दर्शन के भेद नहीं हैं। भाई ! बहुत सूक्ष्म बात है। प्रभु ! तुझे प्रगट में परमात्मा बनना है न ? वास्तव में तू द्रव्य-स्वभाव से तो परमात्मा है ही, परन्तु पर्याय में परमात्मा बनना शेष है। भाई ! तू ऐसे अभेद परमात्म-स्वरूप में रह, उसमें गुणभेद या पर्यायभेद नहीं हैं और ऐसी अभेददृष्टि होने पर तू अल्पकाल में पर्याय में भी परमात्मपद पायेगा। यहाँ भेद का लक्ष्य छुड़ाने के लिये ही उपशम, क्षय, क्षयोपशम रूप – ये समकित के भेद परमात्मस्वभाव में नहीं है – यह कहा है। एकसमय में पूर्ण ज्ञानरसकन्द शुद्ध चैतन्यघन वस्तु का त्रिकाली प्रवाह मात्र चैतन्य····चैतन्य····चैतन्यरूप है। इसलिये भेद के विकल्प में

मत जा ! निमित्त का लक्ष्य छोड़ दे ! ! और जो त्रिकाली ध्रुव चैतन्य है, वहाँ दृष्टि दे ! स्थिर हो जा ! !

व्यवहार से धर्म होता है – ऐसा माननेवालों को यह बात एकान्त जैसी लगती है और वे सोचते हैं कि पाँच महाव्रत पालें, अनेक क्रियायें करें, रसों का त्याग करें – ये तो कुछ नहीं, और बस आत्मा....आत्मा करने से क्या धर्म हो जाएगा ? वाह ! अच्छा धर्म है ! उनसे कहते हैं कि भाई, ये धर्म नहीं हैं अर्थात् इनसे धर्म नहीं होता, बल्कि ये तो संसारभाव हैं। जीव चाहे नववें ग्रैवेयक में जाए या सातवें नरक में, है तो औदयिक भाव में ही न ? अरे ! वस्तु के स्वरूप में जहाँ भेद भी नहीं है तो उदयभाव, कहाँ से होगा ? अरे ! क्षायिकभावों के स्थान भी जीव में नहीं हैं। नियमसार की ४३वीं गाथा में आता है कि क्षायिकभाव, उदयभाव, उपशमभाव और क्षयोपशमभाव के स्थान जीव में नहीं हैं। ऐसा आनन्द का नाथ प्रभु अपने पूर्णरूप में अन्दर विराजमान है, वहाँ दृष्टि दे तो तुझे अपने परमात्मा से भेंट होगी। संज्ञी-असंज्ञीपना भी वस्तु में नहीं है। वस्तु (आत्मा) संज्ञी या असंज्ञी नहीं है, वस्तु तो शुद्ध चिद्रूप एकाकार है।

आहार-अनाहारपना वस्तु में – आत्मा में नहीं है। आहार लेने का विकल्प या अनाहारीपने का विकल्प – ये दोनों पर्यायें हैं, ये वस्तु में नहीं हैं। इसप्रकार सभी मार्गणास्थान जो भेदरूप हैं, वे जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं। देखो ! भेद के भावों को भी पुद्गल के परिणाम कहा है, क्योंकि अभेदस्वरूप चैतन्यमूर्ति में भेद कैसा ? पहले ऐसा कहा कि सभी मार्गणास्थान जीव में नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय हैं और इसकारण अनुभूति से भिन्न हैं। अन्तर में अभेद की अनुभूति होने पर अनुभूति में भेद तो नहीं आते; बल्कि भिन्न रह जाते हैं। अहो ! ऐसी अद्भुत बात है !

(२४) भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का अमुककाल तक कालान्तर में साथ रहना – जिसका लक्षण है, ऐसे सभी स्थितिबंधस्थान भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

जीव में कर्म की स्थितिबंध के भेद तो हैं ही नहीं; किन्तु जो जीव की पर्यायगत योग्यता है, वह भी जीव की नहीं है। कर्म में जो प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागबंध होते हैं, वे अपने उपादान में – जड़ में हैं; परन्तु जीव की पर्याय में कर्म के अनुसार जो योग्यता है, वह जीव में है, इसमें कर्म निमित्तमात्र है। जहाँ निमित्त है, वहाँ उपादान में भी स्वतंत्रपने

ऐसी ही योग्यता होती है। कर्मप्रकृति से भिन्न, उसप्रकार का अशुद्ध-उपादान जीव में – स्वयं में है, कर्मप्रकृति तो उसमें निमित्तमात्र है। कर्मप्रकृति में जितनी योग्यता है, उतने ही प्रमाण में जीव की पर्याय में अशुद्धता को योग्यता है। लेकिन यहाँ कहते हैं कि ये सभी स्थितिबंध के स्थान जीव में नहीं हैं।

प्रश्न :– विकार तो एक जाति का है, तथापि कर्म की प्रकृति में भिन्न-भिन्न स्थिति कैसे पड़ती है ?

उत्तर :– प्रकृतियों की विशेषता के कारण ऐसा होता है। प्रकृति में जो स्थिति पड़ती है, वह स्वयं के कारण से पड़ती है। निमित्तरूप से राग तो एक है; तथापि स्थिति में अन्तर पड़ता है, वह प्रकृतियों के उपादान की तत्समय की स्वतन्त्र योग्यता के कारण पड़ता है। अहाहा ! गजब बात है। भाई ! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा निराला है।

(२५) कषायों के विपाक की अतिशयता जिनका लक्षण है – ऐसे सभी संक्लेशस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाम-मय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

पर्याय में जो असंख्यप्रकार के अशुभभाव होते हैं, वे जीव के स्वरूप नहीं हैं। पहले प्रीतिरूप राग और अप्रीतिरूप द्वेष इतना ही आया था। अब कहते हैं कि जीव की पर्याय में जो कषायों के विपाक का अतिशयपना है अर्थात् जो संक्लेशस्थान हैं – वे सभी जीव के नहीं हैं। यहाँ जड़ विपाक की बात नहीं है, परन्तु जीव की पर्याय में हुए कषायों के विपाक की बात है। जो कर्मों का विपाक है, उसी प्रमाण में आत्मा में भी कषायों का विपाक है। कषायों के संक्लेश परिणाम स्वतन्त्र हैं। कर्म का उदय तीव्र अनुभागवाला है, इसलिये संक्लेश परिणाम हुए हैं – ऐसा नहीं है। उससमय संक्लेश परिणाम कषायों के विपाकरूप हैं, वह स्वयं जीव की अपनी पर्याय है; परन्तु वे शुद्ध आत्मवस्तु में नहीं हैं। अहाहा ! जिसको जीव कहते हैं, भगवान आत्मा कहते हैं; उस शुद्ध चैतन्य में संक्लेश के स्थान नहीं हैं।

भाई ! वस्तु तो त्रिकालशुद्ध है। अशुद्धता तो पर्याय में है और वह अपने कारण से है, कर्म के कारण नहीं है। गोम्मट्टसार में आता है – **भावकलंक सुपउरा निगोदवासं न मुंचति** – निगोद के जीव भावकलंक (भावकर्म) में प्रचुर हैं। वहाँ द्रव्यकर्म की प्रचुरता नहीं कही है। उनके उपादान में अशुद्धतारूप भावकलंक की उग्रता है और वह अपने स्वयं के कारण है। यहाँ कहते हैं कि ये संक्लेशस्थानों के जो असंख्यप्रकार हैं, वे

सभी जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गल के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं। शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय से जो निर्मल अनुभूति होती है – उसमें ये संक्लेशस्थान नहीं आते हैं, भिन्न रह जाते हैं; इसलिए वे संक्लेशस्थान जीव के नहीं हैं।

(२६) कषायों के विपाक की मन्दता जिसका लक्षण है – ऐसे सभी विशुद्धिस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

राग की मंदता के जो असंख्यप्रकार हैं, वे जीव के नहीं हैं – ऐसा कहते हैं। पर्याय में जो असंख्यप्रकार के शुभभाव होते हैं, वे ज्ञानानन्दस्वरूपी शुद्ध आत्मा से भिन्न हैं; क्योंकि शुद्ध आत्मद्रव्य की अनुभूति में वे भिन्न रहते हैं। 'आत्मा से भिन्न हैं' – ऐसा कहकर द्रव्यस्वभाव ग्रहण किया है तथा अनुभूति से भिन्न कहकर वर्त्तमान पर्याय की बात ली है।

भाई! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। शुभभाव करके भी अज्ञानवश अनादि से जन्म-मरण करके चौरासी के चक्कर में भटक रहा है। यहाँ कहते हैं कि जिस शुक्ललेश्या का शुभभाव करके जीव नववें ग्रैवेयक गया, वह शुभभाव भी वस्तु में – आत्मा में नहीं है। फिर भी शुभभाव से कल्याण होगा – ऐसा माने तो यह बहुत बड़ा अज्ञान है। भाई! अन्य जीवों की रक्षा का शुभभाव हो या जिसके द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो, ऐसा शुभभाव हो – ये सब शुभभाव शुद्ध जीववस्तु में नहीं हैं; क्योंकि शुद्ध जीववस्तु का अनुभव होने पर अनुभूति से वे सभी शुभभाव भिन्न रह जाते हैं, अनुभव में नहीं आते हैं।

शंका :– शुभभाव जीव के नहीं हैं तो क्या जड़ के हैं? क्षायिकभावों के स्थान जीव के नहीं हैं तो क्या जड़ के हैं? अरे! क्षायिकभाव तो सिद्धों के भी हैं। सातवीं गाथा में कहा है कि ज्ञानी के दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं हैं तो क्या दर्शन-ज्ञान-चारित्र अज्ञानी के होते हैं?

समाधान :– भाई! जरा धैर्य से सुन! ये भेद द्रव्यस्वभाव में नहीं हैं – ऐसा कहा है। जिस अपेक्षा से बात चलती है, उस अपेक्षा से बात को समझना चाहिए। बापू! ज्ञानी के अर्थात् ज्ञायिकभाव में ये दर्शन-ज्ञान, चारित्र – ऐसे भेद नहीं हैं। ज्ञायक तो अभेद चिन्मात्र वस्तु है तथा ज्ञान, दर्शन आदि भेद का लक्ष्य करने पर राग होता है; इसकारण अभेद की दृष्टि कराने के लिये भेदों का निषेध किया है। ज्ञायक की दृष्टि होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद ज्ञायक में भासित नहीं होते। भाई! ऐसी बात

अभ्यास के बिना समझने में कठिन मालूम पड़ती है, परन्तु क्या करें ? इस बात को अन्तर में बिठाने के लिए उग्र पुरुषार्थ करना चाहिए, क्योंकि इसके समझे बिना कोई रास्ता नहीं है।

पर्याय में जो कुछ शुभभाव या कषाय की मंदता के विशुद्धस्थान होते हैं, वे सभी पुद्गल के परिणाम हैं और इसीकारण अनुभूति से भिन्न हैं। आत्मा अखण्ड अभेद शुद्ध चैतन्यघन वस्तु है। वर्त्तमान पर्याय को ध्रुव की ओर झुकाने पर अभेद वस्तु ज्ञात हो जाती है, परन्तु ये विशुद्धिस्थान के भेद उसमें दिखाई नहीं देते। अहाहा! शुद्धद्रव्य ध्येय बनाने पर जो निर्मल ध्यान की वर्त्तमान पर्याय उदित होती है, उसमें ये व्यवहाररत्नत्रय के शुभभाव दिखाई नहीं देते। शुभभाव ध्यान की अनुभूति से भिन्न रह जाते हैं, इसलिये वे शुभभाव जीव के नहीं हैं; अतः वे लक्ष्य करने योग्य नहीं हैं। वर्त्तमान अवस्था का अन्दर ध्रुव अभेद चैतन्यसामान्य की ओर झुकने पर, उस अवस्था में 'यह ध्रुव अभेद चैतन्यसामान्य है'—ऐसा विकल्प नहीं है; परन्तु ऐसे ज्ञान, श्रद्धान का निर्मल परिणमन है तथा वैसी अनुभूति है। उस अनुभूति में शुभभाव के भेद नहीं आते, किन्तु भिन्न रह जाते हैं; इसलिये वे शुभरागादि भाव जीव के नहीं हैं—ऐसा कहा है।

(२७) चारित्रमोह के विपाक की क्रमशः निवृत्ति जिनका लक्षण है—ऐसे सर्व संयमलब्धिस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे भी पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

अब जो चारित्र की प्राप्तिस्वरूप संयमलब्धि के स्थान हैं, वे सब भी जीव के नहीं हैं—ऐसा कहते हैं। चारित्र की—संयम की निर्मल पर्यायें भेदरूप हैं, जबकि चिन्मात्र अखण्ड आत्मद्रव्य में चारित्र के भेद नहीं हैं—ऐसा यहाँ कहा है अर्थात् निमित्त, राग और भेद का लक्ष्य करने योग्य नहीं है। देह-देवालय में पूर्ण परमात्मा चैतन्यदेव साक्षात् स्वस्वरूप से विराजमान है, उसकी ओर झुकने पर वर्त्तमान पर्याय को उसमें ढालकर एकाग्र करते हुये जो स्वानुभूति प्रगट होती है; उस स्वानुभूति में संयम के भेद नहीं आते, भिन्न रह जाते हैं। किसी को ऐसा लगे कि यह तो एकान्त है, अकेला निश्चय तो एकान्त है; परन्तु बापू! निश्चय ही सत्य है, व्यवहार तो उपचार है। यह सम्यक्-एकान्त है। वीतरागदेव के द्वारा प्ररूपित मार्ग यही है, ऐसा ही है। त्रिकाली शुद्धद्रव्य को ध्येय बनाकर प्रगट हुई ध्यान की दशा में 'यह ध्यान व यह ध्येय'—ऐसा विकल्प नहीं रहता। दृष्टि के विषयभूत शुद्ध आत्मा में संयमलब्धि के स्थान नहीं हैं। तथा शुद्ध आत्मा को विषय करनेवाली दृष्टि—अनुभूति में भी वे संयमलब्धि के भेद ज्ञात नहीं

होते, भिन्न ही रह जाते हैं। भाई ! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, उसमें वाद-विवाद करने से पार नहीं पड़ सकती।

यहाँ संयमलब्धि के स्थानों को पुद्गल के परिणाम कहा है, उसमें क्षयोपशम चारित्र भी आ गया। पर्याय की ओर का लक्ष्य छुड़ाने के लिये त्रिकाली वस्तु में पर्याय को ढालने के लिये यहाँ संयमलब्धि के परिणाम को पुद्गल का कहा है अथवा दूसरे रूप में कहें तो संयम के निर्मल परिणामों के स्थानों पर लक्ष्य जाने से विकल्प होते हैं, इसलिये उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है। अन्तर्मुख पुरुषार्थ बढ़ने से क्रम-क्रम से संयम की दशा बढ़ती है, परन्तु यहाँ कहते हैं कि वह दशा जीव की नहीं हैं; क्योंकि जो अनुभूति की पर्याय द्रव्य में ढलती है, उसमें संयम के स्थान या भेद नहीं आते अर्थात् अनुभव में भेद नहीं आते।

जैसे निमित्त परवस्तु होने से अजीव है तथा राग में चैतन्य का अंश नहीं होने से अजीव है; उसीप्रकार संयम के भेदों को भी अजीव कहा है, क्योंकि भेद का लक्ष्य करने पर राग ही उत्पन्न होता है। अत: भेदों को भी राग की तरह अजीव – पुद्गल का परिणाम कहा है। यह अजीव अधिकार है, इसकारण जो जीव नहीं हैं, जीव में नहीं हैं – उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है। भाई ! अन्दर जा न ? अन्दर आनन्द का नाथ अनादि-अनंत अविचल त्रिकाली ध्रुव चैतन्य भगवान है, उसे देख न ? उसे देखने पर संयमलब्धि के भेद नहीं दीखेंगे।

संयमलब्धि के स्थान अर्थात् क्रम-क्रम से राग की निवृत्ति और वीतराग संयम के परिणामों की प्राप्ति के जो स्थान हैं, वे सब जीवद्रव्य के नहीं हैं; क्योंकि शुद्धद्रव्य पर झुकने पर वे भेद अनुभूति में नहीं आते।

भेद द्रव्य में नहीं हैं ? परन्तु इसका सच्चा ज्ञान किसको होता है ? जिसको यथार्थदृष्टि प्राप्त हुई हो, द्रव्यस्वभाव की अनुभूति हुई हो; उसे यह ज्ञात होता है कि द्रव्यस्वभाव में भेद नहीं हैं। भाई ! यह अनुभव की बात है। यह कहीं वाद-विवाद से पार पड़ जाय – ऐसी वस्तु नहीं है। पण्डित बनारसीदासजी ने कहा है :–

'खोजी जीवे, वादी मरे – यह सांचो कहावत है'

प्रश्न :– तत्त्वार्थसूत्र में निसर्गज और अधिगमज के भेद से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का कहा है और आप कहते हो कि निसर्गज से ही होता है ? – यह बात समझ में नहीं आयी।

उत्तर :– अरे प्रभु ! ध्यान देकर सुनो ! वर्त्तमान पर्याय को अन्तरङ्ग स्वभाव में झुकाने पर सम्यग्दर्शन होता है, उससमय निमित्त या राग का भी लक्ष्य नहीं रहता। अधिगम अर्थात् निमित्त पर लक्ष्य रखकर भी सम्यक्त्व होता है – ऐसा अर्थ नहीं है। जब वर्त्तमान परिणाम अन्तस्तत्त्व में झुकता है तब सम्यग्दर्शन का परिणाम होता है, उससमय भेदरूप भाव भी सम्यग्दर्शन के विषय नहीं रहते; परन्तु 'अधिगम से सम्यग्दर्शन होता है' – ऐसा तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कहा है। यद्यपि अधिगमज सम्यग्दर्शन भी स्वभाव की ही दृष्टि से होता है, तथापि निमित्त का ज्ञान कराने के लिये उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

प्रश्न :– जब निमित्त से कुछ नहीं होता तो अधिगम से सम्यग्दर्शन होता है – ऐसा किसलिए कहा है ?

उत्तर :– यह तो मात्र यह बताने के लिए कहा है कि निमित्त की उपस्थिति में यह बात सुनी थी कि 'अहो ! मैं शुद्धात्मा हूँ।' आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भी कहा है कि हमारे गुरु ने हमको शुद्धात्मा का उपदेश दिया था। जब उपदेश मिला, तब निमित्त का लक्ष्य था; परन्तु पश्चात् जीव जब उस परलक्ष्य से भी उपयोग हटाकर शुद्धात्मा के सन्मुख होता है, तब उसे अनुभूति होती है। अधिगम से सम्यग्दर्शन होता है– ऐसा जो कहा है, वह निमित्त का ज्ञान कराने के लिए किया है। वास्तव में तो जिसको भी सम्यग्दर्शन होता है; वह स्वभाव के आश्रय से ही होता है, निमित्त के आश्रय से नहीं। अतः स्वभाव का आश्रय करना चाहिए।

(२८) पर्याप्त-अपर्याप्त, बादर-सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वि-इन्द्रिय, त्रि-इन्द्रिय चतुरिन्द्रय और संज्ञी व असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जिनके लक्षण हैं – ऐसे सभी जीवस्थान भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं, इसकारण अनुभूति से भिन्न हैं। अभेद शुद्धवस्तु में भेद नहीं हैं, क्योंकि अभेद आत्मा के ध्यान में वे भेद अन्दर दिखाई नहीं देते।

शंका :– शास्त्र वाँचने से ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है अर्थात् निमित्त से ज्ञान नहीं होता है; तो फिर शास्त्र क्यों पढ़ते हो ? शास्त्र तो निमित्त हैं, परद्रव्य हैं; फिर यह समयसार ही क्यों पढ़ते हो ? इससे तो ऐसा लगता है कि निमित्त में कुछ विशेषता तो है ही ?

समाधान :– अरे प्रभु ! निमित्त से कुछ नहीं होता। भाई ! निमित्त से लाभ होता है, ऐसा तुझे कैसे सूझता है ? निमित्त से लाभ होना तो दूर रहा – यहाँ तो यह कहते हैं कि जब तक निमित्त का लक्ष्य है, तब

तक विकल्प है और ये विकल्प पुद्गल के परिणाममय हैं; क्योंकि जब अन्तर में लक्ष्य जाता है, तब विकल्प के परिणाम अनुभूति में ही नहीं आते। अहाहा ! जो सुना है, वह अपनी ज्ञान की पर्याय है और वह पर्याय स्वयं अपनी योग्यता से हुई है, निमित्त से या वाणी से नहीं हुई है। निर्मल पर्याय को अन्तर में झुकाने पर, परलक्ष्यी ज्ञान की पर्याय भी बाहर रह जाती है। भाई ! इसको समझने के लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिये।

(२९) मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत-सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण – उपशमक व क्षपक, अनिवृत्तिबादरसांपराय – उपशमक व क्षपक, सूक्ष्मसांपराय – उपशमक व क्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, संयोगकेवली और अयोगकेवली जिनका लक्षण है – ऐसे सर्व गुणस्थान भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

मिथ्यादृष्टि अर्थात् विपरीतदृष्टि के परिणामरूप – पहला गुणस्थान, सासादनसम्यग्दृष्टि – दूसरा गुणस्थान, सम्यग्मिथ्यादृष्टि – तीसरा गुणस्थान, असंयतसम्यग्दृष्टि – चौथा गुणस्थान है। अहाहा ! परिणाम को द्रव्य की ओर झुकाने पर वह असंयतसम्यग्दृष्टि का परिणाम भी लक्ष्य में नहीं रहता। अविरतसम्यग्दृष्टिपना अर्थात् सम्यक्त्व भी पर्याय है और पर्याय पर लक्ष्य जाने से तो राग ही होता है, इसलिए यहाँ कहते हैं कि असंयतसम्यग्दृष्टिपना भी पुद्गल का परिणाम है। अहाहा ! परिणाम जब अन्तर में झुकता है, तब असंयतसम्यक्त्व का परिणाम भी अनुभूति में नहीं आता। एकमात्र अभेद वस्तु ही अनुभूति में आती है, ज्ञात होती है।

संयतासंयत श्रावक का पाँचवाँ गुणस्थान, प्रमत्तसंयत मुनि का छट्ठा गुणस्थान व अप्रमत्तसंयत सातवाँ गुणस्थान है। इसके बाद अपूर्व-करण – आठवाँ गुणस्थान, अनिवृत्तिकरण – नवमा गुणस्थान और सूक्ष्मसाम्पराय – दसवाँ गुणस्थान; ये तीनों गुणस्थान उपशमक व क्षपक के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।

तथा उपशान्तकषाय – ग्यारहवाँ गुणस्थान, क्षीणकषाय – बारहवाँ गुणस्थान, संयोगकेवली – तेरहवाँ गुणस्थान व अयोगकेवली – चौदहवाँ गुणस्थान है।

सभी गुणस्थान मोह और योग के निमित्त से बनते हैं। ये भेद-लक्षणवाले जो गुणस्थान हैं, वे भी जीव के नहीं हैं। जीवद्रव्य में भेद नहीं हैं और द्रव्य का अनुभव करने पर अनुभव में भी वे भेद दिखाई नहीं देते; इसलिए सभी भेद पुद्गल के हैं। भाई ! यह तो अलौकिक अद्भुतमार्ग

है। बापू ! यही भवसिन्धु से पार होने का उपाय है। अतः यह जीव चैतन्य-सिन्धु भगवान आत्मा के आश्रय में जाने पर इस भवसिन्धु से पार हो जाता है, पर्याय के आश्रय से पार नहीं होता।

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, संस्थान आदि जड़पना तो जीव का है नहीं; परन्तु शुभराग भी जीव का नहीं है, क्योंकि राग में चैतन्य का अभाव है। यहाँ तो विशेषरूप से यह कहा है कि भेद में भी चैतन्य का अभाव होने से भेद भी जीव में नहीं है। त्रिकाली भगवान आत्मा में सब भेद नहीं हैं तथा आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई अनुभूति में भी वे भेद नहीं आते।

एक अक्षर बदल जाने पर पूरी बात ही बदल जाती है। बापू ! यह तो वीतराग परमेश्वर त्रिलोकीनाथ की दिव्यध्वनि का सार है। अनुभूति की जो पर्याय द्रव्य पर ढली है, वह अभेद एकरूप आत्मा को ही देखती है और तब अभेद में भेद भासित नहीं होते। इसकारण भेद को पुद्गल के परिणाममय कहा है।

इसप्रकार उपरोक्त सभी भाव पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से जीव के नहीं हैं। जीव तो परमात्मस्वरूप चैतन्यशक्तिमय स्वभावमात्र है।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :-

(शालिनी)

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

श्लोकार्थ :- [**वर्ण-आद्याः**] जो वर्णादिक [**वा**] अथवा [**राग मोह-आदयः वा**] राग-मोहादिक [**भावाः**] भाव कहे, [**सर्वे एव**] वे सब ही [**अस्य पुंसः**] इस पुरुष (आत्मा) से [**भिन्नाः**] भिन्न हैं; [**तेन एव**] इसलिये [**अन्तः तत्त्वतः पश्यतः**] अन्तर्दृष्टि से देखनेवालों को [**अमी नो दृष्टाः स्युः**] यह सब दिखाई नहीं देते, [**एकं परं दृष्टं स्यात्**] मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखाई देता है – केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखाई देता है।

भावार्थ :- परमार्थनय अभेद ही है, इसलिये इस दृष्टि से देखने पर भेद नहीं दिखाई देता; इस नय की दृष्टि में पुरुष चैतन्यमात्र ही दिखाई देता है, इसलिये वे समस्त ही वर्णादि तथा रागादिभाव पुरुष से भिन्न ही हैं।

ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भाव हैं, उनका स्वरूप विशेष रूप से जानना हो तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए।

कलश ३७ पर प्रवचन

जो रंग, गंध आदि बाह्यपरिणाम अथवा राग-द्वेष-मोहादि अन्तरंग परिणाम हैं, वे सभी इस आत्मा से भिन्न हैं। ये सभी भाव भगवान आत्मा के नहीं हैं। इसकारण अन्तर्दृष्टि से देखनेवालों को – शुद्धात्मा की अनुभूति करनेवालों को ये सभी भाव दिखाई नहीं देते। अतः प्रभु! तू ऐसा तत्त्व तो पकड़ता नहीं, समझता नहीं और बाह्य व्रत, तप व क्रियाकाण्ड को धर्म मान लेता है; परन्तु भाई! तू भूला हुआ है। जिस सही मार्ग से तुझे जाना था, उस मार्ग से गया नहीं और जिस गलत मार्ग से बचना था, उस मार्ग पर चढ़ गया है। अन्दर भगवान आनन्द का नाथ पूर्ण परमात्मस्वरूप में विराजता है। वह जहाँ है – वहाँ जाना है, उसे प्राप्त करना है। प्रभु! वह जहाँ है, वहाँ जा! तुझे वह अवश्य प्राप्त होगा!! क्या वह पर्याय में, राग में, निमित्त में या भेदों में है? जो तू उसे वहाँ खोजता है।

ज्ञायकभाव – चैतन्यशक्तिमय पदार्थ को अन्तर्दृष्टि से देखने पर वे सभी भेदभाव दिखाई नहीं देते। अहाहा! वर्त्तमान पर्याय जब अन्तर्मुख होकर चिदानन्दस्वभावी शुद्ध अन्तस्तत्त्व को देखती है, तब ये सभी भेद अनुभूति में ज्ञात नहीं होते, दिखाई नहीं देते।

प्रश्न :– उस अन्तस्तत्त्व को प्राप्त करने का कोई साधन भी है या स्वयं प्राप्त हो जायेगा?

उत्तर :– साधन है न! प्रज्ञाछैनी कहो या आत्मानुभव – यह उसे प्राप्त करने का ही साधन है। व्यवहार के विकल्प तो इसको प्राप्त करने के लिए साधन के साधन भी नहीं हैं। राग से भिन्न होने का साधन बाहर में नहीं है, अन्तर्दृष्टि ही एकमात्र साधन है। अहाहा! तू सांसारिक धन्धे – व्यापार आदि में कितनी सावधानी रखता है, उसमें कितने उल्लसित परिणाम होते हैं? और यहाँ भगवान बनने की प्रक्रिया में तुझे उल्लास क्यों नहीं आता? बिना उल्लास के सुख का – भगवान बनने का मार्ग कैसे मिले?

यहाँ कहते हैं कि शुद्ध अन्तस्तत्त्व में भेद नहीं हैं। शुभराग व निमित्त की बात तो बहुत दूर, वह तो स्थूल बहिर्तत्त्व है। अन्तस्तत्त्व अर्थात् चैतन्यस्वभाव को देखनेवाली, अनुभव करनेवाली पर्याय में भेद भी भासित नहीं होते। मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखाई देता है अर्थात् केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेद आत्मा ही दिखाई देता है।

अहो ! समयसार की शैली ! उसकी अगाधता ! उसकी गहराई ! गजब बात है, भाई ! भाषा भी कैसी भावों की वाहक है ! धन्य है ! धन्य है !! किसी को ऐसा लगता होगा कि अकेले समयसार की ही प्रशंसा करते हैं; परन्तु बापू ! ऐसी बात नहीं है, हमारे लिए तो सभी भावलिंगी सन्तों के शास्त्र पूज्य हैं। दर्शनसार में दिगम्बर मुनिराज श्री देवसेनाचार्य कहते हैं कि प्रभो ! कुन्दकुन्दाचार्यदेव ! आप विदेहक्षेत्र में जाकर यदि यह वस्तु नहीं लाये होते तो हमें धर्म कैसे प्राप्त होता ? तो क्या उनके गुरु के पास कुछ था नहीं – ऐसा अर्थ है ? भाई ! ऐसा नहीं है। अहाहा ! जहाँ साक्षात् अरहंत परमात्मा विराजते है, वहाँ प्रभु आप गये और यह बात लाये – ऐसा प्रमोदभाव उन्होंने प्रगट किया है। इस वचन से उन्होंने अपने गुरु का अनादर नहीं किया है और न ही अपने गुरु की परम्परा को धर्मविहीन ही बताया है। भाई ! ऐसा उल्टा अर्थ नहीं लगाना। आचार्य श्री कुन्दकुन्द की विशेषता भासित हुई, इसलिए उनका बहुमान प्रगट किया है। कविवर वृन्दावनदासजी ने यह भी कहा है कि **'हुये न, हैं न, न होंहिगे – मुनिन्द कुन्दकुन्द से'** तो क्या उन्होंने दूसरे मुनियों का अनादर किया है ? नहीं, ऐसा अर्थ कदापि नहीं है, बल्कि कुन्दकुन्दाचार्यदेव की जिस विशेषता द्वारा अपना उपकार हुआ – उसका उन्होंने वर्णन किया है।

यहाँ कहते हैं कि दृष्टि अन्तर्मुख होने पर एक उत्कृष्ट वस्तु अभेद चैतन्यसामान्य ही अनुभव में आती है, दिखाई देती है, ज्ञात होती है। हाँ, उस अभेद का अवलोकन तो वर्त्तमान पर्याय ही करती है: परन्तु वह पर्याय भेद को नहीं देखती है, एक अभेद को ही देखती है।

कलश ३७ के भावार्थ पर प्रवचन

परमार्थनय अभेद ही है। इसकारण उस दृष्टि से देखने पर भेद दिखाई ही नहीं देता। परमार्थनय की दृष्टि में आत्मा एक चैतन्यमात्र ही दिखाई देता है। परमार्थदृष्टि पर्याय के भेद को स्वीकार ही नहीं करती, इसलिए व्यवहारनय है ही नहीं – ऐसा भी नहीं है। जब नय है, नय का ज्ञान है और जो ज्ञान है तो उसका विषय क्यों नहीं होगा ? इसलिए व्यवहार-नय का विषय जो भेद है, वह भी है। परन्तु भाई ! वह व्यवहारनय, उसके भेद और उसके विषय आश्रय करने लायक नहीं हैं। इसकारण उनका यहाँ निषेध किया है।

इस शास्त्र के चौथे कलश में आता है कि निश्चय और व्यवहारनय में विषय की अपेक्षा से विरोध है। भगवान ने तो एक शुद्ध त्रिकाली जीव

को ही उपादेय कहा है। 'जिनवचसि रमन्ते' – इसका अर्थ कलशटीकाकार श्री पाण्डे राजमलजी ने ऐसा किया है :– "आसन्न भव्यजीव दिव्यध्वनि द्वारा कही है, उपादेयरूप शुद्ध जीववस्तु; उसमें सावधानपने रुचि, श्रद्धा, प्रतीति करता है। विवरण – शुद्धवस्तु को प्रत्यक्षपने अनुभव करता है; उसका नाम रुचि, श्रद्धा, प्रतीति है।"

'जिनवचन में रमना' – ऐसा जो कहा है, उसका अर्थ यह होता है कि जिनवचन में जो त्रिकाली शुद्ध जीववस्तु को उपादेय कहा है, उसमें रमना; परन्तु उभयनयों में – विरुद्ध दोनों नयों में रमना – ऐसा नहीं है। जिनवचन में निश्चय व व्यवहार दोनों नय कहे हैं, परन्तु दोनों नयों में नहीं रमना। मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में इसका बहुत सुन्दर खुलासा आता है कि "जिनमत में निश्चय व व्यवहार दोनों नय कहे हैं, इसलिए हमें तो दोनों नयों को अंगीकार करना – ऐसा विचारकर अज्ञानी जैसे केवल निश्चयाभास के अवलम्बियों का कथन किया था – वैसा निश्चय का अंगीकार करता है और जैसा केवल व्यवहाराभास के अवलम्बियों का कथन किया था – वैसा व्यवहारनय का अंगीकार करता है, जबकि इसप्रकार से अंगीकार करने में दोनों नयों में परस्पर विरोध है, तथापि करें क्या? क्योंकि दोनों नयों का सच्चा स्वरूप तो उसे भासित हुआ नहीं और जिनमत में दो नय कहे हैं उनमें से किसी को छोड़ा भी जाता नहीं है। इसकारण भ्रमपूर्वक दोनों नयों का साधन साधता है, ऐसे जीवों को भी मिथ्यादृष्टि जानना।"

यहाँ कहते हैं कि निश्चय की दृष्टि में चैतन्यमात्र ही आत्मा दिखाई देता है। अहाहा! अन्तर्दृष्टि करनेवालों को परम अर्थात् उत्कृष्ट लक्ष्मीवाला भगवान आत्मा, सर्वोपरि एकरूप चैतन्यतत्त्व ही दीखता है, एक अभेद की दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता। भाई! अन्दर पूरा का पूरा चैतन्यतत्त्व पड़ा है, उसकी महिमा करके उसकी दृष्टि अनादि से आज तक की नहीं और व्यवहार की महिमा कर-करके जन्म-मरणरूप चौरासी के चक्कर में रखड़ता रहा। अनुभव में आत्मा अभेद ही ज्ञात होता है। इसलिए वर्णादि और रागादि भाव आत्मा से भिन्न ही हैं।

ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भाव हैं, इनका स्वरूप विस्तार से जानना हो तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए।

ननु वर्णादयो यद्यमी न संति जीवस्य तदा तन्त्रांतरे कथं संतीति प्रज्ञाप्यन्ते इति चेत् –

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ।।५६।।

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्याः ।
गुणस्थानांता भावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ।।५६।।

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्धबंधपर्यायस्य कुसुम्भरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति । निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य

अब शिष्य पूछता है कि यदि ये वर्णादिक भाव जीव के नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्तग्रन्थों में ऐसा कैसे कहा गया है कि 'वे जीव के हैं' ? उसका उत्तर गाथारूप में कहते हैं :–

वर्णादि गुणस्थानांत भाव जु, जीव के व्यवहार से ।
पर कोई भी ये भाव नहिं हैं, जीव के निश्चयविषें ।।५६।।

गाथार्थ :– [**एते**] यह [**वर्णाद्याः गुणस्थानांताः भावाः**] वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भाव कहे गये हैं, वे [**व्यवहारेण तु**] व्यवहारनय से तो [**जीवस्य भवंति**] जीव के हैं, (इसलिये सूत्र में कहे गये हैं,) [**तु**] किन्तु [**निश्चयनयस्य**] निश्चयनय के मत में [**केचित् न**] उनमें से कोई भी जीव के नहीं हैं ।

टीका :– यहाँ व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से सफेद रूई से बना हुआ वस्त्र जो कि कुसुम्बी (लाल) रङ्ग से रँगा हुआ है, ऐसे वस्त्र के औपाधिक भाव (लाल रङ्ग) की भाँति; पुद्गल के संयोगवश अनादिकाल से जिसकी बंधपर्याय प्रसिद्ध है, ऐसे जीव के औपाधिक भाव (वर्णादिक) का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ (वह व्यवहारनय) दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है और निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से केवल एक जीव के स्वाभाविकभाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान

सर्वमेव प्रतिषेधयति। ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानान्ता भावा जीवस्य सन्ति, निश्चयेन तु न सन्तीति युक्ता प्रज्ञप्तिः।

होता हुआ, दूसरे के भाव को किंचित्मात्र भी दूसरे का नहीं कहता, बल्कि निषेध करता है। इसलिये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भाव हैं, वे व्यवहारनय से जीव के हैं और निश्चयनय से जीव के नहीं हैं – ऐसा (भगवान का स्याद्वादयुक्त) कथन योग्य है।

गाथा ५६ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब यहाँ शिष्य **प्रश्न** करता है कि यदि वर्णादिभाव जीव के नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्तग्रन्थों में ऐसा कैसे कहा गया है कि वे जीव के हैं? तत्त्वार्थसूत्र में तो राग-द्वेष आदि उदयभावों को जीव के कहा है और आप कहते हो कि वे जीव के नहीं हैं। सो यह किसप्रकार है? इस प्रश्न का **उत्तर** ही इस ५६वीं गाथा में दिया गया है।

व्यवहारनय पर्यायाश्रित है अर्थात् व्यवहारनय पर्याय के आश्रय से होता है। जिसप्रकार सफेद रूई से बना हुआ वस्त्र सफेद ही है, परन्तु लालरंग से रंगा होने से उसे लालवस्त्र कहते हैं। वह लालरंग वस्त्र का औपाधिकभाव है, स्वभावभाव नहीं है। जिसप्रकार लालरंग के संयोग से वस्त्र को लालवस्त्र कहते हैं; उसीप्रकार अनादिकाल से पुद्गल के संयोग से जीव की जो बंधपर्याय प्रसिद्ध है, वह जीव का स्वभाव नहीं; बल्कि औपाधिकभाव है। जीव तो त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वभावी ही है।

जीव के औपाधिकभाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तित होनेवाला व्यवहारनय अन्य के भाव को अन्य का कहता है। जिसप्रकार सफेद वस्त्र कुसुम्बी रंग से रंगा हो तो वह कुसुम्बी (लाल) रंग वस्त्र का औपाधिक-भाव है; उसीप्रकार जीव तो शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु है और ये वर्णादि व रागादिभाव औपाधिकभाव हैं; अतः अन्य के हैं, अजीव हैं। व्यवहारनय उन वर्णादिभावों को ही जीव के भाव कहता है तथा लोक में भी ऐसा ही व्यवहार चलता है।

इस अपेक्षा से औपाधिकभाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तित व्यवहार-नय अन्य के भावों को अन्य के भाव कहता है। तथा निश्चयनय द्रव्य के आश्रय से कथन करता है अर्थात् निश्चयनय केवल एक जीव के स्वाभाविक-भाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तता है। त्रिकाली ज्ञायकभाव जीव का केवल एक स्वाभाविकभाव है। ऐसे जीव के एक स्वाभाविकभाव का अवलम्बन

लेकर प्रवर्तित होने से निश्चयनय अन्य के भाव को अन्य का नहीं कहता। निश्चयनय द्रव्य के आश्रय से प्रवर्तित होने से औपाधिकभावों का निषेध करता है, इसलिए वर्ण से लेकर गुणस्थान तक जो भाव हैं, वे सभी व्यवहारनय से तो जीव के ही हैं; परन्तु निश्चय से वे जीव के नहीं हैं। ऐसा भगवान का जो स्याद्वादयुक्त कथन है, वह योग्य ही है।

प्रश्न :– जब दो नय हैं तो दोनों का आदर करना चाहिए न ?

उत्तर :– नहीं, ऐसा नहीं है। व्यवहारनय जानने लायक है; जबकि निश्चयनय आदरने लायक है। पहले गाथा ५५ में २९ बोलों द्वारा कहा गया था कि वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यंत जो भाव हैं, वे सब पर्याय अपेक्षा व्यवहारनय से जीव के हैं। वस्तु के स्वभाव की दृष्टि से देखने पर निश्चय से वे जीव में नहीं हैं। इस का नाम स्याद्वाद है। 'इति युक्ता प्रज्ञप्ति' – ऐसा पाठ में है अर्थात् व्यवहार से पर्याय में हैं, परन्तु निश्चय से जीव में नहीं हैं – ऐसा वीतराग का स्याद्वाद कथन है। वह उचित है, यथार्थ है।

इह विधि सधै मुकति कौ मारग

जब चेतन संभारि निज पौरुष,
निरखै निज दृग सौं निज मर्म।
तब सुखरूप विमल अविनासिक,
जानै जगत सिरोमनि धर्म।।
अनुभौ करै सुद्ध चेतन कौ,
रमै स्वभाव वमै सब कर्म।
इह विधि सधै मुकति कौ मारग,
अरु समीप आवै सिव सर्म।।५।।

वरनादिक रागादि यह, रूप हमारौ नांहि।
एक ब्रह्म नहि दूसरौ, दीसै अनुभौ मांहि।।६।।

समयसार नाटक, अजीवद्वार, छन्द ५ व ६

कुतो जीवस्य वर्णादयो निश्चयेन न संतीति चेत् –

एदेहिं य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य होंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा।।५७।।

एतैश्च सम्बन्धो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः।
न च भवंति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात्।।५७।।

यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलादधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावात् न निश्चयेन सलिलमस्ति तथा वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्यात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुण-

---

अब फिर शिष्य पूछता है कि वर्णादिक निश्चय से जीव के क्यों नहीं हैं ? इसका कारण कहिये। इसका उत्तर गाथारूप से कहते हैं :–

इन भाव से संबंध जीव का, क्षीर जलवत् जानना।
उपयोग गुण से अधिक, तिससे भाव कोई न जीव का।।५७।।

गाथार्थ :– [**एतैः च सम्बन्धः**] इन वर्णादिक भावों के साथ जीव का सम्बन्ध [**क्षीरोदकं यथा एव**] दूध और पानी का एकक्षेत्रावगाहरूप संयोगसम्बन्ध है, ऐसा [**ज्ञातव्यः**] जानना [**च**] और [**तानि**] वे [**तस्य तु न भवंति**] उस जीव के नहीं हैं, [**यस्मात्**] क्योंकि जीव [**उपयोगगुणाधिकः**] उनसे उपयोगगुण से अधिक है (वह उपयोग गुण के द्वारा भिन्न ज्ञात होता है)।

टीका :– जैसे जलमिश्रित दूध का जल के साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होने पर भी, स्वलक्षणभूत दुग्धत्वगुण के द्वारा व्याप्त होने से दूध जल से अधिकपने से प्रतीत होता है; इसलिये जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है, वैसा जल के साथ दूध का सम्बन्ध न होनेसे, निश्चय से जल दूध का नहीं है; इसप्रकार वर्णादिक पुद्गलद्रव्य के परिणामों के साथ मिश्रित इस आत्मा का, पुद्गलद्रव्य के साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होने पर भी, स्वलक्षणभूत उपयोगगुण

व्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावान्न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः सन्ति ।

के द्वारा व्याप्त होने से आत्मा सर्व द्रव्यों से अधिकपने से (परिपूर्णपने से) प्रतीत होता है; इसलिये जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है, वैसा वर्णादिक के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है; इसलिये निश्चय से वर्णादिक पुद्गलपरिणाम आत्मा के नहीं हैं ।

गाथा ५७ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

जिसप्रकार जलमिश्रित दूध का जल के साथ परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है, फिर भी दूध स्वलक्षणभूत दुग्धत्वगुण से व्याप्त होने के कारण जल से भिन्न प्रतीति में आता है । दूध का स्वलक्षण दुग्धत्व है, अपने दुग्धत्वलक्षण से व्याप्त दूध जल से भिन्न प्रतीति में आता है । इसकारण जैसा अग्नि के साथ उष्णता का तादात्म्य-सम्बन्ध है, वैसा जल के साथ दूध का नहीं है । दूध व जल का एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग-सम्बन्ध है और अग्नि व उष्णता का तादात्म्य-सम्बन्ध है; इसलिए निश्चय से दूध-पानी का सम्बन्ध अग्नि-उष्णता की तरह नहीं है ।

इसीप्रकार आत्मा का रंग-गंध आदि गुणवाले पुद्गल के साथ, राग-द्वेषादि विकार के साथ गुणस्थान आदि भेदों के साथ एवं परस्पर जीव-पुद्गल के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप-सम्बन्ध होते हुए भी आत्मा स्वलक्षणभूत उपयोगगुण से व्याप्त होने के कारण सर्व परद्रव्य, विकार व भेदों से भिन्न प्रतीत होता है । भगवान आत्मा जानने-देखनेरूप उपयोगगुण से अन्य द्रव्यों से अधिक अर्थात् भिन्न है । जिसप्रकार दुग्धत्व से युक्त दूध जल से भिन्न है; उसीप्रकार उपयोगलक्षण से युक्त आत्मा अन्य सर्वभावों से भिन्न है । जैसा अग्नि और उष्णता में तादात्म्य-सम्बन्ध है, वैसा भगवान आत्मा का वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भावों के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है । एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध तो है, परन्तु तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है; इसलिए वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव आत्मा के नहीं हैं ।

जानना....जानना....जानना....बस, मात्र जानना ही स्वभाव है । इसकारण जीव राग-द्वेष तथा गुणस्थान आदि सब भेदभावों से भिन्न है । अहाहा ! आत्मा का अपने उपयोगरूप त्रिकाली स्वभाव पर लक्ष्य होने से उपयोग द्वारा ही वह पर से भिन्न ज्ञात होता है । निश्चय से त्रिकाल उपयोग अर्थात् ज्ञानगुण, जीव का स्वभावभूत लक्षण है । इस ग्रंथ की गाथा ६१ में भी आया है कि आत्मा ज्ञानस्वभाव से अधिक है, विशिष्ट है ।

प्रश्न :– त्रिकाल ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण आत्मा पर से पृथक् है – ऐसा निर्णय कौन करता है ?

उत्तर :– स्वभाव की ओर ढलती हुई पर्याय ऐसा निणय करती है कि यह आत्मा ज्ञानगुण से अधिक है, पर से पृथक् हैं। त्रिकाली जीव का लक्षण त्रिकाल उपयोग है; परन्तु जीव का 'उपयोग' लक्षण है – ऐसा निर्णय त्रिकाल उपयोग नहीं करता, वह तो अक्रिय है; परन्तु उसमें ढली हुई पर्याय जानती है कि जीव 'उपयोग' लक्षणवाला है। अहाहा ! यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय की व्याख्या कैसी स्पष्ट की गई है।

शास्त्र में आता है कि जीव नित्य 'उपयोग' लक्षणवाला है, परन्तु नित्य 'उपयोग' लक्षण का निर्णय करनेवाली पर्याय है। उपयोग अर्थात् जानने के स्वभाव द्वारा भगवान आत्मा रागादिभावों से भिन्न है। फिर भी रागादि से जुदा करनेवाला गुण नहीं है, किन्तु अनुभूतिपर्याय है।

४९वीं गाथा में अव्यक्त के एक बोल में आया है कि चित्सामान्य में चैतन्य की सर्व व्यक्तियाँ निमग्न (अन्तर्भूत) हैं, इसलिए आत्मा अव्यक्त है। भगवान आत्मा में पर्यायें अन्तर्लीन हैं, परन्तु पर्यायें जिसमें अन्तर्लीन हैं – ऐसे अव्यक्त का निर्णय तो व्यक्त पर्याय ही करती है।

यहाँ कहते हैं दूध और जल परस्पर व्याप्त होकर एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध में होते हुए भी दूध के गुण या लक्षण से देखें तो वह दुग्धत्वगुण के कारण जल से भिन्न है – ऐसा ज्ञात होता है। उसीतरह आत्मा और पुण्य-पाप, दया-दान, व्रतादि के विकल्प एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्ध की अपेक्षा से एक जगह व्याप्त होने पर भी स्वभाव की शक्ति से देखें तो ज्ञात होता है कि आत्मा ज्ञानगुण के कारण राग से भिन्न (अधिक) है। राग से भिन्न पड़-कर परिणति जब ज्ञायक पर जाती है, तब उस उद्धत परिणति से आत्मा राग से भिन्न स्पष्ट अनुभव में आता है। 'मैं राग व पर से भिन्न हूँ, अधिक हूँ' – ऐसा अनुभव गुण में कहाँ है ? ऐसा अनुभव तो पर्याय में है।

जैसे – दृष्टान्त में 'स्वलक्षणभूत दुग्धत्वगुण' लिया था, उसीतरह सिद्धान्त में 'स्वलक्षणभूत उपयोगगुण' लिया है। आत्मा और पुण्य-पाप, गुणस्थान आदि भाव एक-अवगाहना में व्याप्त होते हुए भी स्वलक्षणभूत उपयोगगुण से देखने पर अर्थात् परिणति के अन्तरंग में ढलने पर वे आत्मा से भिन्न ज्ञात होते हैं। इसकारण ये सभी अन्यभाव पर्याय में होते हुए भी द्रव्य में नही हैं, ऐसा कहते हैं। इसप्रकार आत्मा सर्वद्रव्यों और सर्वभावों से अधिकपने – भिन्नरूप से प्रतीत होता है।

जैसे दूध तथा जल एक स्थान पर व्याप्त होता हुआ भी, दूध मिठासगुण के कारण जल से भिन्न ज्ञात होता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा उपयोगगुण के कारण पर से भिन्न दिखाई देता है।

जानती तो पर्याय है अर्थात् आत्मा पर से भिन्न है – ऐसा निर्णय पर्याय करती है। इस ज्ञानगुण के कारण आत्मा पर से भिन्न है – ऐसा जिसकी अनुभूति की पर्याय में निर्णय हुआ है, उसने ही पर से भिन्न आत्मा को जाना है; क्योंकि त्रिकाली उपयोगगुण में जानना नहीं होता। द्रव्य-गुण तो त्रिकाली ध्रुव कूटस्थ अक्रिय है; इसमें कोई क्रिया, परिणमन या बदलाव नहीं है। क्रिया तो परिणति या पर्याय में है। राग की क्रिया तो द्रव्य व गुण में है ही नहीं, परन्तु निर्मलता की क्रिया भी द्रव्य-गुण में नहीं है। क्रिया पर्याय में होने से द्रव्यस्वभाव की ओर ढलनेवाली पर्याय ऐसा निश्चय करती है कि उपयोगगुण से आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न है, अधिक है। अहो ! मक्खन जैसी सारभूत बात है।

अज्ञानी को तो बाहर के शारीरिक क्रियाकाण्ड से धर्म प्राप्त करना है। थोड़ा-बहुत दान दे दिया, एकाध मन्दिर बनवा दिया और मान लिया है कि धर्म हो गया। ऐसे जीवों को आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! बाहर की क्रियाएँ तो अपने स्वकाल में हो जाती हैं, इनसे तेरा भाव जुदा है और वर्त्तमान में तुझे जो दानादि के विकल्प, रागादिभाव हुए; उनसे भी तू भिन्न है। अहाहा ! अपना लक्षण जो जानने-देखने रूप ज्ञायक उपयोग है – ऐसे गुण से आत्मा व्याप्त होने से सर्वद्रव्यों से पृथक् प्रतीति में आता है। आत्मा का वर्णादि के साथ अवगाह-सम्बन्ध है, किन्तु अग्नि-उष्णता की भाँति तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है। अहाहा ! यह जो व्यवहाररत्नत्रय का राग है, इसके साथ आत्मा का अवगाह-सम्बन्ध है, तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है। इसकारण स्वलक्षणभूत ज्ञानगुण से देखने पर आत्मा वर्णादि और व्यवहाररत्नत्रय के राग से अधिक अर्थात् भिन्न ज्ञात होता है। पर्याय जब स्वभाव की ओर ढलती है, तब स्वभाव का गुणस्थान आदि भेदों से भिन्नपना भासित होता है। इसप्रकार रागादि के साथ आत्मा का तादात्म्यपना नहीं होने से निश्चय से सर्व रागादि – पुद्गल के परिणाम हैं, आत्मा के परिणाम नहीं।

यहाँ दो प्रकार के सम्बन्ध की बात की है। (१) अवगाह-सम्बन्ध तथा (२) तादात्म्य-सम्बन्ध। भगवान आत्मा का रागादि के साथ अवगाह-सम्बन्ध है अर्थात् आत्मा का जैसा ज्ञानगुण के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है,

वैसा रागादि के साथ सम्बन्ध नहीं है। दूसरे प्रकार से कहें तो आत्मा की रागादि के साथ एकरूपता नहीं है अर्थात् दोनों के बीच साँध है, सन्धि है। इसकारण ज्ञान की पर्याय को स्वभाव में झुकाने पर दोनों जुदे पड़ जाते हैं। इन दया-दान-व्रतादि के विकल्पों के साथ आत्मा की एकता नहीं है, किन्तु सन्धि है। इसलिए ज्ञान की पर्याय जब स्वरूप का लक्ष्य करके अन्दर ढलती है, तब विकल्प भिन्न हो जाते हैं। वास्तव में पर्याय में आत्मा का अनुभव हुआ – यही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है।

इसप्रकार वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त सर्वभाव पुद्गल के परिणाम हैं, आत्मा के नहीं। व्यवहार से – पर्यायनय से वे जीव के हैं, तथापि निश्चय से – द्रव्यनय से वे जीव के नहीं हैं; ऐसा अस्ति-नास्तिरूप स्याद्वाद है। व्यवहार से भी जीव के हैं और निश्चय से भी जीव के हैं – ऐसा स्याद्वाद नहीं है। व्यवहार असत्यार्थ है, क्योंकि मूलवस्तुभूत नहीं है। कलशटीका में अनेक स्थानों पर व्यवहार को असत्यार्थ कहा है। सत्यवस्तु त्रिकाली शुद्ध चित्स्वरूप आत्मा है, इसकी अपेक्षा से सर्व व्यवहार के भाव असत्यार्थ हैं। आत्मवस्तु के अन्तर में – स्वरूप में विकारीभाव हैं ही नहीं, इसलिए वे असत्यार्थ हैं। ये भेद वास्तविकपने असत्यार्थ तब कहे जा सकते हैं, जब ज्ञान की पर्याय स्वरूप में झुककर अन्तर्निमग्न हो जावे और ये भेद दिखाई न दें।

पर्यायरूप से तो ये भेद हैं, परन्तु आत्मा के चैतन्यस्वरूप में वे नहीं हैं। इसकारण वर्णादिभाव व्यवहारनय से जीव के हैं, किन्तु निश्चयनय से आत्मा के नहीं हैं – ऐसा यथार्थ स्याद्वाद है। इसतरह ही निमित्त है, परन्तु निमित्त से कार्य नहीं होता – यह स्याद्वाद है। श्री पण्डित बनारसीदासजी ने भी कहा है कि 'नहिं निमित्त को दाव' अर्थात् निमित्त का कभी दाव लगता ही नहीं है। श्री कार्तिकेयस्वामी ने भी एक गाथा में कहा है कि 'पूर्व परिणामयुक्त द्रव्य कारण है और उत्तरपरिणामयुक्त द्रव्य कार्य है, तो फिर निमित्त कहाँ रहा? व्यवहार से कहा जाय तो पूर्व-परिणाम कारण और उत्तरपरिणाम कार्य – ऐसा कहा जा सकता है तथा निश्चय से तो वही परिणाम कारण व वही परिणाम कार्य है।

कथं तर्हि व्यवहारोऽविरोधक इति चेत् –

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥५८॥

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥५९॥

गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिणः ।
मुष्यते एष पंथा न च पंथा मुष्यते कश्चित् ॥५८॥

तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णम् ।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारतः उक्तः ॥५९॥

गंधरसस्पर्शरूपाणि देहः संस्थानादयो ये च ।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशंति ॥६०॥

अब यहाँ प्रश्न होता है कि इसप्रकार तो व्यवहारनय और निश्चयनय का विरोध आता है; अविरोध कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा तीन गाथाओं में कहते हैं :–

देखा लुटाते पंथ में को, 'पंथ ये लुटात है' ।
जनगण कहे व्यवहार से, नहिं पंथ ये लुटात है ॥५८॥

त्यों वर्ण देखा जीव में, इन कर्म अरु नोकर्म का ।
जिनवर कहे व्यवहार से, 'यह वर्ण है इस जीव का' ॥५९॥

त्यों गंध, रस, रूप, स्पर्श, तन, संस्थान इत्यादिक सबैं ।
भूतार्थदृष्टा पुरुष ने, व्यवहारनय से वर्णये ॥६०॥

गाथार्थ :– [**पथि मुष्यमाणं**] जैसे मार्ग में जाते हुये व्यक्ति को लुटता हुआ [**दृष्ट्वा**] देखकर, [**एषः पंथा**] यह मार्ग [**मुष्यते**] लुटता है; इसप्रकार [**व्यवहारिणः लोकाः**] व्यवहारीजन [**भणंति**] कहते हैं, किन्तु परमार्थ से विचार किया जाये तो [**कश्चित् पंथा**] कोई मार्ग तो

यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुष्यमाणमवलोक्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण मुष्यत एष पंथा इति व्यवहारिणां व्यपदेशेपि न निश्चयतो विशिष्टाकाशदेशलक्षणः कश्चिदपि पंथा मुष्येत तथा जीवे बंधपर्यायेणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेपि न निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोऽस्ति एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुणस्थानान्यपि

[न च मुष्यते] नहीं लुटता, मार्ग में जाता हुआ मनुष्य ही लुटता है; **[तथा]** इसीप्रकार **[जीवे]** जीव में **[कर्मणां नोकर्मणां च]** कर्मों का और नोकर्मों का **[वर्णम्]** वर्ण **[दृष्ट्वा]** देखकर, **[जीवस्य]** जीव का **[एषः वर्णः]** यह वर्ण है; इसप्रकार **[जिनैः]** जिनेन्द्रदेव ने **[व्यवहारतः]** व्यवहार से **[उक्तः]** कहा है। **[एवं]** इसीप्रकार **[गंधरसस्पर्शरूपाणि]** गंध, रस, स्पर्श, रूप, **[देहः संस्थानादयः]** देह, संस्थान आदि **[ये च सर्वे]** जो ये सर्व हैं, **[व्यवहारस्य]** वे सब व्यवहार से हैं **[निश्चयद्रष्टारः]** ऐसा निश्चय के देखनेवाले **[व्यपदिशंति]** कहते हैं।

टीका :– जैसे व्यवहारीजन मार्ग में जाते हुए किसी सार्थ (संघ) को लुटता हुआ देखकर, संघ की मार्ग में स्थिति होने से उसका उपचार करके 'यह मार्ग लुटता है'– ऐसा कहते हैं; तथापि निश्चय से देखा जाये तो जो आकाश के अमुक भागस्वरूप है – वह मार्ग तो कुछ नहीं लुटता। इसीप्रकार भगवान अरहन्तदेव जीव में बन्धपर्याय से स्थिति को प्राप्त कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर कर्म-नोकर्म की जीव में स्थिति होने से उसका उपचार करके 'जीव का यह वर्ण है' – ऐसा व्यवहार से प्रगट करते हैं; तथापि निश्चय से सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है और जो उपयोगगुण के द्वारा अन्यद्रव्यों से अधिक है – ऐसे जीव का कोई भी वर्ण नहीं है। इसीप्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान – ये सब ही अरहन्त भगवान जीव के (भाव) व्यवहार से कहते हैं; तथापि निश्चय से सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है और जो उपयोगगुण के द्वारा

व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेऽपि निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य जीवस्य सर्वाण्यपि न सन्ति, तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावात् ।

अन्य से अधिक है – ऐसे जीव के वे सब नहीं हैं, क्योंकि इन वर्णादि भावों के और जीव के तादात्म्यलक्षण-सम्बन्ध का अभाव है ।

भावार्थ :– ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यंत भाव सिद्धान्त में जीव के कहे हैं – वे व्यवहारनय से कहे हैं, निश्चयनय से वे जीव के नहीं हैं; क्योंकि जीव तो परमार्थ से उपयोगस्वरूप है ।

यहाँ ऐसा जानना कि पहले व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा था, सो वहाँ ऐसा न समझना कि वह सर्वथा असत्यार्थ है; किन्तु कथंचित् असत्यार्थ जानना; क्योंकि जब एक द्रव्य को (परद्रव्य से) भिन्न, पर्यायों से अभेदरूप, उसके असाधारणगुण मात्र को प्रधान करके कहा जाता है; तब परस्पर द्रव्यों का निमित्त-नैमित्तिक भाव तथा निमित्त से होनेवाली पर्याय – वे सब गौण हो जाते हैं । वे एक अभेदद्रव्य की दृष्टि में प्रतिभासित नहीं होते, इसलिये वे सब उस द्रव्य में नहीं हैं; इसप्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है । यदि उन भावों को उस द्रव्य में कहा जाये तो वह व्यवहारनय से कहा जा सकता है – ऐसा नय विभाग है ।

यहाँ शुद्धनय की दृष्टि से कथन है, इसलिये ऐसा सिद्ध किया है कि जो ये समस्त भाव सिद्धान्त में जीव के कहे गये हैं, सो व्यवहार से कहे गये हैं । यदि निमित्त-नैमित्तिक भाव की दृष्टि से देखा जाये तो वह व्यवहार कथंचित् सत्यार्थ भी कहा जा सकता है । यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जाये तो सर्व व्यवहार का लोप हो जायेगा और सर्व व्यवहार का लोप होने से परमार्थ का भी लोप हो जायेगा । इसलिये जिनेन्द्रदेव का उपदेश स्याद्वादरूप समझना ही सम्यक्ज्ञान है और सर्वथा-एकान्त, वह मिथ्यात्व है ।

गाथा ५८-५९-६० की उत्थानिका, गाथा एवं उनकी टीका पर प्रवचन

यहाँ शिष्य का प्रश्न है कि एक नय कहता है कि वर्णादिभाव जीव के हैं और दूसरा नय कहता है कि वे जीव के नहीं हैं । इसप्रकार निश्चयनय व व्यवहारनय में परस्पर विरोध आता है, सो इन दोनों नयों में अविरोधपना किसप्रकार घटित होता है ?

आचार्यश्री ने शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर इन तीन गाथाओं में दृष्टान्त द्वारा दिया है । अहाहा ! कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है ।

जिसप्रकार मार्ग नहीं लुटता, बल्कि मार्ग में चलता हुआ संघ लुटता है। किसी मार्गविशेष में संघ के लुटने की घटना का सम्बन्ध होने के कारण उपचार से ऐसा कहा जाता है कि मार्ग लुटता है। उसीप्रकार भगवान आत्मा तो त्रिकाली ध्रुव नित्यानंदस्वरूप चैतन्य प्रभु है, उसमें रागादिक का अस्तित्व नहीं है; किन्तु पर्याय में राग और कर्म का क्षणिक सम्बन्ध देखकर कर्म व राग जीव के हैं – ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है।

जीव की पर्याय में कर्म, नोकर्म व रागादि का सम्बन्ध मात्र एक-समय का ही है, दूसरे समय में दूसरा सम्बन्ध होता है और तीसरे समय में तीसरा। इतना सम्बन्ध देखकर; जिसप्रकार मार्ग लुटता नहीं, तथापि मार्ग लुटता है – ऐसा आरोप से कहा जाता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा में कर्म व रागादि नहीं हैं, तथापि व्यवहार से वे आत्मा के हैं – ऐसा कहा जाता है। निश्चय से तो आत्मा सदा ही अमूर्तस्वभावी 'उपयोग' गुण द्वारा अन्य द्रव्यों से भिन्न है। इसप्रकार इस जीव के वर्ण आदि कुछ भी नहीं हैं। निश्चय से परमार्थवस्तु के चैतन्य ध्रुवप्रवाह को देखने पर वर्ण आदि उसमें दिखाई नहीं देते हैं।

मार्ग तो मार्ग में है, आकाश में है; वह मार्ग (आकाशद्रव्य) कहीं लुटता है ? किन्तु संघ जो थोड़े काल के लिये मार्ग में चला था – वह लुटा, मात्र इतना-सा संयोग देखकर 'मार्ग लुटता है' – ऐसा आरोप करके कहते हैं। इसीप्रकार आत्मा में एकसमय के राग व कर्म का सम्बन्ध देखकर राग व कर्म जीव के हैं – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है, परन्तु निश्चय से वे मूलवस्तु में नहीं हैं। आत्मा की वर्त्तमान पर्याय में परद्रव्य के साथ मात्र एकसमय का ही सम्बन्ध है। शरीर, कर्म, राग, गुणस्थानों के भेद आदि के साथ भी एकसमय का ही सम्बन्ध है। अहाहा ! वस्तु तो वस्तुपने त्रिकाल है, उसकी एकसमय की पर्याय में वर्णादि के साथ सम्बन्ध देखकर, 'वे वर्णादि जीव के हैं' – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

जिसप्रकार जीव के वर्ण नहीं है; उसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, आस्रव, कर्म, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान तथा संयमलब्धिस्थान भी जीव के नहीं हैं तथा पर्याप्त, अपर्याप्त, संज्ञी, असंज्ञी आदि जीवस्थान भी जीव के नहीं हैं। पहले २९ बोलों द्वारा जिन भावों का कथन किया है, वे सभी भाव जीव की पर्याय में मात्र एकसमय के हैं, त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में

वे नहीं हैं। भगवान आत्मा तो चैतन्य के ध्रुवप्रवाह से ध्रुव····ध्रुव ····ध्रुव अनादि-अनंत रहनेवाला है। उपरोक्त सभी भावों का जीव के साथ पर्याय में एकसमय मात्र का सम्बन्ध देखकर जिनवाणी में उन्हें व्यवहार से जीव का कहा है, परन्तु निश्चय से त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से वे भाव जीव के नहीं हैं।

निश्चय से जिसका सदैव अमूर्तस्वभाव है और जो 'उपयोग' गुण के कारण पर से अधिक है, भिन्न है—ऐसे आत्मा के उपरोक्त सर्व भाव नहीं हैं। देखो ! उपरोक्त सभी भावों को मूर्त्त कहा और भगवान आत्मा को अरूपी, अमूर्त्त कहा है। अहाहा ! ज्ञातास्वभाववाला भगवान आत्मा अरूपी चैतन्यतत्त्व है और वह सर्व भेदों की पर्याय से भिन्न है।

अनादिकाल से आत्मा के साथ मिथ्यात्व का प्रवाह है। इसकारण अज्ञानी को ऐसा लगता है कि संसार तो अनादिकाल से है, उसे समझाते हुये आचार्य कहते हैं कि भाई ! जिसे तू अनादि का कहता है, वह संसार तो प्रवाह की अपेक्षा से है, वास्तव में तो जीव का संसार-पर्याय के साथ एकसमय का ही सम्बन्ध है। संयमलब्धि के भेदरूप भाव भी एकसमय के ही हैं। ये वस्तु में कहाँ हैं ? अहा ! कैसी शैली है ! आत्मा सदैव अमूर्त-स्वभावी है और वह 'उपयोग' गुण के कारण अन्य भावों से भिन्न है, इसलिये वर्त्तमान पर्याय को अन्तर में झुकाने पर 'उपयोग' गुण से वह भिन्न पड़ जाता है अर्थात् भेद के साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहता।

अनन्तकाल से प्रवाहरूप संसार भले हो, तथापि उसके साथ जीव का अनन्तकाल का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु एकसमय का ही सम्बन्ध है। त्रिकाली भगवान आनन्द का नाथ चैतन्य महाप्रभु है, उसका चाहे जितना लम्बा संसार हो, भले ही ७० कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति हो; तथापि सम्बन्ध की स्थिति तो एकसमय मात्र ही है। ज्ञानावरणीय कर्म की जो ३० कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति कही है, वह तो पूरा जोड़ लगा करके कही है, वस्तुत: सम्बन्ध तो एकसमय मात्र का ही है। राग हो या मिथ्यात्व हो, गुणस्थान का भेद हों या जीवस्थान का भेद हों—इन सबके साथ मात्र एकसमय का ही सम्बन्ध है। एकसमय का सम्बन्ध है, इस अपेक्षा से वे भेद जीव के हैं—ऐसा व्यवहार से कहा है; तथापि स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे भेद जीव के नहीं हैं। मात्र एकसमय की पर्याय के सम्बन्ध में अटकी हुई दृष्टि जब पलटकर स्वभाव पर स्थिर होती है, तब वह एकसमय का सम्बन्ध भी नहीं रहता।

आत्मा का सदा ही अमूर्त्तस्वभाव है और वह 'उपयोग' गुण के कारण अन्य से जुदा है, इसलिए एकसमय की पर्याय में अटके हुए भावों से वह भिन्न है अर्थात् वे सर्व भाव जीव के नहीं हैं। अहाहा ! निमित्त को हटा दिया, राग हटा दिया और भेदरूप पर्याय को भी पृथक् कर दिया। निमित्त का सम्बन्ध एकसमय का, राग का सम्बन्ध एकसमय का और भेदरूप पर्याय का सम्बन्ध भी एकसमय का। अरे, उक्त २९ बोलों द्वारा कहे गये सम्पूर्ण भावों के कूड़े का ढेर एकसमय के सम्बन्धवाला है। यह सम्बन्ध भी पर्यायदृष्टि से देखने पर है और वस्तुस्वभाव की दृष्टि से देखें तो वह भी नहीं है, क्योंकि संयोग-सम्बन्ध होते हुये भी आत्मा का उन सर्व भावों के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है। वर्णादिभाव और जीव में तादात्म्य-सम्बन्ध का अभाव है। काला रंग आदि निमित्तभाव, विकार आदि रागभाव तथा लब्धिस्थान आदि भेदभाव – ये सब एकसमय के भाव हैं। उनका व आत्मा का एकसमय मात्र का सम्बन्ध होने से वे जीव के हैं – ऐसा व्यवहार से कहा है; तथापि वे भेद वस्तुदृष्टि से देखने पर द्रव्य के साथ एकरूप हुए ही नहीं हैं। इसकारण निश्चय से वे जीव के नहीं हैं। इसप्रकार दो बातें कहीं। व्यवहार से ये भाव जीव के कहे हैं, किन्तु निश्चय से वे जीव के नहीं हैं – ऐसा यथार्थ समझना चाहिये।

गाथा ५८-५९-६० के भावार्थ पर प्रवचन

ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव सिद्धान्त में जीव के कहे हैं, वे व्यवहारनय से कहे हैं। देखो ! भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वभावी शुद्ध चैतन्यवस्तु है, उसको वर्त्तमान पर्याय में इन वर्ण, राग, गुणस्थान आदि का केवल एकसमय का सम्बन्ध है। इसकारण व्यवहारनय से वे जीव के हैं – ऐसा कहा है, क्योंकि वर्त्तमान पर्याय में उनका अस्तित्व है; परन्तु निश्चयनय से वे जीव के नहीं हैं, क्योंकि जीव तो परमार्थ से उपयोग-स्वरूप है। अहाहा ! त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से देखने पर उन गुणस्थान आदि भेदों के साथ जीव का तद्रूपपना नहीं है, तादात्म्य नहीं है। इसकारण वे व्यवहार से कहे हैं, निश्चय से जीव के नहीं हैं।

यहाँ यह विशेष जानना कि पहले जो व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है, वह सर्वथा असत्यार्थ नहीं है। यह राग, कर्म का सम्बन्ध, गुण-स्थान आदि के भेद पर्याय में हैं। पर्यायरूप से तो वे सब सत्यार्थ हैं। त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से एकसमय की दशा को असत्यार्थ कहा है, किन्तु वर्त्तमान पर्याय की अपेक्षा से तो वह व्यवहार सत्य ही है; इसलिए व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ जानना, सर्वथा असत्यार्थ नहीं समझना।

जब जीव को सिद्ध करना हो तो उसका असाधारण लक्षण त्रिकाली उपयोगस्वरूप ज्ञानगुण को मुख्य करके कथन किया जाता है। उससमय परस्पर द्रव्यों का निमित्त-नैमित्तिक भाव तथा निमित्त से होनेवाली सर्व पर्यायें गौण हो जाती हैं। पर्यायों का अभाव नहीं होता, बल्कि गौण होती हैं। अभेद वस्तु की दृष्टि में, एकसमय की पर्याय या भेद दिखाई नहीं देते। पहले सातवीं गाथा में विशेष स्पष्टीकरण आ चुका है कि अभेद में भेद दिखाई नहीं देते। यदि भेद देखने लगें तो अभेद पर दृष्टि नहीं रहती। अतः अभेदवस्तु की दृष्टि से वस्तु में भेद नहीं हैं – ऐसा कहा है।

संसारपर्याय की दृष्टि से देखने पर संसार है, उदयभाव है। संसार नहीं है – ऐसा जो कहा है, वह तो त्रिकाली ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा से कहा है। त्रिकाली स्वभाव को अभेददृष्टि से देखने पर अर्थात् वर्त्तमान पर्याय को अभेद की ओर ढालने पर, अभेद में भेद दिखाई नहीं देता। इसकारण त्रिकाली द्रव्य में जीव के भेद नहीं हैं – ऐसा कहा है; परन्तु पर्याय में हैं – इसकारण कथंचित् (व्यवहार से) सत् हैं। तत्त्वार्थसूत्र में भी उदयभाव को जीवतत्त्व कहा है। पर्यायनय से राग, पुण्य आदि को जीवतत्त्व कहते हैं; परन्तु त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि में पर्याय गौण हो जाती है। यदि कोई कहे कि संसार है ही नहीं, पर्याय में अशुद्धता है ही नहीं, तो भ्रान्ति है।

प्रश्न :– 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' – ऐसा किस अपेक्षा से है ?

उत्तर :– पर्याय को गौण करके अभेद में दृष्टि करने पर वे भेद, अभेद में दिखाई नहीं देते – इस अपेक्षा से 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' कहो तो कोई आपत्ति नहीं है। यदि पर्याय, पर्याय की अपेक्षा से भी न हो तो संसार ही नहीं रहेगा और जब संसार की ही सिद्धि नहीं होगी तो संसारपूर्वक जो मोक्ष होता है, उसका भी अभाव सिद्ध होगा। इसप्रकार किसी भी पर्याय की सिद्धि नहीं होगी, वस्तु-व्यवस्था ही नहीं बनेगी।

परमात्मप्रकाश के ४३वें व ६८वें दोहे में आता है कि जीव के बन्ध-मोक्ष नहीं है तथा जीव के उत्पाद-व्यय नहीं है। वहाँ दोहा ४३ की टीका में लिखा है कि "यद्यपि पर्यायार्थिकनय से उत्पाद-व्ययसहित है; तथापि द्रव्यार्थिकनय से उत्पाद-व्ययरहित है, सदा ध्रुव ही है। वही परमात्मा निर्विकल्प समाधि के बल से तीर्थंकरदेवों ने देह में भी देख लिया है।" देखो ! व्यवहारनय से जीव उत्पाद-व्ययसहित है। वर्त्तमान पर्याय की दृष्टि से देखें तो उत्पाद-व्यय है, संसार है, उदयभाव है; परन्तु द्रव्यार्थिक-नय से देखें तो वस्तु में उत्पाद-व्यय नहीं है। त्रिकालीध्रुव द्रव्यस्वभाव

में उत्पाद-व्यय नहीं है, किन्तु वर्त्तमान पर्याय में भी कोई उत्पाद-व्यय का निषेध करने लगे तो यह ठीक नहीं है। दोहा ६८ की टीका में लिखा है कि "यद्यपि यह आत्मा शुद्धात्मानुभूति के अभाव होने पर शुभ-अशुभ उपयोग-रूप परिणमन करके शुभ-अशुभ कर्मबन्ध को करता है और शुद्धात्मानुभूति के प्रगट होने पर शुद्धोपयोग से परिणमित होकर कर्मबन्ध का अभाव करके मोक्षदशा को प्रगट करता है, तथापि शुद्धपारिणामिक परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से न बन्ध का कर्त्ता है और न मोक्ष का कर्त्ता है।"

तब शिष्य ने **प्रश्न** किया कि "हे प्रभो! शुद्धद्रव्यार्थिकस्वरूप शुद्धनिश्चयनय से मोक्ष का भी कर्त्ता नहीं है तो क्या इस कथन से ऐसा समझें कि शुद्धनय से मोक्ष ही नहीं है और जब मोक्ष ही नहीं है तो उसके लिये प्रयत्न करना भी निरर्थक ही है?"

शिष्य का **समाधान** करते हुए आचार्य कहते हैं :– "मोक्ष बन्ध-पूर्वक होता है और बन्ध शुद्धनिश्चयनय से होता ही नहीं है, इसकारण बन्ध के अभावरूप मोक्ष भी शुद्धनिश्चयनय से नहीं है। यदि शुद्धनिश्चय-नय से बन्ध हो तो सदैव बन्ध ही रहे, कभी बन्ध का अभाव नहीं हो।"

देखो, व्यवहारनय से – अशुद्धनय से पर्याय में बन्ध है और बन्ध के अभावपूर्वक मोक्ष का मार्ग तथा मोक्ष भी है, किन्तु यह सब व्यवहारनय से है; निश्चयनय से बन्ध या मोक्ष नहीं हैं तथा बन्ध व मोक्ष के कारण भी नहीं हैं। अहा! जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म है! पर्याय में बन्ध है तथा बन्ध के नाश का उपाय भी है; परन्तु वह सब व्यवहार है, मोक्षमार्ग की पर्याय भी व्यवहार है। व्यवहाररत्नत्रय के शुभभावरूप विकल्प को उपचार से व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा जाता है, उस शुभभावरूप व्यवहाररत्नत्रय की यहाँ बात नहीं है; बल्कि निर्मल आनंदस्वरूप भगवान आत्मा की परणति में जो शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की दशा होती है, वह भी पर्याय होने से व्यवहार ही है।

'व्यवहार से बन्ध है तथा व्यवहार से ही मोक्ष व मोक्षमार्ग होता है' – यही बात आगे दोहा ६८ की टीका में दृष्टान्त देकर समझाई है :–

"कोई एक पुरुष जेल में सांकल से बंधा है और कोई दूसरा पुरुष बन्धरहित है, कभी जेल गया ही नहीं; उनमें से जो पहले बंधा था, उसका 'मुक्त' कहना तो उचित लगता है; किन्तु जो बंधा ही नहीं था, कभी जेल गया ही नहीं था, उससे कहा जाय कि आप जेल से कब छूट गये? तो ऐसा कहना क्या उचित है? क्या वह इस बात को सुनकर क्रोध नहीं

करेगा कि मैं जेल गया ही कब ? जो छूटने की पूछते हो। बन्धपूर्वक मोक्ष तो ठीक है, पर जब बन्ध ही नहीं, तो मोक्ष कहना कैसे ठीक होगा ? इसीप्रकार यह जीव शुद्धनिश्चयनय से बंधा ही नहीं है, अतः 'मुक्त' कहना भी ठीक नहीं है। अतः बन्ध भी व्यवहार से व मोक्ष भी व्यवहार से ही है। शुद्धनिश्चयनय से न बन्ध है, न मोक्ष है। अशुद्धनिश्चय से बन्ध है, इसलिए बन्ध के नाश का यत्न भी अवश्य करना चाहिये।" इसलिए पर्याय में बन्ध व बन्ध के नाश का उपाय तथा मोक्ष व मोक्षमार्ग – ये सब व्यवहारनय से हैं, परंतु त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में ये नहीं हैं। इसप्रकार अपेक्षा से यथार्थ समझना चाहिए।

इस कथन से ऐसा नहीं समझना कि व्यवहार की सत्ता है, इसलिये वह निश्चय का कारण भी है अर्थात् ऐसा नहीं मान लेना कि बन्ध-मार्ग की पर्याय मोक्षमार्ग को प्रगट करती है। यहाँ यह सिद्ध नहीं करना है कि 'व्यवहार निश्चय का कारण है', बल्कि यहाँ तो यह सिद्ध किया है कि 'व्यवहार है अर्थात् पर्याय है'। जिसतरह बन्ध की पर्याय है; उसीतरह मोक्ष व मोक्षमार्ग की पर्याय भी है।

यहाँ कहते हैं कि पहले जो व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है, उसका अर्थ यह है कि पर्याय, संसार या मोक्ष – द्रव्यस्वभाव में नहीं हैं। द्रव्य की अपेक्षा से व्यवहारनय को असत्य कहा है। इसकारण से वह सर्वथा है ही नहीं, ऐसा नहीं समझना। वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से तो यह व्यवहारनय है, इसकारण यह कथंचित् सत्यार्थ है। संसार है, उदय-भाव है; इसप्रकार जो भाव २९ बोल द्वारा कहे हैं, वे सभी पर्याय की अपेक्षा हैं। एकसमय के सम्बन्धवाली पर्याय अस्तिरूप से है, परंतु आनंद-कन्द नित्यानंद ध्रुव प्रभु जो अनादि-अनंत चैतन्यप्रवाहरूप है; उसकी दृष्टि में भेद प्रतिभासित नहीं होते, इसकारण वे भेद द्रव्य में नहीं हैं – इसप्रकार कथंचित् निषेध किये गये हैं। यदि उन पर्याय के भेदरूप भावों को द्रव्य के कहना चाहें तो व्यवहारनय से कह सकते हैं; पर निश्चय से वे द्रव्य में नहीं हैं। ऐसा निश्चय-व्यवहार का कथन यथार्थ समझना चाहिए।

प्रश्न :– व्यवहार सत्य है या नहीं ? यदि व्यवहार सत्य है तो व्यवहार-मोक्षमार्ग सत्य है या नहीं ? और यदि व्यवहार-मोक्षमार्ग सत्य है तो वह निश्चय-मोक्षमार्ग का कारण है या नहीं ?

उत्तर :– भाई ! पर्याय में जो एकसमय मात्र का बन्ध है, वह सत्य है। जो परमस्वभावभावरूप वस्तु है, उसकी एकसमय की दशा में ये सब

भेद हैं, इसलिए 'हैं' – ऐसा कहा है; परन्तु ये भेद त्रिकाली ध्रुव की दृष्टि में नहीं आते, इसकारण द्रव्यदृष्टि कराने के लिए 'वे नहीं हैं' – इसप्रकार उनका निषेध किया है। वे त्रिकाली सत्य नहीं हैं; तथापि व्यवहारनय से वे सत्य हैं, क्योंकि उनका वर्तमान पर्याय में अस्तित्व है। भाई! यदि व्यवहारनय है तो उसका विषय भी है। इसीकारण तो कहा है कि व्यवहार को भी छोड़ना नहीं अर्थात् व्यवहारनय नहीं है – ऐसा नहीं मान लेना। यदि व्यवहार को नहीं मानेंगे तो चौथा, पाँचवां आदि गुणस्थान ही नहीं बनेंगे, किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि व्यवहार से निश्चय होता है। इस व्यवहार के कारण (व्यवहार के आश्रय से) तीर्थ अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है – ऐसा नहीं है। यहाँ कहते हैं कि ये भेदरूप भाव त्रिकाली ध्रुवद्रव्य में नहीं हैं – यह निश्चय है; परन्तु उसकी एकसमय की पर्याय में हैं, इसकारण द्रव्य में हैं – ऐसा कहा जाए तो व्यवहार से कह सकते हैं। भाई! ऐसा ही नयविभाग है।

त्रिकाली भगवान आत्मा निर्विकल्प सम्यग्दर्शन व समाधि से ज्ञात होता है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में आता है कि भगवान आत्मा का अपूर्ण निर्मल परिणमन उपाय है तथा पूर्ण निर्मल परिणमन उपेय है, फल है। वहाँ ऐसा नहीं कहा कि मन्दराग का भाव उपाय है। जहाँ कहीं दूसरी जगह उस मन्दराग को उपाय कहा हो, वहाँ वह 'राग है' इतना ज्ञान कराने के लिए कहा है – ऐसा समझना। अहाहा! वस्तु ज्ञानानन्द-स्वभावी त्रिकाल ज्ञायक भगवान है, उसकी दशा में – पर्याय में द्रव्यस्वभाव का अपूर्ण वीतरागी परिणमन उपाय है और पूर्ण वीतरागी परिणमन उपेय अर्थात् फल है। स्वभाव-परिणमन की ही अपूर्णता व पूर्णता में उपाय व उपेय समाता है। राग या व्यवहार उपाय नहीं है। भाई! यह बात सूक्ष्म पड़ती है, परन्तु मार्ग तो यही है। बापू! यह शुद्ध चिदानन्दघन आत्मा का शुद्ध परिणमन उपाय, कारण या मार्ग है और उसका परिपूर्ण शुद्ध परिणमन उपेय, कार्य या फल है; परन्तु व्यवहाररत्नत्रय उपाय या कारण नहीं है। यहाँ तो व्यवहार (भेद, पर्याय आदि) हैं – यह सिद्ध करना है, किन्तु मन्दरागरूप व्यवहार को या व्यवहार-मोक्षमार्ग को निश्चय का कारण सिद्ध नहीं करना है।

त्रिकाली भगवान आत्मा ध्रुव····ध्रुव····ध्रुव अनादि-अनन्त शुद्ध ज्ञायकभावपने है। उसका कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है अर्थात् शुद्धद्रव्य नैमित्तिक और कर्म उसका निमित्त – ऐसा नहीं है, किन्तु द्रव्य की विकारी पर्याय नैमित्तिक व कर्म निमित्त – ऐसा व्यवहार

से पर्याय में सम्बन्ध है। यहाँ शुद्धनय की दृष्टि से कथन है। तथा सिद्धांत में सर्व भावों को जो जीव का कहा है, वह व्यवहारनय से कहा है। वे भाव अस्तिरूप हैं तथा व्यवहारनय के विषय हैं। कर्म निमित्त हैं व रागादिक नैमित्तिक हैं – इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिकभाव की दृष्टि से देखा जाय तो वह व्यवहार कथंचित् सत्यार्थ है – ऐसा कह सकते हैं। राग, विकार, अशुद्धता, मलिनभाव, उदयभाव आदि जीव में हैं – ऐसा व्यवहार से कह सकते हैं; परन्तु त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वरूप द्रव्य में वे नहीं हैं – इस अपेक्षा से वे असत्यार्थ हैं। इसप्रकार व्यवहार कथंचित् सत्यार्थ व कथंचित् असत्यार्थ है। यदि व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ ही कहेंगे तो व्यवहार का भी लोप हो जाएगा और परमार्थ का भी लोप हो जायेगा; क्योंकि पर्याय में यदि रागादि नहीं हों, पुण्य-पाप का बन्धन न हो तो राग के अभावरूप मोक्षमार्ग व मोक्ष भी नहीं बनेगा। यहाँ तो व्यवहार है – इतना ही सिद्ध करना है, किन्तु वह निश्चय-मोक्षमार्गरूप है – ऐसा सिद्ध नहीं करना है। व्यवहार-मोक्षमार्ग तो राग है और वह त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से तो है ही नहीं। पर्याय में राग है – इतना सत्यार्थ है, परंतु व्यवहार से निश्चय की प्राप्ति होती है – यह बात ठीक नहीं है।

प्रश्न :– शास्त्र में आता है कि सम्यग्दृष्टि के दुःख है ही नहीं, अशुद्धता है ही नहीं तो ये कथन किस अपेक्षा से हैं ?

उत्तर :– भाई ! सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली शुद्धद्रव्य है। अहाहा ! त्रिकाली शुद्धद्रव्य को जिसने दृष्टि में लिया है – ऐसे सम्यग्दृष्टि को अशुद्धता या दुःख है ही नहीं। दृष्टि या दृष्टि के विषय में अशुद्धता हो – ऐसी उसमें कोई शक्ति ही नहीं है, इसकारण दृष्टि या दृष्टि के विषय की अपेक्षा से ज्ञानी के अशुद्धता व दुःख नहीं है; परन्तु ज्ञान की अपेक्षा से देखें तो पर्याय में ज्ञानी को तथा मुनि को भी किंचित् अशुद्धता है, दुःख है। ज्ञानी के राग है तथा उसका परिणमन भी है। उस परिणमन की अपेक्षा से ज्ञानी उसका कर्त्ता भी है। ४७ नयों में भी आता है कि धर्मी-जीव को भी राग का परिणमन है तथा उतना दुःख भी है तथा उस राग का कर्त्ता व भोक्ता भी वह ज्ञानी ही है। कोई एकान्त से मान लेवे कि धर्मी को राग-द्वेष या दुःख होता ही नहीं तो ऐसा नहीं है। शुद्धद्रव्य की दृष्टि की अपेक्षा से यह बात यथार्थ है, किन्तु पर्याय में कलुषता भी है।

अहाहा ! छठवें गुणस्थान में वर्तते हुये मुनि भी (समयसार कलश ३ में) ऐसा कहते हैं कि हमको अभी कलुषता है। जहाँ एक ओर ऐसा

कहते हैं कि समकिती के अशुद्धता नहीं होती, उसका परिणमन अशुद्ध नहीं होता; वहीं दूसरी ओर छठवें गुणस्थानवर्ती आचार्य ऐसा कहते हैं कि हम को अभी अशुद्धता का परिणमन है और इसीकारण उतना दुःख का वेदन है। भाई ! समकिती को दृष्टि के साथ जो ज्ञान हुआ है, वह त्रिकाली शुद्धद्रव्य को जानता है तथा वर्त्तमान पर्याय में राग का जितना परिणमन है, उसे भी जानता है; किन्तु अशुद्धता का – राग का जो परिणमन है, उसका मैं कर्त्ता हूँ या कर्म के कारण वह होता है – ऐसा नहीं है तथा परिणमन में मुझे बिलकुल राग ही नहीं है, ऐसा भी नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि पर्याय में रागादि नहीं हैं – ऐसा कोई माने तो राग का अभाव करने के पुरुषार्थ का भी लोप हो जाएगा, क्योंकि पर्याय में राग नहीं होने से उसके नाश का उपाय भी सिद्ध नहीं होगा।

प्रश्न :– विकार स्व-परहेतुक है – ऐसा शास्त्रों में आता है न ?

उत्तर :– अकेले स्व से (शुद्धद्रव्य से) ही विकार नहीं होता – यह बताने के लिये विकार की उत्पत्ति में उपादान व निमित्त – ऐसे दो हेतु वहाँ सिद्ध किये हैं। जब विकार विभावरूप है अथवा पर-निमित्त के आश्रय से हुई दशा है – यह बताना हो, उससमय उपादन स्व व निमित्त पर – इसप्रकार स्व-पर से उत्पन्न हुआ है ऐसा कहा जाता है। विकार अकेला स्व से (स्वभाव से) उत्पन्न हो ऐसा कभी नहीं बनता। पर के ऊपर लक्ष्य जाने पर पर्याय में विकार होता है, इसलिए विकार को स्व-पर हेतुक कहा है। यहाँ ऐसा कहा कि ये सब रागादि कर्मजन्य हैं, ये सभी भाव त्रिकाली शुद्धद्रव्य में नहीं हैं, पर्याय में से निकाल देने लायक हैं – इन सबका तात्पर्य यह है कि यह द्रव्यदृष्टि कराने के लिए ऐसा कहा है। परमात्म-प्रकाश में भी रागद्वेषादि को कर्मजन्य कहा है, क्योंकि वे शुद्ध आत्मद्रव्य से उत्पन्न नहीं होते। पर्याय में जो अशुद्धता हुई है, वह तो पर्याय का लक्ष्य पर के ऊपर जाने से हुई है। इसीकारण उसे स्व-परहेतुक भाव कहते हैं।

भाई ! एकसमय की पर्याय में जो राग-अशुद्धता हुई है, वह सत् है और इसकारण अहेतुक है – ऐसा पंचास्तिकाय में सिद्ध किया है। यह राग या अशुद्धता पर के लक्ष्य से हुई है – यह ज्ञान कराने के लिए उसको स्व-परहेतुक कहा है तथा त्रिकाली वस्तु में ये राग या अशुद्धता नहीं है, किन्तु वर्त्तमान पर्याय में एकसमय मात्र के लिए अशुद्धता है, उसको नाश करने के उद्देश्य से, उसे कर्मजन्य या उपाधि कहा है।

अहाहा ! एक बार कहते हैं कि अशुद्धता स्वयं अपने से है तथा बाद में कहते हैं कि स्व-परहेतुक है और फिर कहते हैं कि कर्मजन्य है । भाई ! जिस अपेक्षा से जहाँ जो कहा है उस अपेक्षा से वहाँ वही समझना चाहिए ।

भाई ! जिस अपेक्षा से जो बात कही है उस अपेक्षा से ज्ञान करने के बदले, दूसरी अपेक्षा खोजने जायेगा तो सत्य हाथ नहीं लगेगा ।

'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' ऐसा सिद्ध करना हो तो वहाँ राग व मिथ्यात्वादि का उत्पाद, द्रव्य की पर्याय में है और वह स्वयं सत् है – ऐसा कहते हैं । सत् है, इसलिए उसको परकारक की अपेक्षा नहीं है । यही बात पंचास्तिकाय की गाथा ६२ में कही है कि जो संसार की पर्याय है, वह परकारक की अपेक्षा बिना स्वत: जीव की पर्याय है ।

मिथ्यात्वादि का संसारभाव विभाव है और विभाव स्वरूप के लक्ष्य से नहीं होता, किन्तु पर के लक्ष्य से ही होता है । इसकारण से उसे स्व-पर हेतुक कहा जाता है । तथा इस गाथा में व परमात्मप्रकाश में उन सभी भावों को पुद्गल का कहा है । कलश ४४ में आता है कि 'अनादिकाल के इस महा अविवेक नाटक में वर्णादिवाला पुद्गल ही नाचता है ।' जीवद्रव्य को अकेले ध्रुव चैतन्यमात्र स्वभाव से देखें तो वह एक अकेला ही है । यह जीवद्रव्य अकेला कैसे नाचे ? भगवान आत्मा के तो नाच नहीं है, इन सभी पर्यायों में एक पुद्गल ही नाचता है – ऐसा कहा है । इसप्रकार यह भगवान जिनेन्द्रदेव का उपदेश स्याद्वादरूप है तथा उसी प्रमाण उसे समझना सम्यग्ज्ञान है । किस अपेक्षा रागादि द्रव्य में नहीं हैं व किस अपेक्षा से वे पर्याय में हैं – इन सब अपेक्षाओं को यथार्थ समझना चाहिए । जिनदेव के उपदेश में तो अपेक्षा से कथन है, इसलिए उसी रीति से समझे तभी सम्यग्ज्ञान है । जो सर्वथा एकान्त है, वह मिथ्यात्व है । राग एकान्तरूप से परवस्तु है – वह आत्मा में सर्वथा नहीं है – ऐसा माने तो वह मिथ्या-एकान्त है तथा राग द्रव्यस्वभाव (ध्रुव) में भी है – ऐसा माने तो वह भी एकान्त है, मिथ्यात्व है ।

प्रश्न :– राग नष्ट होकर द्रव्य में विलीन हो जाता है न ? पर्याय का व्यय तो होता है, किन्तु वह व्यय होकर कहाँ चली जाती है ? यदि रागपर्याय अंदर द्रव्य में जाती है तो विकार भी अंदर गया कि नहीं ?

उत्तर :– भाई ! विकार अंदर द्रव्यस्वभाव में नहीं है । पर्याय व्यय होकर पारिणामिकभाव में योग्यतारूप हो जाती है । वर्त्तमान में विकार जो प्रगट है, वह उदयभावरूप है; परन्तु जब उसका व्यय होता है, तब वह

पारिणामिकभावरूप होकर अन्दर जाता है। क्षायोपशमिक भाव की पर्याय का भी व्यय होता है और दूसरे समय में दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है; परन्तु पहले का भाव व्यय होकर कहाँ गया ? क्या वह अंदर वस्तु में क्षयोपशम भावरूप है ? नहीं, वह तो अंदर वस्तु में पारिणामिकभावरूप ही है।

यहाँ कहते हैं कि सर्वथा-एकान्त से समझे तो मिथ्यात्व है। इससे कोई ऐसा कहे कि बन्ध के मार्ग (व्यवहाररत्नत्रय) से भी मोक्ष होता है – ऐसा कहो, अन्यथा सर्वथा-एकान्त हो जायेगा तो यह बात यथार्थ नहीं है। भाई ! मोक्ष का मार्ग सर्वथा निर्मल परिणतिरूप ही होता है, उसमें राग की परिणति है ही नहीं – ऐसा यह सम्यक्-अनेकान्त है। निश्चय से शुद्धरत्नत्रय की निर्मल पर्याय ही मोक्षमार्ग है, परन्तु साथ ही राग को निमित्त–सहचर देखकर उसे व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा है। मात्र इसकारण से वह मोक्ष का कारण नहीं हो जाता, वह तो बन्ध का कारण ही है। अतः जिस अपेक्षा से कथन हो, उसे यथार्थ समझना चाहिए।

साधु-वंदना

ग्यान को उजागर सहज सुखसागर,
सुगुन-रतनागर विराग रस भर्‌यो है।
सरन की रीति हरै मरन को न भै करै,
करन सौ पीठि दे चरन अनुसर्‌यो है॥
धरम को मंडन भरम को विहंडन है,
परम नरम ह्वै कै करम सौं लर्‌यो है।
ऐसो मुनिराज भुवि लोक मैं विराजमान,
निरखि बनारसी नमस्कार कर्‌यो है॥

– समयसार नाटक, मंगलाचरण, छन्द ५

कुतो जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो नास्तीति चेत् –

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादि ।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ।।६१।।

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवंति वर्णादयः ।
संसारप्रमुक्तानां न सन्ति खलु वर्णादयः केचित् ।।६१।।

यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात् । ततः सर्वास्वप्यवथासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्ति-

---

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादिक के साथ जीव का तादात्म्य-लक्षण सम्बन्ध क्यों नहीं है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं :–

संसारी जीव के वर्ण आदिक, भाव हैं संसार में ।
संसार से परिमुक्त के नहिं, भाव को वर्णादि के ।।६१।।

गाथार्थ :– [वर्णादयः] जो वर्णादिक हैं, वे [संसारस्थानां] संसार में स्थित [जीवानां] जीवों के [तत्र भवे] उस संसार में [भवन्ति] होते हैं और [संसार प्रमुक्तानां] संसार से मुक्त हुए जीवों के [खलु] निश्चय से [वर्णादयः केचित्] वर्णादिक कोई भी (भाव) [न सन्ति] नहीं हैं। (इसलिये तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है।)

टीका :– जो निश्चय से समस्त ही अवस्थाओं में यद्-आत्मकपने से अर्थात् जिस स्वरूपपने से व्याप्त हो और तद्-आत्मकपने की अर्थात् उस स्वरूपपने की व्याप्ति से रहित न हो, उसका उनके साथ तादात्म्य-लक्षण सम्बन्ध होता है। (जो वस्तु सर्व अवस्थाओं में जिस भावस्वरूप हो और किसी अवस्था में उस भावस्वरूपता को न छोड़े, उस वस्तु का उन भावों के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध होता है।) इसलिये सभी अवस्थाओं में जो वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त होता है और वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति

शून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात्। संसारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्चापि मोक्षावस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्याभवतश्च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो न कथंचनापि स्यात्।

से रहित नहीं होता – ऐसे पुद्गल का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध है और यद्यपि संसार-अवस्था में कथंचित् वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त होता है तथा वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित नहीं होता तथापि मोक्ष-अवस्था में जो सर्वथा वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित होता है और वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त नहीं होता – ऐसे जीव का वर्णादि भावों के साथ किसी भी प्रकार से तादात्म्यलक्षण-सम्बन्ध नहीं है।

भावार्थ :– द्रव्य की सर्व अवस्थाओं में द्रव्य के जो भाव व्याप्त होते हैं, उन भावों के साथ द्रव्य का तादात्म्य-सम्बन्ध कहलाता है। पुद्गल की सर्व अवस्थाओं में पुद्गल में वर्णादि भाव व्याप्त हैं, इसलिये वर्णादि भावों के साथ पुद्गल का तादात्म्य-सम्बन्ध है। संसारावस्था में जीव में वर्णादि भाव किसी प्रकार से कहे जा सकते हैं, किन्तु मोक्ष-अवस्था में जीव में वर्णादि भाव सर्वथा नहीं हैं; इसलिये जीव का वर्णादि भावों के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है। यह बात न्यायप्राप्त है।

समयसार गाथा ६१ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

शिष्य पूछता है कि वर्णादि का आत्मा के साथ त्रिकाल सम्बन्ध क्यों नहीं है? आपने आत्मा के साथ उसका एकसमय की पर्यायमात्र का क्षणिक – अनित्य सम्बन्ध कहा है; परन्तु उन रंग, राग, गुणस्थान आदि के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध क्यों नहीं है? इसका उत्तर आचार्य देते हैं।

जो निश्चय से सभी अवस्थाओं में स्वरूपपने से व्याप्त हो तथा उस स्वरूपपने की व्याप्ति से रहित नहीं हो, उनका तादात्म्यलक्षण-सम्बन्ध होता है। जिसप्रकार ज्ञान के साथ आत्मा का तादात्म्यलक्षण-सम्बन्ध है; क्योंकि आत्मा की सर्व अवस्थाओं में वह ज्ञान स्वरूपपने से व्याप्त रहता है और आत्मा कभी भी ज्ञानस्वरूपपने की व्याप्ति से रहित नहीं होता। राग – उदयभाव के साथ आत्मा का तादात्म्यलक्षण-सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि आत्मा सर्व अवस्थाओं में उदयभाव के साथ व्याप्त नहीं रहता। संसार-अवस्था में तो उदयभाव है, परन्तु मोक्ष-अवस्था में नहीं है।

वस्तुतः जो सब दशाओं में स्वरूप से व्याप्त हो अर्थात् स्वरूप में फैला हो तथा स्वरूप से कभी भी रहित न हो, उनका उसके साथ तादात्म्य-लक्षण-सम्बन्ध होता है अर्थात् जो वस्तु सर्व अवस्थाओं में भावस्वरूप हो और किसी भी अवस्था में अपना भावस्वरूपपना न छोड़े, उस वस्तु का उस भाव के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है; इसलिए जिसकी सभी अवस्थाओं में वर्णादि से व्याप्ति होती है, उन पुद्गलों के साथ वर्णादि का तादात्म्य है, क्योंकि विना पुद्गल के उनकी कोई अवस्था नहीं होती। इसीप्रकार जो गुणस्थान आदि के भेद हैं, उनका भी पुद्गल के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है, क्योंकि पुद्गल के निमित्त बिना वे भेद नहीं होते। अहो! समयसार कैसा अद्भुत शास्त्र है, इसमें मानो सारे ब्रह्माण्ड के भाव भरे हैं।

पुद्गल की सभी अवस्थाओं में वे वर्णादि व्याप्त रहते हैं तथा पुद्गल उन वर्णादि की व्याप्ति से कभी भी रहित रहीं होता; इसलिए वर्णादिभावों का पुद्गल के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है, किंतु आत्मा के साथ नहीं। वे वर्णादि व रागादि आत्मा के साथ संसार-अवस्था में कथंचित् व्याप्त रहते हैं, तथापि मोक्ष-अवस्था में उनकी व्याप्ति बिलकुल नहीं है; इसलिए उनका जीव के साथ तादातम्यलक्षण-सम्बन्ध नहीं है। अहाहा! वर्णादि में एक पुद्गल ही नाचता है। भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप होने से शुद्ध चिद्रूप है, वह इनमें कैसे नाचे?

सारांश यह है कि जीव की संसार-अवस्था में रागादि के साथ कथंचित् व्याप्ति होती है, परन्तु मोक्ष-अवस्था में उनके साथ किंचित् भी व्याप्ति नहीं है; इसलिए वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है। आत्मा का ज्ञान, आनन्द के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है; क्योंकि आत्मा की किसी भी अवस्था में ज्ञान, आनन्दपना न हो – ऐसा नहीं बनता।

गाथा ६१ के भावार्थ पर प्रवचन

वस्तु की सब अवस्थाओं में जो व्याप्त रहता है, उसी के साथ द्रव्य या वस्तु का तादात्म्य-सम्बन्ध कहा जाता है। पुद्गलद्रव्य की सब अवस्थाओं में वर्णादिभाव व्याप्त रहते हैं, इसकारण उनका पुद्गल के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है। पुद्गलकर्म के निमित्त से वर्ण से लेकर गुण-स्थानपर्यन्त जो भेद पड़ते हैं, वे आत्मा की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त न होकर पुद्गल की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होते हैं; इसकारण वे पुद्गल के साथ ही तादात्म्य-सम्बन्ध रखते हैं। अखण्ड अभेद एक चिन्मात्र-स्वरूप वस्तु की दृष्टि से रंग, राग, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते हैं।

संसार-अवस्थायुक्त जीव में रंग-राग आदि भाव किसी अपेक्षा से कह सकते हैं, परन्तु मोक्ष-अवस्था में तो वे जीव में सर्वथा ही नहीं हैं। इसकारण वर्णादि के साथ जीव की एकरूपता का सम्बन्ध नहीं। समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार में भी यही कहा है कि दया, दान, भक्ति आदि के भाव संयोगलक्षण हैं। वे संयोगीभाव हैं, स्वभावभाव नहीं हैं; इसलिए इन दया-दान आदि भावों के साथ आत्मा का तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है। अन्य संयोगी वस्तुओं की भाँति ये भी संयोगी वस्तुयें ही हैं। अतः भगवान आत्मा का वर्णादिभावों के साथ एकत्वरूप तादात्म्यलक्षण-सम्बन्ध नहीं है।

अहाहा ! शुद्ध चिद्रूप भगवान आत्मा की ओर ढलने के लिए तो एक अभेदरूप आत्मा ही दृष्टि में रखने योग्य है और पुद्गल के सम्बन्ध से होनेवाले इन सभी भेदभावों की दृष्टि छोड़ देने योग्य है; इसीलिए तो ये सभी भाव आत्मा के नहीं हैं – यह कहा है। भगवान आत्मा के साथ इनकी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि संसार-अवस्था में तो एकसमय का सम्बन्ध है भी, किन्तु सिद्धावस्था में तो सर्वथा ही सम्बन्ध नहीं है। इसकारण धर्मी जीवों को एक अभेदस्वभाव की ही दृष्टि करना योग्य है।

यह जीव-अजीव अधिकार है। इसकारण रंग, राग, पुण्य, पाप, गुणस्थान आदि सर्वभावों को यहाँ अजीव कहा है। आशय यह है कि सम्यग्दर्शन व निर्विकल्प शान्ति की पर्याय द्वारा उस एक शुद्ध चिद्रूप आत्मा को ही ग्रहण करना – अनुभवना योग्य है।

कबहू सुमति ह्वै कुमति कौ विनास करै,
कबहू विमल जोति अंतर जगति है।
कबहू दया ह्वै चित्त करत दयालरूप,
कबहू सुलालसा ह्वै लोचन लगति है॥
कबहू आरती ह्वै कै प्रभु सनमुख आवै,
कबहू सुभारती ह्वै बाहरि बगति है।
धरै दसा जैसी तब करै रीति तैसी – ऐसी
हिरदै हमारे भगवंत की भगति है॥

– समयसार नाटक, उत्थानिका, छन्द १४

जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिनिवेशे दोषश्चायम् –

जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ।।६२।।

जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि।
जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कश्चित् ।।६२।।

यथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिः पुद्गलद्रव्यमनुगच्छंतः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंति, तथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिर्जीवमनुगच्छंतो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंतीति यस्याभि-

---

अब यदि कोई ऐसा मिथ्या अभिप्राय व्यक्त करे कि जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है, तो उसमें यह दोष आता है – ऐसा इस गाथा द्वारा कहते हैं :–

ये भाव सब हैं जीव जो, ऐसा हि तू माने कभी।
तो जीव और अजीव में कुछ, भेद तुझ रहता नहीं ।।६२।।

गाथार्थ :– वर्णादिक के साथ जीव का तादात्म्य माननेवाले को कहते हैं कि हे मिथ्या-अभिप्रायवाले! [**यदि हि च**] यदि तुम [**इति मन्यसे**] ऐसा मानोगे कि [**एते सर्वे भावाः**] यह सर्व वर्णादिक भाव [**जीवः एव हि**] जीव ही हैं, [**तु**] तो [**ते**] तुम्हारे मत में [**जीवस्य च अजीवस्य**] जीव और अजीव का [**कश्चत्**] कोई [**विशेषः**] भेद [**नास्ति**] नहीं रहता है।

टीका :– जैसे वर्णादिक भाव क्रमशः आविर्भाव (प्रगट होना उपजना) और तिरोभाव (छिप जाना, नाश हो जाना) को प्राप्त होती हुई – ऐसी उन-उन व्यक्तियों के द्वारा (अर्थात् पर्यायों के द्वारा) पुद्गलद्रव्य के साथ ही साथ रहते हुए, पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं – विस्तारते हैं; इसीप्रकार वर्णादिक भाव क्रमशः आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त होती हुई – ऐसी उन-उन व्यक्तियों के द्वारा जीव के साथ ही साथ रहते हुए, जीव का वर्णादिक के

निवेशः तस्य शेषद्रव्यासाधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणाज्जीवपुद्गलयोरविशेषप्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः।

साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं – ऐसा जिसका अभिप्राय है, उसके मत में अन्य शेष द्रव्यों से असाधारण ऐसी वर्णादिस्वरूपता – कि जो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है – उसका जीव के द्वारा अङ्गीकार किया जाता है; इसलिये जीव-पुद्गल के अविशेष का प्रसङ्ग आता है और ऐसा होने से पुद्गलों से भिन्न ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहने से जीव का अवश्य अभाव होता है।

भावार्थ :– जैसे वर्णादिकभाव पुद्गलद्रव्य के साथ तादात्म्यस्वरूप हैं; उसीप्रकार जीव के साथ तादात्म्यस्वरूप हों तो जीव-पुद्गल में कोई भी भेद न रहे और ऐसा होने से जीव का ही अभाव हो जाये – यह महादोष आता है।

गाथा ६२ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब यहाँ यह बताते हैं कि वर्णादि व गुणस्थानादि के साथ जीव का तादात्म्य-सम्बन्ध मानने पर क्या-क्या दोष आते हैं।

रागादिरूप पुद्गल के परिणामों को जीव के मानोगे तो जीव व अजीव में कोई भेद ही नहीं रहेगा। ऐसा इस गाथा में बताते हैं। इससे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भगवान आत्मा है। चैतन्य भगवान पर दृष्टि करने से धर्म का प्रारम्भ होता है, सम्यग्दर्शन होता है। इसके सिवाय दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि करें; तथापि सम्यग्दर्शन नहीं होता, क्योंकि ये सब तो राग हैं और इस राग का पुद्गल के साथ तादात्म्य है। जहाँ-जहाँ पुद्गल है, वहाँ-वहाँ रंग, राग व भेदादि होते है – ऐसी व्याप्ति है और भगवान आत्मा के साथ रंग, राग व भेदादि की व्याप्ति नहीं है। अहो ! कैसी अलौकिक बात है।

जो गुणस्थान आदि भेद जीव की पर्याय में उत्पन्न हुये हैं, वे अपनी उत्पत्ति के जन्मक्षण में अपने कारण से हुए हैं, निमित्त के कारण नहीं हुये हैं। ये गुणस्थान आदि के भेद जीव की पर्याय में स्वयं से हुए हैं, परन्तु ये त्रिकाली शुद्ध आत्मद्रव्य में व्याप्त नहीं होते। इन रंग, राग, दया, दान आदि भावों की व्याप्ति पुद्गल के साथ है। जहाँ ऐसा कहा है कि पुण्य-पाप के भाव अपनी (जीव की) पर्याय में होते हैं और इनका कर्त्ता-भोक्ता जीव है; वहाँ तो इसका ज्ञान कराने के लिए ज्ञानप्रधान

कथन किया है, जबकि यहाँ दृष्टिप्रधान कथन है। यहाँ दृष्टि की प्रधानता में दया-दान व पंचमहाव्रत के पालन के भाव पुदगल के साथ व्याप्त होते हैं – ऐसा कहते हैं। यह बात दिगम्बर आचार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी ने की ही नहीं है। दिगम्बर-सन्त केवली भगवन्तों के प्रतिनिधि हैं, भगवान केवली ने जो बात दिव्यध्वनि में कही है, उसी बात को ये सन्त जगत को बताते हैं। एक बार जरा धैर्य से सुनो तो सही !

दया, दान, व्रत, स्वाध्याय आदि का तथा प्रवचन सुनने का राग भी पुद्गल में उत्पन्न होता है और पुद्गल में ही उसका व्यय होता है। यह उत्पाद-व्यय आत्मा का नहीं है। यहाँ द्रव्यस्वभाव का वर्णन है न ? जीवद्रव्य में तो भेद हैं ही नहीं, इसकारण भेद को तथा रागादि को अजीव कहा है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग, नवतत्त्व की श्रद्धा का राग, शास्त्रज्ञान का विकल्प या छहकाय के जीवों की रक्षा का राग – ये सभी पुदगल के साथ उत्पन्न होते हैं और पुद्गल में ही नाश होते हैं। अहाहा ! आचार्यों ने कितना स्पष्ट किया है ! ऐसी बात अन्यत्र कहाँ है ? उत्पाद-व्यय द्रव्यस्वभाव में – चिन्मात्र वस्तु में नहीं हैं। जो इन वर्णादि-भावों का आविर्भाव व तिरोभाव होता है, उनकी पुद्गल के साथ व्याप्ति है; इसकारण पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध प्रसिद्ध होता है। अहाहा ! वर्णादिभाव पुद्गल का विस्तार है, परन्तु चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा का विस्तार नहीं है। भगवान आत्मा तो चिदानन्दमय अखण्ड एकरूप जिनस्वरूपी परमात्मा है। ये वर्णादि व रागादिभाव आत्मा का विस्तार नहीं हैं। रागादि की प्रसिद्धि आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है। अहाहा ! सन्तों ने कैसा तत्त्व जाहिर कर दिया है। जो सर्वज्ञ ने कहा है, वही बात इस पंचमकाल के श्रोताओं को सन्तों ने कही है।

यदि कोई कहे कि यह बात तो चौथे काल की है – चौथे काल के जीवों को समझाने के लिए है तो उनसे कहते हैं कि भाई ! कुन्दकुन्दाचार्य आदि तो पंचमकाल के सन्त है और पंचमकाल के श्रोताओं को ही समझा रहे हैं। प्रभु ! तुम सुनो तो सही। पंचमकाल में भी तुम आत्मा हो कि नहीं ? प्रभु ! तुम अनन्त गुणों से भरे हुये अभेद शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा हो। यहाँ तो कहते हैं कि जिन्हें अभेद शुद्ध चिदानन्द भगवान की दृष्टि करना हो, उन्हें इन रागादिभावों को अजीव का परिणाम मानना चाहिये।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि वर्तमान में तो शुभयोग ही होता है और यह शुभयोग ही धर्म का कारण है। उनसे कहते हैं कि अरे प्रभु ! तुम क्या कहते हो ? यदि वर्तमान में मात्र शुभयोग ही हो तो इसका अर्थ

तो यह होगा कि वर्त्तमान में धर्म होता ही नहीं है। भाई! तुम्हारी यह बात आगम के अनुकूल नहीं है, क्योंकि शुभयोग तो पुद्गल में व्यापनेवाला भाव है। वह आत्मा का है और लाभदायक है – ऐसा मानना तो महा मिथ्यात्व है, अज्ञान है।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि शुभाशुभराग की उत्पत्ति व व्यय पुद्गल के साथ सम्बन्धित है, भगवान आत्मा के साथ नहीं है। यदि इन रागादि का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो तो रागादि का उत्पाद व व्यय आत्मा में तीनों काल होना चाहिये, किन्तु ऐसा तो होता नहीं है; इसलिए ये रागादि आत्मा की चीज नहीं हैं। शरीर, मकान, पैसा, लक्ष्मी आदि तो प्रत्यक्ष पुद्गल हैं, परवस्तु हैं। यहाँ तो कहते हैं कि जिससे तीर्थंकर नामकर्म बंधता है – ऐसा सोलहकारण भावनाओं का भाव भी राग है और वह भी पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है, और उसके फल में भी अजीव ही मिलता है।

यहाँ कहते हैं कि राग चाहे दया, दान, भक्ति का हो या पंचमहाव्रत का हो – इसका उत्पन्न होना व व्यय होना, पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है। प्रभु! तेरे चैतन्यघर को खोजने के लिए यह बात करते हैं, तू अपने घर को देख! उसमें तुझे रागादि की उत्पत्ति-व्यय नहीं दीखेगा। तुझे तेरा नाथ चैतन्यदेव अतीन्द्रिय आनन्द की उत्पत्ति-व्यय के साथ दिखाई देगा। अहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य आदि दिगम्बर सन्त अपार करुणा करके मार्ग बताते हैं। वे जोर-जोर से पुकार-पुकार करके कहते हैं कि हे प्रभु! तेरी प्रसिद्धि तो अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द की पर्याय से होती है। तेरी प्रसिद्धि राग से कैसे हो? क्योंकि राग की प्रसिद्धि तो पुद्गल की प्रसिद्धि है। गजब बात है भाई! यह समयसार तो जगत् चक्षु – अजोड़ चक्षु है। इस टीका का नाम आत्मख्याति है न? अभेद एक शुद्ध द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि करने पर जो अतीन्द्रिय आनन्द व शान्ति की पर्याय प्रगट होती है, वह तेरी प्रसिद्धि अर्थात् आत्मख्याति है। अहो! पंचमकाल के सन्तों ने जगत की परवाह न करते हुए सत्य का डंका बजाया है।

प्रभु! तेरी प्रभुता तो तब कही जाय, जबकि तुझमें निर्मल पर्याय की उत्पत्ति-व्यय हो। राग की उत्पत्ति व राग का व्यय – यह तेरी प्रभुता नहीं है। राग तो रोग है, उसे हर ले – यही तेरी वास्तविक प्रभुता है। अहाहा! शुभाशुभराग तो पुद्गल का विस्तार है, पुद्गल की प्रसिद्धि है; इसमें आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है। अहो! अमृतचन्द्राचार्य ने तो अमृत उड़ेला है।

जिसकी पर्याय में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख व अनन्तवीर्य गुलाब के पुष्प की तरह खिल गया है। अरे ! यही प्रभु की प्रसिद्धि है। भगवान ! तुम्हारा वर्णन किसप्रकार करें ? अहाहा ! अनन्त ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायों का उत्पाद-व्यय हो – यही आत्मा की प्रसिद्धि है। पर के आश्रय से रागादि भाव होते हैं, उनमें कहीं आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है। यह बात कुछ कठिन लगती है, परन्तु क्या करें ? मार्ग तो यही है, जो जिनेश्वरदेव ने गणधर व इन्द्रों की उपस्थिति में समवशरण (धर्मसभा) में कहा है। भगवान सीमन्धर परमात्मा महाविदेह क्षेत्र में विराजते हैं, वहाँ यह बात उनकी दिव्यध्वनि में आई है। यही बात आचार्य कुन्दकुन्ददेव एवं अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कही है। आचार्य कुन्दकुन्द तो विदेह क्षेत्र गये थे, किन्तु अमृतचन्द्रदेव वहाँ नहीं गये थे, तथापि वे अपने अन्दर के भगवान आत्मा के पास हर अन्तर्मुहूर्त में जाते थे; अतः आत्मा की बात प्रसिद्ध करते हैं।

प्रश्न :– शुभभाव भी जीव के साथ सम्बन्ध रखता है – ऐसा कहो न ? इसमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर :– कितने ही व्रत, तप से धर्म मानते हैं तथा कितने ही देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति में धर्म मानते हैं। शुभभाव में धर्म माननेवाले सब एकसमान ही मिथ्यादृष्टि हैं। प्रवचनसार की गाथा ७७ में कहा है :–

"शुभभाव – पुण्यभाव ठीक है तथा अशुभभाव – पापभाव ठीक नहीं है, ऐसा जो मानते हैं; वे मिथ्यात्व से घिरे हुये घोर संसार में रखड़ते हैं। जो ऐसा मानते हैं कि पुण्य-पाप में कोई अन्तर है, वे 'हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो' अर्थात् मोहाच्छादित होते हुये घोर अपार संसार में रखड़ते हैं।" भाई ! दिगम्बर मार्ग बहुत सूक्ष्म है। बापू ! सम्प्रदाय मिल गया, इसकारण दिगम्बर धर्म समझ में आ ही जायगा – ऐसा भी नहीं है। दिगम्बर धर्म कोई पन्थ या पक्ष नहीं है – यह तो वस्तु का स्वरूप है।

अब कहते हैं कि जिसप्रकार ये रागादिभाव पुद्गल के साथ आविर्भाव-तिरोभावरूप होते हैं अर्थात् पुद्गल में उत्पाद-व्ययरूप होते हैं; उसीप्रकार ही ये रागादिभाव यदि आत्मा के साथ उत्पाद-व्ययरूप होने लगें तो जो पुद्गल का स्वरूप है, उसे जीव द्वारा अंगीकार कर लेने पर जीव व पुद्गल के एकत्व का प्रसंग प्राप्त होगा। अहाहा ! क्या अद्भुत टीका है ! ऐसे वीतराग मार्ग की बात एक क्षण के लिए भी समझ में बैठ जावे तो भव का अन्त आ जावे – यह ऐसी गजब की बात है। आचार्य

कहते हैं कि जड़कर्म के साथ रागादि-अजीव का उत्पाद और व्यय होता है, इसकारण पुद्गल के साथ ही रागादि का तादात्म्य-सम्बन्ध है; उसीप्रकार जो ऐसा अभिप्राय रखता है कि जीव के साथ रागादि उत्पाद-व्ययरूप होते हैं, अतः जीव का रागादि के साथ सम्बन्ध है तो उसने पुद्गल को ही जीव माना। इसकारण उसकी मान्यता में जीवद्रव्य भिन्न नहीं रहा, किन्तु वह पुद्गलरूप हो गया। भाई! सूक्ष्म बात है। जो जीव ऐसा अभिप्राय रखते हैं कि मेरी आत्मा में राग की उत्पत्ति व व्यय होता है, उसने पुद्गल को ही आत्मा माना है।

प्रश्न :– ऐसा धर्म प्राप्त करने का क्या साधन है? भक्ति आदि करने के साधनों से धर्म प्राप्त होगा या नहीं?

उत्तर :– अरे भगवान! देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति तो राग है तथा राग की उत्पत्ति व व्यय का सम्बन्ध तो निश्चय से पुद्गल के साथ है। इसकारण यदि तू भक्ति आदि के राग को ही धर्म का साधन मानेगा तो अभिप्राय में तो तूने पुद्गल को ही जीव मान लिया, परन्तु यह तो मिथ्यात्व है।

व्यवहार से एकसमय की पर्याय में अर्थात् संसार-अवस्था में वे रागादिभाव भले हों, परन्तु जीव का उनके साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है। यही बात अब आगे की गाथा में कहेंगे कि हे भाई! यदि तू संसार-अवस्था में भी रागादिक को अपना मानेगा तो तेरी मान्यता में जीव पुद्गलस्वरूप हो जायेगा। तब फिर पुद्गल की ही मुक्ति होगी। गजब बात है भाई! अन्य मत की करोड़ों पुस्तकें पढ़ डालें तो भी यह बात नहीं मिलेगी। कहाँ से मिले? यह तो उन सन्तों की वाणी है, जो त्रिलोकीनाथ जिनेश्वरदेव सीमन्धर परमात्मा के पास गये थे तथा अन्तर में विराजमान निज परमेश्वरदेव चैतन्यभगवान के पास हर अन्तर्मुहूर्त में जाते थे। परमात्मा के प्रत्यक्षदर्शी और आत्मानुभवी सन्त कहते हैं कि 'जहाँ हम गये थे, वहाँ तो रागादिक हैं ही नहीं।' अहाहा! शुद्ध चिदानंदमय चैतन्यमूर्ति भगवान ही मेरा जिनदेव है। उसमें राग-द्वेष-संसार नहीं हैं। रागादि का सम्बन्ध आत्मा के साथ है ही नहीं। ऐसी सन्तों की अमृतवाणी सुनने का परम सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है। अरे! सामान्यजनों को तो यह सहजता से सुलभ ही नहीं है।

शास्त्र में कहीं ऐसा कहते हैं कि 'पुण्य-पापादि भाव जीव की पर्याय में होते हैं और जीव उनका कर्त्ता-भोक्ता है' – यह कथन पर्याय का ज्ञान

कराने के लिए ज्ञान की अपेक्षा से है, किन्तु यहाँ दृष्टि की अपेक्षा से कथन है। यहाँ कहते हैं कि राग-द्वेष की उत्पत्ति-व्यय का सम्बन्ध पुद्गल के साथ है। स्वभाव की दृष्टि से वे राग-द्वेष आदि भाव पर हैं, क्योंकि राग-द्वेषादि भावों की उत्पत्ति व व्यय पुद्गल के साथ सम्बन्धित हैं। जिस-प्रकार राग-द्वेष पुद्गल में व्याप्त रहते हैं; उसीप्रकार यदि आत्मा के साथ भी उनकी उत्पत्ति व व्यय का व्याप्तपना हो तो आत्मा पुद्गलमय हो जाय और फिर उससे पुद्गल की ही प्रसिद्धि होगी और आनन्दस्वरूप आत्मा का नाश ही हो जावेगा किन्तु ऐसा है नही, कभी होता ही नहीं।

अहाहा! अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द का सागर भगवान आत्मा अन्दर में शाश्वत विराजता है न? हे नाथ! उसे यदि तू रागवाला मानेगा तो तू स्वयं मान्यता में पुद्गलमय हो जायगा, जीवरूप नहीं रहेगा। यदि तू शुभभाव के राग से धर्म होना मानेगा तो वहाँ आत्मा नहीं रहेगा। प्रभु! इसप्रकार तो अकेले पुद्गल की ही प्रसिद्धि होगी।

प्रश्न :– इस पंचमकाल में तो शुभभाव ही होता है; इसकारण व्रत, तप, भक्ति करना ही धर्म है?

उत्तर :– भाई! इन व्रत, तप, भक्ति आदि के शुभभाव तो पुद्गल के साथ ही सम्बन्ध रखते हैं; आत्मा के साथ तादात्म्य-सम्बन्धरूप से व्याप्त नहीं होते। अहाहा! भगवान आत्मा तो अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द व अनन्त शान्ति का भण्डार है। इस ज्ञान-भंडार में से क्या राग निकलेगा? इसमें राग है ही कहाँ, जो निकले। राग की उत्पत्ति हो – ऐसा कोई भी गुण आत्मा में नहीं है। अनन्त गुणरत्नों के भण्डार भगवान आत्मा में दृष्टि स्थापित करते ही पर्याय में अनन्त आनन्द व शान्ति आदि की दशा प्रगट हो जाती है और इसके उत्पाद-व्यय का सम्बन्ध निजद्रव्य के साथ है, यह उत्पाद-व्यय सिद्धदशा में भी अनन्तकाल तक रहेगा।

यहाँ कहते हैं कि ये रागादिभाव आत्मा के साथ सम्बन्ध रखते हैं – ऐसा यदि कोई जाने और माने तो आत्मा पुद्गलमय हो जायेगा, क्योंकि रागादि का तो पुद्गल – अजीव के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है। अतः पुद्गल से भिन्न जीव नहीं ठहरेगा अर्थात् इसप्रकार मानने से जीव का ही अभाव हो जायगा। अरे भाई! जब त्रिलोकीनाथ भगवान दिव्यध्वनि द्वारा यह अर्थ प्रगट करते हैं, तब इसी भव में मोक्ष जानेवाले गणधर एकभवावतारी इन्द्र भी आश्चर्यचकित रह जाते हैं। इस दिव्यध्वनि की क्या महिमा कहें? इस दिव्यध्वनि का ही यह सार है।

गाथा ६२ के भावार्थ पर प्रवचन

दया, दान, व्रत, तप आदि का विकल्प पर्याय में प्रगट होता है, वह पुद्गलद्रव्य के साथ में ही तादात्म्यरूप है, आत्मा के साथ उसका तादात्म्य नहीं है। यहाँ त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि कराना है। ये राग व भेद आदि के भाव जैसे पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखते हैं, उसीप्रकार जीव के साथ भी सम्बन्ध रखते हैं – ऐसा मानेंगे तो जीव व पुद्गल में कोई भेद नहीं रहेगा।

वर्ण से लेकर गुणस्थान तक सभी भावों का जैसे पुद्गल के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है; उसीप्रकार जीव के साथ भी तादात्म्यपना हो तो जीव व पुद्गल में कोई भेद नहीं रहेगा और ऐसा होने पर जीव का ही अभाव ठहरेगा। ज्ञायक चैतन्यज्योति का रागादि के साथ तादात्म्य हो तो आत्मा अचेतन हो जायगा। जैसे शरीर, कर्म आदि पुद्गल – अचेतन हैं; उसीप्रकार शुभराग भी अचेतन है। व्यवहाररत्नत्रय का राग भी अचेतन है तथा पुद्गल के साथ तादात्म्यरूप है, क्योंकि राग में चैतन्य-स्वभाव का अभाव है। छट्ठी गाथा की टीका में भी आता है कि ज्ञायक-स्वभावी चैतन्यज्योति कभी भी शुभाशुभभावों के स्वभावरूप नहीं होती। गाथा ७२ में भी शुभाशुभभावरूप आस्रवों को विपरीतस्वभाववाला अर्थात् जड़ कहा है। ऐसी चिन्मात्र आत्मा रागरूप कैसे हो ? राग है तो जीव की ही पर्याय में और वह चारित्रगुण की दोषरूप विपरीतपर्याय है; परन्तु स्वभाव की दृष्टि से वह अचेतनपने ज्ञात होती है।

प्रभु ! आत्मा चैतन्यप्रकाश का पूर है। उसमें व्यवहाररत्नत्रय का राग भी नहीं समाता, क्योंकि राग का पुद्गल के साथ तादात्म्यपना है, आत्मा के साथ नहीं। यदि जीव का राग से सम्बन्ध कहोगे तो जीव पुद्गल-मय हो जायगा, अचेतन हो जायगा। स्वयं प्रकाशक चैतन्यज्योतिरूप आत्मा राग को प्रकाशित करता है, जानता है; किन्तु वह स्वयं रागरूप नहीं होता। यहाँ कहते हैं कि अचेतन-राग पुद्गल से एकरूप है, इसलिए इससे उदास हो जा ! प्रभु ! यह तेरी चीज नहीं है, इसलिए अन्तर्मुख होकर अपना आसन ज्ञायकस्वरूप चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा में जमा दें ! यदि तू राग से तादात्म्य-संबंध करने जायेगा तो अचेतन हो जायगा और उससे तेरे जीवन का ही अभाव हो जायगा। तेरी इस मान्यता में महादोष आता है। बात कठिन है, परन्तु भगवन् ! वस्तुस्वरूप ऐसा ही है। बस, जरा धैर्य से समझना पड़ेगा।

संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यमित्यभिनिवेशेऽप्ययमेव दोष :–

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ।।६३।।
एवं पोग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो ।।६४।।

अथ संसारस्थानां जीवानां तव भवंति वर्णादयः ।
तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ।।६३।।
एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथालक्षणेन मूढमते ।
निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ।।६४।।

अब मात्र संसार-अवस्था में ही जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है – इस अभिप्राय में भी यही दोष है, सो कहते हैं :–

वर्णादि हैं संसारी जीव के, योंहि मत तुझ होय जो ।
संसारस्थित सब जीवगण, पाये तदा रूपित्वको ।।६३।।

इस रीत पुद्गल वो हि जीव, हे मूढ़मति ! समचिह्न से ।
अरु मोक्षप्राप्त हुआ भी पुद्गलद्रव्य जीव बने अरे ।।६४।।

गाथार्थ :– [**अथ**] अथवा यदि [**तव**] तुम्हारा मत यह हो कि [**संसारस्थानां जीवानां**] संसार में स्थित जीवों के ही [**वर्णादयः**] वर्णादिक (तादात्म्यस्वरूप से) [**भवंति**] हैं, [**तस्मात्**] तो इसकारण से [**संसारस्थाः जीवाः**] संसार में स्थित जीव [**रूपित्वम् आपन्नाः**] रूपित्व को प्राप्त हुए – [**एवं**] ऐसा होने से [**तथालक्षणेन**] वैसा लक्षण (अर्थात् रूपित्वलक्षण) तो पुद्गलद्रव्य का होने से [**मूढमते**] हे मूढ़बुद्धि ! [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य ही [**जीवः**] जीव कहलाया [**च**] और (मात्र संसार-अवस्था में ही नहीं, किन्तु) [**निर्वाणम् उपगतः अपि**] निर्वाण प्राप्त होने पर भी [**पुद्गलः**] पुद्गल ही [**जीवत्वं**] जीवत्व को [**प्राप्तः**] प्राप्त हुआ ।

यस्य तु संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीत्यभिनिवेशस्तस्य तदानीं स जीवो रूपित्वमवश्यमवाप्नोति। रूपित्वं च शेषद्रव्यासाधारणं कस्यचिद्द्रव्यस्य लक्षणमस्ति। ततो रूपित्वेन लक्ष्यमाणं यत्किंचिद्भवति स जीवो भवति। रूपित्वेन लक्ष्यमाणं पुद्गलद्रव्यमेव भवति एवं पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोऽपि। तथा च सति मोक्षावस्थायामपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्य द्रव्यस्य सर्वास्वप्यवस्थास्वनपायित्वादनादिनिधनत्वेन पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोपि। तथा च सति तस्यापि पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः।

टीका :– फिर जिसका यह अभिप्राय है कि संसार-अवस्था में जीव का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है, उसके मत में संसार-अवस्था के समय वह जीव अवश्य रूपित्व को प्राप्त होता है और रूपित्व तो किसी द्रव्य का, शेष द्रव्यों से असाधारण – ऐसा लक्षण है। इसलिये रूपित्व (लक्षण) से लक्षित (लक्ष्यरूप होता हुआ) जो कुछ हो, वही जीव है। रूपित्व से लक्षित तो पुद्गलद्रव्य ही है; इसप्रकार पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव है, किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरा कोई जीव नहीं है। ऐसा होने पर मोक्ष-अवस्था में भी पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव (सिद्ध होता) है, किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य कोई जीव (सिद्ध होता) नहीं; क्योंकि सदा अपने स्वलक्षण से लक्षित – ऐसा द्रव्य सभी अवस्थाओं में हानि अथवा ह्रास को न प्राप्त होने से अनादि-अनन्त होता है। ऐसा होने से उसके मत में भी (संसार-अवस्था में ही जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य माननेवाले के मत में भी) पुद्गलों से भिन्न – ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहने से जीव का अवश्य अभाव होता है।

भावार्थ :– यदि ऐसा माना जाये कि संसार-अवस्था में जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है तो जीव मूर्तिक हुआ और मूर्तिकत्व तो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है; इसलिये पुद्गलद्रव्य ही जीवद्रव्य सिद्ध हुआ, उसके अतिरिक्त कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य नहीं रहा। और मोक्ष होने पर भी उन पुद्गलों का ही मोक्ष हुआ; इसलिये मोक्ष में भी पुद्गल ही जीव ठहरे, अन्य कोई चैतन्यरूप जीव नहीं रहा। इसप्रकार संसार तथा मोक्ष में पुद्गल से भिन्न – ऐसा कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य न रहने से जीव का ही अभाव हो गया। इसलिये मात्र संसार-अवस्था में ही वर्णादिभाव जीव के हैं – ऐसा मानने से भी जीव का अभाव ही होता है।

गाथा ६३-६४ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं कि 'मात्र संसार-अवस्था में ही जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है' – ऐसे अभिप्राय में भी दोष आता है।

जिसका अभिप्राय या श्रद्धान ऐसा है कि भले ही मोक्ष-अवस्था में रागादि का जीव के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध न हो, परन्तु संसार-अवस्था में तो जीव का रागादिभावों के साथ सम्बन्ध है। उनसे कहते हैं कि भाई ! यदि संसारावस्था में भी जीव का वर्णादिभावों के साथ सम्बन्ध हो तो संसारावस्था के काल में तेरे मत के अनुसार जीव अवश्य ही रूपित्व को प्राप्त होगा। देखो, यहाँ रागादिभावों को अजीव, अचेतन और रूपी भी कहा है। भगवान चैतन्यस्वरूप जीव तो अरूपी है और ये रागादिभाव अचेतन हैं, रूपी है; इसलिए यदि रागादिभावों को संसारावस्था में जीव के साथ तादात्म्यरूप से मानोगे तो जीव ही रूपीपने को प्राप्त होगा।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि संसारावस्था में भी रागादिभाव आत्मा के नहीं हैं। संसार-अवस्था में जीव का रंग-राग व भेद-भावों के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है, तथापि यदि तेरा ऐसा ही अभिप्राय हो कि ज्ञानानन्दस्वभावी जीव के संसारावस्था में रंग, राग व भेद के भावों से तादात्म्य है तो आत्मा अवश्य ही रूपीपने को प्राप्त होगा।

लक्षण की परिभाषा न्यायशास्त्र में ऐसी आती है कि किसी द्रव्य का अन्य शेषद्रव्यों से असाधारणपना – भिन्नपना ही उस (वस्तु) का लक्षण है। यहाँ पुद्गल का अन्य जीवादि द्रव्यों से असाधारण – रूपित्व ही पुद्गल का लक्षण है, इसलिए यदि जीव का संसार-अवस्था में भी रंग-राग-भेद से तादात्म्य हो तो रूपित्व के लक्षण से लक्षित जो कोई भी वस्तु हों, वे सब जीवत्व को प्राप्त हो जायेंगी अर्थात् पुद्गल जीवमय हो जायेगा, कोई भी पुद्गल से भिन्न जीव नहीं रहेगा।

अहाहा ! लोक तो बस ऐसा मानता है कि दया, दान, व्रत, भक्ति आदि व्यवहार क्रिया करो – इन्हीं से कल्याण हो जायेगा; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु ! इन रंग, राग व भेद के सर्व भावों का पुद्गल के साथ सम्बन्ध है। यदि आत्मा रंगरूप, रागरूप या भेदरूप हो जावे तो रूपी – पुद्गल हो जायेगा। अहाहा ! अज्ञान अवस्था में रंग-राग व भेद मेरा है और मैं उनका कर्त्ता हूँ – ऐसा जो मानते हैं, वे पुद्गल को जीवरूप मानते हैं। भाई ! वस्तु के स्वरूप की दृष्टि से देखने पर रंग-राग-भेद त्रिकाली वस्तु में नहीं हैं। यद्यपि पर्याय की अपेक्षा से उनको जीव का

कहा है, तथापि त्रिकाली ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से देखने पर उनका जीव के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है। इसकारण वे जीव के नहीं हैं, किन्तु रूपी पुद्गल के हैं – ऐसा यह स्याद्वाद है।

चैतन्यप्रकाश के नूर का पूर प्रभु आत्मा सदा ही अरूपी है और रंग-राग-भेद रूपी हैं तथा रूपीपना पुद्गल का लक्षण है। अतः संसार-अवस्था में भी यदि कोई ऐसा माने कि रंग-राग-भेद जीव के हैं, तो जीव रूपी – पुद्गल हो जायेगा और इसप्रकार पुद्गल ही जीवत्व को प्राप्त होगा और उसके मत में कोई पुद्गल से भिन्न जीव नहीं ठहरेगा, यह तत्त्वदृष्टि है। आचार्य कहते हैं कि प्रभु तू जीवतत्त्व – चैतन्यतत्त्व है, इसलिए जीव में रंग-राग-भेदरूप अजीव से सम्बन्धित मान्यता छोड़ ! क्योंकि वे तेरे हैं ही नहीं। ऐसी सूक्ष्म बात समझने में वाद-विवाद से पार नहीं पड़ सकती। पर्याय में रागादि हैं, इसलिए पर्याय-अपेक्षा से वह सत्य है; किन्तु चैतन्य-स्वभाव की दृष्टि में – रंग-राग-भेद ये तीनों ही नहीं हैं। रंग-राग-भेद के भाव तो रूपी – पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं, उनका यदि आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जायेगा तो आत्मा रूपी हो जायगा, जिससे जीव का ही अभाव हो जायगा। यहाँ आत्मा को रंग अर्थात् वर्ण, राग अर्थात् शुभाशुभभाव और भेद अर्थात् गुणस्थान आदि से भिन्न बताया है।

अहाहा ! रंग-राग व भेद से भी निराला भगवान चैतन्यमहाप्रभु है। अरे ! जब ऐसा सुनने को ही नहीं मिलता तो उसकी रुचि व प्रयत्न कहाँ से और कैसे करे ? आजकल देशसेवा की बात चलती है, परन्तु वह लौकिक बात है, यहाँ अध्यात्म की बात चलती है। यहाँ कहते हैं कि तेरा देश तो रंग-राग-भेद से भी भिन्न है, तेरा देश तो असंख्यातप्रदेशीअभेद चिद्रूपमात्र ज्ञायकस्वरूप है। तू अपने ऐसे देश की उपासना कर !

अहाहा ! रंग-राग-भेद के भाव रूपी हैं – ऐसा यहाँ कहा है। रंग-गंध-रस-स्पर्श तो रूपी हैं, किन्तु शुभाशुभभाव तथा जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि भेद भी रूपी हैं – ऐसा कहा है। आत्मा निर्मलानन्द प्रभु त्रिकाल अरूपी है, उसकी अपेक्षा से ये सर्व भाव रूपी हैं – कर्मोदय निमित्तक होने से संयमलब्धिस्थान भी रूपी है। ज्ञान में जो क्षयोपशम का अंश है, वह निरावरण है व शुद्ध है और यही बढ़कर केवलज्ञान होगा – ऐसा जो कहा है, वह तो पर्यायनय की अपेक्षा कहा है; जबकि यहाँ तो स्वभाव की दृष्टि की बात है। यदि ये रागादि जीव के द्रव्यस्वभाव में तद्रूपपने हों तो कभी निकलेंगे ही नहीं। अहो ! वीतराग मार्ग अलौकिक है।

प्रवचनसार में ऐसा आता है कि ज्ञानी और गणधर को भी जो राग का परिणमन है, उसके कर्त्ता वे स्वयं हैं। जबकि यहाँ राग को रूपी–पुद्गलमय कहा है। भाई ! ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक होने से वहाँ (प्रवचनसार ग्रन्थ के नय अधिकार में) ज्ञान की प्रधानता से पर्याय का ज्ञान कराया है; किन्तु यहाँ तो जीव के स्वभाव की बात है। रंग, राग व भेद जीव के चैतन्यस्वभाव से भिन्न हैं, विपरीत हैं; इसकारण वे रूपी–पुद्गलमय हैं। अभेद की दृष्टि में भेद हैं ही नहीं। ग्यारहवीं गाथा के भावार्थ में कहा है कि प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से ही है और वे भेदरूप व्यवहार की परस्पर प्ररूपणा भी करते हैं, तथा भेद के – व्यवहार के कथन को हस्तावलम्ब जानकर, शास्त्रों में भी उसका वर्णन बहुत किया गया है, परन्तु इसका फल संसार ही है।

अन्दर पूर्णानन्द का नाथ अभेद एकरूप चतन्य महाप्रभु विराजता है। इस अभेदस्वरूप की दृष्टि हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। अखण्ड अभेद निर्मल चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा के स्वीकार से ही सम्यग्दर्शन होता है। अभेद की दृष्टि भेद, राग या निमित्त को स्वीकार नहीं करती, क्योंकि अभेदवस्तु में भेदादि हैं ही नहीं; इसलिए जो अभेद में नहीं हैं, उनका निषेध करना यथार्थ है। अतः अभेद की दृष्टि में इन रंग, राग व भेद के भावों को रूपी व पुद्गल के लक्षण से लक्षित कहा है। यह तो श्लोक में भी आता है कि भेदज्ञान होने के पूर्व अज्ञानभाव से जीव राग का कर्त्ता है; तथापि जब भेदज्ञान प्रगट प्राप्त होता है, तब वे रागादि आत्मा में दिखाई नहीं देते। यह बात जरा कठिन है, परन्तु अज्ञानी को यदि कठिन पड़ती है तो इससे वस्तुस्वरूप पलट नहीं जायगा। अतः आत्मा को जानने का अभ्यास करना चाहिये।

अहाहा ! तीनलोक के नाथ सर्वज्ञदेव के द्वारा कही हुई बात यहाँ सन्त प्रसिद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा की प्रसिद्धि कब होती है? जब यह आत्मा रूपी – अचेतन रंग-राग-भेद के भावों से भिन्न पड़कर अभेद की दृष्टि करता है, तब आत्मा की प्रसिद्धि होती है। टीका में कहा है कि रूपित्व से लक्षित तो पुद्गलद्रव्य है, इसलिए ये भाव पुद्गल ही हैं।

प्रश्न :– क्या यह एकान्त नहीं है ?

उत्तर :– हाँ, एकान्त है, किन्तु सम्यक्-एकान्त है। ऐसा सम्यक्-एकान्त हो, तब पर्याय में राग व अल्पज्ञता है – इसका भी यथार्थ ज्ञान होता है। इसी का नाम अनेकान्त है। भाई ! वीतराग का मार्ग सूक्ष्म लगता अवश्य है, परन्तु वस्तु भी ऐसी ही सूक्ष्म है।

शुद्ध चैतन्य प्रकाशस्वरूप वस्तु में राग व भेद को अवकाश नहीं है। रूपी वर्ण की तो क्या वात करना ? राग व भेद के भाव भी पुद्गल हैं। 'ये रंग-राग-भेद के भाव पुद्गल के हैं, मेरे चैतन्यभाव में नहीं हैं'—जहाँ ऐसी ज्ञायकभाव की दृष्टि हुई, वहीं भव का अन्त आ जाता है, जन्म-मरण का—चौरासी का फेरा मिट जाता है। वर्णादि को जब तक अपना मानता था, तब तक मिथ्यात्व था और तव तक अनन्त-अनन्त भव में भटकने की इसमें शक्ति (योग्यता) थी; परन्तु ज्यों ही अचेतन—पुद्गलमय रंग-राग-भेद के भावों से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप अभेद एक आत्मा की दृष्टि होती है, उसीसमय संसार का अभाव हो जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है। अहाहा ! अन्दर वस्तु के स्वरूप में रंग-राग-भेद का त्याग एवं शुद्ध चैतन्य का ग्रहण है—इसकी जिसको खबर नहीं है और व्यवहार से त्याग करके, क्रियाकाण्ड करके—वह अपने को त्यागी माने तो भले माने; परन्तु वे सब निरर्थक हैं, उनकी कोई कीमत नहीं है।

प्रश्न :— ये पुरुषार्थ तो करते हैं ?

उत्तर :— भाई ! अन्तर अभेदस्वरूप में रहना ही पुरुषार्थ है। यदि अभेदवस्तु दृष्टि में आई है तो उसी में विशेषरूप से लीन होना ही चारित्र है, किन्तु सम्यग्दर्शन व उसका विषय क्या है ? इसकी खबर बिना चारित्र कहाँ से आयेगा ? प्रभु ! अन्दर ज्ञानप्रकाश का पूर जलहल चैतन्यज्योतिस्वरूप ध्रुव अभेद आत्मा की दृष्टि करने पर रंग-राग-भेदादि सब भिन्न प्रतिभासित होने लगते हैं। सम्यग्दर्शन की पर्याय में ये भेद नहीं आते, इसमें तो अभेद आत्मा आता है, यद्यपि उनका ज्ञान होता है, तथापि रंग-राग-भेद का आत्मा में प्रवेश नहीं होता। प्रभु ! यही पुरुषार्थ है।

वाहर का (पर का) त्याग-ग्रहण तो आत्मा के स्वरूप में है ही नहीं, विकार का त्याग-ग्रहण भी स्वभाव में नहीं है; क्योंकि स्वरूप में विकार है ही कहाँ ? जहाँ दृष्टि स्वरूप में स्थिर होती है तो विकार उत्पन्न ही नहीं होता, तब 'विकार का त्याग किया'—ऐसा कहने में आता है। यह बात इसी शास्त्र की गाथा ३४ में भी आ गई है। ज्ञायकस्वभाव में विकार है ही नहीं, अतः विकार को त्याग करने की बात ही कहाँ रही ? वर्तमान पर्याय में विकार है, किन्तु जैसे ही ज्ञायकभाव पर दृष्टि की स्थिरता हुई, वैसे ही निर्मल परिणमन हुआ व राग उत्पन्न ही नहीं हुआ; तव राग का त्याग किया—ऐसा कहने में आता है। अहो ! समयसार की एक-एक पंक्ति अलौकिक है। यहाँ कहते हैं कि जैसे रंग-राग-भेद

के भावों का पुद्गल के साथ तादात्म्य है; इसीप्रकार जीव के साथ भी यदि तादात्म्य मानोगे तो पुद्गलद्रव्य ही जीव हो जाएगा, चैतन्यलक्षण से लक्षित जीव उनसे भिन्न नहीं रहेगा।

आत्मपदार्थ सर्वोत्कृष्ट चैतन्य महाप्रभु है। तीनलोक में सारभूत सर्वोत्कृष्ट वस्तु ही तू है। ऐसे आत्मपदार्थ में अचेतन – पुद्गलमय रंग-राग-भेद को एकत्वपने स्थापित करेंगे तो आत्मा ही रूपी – अचेतन हो जाएगा, फिर मोक्षदशा में भी जीव पुद्गलपने ही रहेगा। जिससे जिसका तादात्म्य है, उससे वह कभी भी भिन्न नहीं पड़ता। इसकारण संसार-अवस्था में भी जीव का रागादि के साथ तादात्म्य होने से जीव पुद्गलमय हुआ; इसप्रकार मोक्षदशा में भी जीव पुद्गलमय ही रहेगा। संसार-अवस्था में रूपित्व या पुद्गल का जो लक्षण है, वह यदि जीव में तादात्म्यपने से आ जावे तो मोक्ष होने पर भी यह लक्षण ही रहेगा।

भाई ! रंग-राग-भेद से तो पुद्गल को ही तन्मयपना है। यदि संसार-अवस्था में आत्मा को इससे तन्मयपना मानेंगे तो आत्मा रूपी – पुद्गल ही ही जायेगा, फिर संसार-अवस्था से पलटकर जब मोक्ष होगा तो किसका मोक्ष होगा ? पुद्गल का ही मोक्ष होगा अर्थात् मोक्ष में पुद्गल ही रहेगा, जीव नहीं रहेगा। एक अवस्था में यदि रंग-राग-भेद जीव से तन्मय हो तो दूसरी अवस्था में भी वे जीव से तन्मय अर्थात् एकमेक ही रहेंगे। अतः जब संसार-अवस्था में जीव पुद्गल से तन्मय है तो मोक्ष-अवस्था में भी पुद्गल से तन्मय ही रहेगा अर्थात् पूद्गल का ही मोक्ष होगा। अहो ! दिगम्बर सन्तों ने गजब वस्तुस्वरूप बताया है।

लोग तो बस ! बाहर से त्याग करो, पंचमहाव्रत पालो तथा भगवान की भक्ति आदि करो, इससे धर्म हो जायेगा – ऐसा मानते हैं। ऐसे लोग शुभभाव से ही निर्जरा होना मानते हैं; परन्तु भाई ! शुभभाव को तो यहाँ रूपी – अचेतन – पुद्गल के परिणाममय कहा है, इससे निर्जरा कैसे हो सकती है ? आचार्य कहते हैं कि इस टीका करने का जो शुभविकल्प आया है, वह भी मेरा नहीं है; क्योंकि वह पुद्गल के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध रखता है, मेरे साथ नहीं। अहाहा ! टीका के शब्दों की जो क्रिया है, वह तो मेरी है ही नहीं; किन्तु इसके बनाने का यह जो विकल्प आया है, वह भी पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है; इसकारण वह भी मेरा नहीं है – ऐसा कहते हैं। मैं तो सिर्फ उससे भिन्न रहकर, उसे जाननेवाला हूँ। अहाहा ! मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय आदि पर्याय में जो भेद पड़ते हैं, उनका भी मात्र

ज्ञाता हूँ। ये भेद मेरी चीज में नहीं हैं। निमित्त, राग व भेद को मैं जाननेवाला हूँ, किन्तु जिनको मैं जानता हूँ, उन निमित्तरूप या भेदरूप मैं नहीं हूँ। अहो! भेदज्ञान की क्या अद्भुत व अलौकिक कला आचार्यों ने बताई है। इस भेदविज्ञान के बल से रंग-राग-भेद से भिन्न पड़कर अपने शुद्ध-ज्ञायकभाव को दृष्टि में लेकर, उसी में एकाग्र होने पर, संवर-निर्जरा होती है और यही शुद्धरत्नत्रय धर्म है।

यहाँ कहते हैं कि रंग-राग-भेद के भाव संसारदशा में आत्मा के हैं – ऐसा यदि तू मानेगा तो इनसे भिन्न अन्य कोई जीव रहेगा ही नहीं और मोक्ष-अवस्था में भी पुद्गलद्रव्य ही जीव ठहरेगा, क्योंकि सदैव अपने लक्षण से लक्षित द्रव्य सभी अवस्थाओं में हानि को प्राप्त न होने से अनादि-अनन्त हैं। भगवान आत्मा ज्ञायकमात्र शुद्ध चैतन्यरसकन्द है। उसके साथ रंग-राग-भेद के भावों का तादात्म्य है – ऐसा यदि तू मानेगा तो आत्मद्रव्य रंग-राग-भेद के लक्षण से लक्षित होगा और वह लक्षण कभी भी हानि को प्राप्त नहीं होता है। इसकारण आत्मा इनसे कभी भी पृथक् नहीं होगा अर्थात् आत्मा आत्मापने नहीं रहेगा और आत्मा का अवश्य ही अभाव हो जायेगा। अहो! टीका में आचार्यदेव अमृतचन्द्रस्वामी ने अकेला अमत वर्षाया है, जिससे अमरत्व की सिद्धि हो।

गाथा ६३-६४ के भावार्थ पर प्रवचन

यह जीव-अजीव अधिकार है। जीव किसे कहते हैं, इसकी यह बात है। जीव तो अनन्त-अनन्त गुणों का अभेद शुद्ध चैतन्यमात्र पिण्ड है; रंग, राग व भेद के सभी भाव इसमें नहीं हैं। 'रंग' में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, कर्म वगैरह सब आ जाते हैं। 'राग' में शुभाशुभभाव, अध्यवसानादि भाव आ जाते हैं तथा 'भेद' में जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, लब्धिस्थान इत्यादि आ जाते हैं। जीव उसे कहते हैं कि जो इन सभी रंग, राग व भेद के भावों से निराला त्रिकाली ध्रुव चैतन्यरूप है। जो ऐसा मानता कि संसारावस्था में जीव का रंग-राग-भेद के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है तो जीव मूर्तिक हो जायगा, क्योंकि रंग-राग-भेद के भाव सभी मर्तिक हैं तथा मूर्तिकपना तो पुद्गल का ही लक्षण है। इसकारण जीव व पुद्गल एक हो जायेंगे। भाई! बहुत सूक्ष्मबात है। ये दया, दान, व्रत, व्यवहाररत्नत्रयादि का राग तथा गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि भेद मूर्तिक – रूपी हैं, इनसे यदि जीव अभिन्न हो तो जीव मूर्तिक हो जायेगा, भेदादि से भिन्न कोई जीव नहीं रहेगा।

देखो, यह शास्त्रज्ञान परज्ञेय है, स्वज्ञेय नहीं है। इसे यहाँ मूर्तिक कहकर पुद्‌गलमय कहा है। जबकि भगवान आत्मा तो अखण्ड अभेद एक शुद्ध चिद्रूपवस्तु है, इसमें गुणभेद या पर्यायभेद भी नहीं है तो फिर रंग-राग की बात ही क्या करना ? एक ओर प्रवचनसार में ऐसा कहते हैं कि राग-द्वेषादि पर्यायें अपनी हैं, निश्चय से जीव की हैं, जीव में हैं और यहाँ उन्हें ही मूर्तिक पुद्‌गलमय कहते हैं। इसप्रकार प्रवचनसार में पर्याय को सिद्ध किया है। वहाँ ज्ञान के विषयरूप आत्मा की पर्याय में राग-द्वेषादि हैं, इसप्रकार पर्याय सिद्ध की है। जबकि यहाँ दृष्टि का विषय अभेदद्रव्य को सिद्ध करना है। भाई ! जहाँ जो अपेक्षा है, उसे यथार्थ समझना चाहिये।

मूर्तिकपना तो पुद्‌गल का ही लक्षण है, इसलिए यह लक्षण यदि जीव में आ जाय तो जीव चैतन्यमय द्रव्य नहीं रहेगा, किन्तु मूर्त पुद्‌गलमय हो जायगा और तब मोक्ष होने पर भी उस पुद्‌गल को ही मोक्ष होगा। रंग-राग-भेद के भाव जो आत्मा के हों तो उसके मूर्तिक होने से मोक्ष में भी वही मूर्त – पुद्‌गल रहेगा अर्थात् जीव का ही अभाव सिद्ध होगा।

आजकल कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि व्यवहारनय का विषय जो शुभराग है, उसका आचरण करने से आत्मा को लाभ होता है, क्योंकि गौतमस्वामी ने भी व्यवहार से कहा है न ? (अर्थात् भेद करके समझाया है न ?) यहाँ आचार्य कहते हैं कि हाँ, भेद करके समझाया अवश्य है, यह बात ठीक है; परन्तु इसका अर्थ यह कहाँ से हो गया कि व्यवहार के आश्रय से लाभ होता है, धर्म होता है ? व्यवहार से तो मात्र समझाया है, दूसरे किस रीति से समझाते; क्योंकि भेद करके समझाये बिना शिष्य की समझ में आता ही नहीं है, इसकारण भेद करके समझाया है; किन्तु भाई ! भेद त्रिकाली आत्मा की वस्तु नहीं है और वह आश्रय करने योग्य भी नहीं है। आत्मा के अभेद स्वभाव में भेद है ही नहीं, इसीकारण तो यहाँ भेद को पुद्‌गल में डाल दिया है। भाई ! जो शुभराग के आचरण से आत्मा का लाभ या धर्म होना मानते हैं, वे अपने जीव का ही अभाव करते हैं।

चैतन्यस्वभाव को पकड़ने में उपयोग बहुत सूक्ष्म होता है। शुभ उपयोग से तो नहीं, परन्तु जो मति-श्रुतज्ञान का उपयोग बहिर्मुखी है, पर को जानने में प्रवर्तता है; उससे भी आत्मा जानने में नहीं आता। यहाँ तो जो उपयोग स्वयं आत्मा को पकड़े, वह उपयोग सूक्ष्म है। रंग-राग-भेद से भिन्न जो अपनी शुद्ध चैतन्यमय वस्तु है; उसे जो पकड़े, वह उपयोग सूक्ष्म है। ऐसे सूक्ष्म उपयोग से जब वह अन्दर में जाता है, तब सम्यग्दर्शन होता है।

देह की क्रिया इन्द्रियों की क्रिया तथा वाणी की क्रिया जड़ है। ये जड़ क्रियायें आत्मा करता है – ऐसा मानने पर आत्मा जड़ हो जाता है। व्रत-भक्ति-पूजा इत्यादि का राग भी जड़ – अजीव है, मूर्त है, इसकारण राग यदि आत्मा का हो जाये तो आत्मा जड़-पुद्गल बन जायगा। इसीप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय में जो भेद पड़ते हैं, वे भेद भी जीवद्रव्य के स्वरूप नहीं हैं। यदि वे भेद भी जीवद्रव्य के स्वरूप हों तो त्रिकाली जीव में सदैव कायम रहें। 'सिद्धदशा में ये भेद नहीं हैं, तथापि संसार-अवस्था में ये भेदादि हैं' – ऐसा यदि कहोगे तो संसार-अवस्था में जीव पुद्गलमय हो जायेगा; फिर मोक्ष होने पर भी जीव पुद्गल ही रहेगा।

प्रश्न :– जिस आत्मा के यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान होने पर सम्यग्दर्शन होता है, वह आत्मा कैसा है ?

उत्तर :– आत्मा रंग-राग व भेद से भिन्न अभेद शुद्ध चैतन्यतत्त्व है तथा रंग, राग व भेद मूर्तिक – पुद्गल हैं। यहाँ शास्त्र का जो ज्ञान है, वह मूर्तिक – पुद्गल है। यदि यह स्व का ज्ञान होवे तो इसमें अतीन्द्रिय आनंद आना चाहिये, परन्तु शास्त्रज्ञान के साथ अतिन्द्रिय आनन्द तो आता नहीं है; इसलिए शास्त्रज्ञान पुद्गलमय है। इसीप्रकार देव-शास्त्र-गुरु व नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा, पंचमहाव्रत के भाव इत्यादि सर्व पुद्गलरूप हैं।

निश्चयस्तुति का स्वरूप कहते हुए ३१वीं गाथा में आया है कि जड़-इन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ तथा उनके विषय – भगवान की वाणी इत्यादि सब इन्द्रियाँ हैं, जड़ हैं। वाणी के निमित से जो ज्ञान अपनी पर्याय में होता है, वह भी इन्द्रिय है। इस परलक्ष्यी ज्ञान को यहाँ पुद्गलमय कहा है।

इसीप्रकार मार्गणास्थान में भी लगा लेना चाहिए। ज्ञानमार्गणा, दर्शनमार्गणा, संयममार्गणा, – इन मार्गणाओं की पर्यायों को शोधने पर वे पर्यायें हैं; तथापि जीव के चैतन्यस्वभाव में वे नहीं हैं, इसकारण वे सब पुद्गल के परिणाम हैं। ज्ञान के भेद तथा सम्यग्दर्शन के क्षायिक, उपशम आदि जो भेद हैं, उन भेदों का लक्ष्य करने पर तो राग ही उत्पन्न होता है, वे भेद वस्तु के चैतन्यस्वरूप में तो हैं नहीं, इसलिए उनको पुद्गल के परिणाममय कहा है। इसकारण रंग, राग व भेद आदि जीव नहीं हैं – ऐसा ही स्वीकार करो! सन्तों ने बहुत ही गंभीर व रहस्यमय बात की है, उसे धैर्य से समझना चाहिए।

एवमेतत् स्थितं यद्वर्णादयो भावा न जीव इति –

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इन्दिया जीवा ।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ।।६५।।

एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा उ करणभूदाहिं ।
पयडीहिं पोग्गलमइहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ।।६६।।

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवाः ।
बादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ।।६५।।

एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः ।
प्रकृतिभिः पुद्‌गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ।।६६।।

निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा, यथा कनकपत्रं कनकेन क्रियमाणं कनकमेव न त्वन्यत् तथा जीवस्थानानि

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि वर्णादिक भाव जीव नहीं हैं, अतः अब कहते हैं :–

जीव एक-दो-त्रय-चार-पंचेन्द्रिय, बादर-सूक्ष्म हैं ।
पर्याप्त-अनपर्याप्त जीव जु नामकर्म की प्रकृति हैं ।।६५।।

जो प्रकृति यह पुद्‌गलमयी, वह करणरूप बने अरे !
उससे रचित जीवस्थान जो हैं, जीव क्यों हि कहाय वे ।।६६।।

गाथार्थ :– [एकं वा] एकेन्द्रिय, [द्वे] द्वीन्द्रिय, [त्रीणि च] त्रीन्द्रिय, [चत्वारि च] चतुरिन्द्रिय और [पंचेन्द्रियाणि] पंचेन्द्रिय, [बादरपर्याप्तेतराः] बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त [जीवाः] जीव तथा ये [नामकर्मणः] नामकर्म की [प्रकृतयः] प्रकृतियाँ हैं; [एताभिः च] इन [प्रकृतिभिः] प्रकृतियों से [पुद्‌गलमयीभिः ताभिः] जो कि पुद्‌गलमयरूप से प्रसिद्ध हैं, उनके द्वारा [करणभूताभिः] करणस्वरूप होकर [निर्वृत्तानि] रचित [जीवस्थानानि] जो जीवस्थान (जीवसमास) हैं, वे [जीवः] जीव [कथं] कैसे [भण्यते] कहे जा सकते हैं ?

टीका :– निश्चयनय से कर्म और करण की अभिन्नता होने से, जो जिससे किया जाता है, (होता है,) वह वही है – यह समझकर (निश्चय

बादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभिः पुद्गलमयीभिः नामकर्मप्रकृतिभिः क्रियमाणानि पुद्गल एव, न तु जीवः। नामकर्मप्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीरादिमूर्तकार्यानुमेयं च। एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्गलमयनामकर्म प्रकृतिनिर्वृत्तत्वे सति तदव्यतिरेकाज्जीवस्थानैरेवोक्तानि। ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धान्तः।

करके) जैसे सुवर्ण-पत्र सुवर्ण से किया जाता होने से सुवर्ण ही है, अन्य कुछ नहीं है; इसीप्रकार जीवस्थान बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त नामक पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों से किये जाते होने से पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं। और नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्गलमयता तो आगम से प्रसिद्ध है तथा अनुमान से भी जानी जा सकती है; क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले शरीर आदि जो मूर्तिकभाव हैं, वे कर्मप्रकृतियों के कार्य हैं, इसलिये कर्मप्रकृतियाँ पुद्गलमय हैं – ऐसा अनुमान हो सकता है।

इसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्गलमय नामकर्म की प्रकृतियों के द्वारा रचित होने से पुद्गल से अभिन्न हैं; इसलिये मात्र जीवस्थानों को पुद्गलमय कहने पर इन सबको भी पुद्गलमय ही कथित समझना चाहिए।

इसलिये वर्णादिक जीव नहीं हैं – यह निश्चयनय का सिद्धान्त है।

गाथा ६५-६६ की उत्थानिका, गाथा एवं उनकी टीका पर प्रवचन

पूर्व गाथाओं के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि वर्णादिक भाव जीव नहीं हैं, वही बात अब इस गाथा में दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं।

प्रभु ! धर्म का समझना बहुत सूक्ष्म बात है। वैसे तो अनन्तकाल से अज्ञानदशा में यह जीव अनेक बार हजारों रानियों को छोड़कर नग्न दिगम्बर मुनि होकर जंगल में रहा, परन्तु चैतन्यस्वरूप अपने आत्मा का कभी भी भान नहीं किया। राग की क्रिया करते-करते आत्मा हाथ आ जायेगा, जड़ की क्रिया करते-करते चैतन्य की प्राप्ति होगी – ऐसा माना है। उससे यहाँ कहते हैं कि भाई ! निश्चयनय से कर्म व करण में अभिन्नपना है। सत्यार्थदृष्टि से कर्म (कार्य) एवं करण (कारण – साधन) – ये दोनों एक हैं, अभिन्न हैं। जो कार्य जिसके द्वारा होता है, वह वही होता है। इसी बात को अब समझाने के लिए दृष्टान्त देते हैं :–

स्वर्ण-पत्र स्वर्ण से बनता है, इसलिए वह स्वर्ण ही है, अन्य कुछ नहीं है। अहाहा ! दृष्टान्त भी समझने में कठिन पड़ता है। स्वर्ण वस्तु है, इसमें से स्वर्ण-पत्र बनता है। इस स्वर्ण-पत्ररूपी कार्य का करण – कारण सोना है, सुनार (स्वर्णकार) नहीं है; क्योंकि कारण व कार्य अभिन्न होते हैं। करण भिन्न हो व कार्य भिन्न हो – ऐसा नहीं होता।

यहाँ निमित्त की तो बात ही नहीं है, क्योंकि निमित्त का अर्थ साधन नहीं है। टीका में कहा है कि 'अन्य कुछ नहीं' इसका अर्थ ही यह है कि स्वर्ण-पत्र के रूप में परिणत सोना, सोना ही है। स्वर्ण-पत्र को स्वर्णकार ने नहीं किया है। स्वर्ण स्वयं करण है व स्वर्ण-पत्र उस स्वर्ण का कर्म है, क्योंकि कार्य व कारण – दोनों एक वस्तु में ही होते हैं।

प्रश्न :– तो क्या स्वर्णकार स्वर्ण-पत्र का कर्त्ता नहीं है ?

उत्तर :– नहीं, भाई ! यदि स्वर्ण-पत्र स्वर्णकार का कार्य हो तो उसका स्वर्णकार के साथ अभेद होना चाहिए, किन्तु वह स्वर्णकार के साथ अभेद नहीं है; इसलिए स्वर्णकार का कार्य तो नहीं है। वह स्वर्ण के साथ अभिन्न होने से स्वर्ण का ही कार्य है।

वीतराग परमेश्वर का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। आजकल तो यह बात सुनने को भी नहीं मिलती। तथा इसके बदले में धर्म के नाम पर यह करो, वह करो; ऐसा करो, वैसा करो – ऐसी राग करने की ही बात सभी जगह चलती है।

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि यात्रा करने का भाव, पूजा करने का भाव, दान देने का भाव, मन्दिर वगैरह बनवाने का भाव राग है और इस राग का कारण पुद्गल है। राग कार्य है व उसका कारण पुद्गल – जड़कर्म है। अहा ! चैतन्यमय जीव, कारण तथा राग, उसका कार्य – ऐसा हो ही नहीं सकता।

भाई ! तुझे खबर नहीं है कि तू कौन है ? और तेरा कार्य क्या है ? अहाहा ! तू निर्मलानन्द का नाथ अभेद एक चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा है। जो जानने-देखने का परिणाम होता है, वह तेरा कार्य है; अन्य कुछ भी तेरा कार्य नहीं है।

देखो ! यह अँगुली जो मुड़ती है, यह मुड़ना कार्य – पर्याय है और परमाणु इसका करण है; आत्मा इसका करण नहीं है। इसीप्रकार पुण्य-पाप के भाव कार्य हैं तथा पुद्गलकर्म उनका करण – साधन है। अरे ! जिसे आत्मा क्या है ? इसका भान नहीं है और जो पर में निजपना

मानकर खुश हो रहा है – वह भले ही करोड़पति या अरबपति हो; तथापि वह भिखारी है, दुःखी है। इस दुःख के वेदन से छूटना हो तो आत्मा को राग से भिन्न जानना चाहिए। पैसा तुम्हारा नहीं है, यह तो जड़ – अजीव है। तथा पुत्र, स्त्री, परिवार भी तुम्हारे कहाँ है? इनका आत्मा भी तुम से जुदा है और शरीर भी जुदा है। तुम्हारा व इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं कि कारण व कार्य दोनों एक होते हैं। जैसे स्वर्ण कारण है तथा स्वर्ण-पत्र उसका कार्य है। स्वर्ण-पत्र स्वर्ण का कार्य है, स्वर्णकार का नहीं। स्वर्ण के परमाणु में करण नाम का गुण है, इससे स्वर्ण-पत्ररूप कार्य होता है; स्वर्णकार व हथोड़ा आदि से नहीं।

इसीप्रकार एक-इन्द्रिय, दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय, पाँच-इन्द्रियपना, संज्ञी-असंज्ञीपना, बादर-सूक्ष्मपना, पर्याप्त-अपर्याप्तपना आदि कार्य सर्व पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों द्वारा किये जाते हैं। आठकर्मों में एक नामकर्म है। इस नामकर्म की ९३ प्रकृतियाँ हैं, उनमें एक ऐसी प्रकृति है कि जो पर्याप्त आदि को उत्पन्न करती है, परन्तु जीव को उत्पन्न नहीं करती। पंचास्तिकाय में आता है कि छहकाय जीव नहीं हैं; परन्तु इनमें जो ज्ञानमात्र स्वरूप है, वह जीव है। यहाँ कहते हैं कि छहकाय के शरीर की उत्पत्ति कार्य है तथा पुद्गल इनका करण है। पर्याप्त-अपर्याप्त आदि जीवस्थान के भेदों की उत्पत्तिरूप कार्य अपनी-अपनी पुद्गलप्रकृतिरूप करण से हुये हैं। यह बात बैठना जरा कठिन पड़ती है, परन्तु भाई! भगवान आत्मा तो ज्ञानघन चैतन्यबिम्ब प्रभु है, इसमें ये पर्याप्त – अपर्याप्त आदि भेद कहाँ से हों?

प्रश्न :– यह शरीर ठीक रहे तो धर्म हो सकता है। कहा भी है: – **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'।**

उत्तर :– नहीं, भाई! शरीर से धर्म नहीं होता। यह शरीर तो जड़-माटी-धूल है, अजीव है; इससे तेरा काम क्या हो सकता है? जड़ से चेतन में कोई काम नहीं होता। यहाँ यही तो कहा है कि जीव के जो पर्याप्त-अपर्याप्त, बादर-सूक्ष्म इत्यादि भेद पड़ते हैं, वे नामकर्म की प्रकृति के कारण पड़ते हैं तथा वह जड़कर्म का कार्य है, आत्मा का कार्य नहीं है। भाई! बात बहुत सूक्ष्म है, पर समझने लायक अवश्य है।

भगवान! तू कौन है तथा तेरे में क्या काम होता है – इसकी तुझे खबर नहीं है। बाहरी बड़प्पन के सामने आत्मा का बड़प्पन भासित नहीं होता। अनकल संयोग मिलने पर तुझे बाहर का बड़प्पन आ गया है, परन्तु

भाई ! इससे तू दुःखी होकर मर रहा है। सभी भेद व राग से भिन्न भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप महाप्रभु है, उसका महत्त्व तुझे क्यों नहीं आता ? भाई ! पर की महिमा मिटाकर अनन्त महिमावन्त निजस्वरूप की महिमा कर ! दया, दान, व्रत, तप, इत्यादि शुभभाव करके तू ऐसा मानने लगता है कि मैंने बहुत किया, इससे धर्म हो गया; जबकि इससे जरा भी धर्म नहीं होता। बापू ! जरा सुन ! ये पैसा, मकान आदि जड़ को रखनेवाला भी तू नहीं है। अरे ! पैसा रखने के जो पापभाव होते हैं, वे भी तू नहीं है। यह राग तेरा नहीं है और तू इस राग का नहीं है। यह पुद्गल का कार्य है और पुद्गल ही इसका कारण है।

अहाहा ! जैन परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि कारण व कार्य दोनों अभिन्न होते हैं। जिसप्रकार स्वर्ण कारण है और स्वर्ण से बना स्वर्ण-पत्र कार्य है, स्वर्ण-पत्र सुनार का कार्य नहीं है; उसीप्रकार राग पुद्गल का कार्य है, जीव का नहीं तथा राग का कारण भी पुद्गल है, चैतन्यमयजीव नहीं। यह बात जगत से सर्वथा जुदी है। सर्वज्ञप्रभु का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। भाई ! यहाँ सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि प्रभु ! तू सर्वज्ञस्वभावी आत्मा है। यह सर्वज्ञस्वभावी आत्मा मात्र जानने का ही कार्य करता है। चैतन्य का सर्वज्ञस्वभाव कारण है एवं वर्त्तमान जानने-देखने का भाव कार्य है। दया, दान, भक्ति आदि राग तो अजीव हैं, इसमें चैतन्य का अंश नहीं है; इसलिए यह पुद्गल का कार्य है, चैतन्यमय जीव का नहीं। परमात्मा ने जीव-अजीव का ऐसा ही स्वरूप कहा है।

भाई ! तू पर का कुछ भी नहीं कर सकता। तू तो मात्र ज्ञान का कर्त्ता है। 'यह राग का कार्य अपने चैतन्य का है' ऐसा जो मानता है – वह महामूढ़ है, अज्ञानी है और चार गति में भटकनेवाला है।

प्रश्न :– जगत का थोड़ा-बहुत भला करने की तो बात कहो ?

उत्तर :– भाई ! भला करना किसे कहते हैं ? यही खबर नहीं है। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि 'सर्वज्ञस्वभावी आत्मा में निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति (चारित्र) का जो वीतरागपरिणाम होता है, यही सच्ची भलाई है। इसे करने का मार्गदर्शन करना ही यथार्थ परोपकार या भला करना है। वीतरागस्वरूप, अकषायस्वरूप भगवान आत्मा है; उसकी पर्याय में जो अकषायी परिणाम होता है, वह आत्मा का कार्य है। आत्मा का भला होना – यह कार्य है और उसका कारण भी आत्मा स्वयं ही है, अन्य उसका कारण नहीं है। अज्ञानी जीव भक्ति आदि के जड़ – पुद्गलमय

भावों को अपना कार्य मानता है, परन्तु उसकी यह मान्यता मिथ्यादर्शन है और इससे वह अपना बुरा ही करता है।

आचार्यदेव ने कैसा सरस दृष्टान्त देकर बात की है। स्वर्ण कारण तथा उसका जो पत्र बना, वह उसका कार्य है। कारण अर्थात् स्वर्ण स्वतंत्र है, इसलिए स्वर्ण ही पलटकर या बदलकर स्वर्णपत्र बना है; स्वर्णकार बदलकर स्वर्णपत्र नहीं बना है। कारण व कार्य दोनों अभिन्न होते हैं। भाई ! वीतराग की वाणी लोगों को आश्चर्य में डालनेवाली है।

'मैं छहकाय की दया पाल सकता हूँ' – ऐसा माननेवाला अपने को कर्त्ता और जड़ के कार्य को अपना कर्म मानता है, अतः अज्ञानी है; किन्तु उस कार्य के काल में 'मैं भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ' – ऐसी जिसकी दृष्टि हुई, वह ज्ञानी कर्त्ता है और उस काल में जो जाननेरूप पर्याय हुई; वह उसका कार्य है, कर्म है। दया का भाव या जड़ की क्रिया, ज्ञानी का कार्य नहीं है। भाई ! वस्तु ही ऐसी है। इसमें पण्डिताई काम नहीं करती।

प्रश्न :– पैसों का दान तो दे सकते हैं न ?

उत्तर :– कौन दे ? भाई ! क्या तुझे खबर नहीं है कि कारण व कार्य भिन्न-भिन्न नहीं होते, एकमेक अभिन्न ही होते हैं। यह जो पैसे का क्षेत्रान्तर होता है, वहाँ जड़ – रजकण कारण हैं तथा जो क्षेत्रान्तर होनेरूप क्रिया है; वह रजकणों का कार्य है, आत्मा का कार्य नहीं।

प्रश्न :– रजकणों के क्षेत्रान्तर में आत्मा निमित्त तो है न ?

उत्तर :– निमित्त निमित्त में है, निमित्त से यह कार्य नहीं हुआ। निश्चयनय से अर्थात् सत्यदृष्टि से तो कर्म यानी कार्य तथा करण यानी कारण – दोनों एक अभिन्न ही होते हैं। अहा ! निमित्त कारण की तो यहाँ बात ही नहीं की, उसकी तो यहाँ उपेक्षा ही की है।

देखो, यह लकड़ी है न ? यह पुद्गल है और यह ऊँचा होना, इसका कार्य है। यह पुद्गल का कार्य है, परन्तु यह अंगुली लकड़ी को ऊँचा करने में निमित्त हुई, परन्तु अंगुलीरूप निमित्त का यह कार्य नहीं है। अंगुली तो जुदी वस्तु है। भाई ! यह सत्य गले उतरना जरा कठिन पड़ता है, क्योंकि सत्य कभी सुना ही नहीं है। भगवान की पूजा-भक्ति का भाव राग है और राग आत्मा का कर्म नहीं है। भाई ! तू कब समझेगा ? इसको समझे बिना अनादि से नरक व निगोद के भव धारण करके अनेक दुःख उठाये हैं, एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण किये हैं। भाई ! तुझे आत्मा के भान बिना ही ऐसे दुःख मिले हैं। यहाँ कहते हैं कि निश्चय

से जो भव व भव के भाव होते हैं, वे तेरे चैतन्यमय जीव के कार्य नहीं हैं। अब आगे कलश में भी यही कहेंगे कि इनमें तो पुद्गल ही नाचता है।

प्रश्न :– निमित्त तो मिलाना पड़ेगा न ?

उत्तर :– बापू ! निमित्त को भी कौन मिलाता है ? भाई तू तो चैतन्यसूर्य है न ? यह चैतन्यसूर्य जानने के सिवा और क्या करे ? जो-जो क्रिया होती है, उसे अपने में अर्थात् निज चैतन्यस्वभाव में रहकर जानता है। स्वभाव की ऐसी प्रतीति जो करता है, उसका संसार टिक ही नहीं सकता।

प्रश्न :– तो फिर हम धन्धा-व्यापार करें या नहीं ?

उत्तर :– अरे भाई ! तू करता ही कहाँ है ? तू तो अज्ञान से ऐसा मानता है कि 'मैं धन्धा-व्यापार कर सकता हूँ।' धन्धा-व्यापार या उस सम्बन्धी जो पापभाव भी होता है, वह आत्मा का कार्य नहीं है – तो 'उन्हें करना या नहीं करना ?' – यह प्रश्न ही कहाँ रहा ? अहो ! वीतराग परमेश्वर का मार्ग अलौकिक है।

जैसे स्वर्ण-पत्र स्वर्ण द्वारा किया जाने से स्वर्ण ही है, अन्य कुछ नहीं। उसीप्रकार ये सब जीवस्थान के भेद नामकर्म की प्रकृति द्वारा किये होने से पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं। भगवान आत्मा तो ज्ञायकस्वभावी चैतन्यमूर्ति प्रभु है, उसके आश्रय से होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप निर्मल परिणाम उसके कार्य हैं। अहा ! मोक्ष का मार्ग कार्य व भगवान आत्मा कारण है। उसीतरह व्यवहाररत्नत्रय का राग, कार्य व पुद्गल, उसका कारण है। जीव तो रत्नत्रय के राग का भी कारण नहीं है।

पर्याप्त, अपर्याप्त आदि जीव के जो भेद पड़ते हैं, उन सबका कारण नामकर्म की प्रकृति है। ये भेद नामकर्म के कार्य हैं, भगवान आत्मा के कार्य नहीं हैं। पर्याप्त आदि के छह भेद आत्मा के नहीं, किन्तु नामकर्म की प्रकृतियों के कार्य हैं। सम्यग्दृष्टि जीव माता के उदर में आता है, तब भी वह जानता (लब्धिरूप में) है कि ये पर्याप्ति बांधने का काम मेरा नहीं है, मेरा काम तो मात्र जानने का है।

आचार्य कहते हैं कि यह बात आगमप्रसिद्ध है अर्थात् सिद्धान्त में वीतरागदेव ने भी ऐसा ही कहा है। त्रिलोकीनाथ परमेश्वर ने दिव्य-ध्वनि में जो कहा है, उसी के आधार पर आगम व परमागम की रचना हुई है। सर्वज्ञदेव के कहे गये आगम में ऐसा कहा है कि नामकर्म के कारण पर्याप्त-अपर्याप्त आदि भेद हैं। तथा अनुमान से भी यह जाना जा सकता है। जड़ का कार्य जड़ के कारण है, क्योंकि प्रत्यक्ष देखने में

आते हुये शरीरादि भाव मूर्तिक हैं। तथा वे मूर्त – पुद्गलमय कर्मप्रकृतियों के कार्य हैं। जो मूत है, उसका कारण भी मूर्त ही होता है। यद्यपि यह बात कठिन पड़ती है, तथापि यदि यह मनुष्य पर्याय बिना समझे यों ही चली गयी और भेदज्ञान नहीं किया तो फिर पशु और मनुष्य में कुछ भी अन्तर नहीं रहेगा। ऐसी दुर्लभ मनुष्य पर्याय पाकर भी भव के अभाव की बात जाने बिना, भव के ही भाव किये तो जन्म-मरण होता ही रहेगा। अत: भाई! भेदज्ञान कर लेने में ही मनुष्यभव की सार्थकता है।

यहाँ आत्मा की व्याख्या चलती है। शुद्ध ज्ञानघन अभेद चैतन्यमय वस्तु ही आत्मा है। इस पर दृष्टि डालते ही इसका वास्तविकस्वरूप अनुभव में आ जाता है और जन्म-मरण मिट जाता है। यहाँ कहते हैं कि पर्याप्त-अपर्याप्त, एकेन्द्रियादि के जो भेद पड़ते हैं; वे सब नामकर्म की प्रकृतियों के कार्य हैं। उन कार्यों को जो अपनी आत्मा के मानता है, वह अजीव को जीव मानता है – यही परिभ्रमण का कारण है। जिसप्रकार पर्याप्त-अपर्याप्त आदि चौदह जीवस्थान नामकर्म के कार्य हैं; उसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान व संहनन भी पुद्गलमय नामकर्म की प्रकृतियों के कार्य हैं। पुद्गल से अभिन्न होने से जिसप्रकार जीवस्थानों को पुद्गल का कहा है, उसीप्रकार उपरोक्त सभी भाव पुद्गलमय हैं – ऐसा समझना। इसलिये 'वर्णादिक जीव नहीं हैं' – ऐसा निश्चयनय का सिद्धान्त है। अर्थात् पर्याप्त-अपर्याप्त आदि जो जीव की विकारी अशुद्धदशायें हैं, वे सब पुद्गल के कार्य हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा तो अनादि-अनन्त अखण्ड एकरूप शुद्ध चैतन्यमय ध्रुव वस्तु है। उसमें अन्तर्दृष्टि करके एकाग्र होने पर आत्मज्ञान होता है तथा जन्म-मरण मिटता है। आत्मा जन्म-मरण व जन्म-मरण के भाव से रहित त्रिकाली शुद्ध ज्ञानघन वस्तु है। इसमें दृष्टि करने पर परिपूर्ण आत्मा ज्ञात होता है और तब धर्म की शुरूआत होती है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(उपजाति)

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित् तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यंति रुक्मं न कथंचनासिम् ।।३८।।

श्लोकार्थ :– [**येन**] जिस वस्तु से [**अत्र यद् किंचित् निर्वर्त्यते**] जो भाव बनता है, [**ततः**] वह भाव [**तद् एव स्यात्**] वह वस्तु ही है; [**कथंचन**] किसी भी प्रकार [**अन्यत् न**] अन्य वस्तु नहीं है। [**इह**]

जैसे जगत में [रुक्मेण निर्वृत्तम् असिकोशं] स्वर्णनिर्मित म्यान को [रुक्मं पश्यन्ति] लोग स्वर्ण ही देखते हैं, (उसे) [कथंचन्] किसीप्रकार से [न असिम्] तलवार नहीं देखते।

भावार्थ :– वर्णादि पुद्गलरचित हैं; इसलिये पुद्गल हैं, जीव नहीं।'

कलश ३८ व उसके भावार्थ पर प्रवचन

जिस वस्तु से जो भाव बनता है; वह भाव भी वही वस्तु है, अन्य वस्तु नहीं है। अहाहा! जिसतरह स्वर्ण से निर्मित म्यान स्वर्ण ही है, तलवार नहीं है, उसीप्रकार पुद्गल से निर्मित राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव भी पुद्गल ही हैं, आत्मा नहीं। कहने में तो ऐसा आता है कि 'स्वर्ण की तलवार है', परन्तु तलवार तो लोहे की है, स्वर्ण की नहीं। स्वर्ण की तो म्यान है। उसीतरह भगवान आत्मा को शरीरवाला, पुण्यवाला, दया-दानवाला कहना भी स्वर्ण से निर्मित म्यान में रखी हुई तलवार को 'स्वर्ण की तलवार' कहने के समान है। जिसतरह स्वर्ण की तो म्यान है, तलवार स्वर्ण की नहीं है; उसीतरह पुण्य-पाप के भाव तो पुद्गल के हैं, आत्मा के नहीं। उन्हें आत्मा का मानना मिथ्यात्व है। भाई! दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के भावों को जो अपने मानता है, वह अजीव को जीव मानता है, क्योंकि ये भाव पुद्गलमय हैं, चैतन्यमय नहीं हैं।

रंग, राग तथा गुणस्थान, लब्धिस्थान आदि भेदों के भाव पुद्गल के साथ हुये हैं; इसलिए वे सब पुद्गल के हैं; चैतन्यमय जीव के नहीं। वे जीव के हैं – ऐसा माननेवाले भ्रम में हैं। तथा यही मान्यता संसार परिभ्रमण का पंथ है। दृष्टि का विषय तो अखण्ड अभेद, एकरूप विज्ञानघनस्वरूप ध्रुव चैतन्यमयवस्तु आत्मा है। उसे भेदवाला, रागवाला या संयोगवाला मानना – मिथ्यादर्शन है। धर्मी तो उसे कहते हैं जो रंग, राग व भेद के भावों को अपना वस्तु नहीं मानता। जिसने दया, दान आदि राग तथा भेदों से भिन्न – ऐसे पूर्णानंद के नाथ शुद्धात्मा को दृष्टि में लिया है, सम्यक्-प्रकार से देखा है तथा जाना है; वही धर्मी है। भावार्थ यह है कि शरीर मन, वाणी, इन्द्रिय, पुण्य-पाप इत्यादि सर्व वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्तभाव पुद्गल से निर्मित हैं।

अब इसी अर्थ का सूचक दूसरा कलश कहते हैं :–

(उपजाति)

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यत स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ।।३९।।

श्लोकार्थ :– अहो ज्ञानीजनो ! [**इदं वर्णादिसामग्रयम्**] ये वर्णादिक से लेकर गुणस्थानपर्यंत जो भाव हैं, उन सबको [**एकस्य पुद्गलस्य हि निर्माणम्**] एक पुद्गल की रचना [**विदन्तु**] जानो; [**ततः**] इसलिये [**इदं**] ये भाव [**पुद्गलः एव अस्तु**] पुद्गल ही हों, [**न आत्मा**] आत्मा न हों; [**यतः**] क्योंकि [**सः विज्ञानघनः**] आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञान का पुञ्ज है; [**ततः**] इसलिये [**अन्यः**] वह इन वर्णादिक भावों से अन्य है।

कलश ३६ पर प्रवचन

भगवान सर्वज्ञदेव कहते हैं कि अहो ज्ञानीजनो ! ये वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त सभी भावों को एक पुद्गल की ही रचना जानो ! जो कोई दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के शुभभावों को अपने कल्याण का कारण मानता है, वह अजीव को जीव के कल्याण का कारण मानता है; क्योंकि ये सभी शुभभाव पुद्गलमय हैं। अज्ञानियों ने अजीव को जीव का कार्य माना है; इसकारण उन्होंने जीव का स्वरूप अजीवमय ही माना है, क्योंकि कारण व कार्य अभिन्न होते हैं।

पिछली गाथा में आ गया है कि मार्ग में चलता हुआ संघ थोड़ी देर मार्ग में ठहरा हो, रुका हो और लुट जावे तो लुटता तो है संघ, परन्तु कहा जाता है कि मार्ग लुटता है। उसीप्रकार भगवान आत्मा अनादि-अनन्त ध्रुव चैतन्यमूर्ति एकरूप अभेद है, उसमें एकसमय के दया-दान-व्रतादि के राग का तथा गुणस्थान आदि भेदों का आधार देखकर उन्हें व्यवहार से जीव का कहा जाता है, परन्तु ये सब वास्तव में जीवस्वरूप हैं – ऐसा मानना मिथ्यात्व है।

प्रश्न :– रागादि को स्वभाव कहा है न ?

उत्तर :– पर्याय में ये रागादि व भेद हैं, होते हैं। ये पर्यायस्वभाव हैं, इसलिए इन्हें स्वभाव कहा है; ये विभावस्वभावरूप पर के कारण उत्पन्न हुई दशायें हैं। वास्तव में ये जीव के कलंक हैं।

यहाँ तो जीव किसे कहते हैं – यह बात चलती है। अहाहा ! चैतन्यघन त्रिकाली ध्रुव वस्तु को जीव कहते हैं। ये जो रागादि के भेद हैं, वे इसकी पर्याय में हैं; तथापि आत्मभूत नहीं हैं, आत्मा नहीं हैं। रंग, राग तथा गुणस्थानादि भेद के जो भाव निकल जाते हैं, वे आत्मा कैसे हो सकते हैं ? पुद्गल के साथ हुये ये सभी भाव पुद्गल ही हैं। भाई ! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

जो भगवान की भक्ति-पूजा करें, बाहर से व्रतादि का पालन करें, जीवों की दया पालें, उन्हें जगत-जन धर्मात्मा मानते हैं; परन्तु बापू ! धर्म जुदी वस्तु है। धर्म तो वीतरागभाव है। रागादिकभाव वीतराग का मार्ग नहीं है। 'पर की दया पालता हूँ' – ऐसी मान्यता ही मिथ्यात्व है। जो दया का शुभभाव आया, वह जीव का स्वभाव नहीं है; किन्तु वह पुद्गल का रचा हुआ भाव है – ऐसा यहाँ कहा जा रहा है। ये दया आदि के भाव रागभाव हैं और रागभाव निश्चय से हिंसा है। शुद्ध चैतन्यमय त्रिकाली ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा के लक्ष्य से उत्पन्न शान्ति व वीतरागता की उत्पत्ति और राग की अनुत्पत्ति ही सच्ची दया है। पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय (श्लोक ४४) में आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने कहा है कि राग चाहे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का हो या व्रतादि पालन का हो, हिंसा ही है; क्योंकि रागमात्र को हिंसा में समाविष्ट किया है। यहाँ उस राग को पुद्गल का कार्य कहा है। आत्मा का कार्य तो ज्ञान है, आनन्द है।

जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है, यहाँ पर तो यह सिद्ध करना है। आगे कर्त्ता-कर्म अधिकार है, इसकारण ऐसा लगता है कि मानो आचार्य ने उसका उपोद्घात यहाँ से प्रारम्भ किया है। कारण व कार्य दोनों अभिन्न होते हैं। पुद्गल कारण है तथा उस पुद्गल के कार्य भेद व रागादि हैं। उसीप्रकार भगवान आत्मा कारण है तथा ज्ञाता-दृष्टापने का परिणाम, आनन्द का परिणाम उसका कार्य है। राग आत्मा का कर्म नहीं है, यह पुद्गल का कर्म है। अहाहा ! जिसने सारी जिन्दगी व्रतादि पालन करने में धर्म मानकर गँवा दी हो, उसे यह बात सुनकर पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर लगता है; परन्तु प्रभु ! जो बात भगवान जिनेश्वरदेव द्वारा समवशरण (धर्मसभा) में कही गई है, वही यह बात है। जो लोग व्रत पालने को, झूठ नहीं बोलने को, ब्रह्मचर्य आदि पालन करने को ही अपना सर्वस्व समझ बैठे हैं – उनसे यहाँ कहते हैं कि प्रभु ! सुन तो सही, ये सब पंचमहाव्रत की वृत्तियाँ राग हैं, आस्रव हैं तथा पुद्गल के कार्य हैं, ये चिदानंदस्वरूप भगवान आत्मा के कार्य नहीं हैं। भाई ! तुझे सुख के मार्ग में, धर्म के मार्ग में जाना हो तो चैतन्यमात्र पूर्णानन्दघनस्वरूप वस्तु अन्दर में है, उसी में एकाग्र हो जा ! भेद, राग व निमित्त का लक्ष्य छोड़ दे !

भाई ! दया-दान-व्रत-तप आदि के राग में धर्म मानकर तू सन्तुष्ट हुआ है, परन्तु यह तेरा मिथ्या अभिप्राय है। भगवन् ! तू भूल में भरमा गया है। यह राग – विकल्प की वृत्ति का जो उत्थान है, वह चैतन्य के घर की वस्तु नहीं है। प्रभु ! तेरे चैतन्यघर में राग की वृत्ति उठने की कोई

शक्ति ही नहीं है। आत्मा अनन्त शक्तियों का संग्रहालय एवं अनन्त गुणों का गोदाम है। इसमें ऐसी कोई शक्ति या गुण नहीं है, जो विकार को – राग को उत्पन्न करे। अहाहा! चिदानन्दघनस्वरूप वस्तु में तो गुणों की एकरूप निर्मल धारा बहती है, परन्तु राग की धारा बहने का कोई गुण (शक्ति) आत्मा में नहीं है। अहाहा! आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीतरागता, अनन्त स्वच्छता जैसी अनन्त पूर्ण-शक्तियों का संग्रहालय है। इससे पुण्य-पाप का उद्भव या उत्थान कहाँ से हो? पुण्य-पाप उत्पन्न हो – ऐसा आत्मा का स्वरूप ही नहीं है।

कोई अज्ञानी ऐसा कहे कि हमारा तो भक्ति से ही कल्याण हो जायेगा, सच्चे देव व गुरु की समर्पणभाव से की गई भक्ति ही हमें तार देगी; परन्तु भाई कौन गुरु? तेरा गुरु तो तू ही है। तुझे तेरी समझ से ही आत्मज्ञान होगा, इसलिए तू ही तेरा गुरु है। अहाहा! आत्मा स्वयं ही स्वयं का देव है। वह स्वयं ही तीर्थ व स्वयं ही तीर्थधाम है। शेष सब व्यवहार की बातें हैं। ये बाह्य देव-गुरु-तीर्थ तो मात्र पुण्य के कारण (निमित्त) हैं। अहाहा! भगवान त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेव गणधर, इन्द्र, करोड़ों देवों तथा राजेन्द्रों की सभा में जो बात करते थे, वही यह बात है। भाई! सुन तो सही! यह आत्मा क्या चीज है! इसको सुने बिना सच्ची समझ कहाँ से आयेगी? तेरा लक्ष्य वहाँ कैसे जायेगा? शास्त्र भी आत्मा का लक्ष्य कराने के लिए कहे गये हैं। गुरु तथा देव भी एक आत्मा का ही लक्ष्य कराते हैं।

भाई! अन्दर में तू अनन्त गुणों का भण्डार पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है न? परन्तु यह बात बैठे कैसे? क्योंकि अनादिकाल से एकसमय की पर्याय पर ही दृष्टि पड़ी है, एकसमय की दशा को ही अपना स्वरूप मानता रहा है; किन्तु यह पर्याय तेरा स्वरूप नहीं है, पर्याय आत्मा नहीं है। व्यवहारनय भले ही पर्याय को आत्मा कहे, किन्तु निश्चय से भगवान आत्मा पूर्ण चैतन्यघन, अकेला आनन्द का दल, अनाकुल शान्ति का रस-कन्द, त्रिकाल ध्रुवरूप है। अनादि-अनन्त ध्रुव चैतन्यपने रहनेवाले तत्त्व को भगवान आत्मा कहते हैं – इसकी दृष्टि करना सम्यग्दर्शन है। भाई! इसकी दृष्टि करने के लिए तुझे निमित्त से, राग से तथा भेद के भावों से दृष्टि उठानी पड़ेगी। अन्दर में एकमात्र अखण्ड अभेद एकरूप चैतन्यमूर्ति चिदाकार भगवान की दृष्टि करना ही सम्यग्दर्शन है। धर्म की शुरूआत भी यहीं से (सम्यग्दर्शन से) होती है। भाई! चारित्र तो बहुत दूर की बात है। जब अभेद चिदानन्दमय वस्तु प्रतीति में आई – पश्चात उसी में रमना,

ठहरना, स्थिर हो जाना – चारित्र है। देह की क्रिया चारित्र नहीं है – ये सब तो पुद्गल के कार्य हैं और पुद्गल ही इनका कारण है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव परमात्मा श्री सीमंधर भगवान वर्त्तमान में महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं, उनकी एक करोड़ पूर्व की आयु है और ५०० धनुष की देह है। वे लाखों जीवों की धर्मसभा में आज भी उपदेश दे रहे हैं। संवत् ४९ में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ गये थे और आठ दिन रहकर भगवान की दिव्यध्वनि सुनी थी। वे ज्ञानी, धर्मी तथा निर्मल-चारित्रवन्त थे। उन्हें अपनी पात्रता के कारण श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र में विशेष निर्मलता हुई थी। उन्होंने यह शास्त्र बनाया है। भाई! सनातन वीतराग का पंथ यही है, बाकी सब तो बाड़े (पृथक्-पृथक् मत) बना-बनाकर बैठे हैं और अपनी मान्यता में जो आया, उसे धर्म मान रहे हैं; किन्तु वह वास्तविक धर्म नहीं है। भाई! बात कड़क है, पर क्या करें?

यहाँ कहते हैं कि वर्णादिक से लेकर गुणस्थानपर्यन्त सभी भाव तथा चौथे, पाँचवें आदि तेरहवें गुणस्थान तक सभी भेद, पुद्गल के कारण हैं। अहाहा! भगवान आत्मा अनन्त गुणों का धाम अनादि-अनन्त स्वसंवेद्य अविचल प्रभु है। वह अतीन्द्रिय आनन्द व ज्ञान के वेदन से जाना जा सकता है, भेद या राग के आश्रय से नहीं जाना जा सकता। मूलवस्तु अभेद चैतन्यमय नित्यानन्द प्रभु है, उसकी दृष्टि हुए बिना किसी को भी तीन काल में सम्यग्दर्शन नहीं होता। तथा जिसको सम्यग्दर्शन नहीं है, उसको सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र भी नहीं होता है। बिना सम्यग्दर्शन के जितना भी व्रत-तपादि का शुभरागरूप क्रियाकाण्ड होता है, वह सब व्यर्थ है, एक के बिना शून्य (बिना एकड़े बिन्दी) जैसा है। जैसे वर बिना बारात नहीं कहलाती; उसीप्रकार त्रिकाली सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन बिना व्रत-तप-दान-भक्ति आदि के शुभ-भाव चारित्र (व्यवहारचारित्र) नाम भी नहीं पाते। भाई! करोड़ों रुपया दान में देकर भी मन्दिर बनवावें, प्रतिष्ठा करवावें तथा भगवान की पूजा-भक्ति करें; परन्तु ये सभी शुभभाव भी राग हैं, चारित्र नहीं हैं। यहाँ तो इन सबको पुद्गल का कार्य कहा जा रहा है।

भगवान! एक बार सुन तो सही! भेद में व राग में तेरी आत्मा की महिमा नहीं है। भगवान की भक्ति-पूजा के भाव में तेरी महिमा नहीं है। 'मैं भगवान का बड़ा भगत व पुजारी हूँ' – ऐसा मानकर तू अपने को महिमावन्त समझता है; परन्तु भाई! इससे तेरे अन्दर विराजमान आनंद

के नाथ भगवान आत्मा की महिमा मिट जाती है, यह तो देख ! भाई, बात बहुत सूक्ष्म है। अनन्तकाल में ८४ के अवतार करते-करते आज तक यह बात नहीं समझा। अनन्त बार कौऐ व कुत्ते के भव धारण किये। तथा मनुष्य होकर कभी-कभी बाहर से साधु भी हुआ, परन्तु अन्दर राग की क्रिया से ही धर्म मानता रहा; इसकारण दृष्टि मिथ्या ही रही और उसके फल में नरक-निगोद के ही भव प्राप्त किये। भाई ! इस राग व भेद के भावों से चिदानन्द भगवान हाथ नहीं आता। ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त २९ बोलों द्वारा कहे गये सभी भाव एक पुद्गल की ही रचना है, आत्मा की नहीं – ऐसा आचार्यों ने फरमाया है।

प्रश्न :– क्या इस कथन में एकान्त नहीं होता ? पंचास्तिकाय की गाथा ६२ में तो ऐसा आता है कि राग अपने से ही होता है तथा श्री जयसेनाचार्य की टीका में ऐसा लिखा है कि जीव में अशुद्ध-उपादान व निमित्तरूप में कर्म – इसप्रकार दो कारणों से राग होता है।

उत्तर :– पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में तो राग की पर्याय का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध किया है। राग जीव की पर्याय में होता है, इसप्रकार वहाँ पर्याय के अस्तित्व का ज्ञान कराया है। तथा श्री जयसेनाचार्य की टीका में जो कथन है, वहाँ निमित्त व उपादान – दोनों का ज्ञान कराने के लिए प्रमाण की अपेक्षा कथन किया है। जिनवाणी में अनेक अपेक्षायें हैं। यहाँ तो स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से इन दोनों ही बातों को बाजू में रखकर, अत्यन्त गौण करके वर्णादिभावों को पुद्गल का कहा है।

ज्ञानी कर्त्तानय की अपेक्षा से ऐसा जानता है कि जो राग का परिणमन है, वह मुझ में है व मेरे कारण से है। ज्ञानी तो ऐसा जानता है कि मेरी पर्याय का इतना अस्तित्व है, परन्तु यह त्रिकाली द्रव्य का कार्य या स्वरूप नहीं है। अहाहा ! एक ओर आत्मा राग का अकर्त्ता है – ऐसा कहते हैं तथा दूसरी ओर यह कहते हैं कि जो पर्याय में रागरूप परिणमन है, वह अपना है; ऐसा ज्ञानी – समकिति जानता है। कैसी विचित्र बात है ? प्रभु ! यहाँ तो यह कहते हैं कि वह पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है, इसलिए पुद्गल से ही बना हुआ है। भाई ! जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो, वहाँ उसी अपेक्षा से समझ लेना चाहिए। अपेक्षा को न समझे और एकान्त पकड़कर बैठ जावे तो सत्य हाथ नहीं आयेगा।

प्रश्न :– रागादिभाव पुद्गल के कार्य हैं – इससे तो यह सिद्ध हुआ कि निमित्त से कार्य होता है। उपादान से कार्य होता है – यह कहाँ आया ?

उत्तर :– अरे, किस अपेक्षा कहा है – यह तो समझो ! निमित्त के आश्रय से राग होता है, इसलिए उसका कहा है। ऐसा कहकर यह कहा है कि राग को पुद्गल की ही रचना जानो ! यह पुद्गल का कार्य है, आत्मा का नहीं – यहाँ यह अपेक्षा बतानी इष्ट है। आत्मा तो चैतन्य का पिण्ड है, उसमें से राग की रचना कैसे हो ? भाई ! यह मनुष्य देह चली जायेगी तो फिर न मालूम कब मिलेगी ? यदि यह बात नहीं समझी तो रखड़ने के रास्ते पर जाना पड़ेगा। वहाँ किसी की सिफारिश नहीं चलेगी।

यहाँ कहते हैं कि ये वर्णादि सभी भाव पुद्गल के ही हैं, इन्हें पुद्गल की ही रचना जानो ! यह कथन किस अपेक्षा से किया है ? ऐसा **प्रश्न** होने पर आचार्य **उत्तर** देते हैं कि राग की रचना तो पर्याय में अपने विपरीत पुरुषार्थ से होती है; इसलिए राग का परिणमन स्वयं जीव का है, उसमें कर्म निमित्त है। कर्म निमित्त है अवश्य, किन्तु निमित्त से राग नहीं हुआ – यह भी एक सिद्धान्त है; किन्तु यहाँ दूसरे सिद्धान्त की अपेक्षा से कहा है कि राग का कर्त्ता आत्मा नहीं है। आत्मा में अकर्त्ता नाम का एक गुण है, इसकारण राग करने का उसका स्वभाव ही नहीं है; इसलिए राग की रचना पुद्गलद्रव्य से होती है – ऐसा कहा है। पुद्गल कारण है तथा राग उसका कार्य है, क्योंकि वे दोनों अभिन्न हैं। यहाँ वस्तु के स्वभाव अर्थात् चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि कराना है। जब वस्तु चैतन्यपिण्ड अकषायस्वभाव का रसकन्द है तो फिर वह कषाय के भाव को कैसे करे ? अकषायस्वरूप में कषायभावों का होना संभव ही नहीं है, इसलिए रागादि पुद्गल की रचना हैं। तू पुद्गल की दृष्टि छोड़ दे ! अहाहा ! कहते हैं कि पर्यायबुद्धि का त्याग कर ! त्रिकाली वस्तुस्वभाव की दृष्टि कर ! भाई, यह वाद-विवाद से पार पड़नेवाली वस्तु नहीं है, 'जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ-वहाँ वह-वह समझना चाहिए।'

यह जीव-अजीव अधिकार चलता है। यहाँ जीव उसे कहा है कि जो अखण्ड अभेद एकरूप चैतन्यघनस्वरूप है। इस चैतन्यघनस्वरूप आत्मा की दृष्टि करने से ही सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म का प्रथम सोपान प्रगट होता है। ऐसे शुद्ध जीव की दृष्टि कराने के लिए यहाँ रंग, राग व भेद के भावों को पुद्गल की ही रचना है – ऐसा कहा है। यहाँ तो आत्मद्रव्य का पूर्णस्वभाव बताना है; परन्तु जब पर्याय की बात हो, तब पर्याय में जीव स्वयं राग करता है और पुद्गल तो इसमें निमित्तमात्र है – ऐसा कहने में आता है। निमित्त से राग होता है – ऐसा नहीं है। विकार के परिणमन में परकारक की भी अपेक्षा नहीं है। इसप्रकार पंचास्तिकाय में पर्याय

की अस्ति सिद्ध की है तथा जब राग होता है, तब निमित्त भी होता ही है – ऐसा प्रमाणज्ञान कराने के लिए राग स्वयं से होता है – ऐसा निश्चय का ज्ञान रखकर 'राग निमित्त से हुआ है' – ऐसा निमित्त का ज्ञान कराया जाता है। निश्चय को उड़ाकर निमित्त का ज्ञान नहीं कराया जाता। भाई ! यहाँ तो प्रमाण व व्यवहार – दोनों को गौण किया है। भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य है, इस चैतन्यसूर्य का प्रकाश चैतन्यमय ही होता है, इसमें राग का अन्धकार कहाँ से हो ? यह तो अचेतन – पुद्गल का ही कार्य है। भाई ! मुक्तिमार्ग समझना धीरों एवं शूरवीरों का काम है :–

'हरि का मार्ग है शूरवीर का, नहिं कायर का काम'

प्रश्न :– यदि अकेले पुद्गल से ही रागादिक होते हैं, तो 'निमित्त से कुछ नहीं होता' – यह सिद्धान्त कहाँ रहा ?

उत्तर :– भाई ! तू अपेक्षा को समझता ही नहीं है। 'निमित्त से कुछ नहीं होता' – यह बात तो पर्याय का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करने के लिये है।

अहो धर्मीजीवो ! वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भेदों को एक पुद्गल की ही रचना जानो ! आत्मा तो निर्मल अतीन्द्रिय आनन्द व ज्ञान की रचना करता है। जो रागादि द्रव्य के स्वभाव में हैं ही नहीं; उनकी रचना जीव कहाँ से करें ? आत्मा के द्रव्यस्वभाव में रागादि नहीं हैं।

प्रश्न :– निमित्तवादी ऐसा कहते हैं कि कार्य निमित्त से होता है। उपादानवादी ऐसा कहते हैं कि कार्य उपादान से होता है, निमित्त का वहाँ कुछ काम ही नहीं है, निमित्त का कभी दाव आता ही नहीं है; किन्तु इस कलश में निमित्त का दाव आया कि नहीं ?

उत्तर :– भाई ! किस अपेक्षा से कहा है ? – इस बात को समझना चाहिए। पर्याय में तो निमित्त का दाव आता ही नहीं है। राग की जो पर्याय होती है, वह तो स्वयं की स्वयं से ही होती है। निमित्त हो भले, परन्तु निमित्त से कार्य होता नहीं है। यहाँ तो वस्तु के स्वभाव की दृष्टि कराना है न ? त्रिकालीस्वभाव तो विकार व भेद की रचना नहीं करता। भेद व राग की उत्पत्ति पुद्गल के आश्रय से होती है, इसलिए राग व भेद का कारण पुद्गलद्रव्य ही है; ऐसा जानो ! – यह कहा है। अरे ! भगवान त्रिलोकीनाथ केवली प्रभु का तो विरह पड़ा है। केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और अवधिज्ञान तो रहा नहीं और यह विवाद खड़ा हो गया है। जैसे लक्ष्मी घट जाये, पिता गुजर जाये और पुत्र परस्पर तकरार करें तो उस घर का क्या होगा ? उसीप्रकार तत्त्व की बात में भी तकरार उठी है।

प्रश्न :– फिर राग व द्वेष के परिणामों को पुद्गल का क्यों कहा ?

उत्तर :– एक तो वे परिणाम निकल जाते हैं और दूसरे वे जीव के स्वभावमय नहीं हैं; इसलिए उन्हें पुद्गल का कहा है।

जो राग है, वह उसके उपादान से है और इसमें पर निमित्तमात्र है। परकारकों की अपेक्षा रखे बिना इसका परिणमन अनादि से सिद्ध है। जहाँ दो कारणों से कार्य होता है – ऐसा कहा हो; वहाँ साथ में निमित्त है, इसका ज्ञान कराने के लिए कहा है। वस्तुत: कार्य तो एक उपादान से ही होता है, इस बात को दृष्टि में रखकर, निमित्त से हुआ है – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। जबकि यहाँ तो दोनों ही बातों को गौण करके वस्तुस्वभाव की दृष्टि कराना है।

एकसमय की पर्याय में जो रागादि व भेदादिभाव होते हैं; वे पुद्गल के ही कार्य हैं, क्योंकि वे चैतन्यस्वरूप वस्तु में नहीं हैं। वस्तु तो त्रिकाली शुद्ध चैतन्यघन सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान है। वह विकार व भेद का कारण कैसे हो सकती है ? इसकारण निमित्त के आधीन हुए राग व भेदादिभाव पुद्गल की ही रचना हैं – ऐसा जानो ! ऐसा ही अनुभव करो !– यह कहा है। ४७ शक्तियों के वर्णन में निर्मल पर्याय को ही जीव की कही है, वहाँ अशुद्धता ली ही नहीं है, क्योंकि जब शक्ति शुद्ध है तो उसका परिणमन भी शुद्ध ही होता है। अशुद्धता है, इसका तो बस ज्ञान हो जाता है। इस वीतराग के माल को सन्त आड़तिया बनकर जाहिर करते हैं।

त्रिलोकीनाथ परमात्मा जिनेश्वरदेव गणधर तथा इन्द्रों की सभा में ऐसा कहते हैं कि वस्तु की पर्याय में जो राग व भेदों के भाव उत्पन्न होते हैं, वे सब पुद्गल के कार्य हैं – ऐसा जानो ! ये तेरी आत्मा के कार्य नहीं हैं। 'व्रत, तप, भक्ति आदि राग से कल्याण होगा' – ऐसा माननेवालों को यह बात कठिन पड़ती है। भक्ति आदि तो विकल्प हैं, आत्मा नहीं हैं; क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञान का पुंज है। अहाहा प्रभु ! तू तो चैतन्य के नूर का पूर है न ? तू राग का कारण कैसे हो सकता है ? अष्टसहस्त्री में भी आता है कि शुभाशुभभाव व भेद आत्मा नहीं हैं, किन्तु पुद्गल ही हैं – ऐसा अनेकान्त है। आत्मा तो विज्ञानघनप्रभु ज्ञान का पुंज है। इस विज्ञानघन वस्तु में राग व भेद कहाँ से आयेंगे ? इसकारण यह वर्णादिभावों से अन्य ही है – ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

शेषमन्यद्व्यवहारमात्रम् –

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ।।६७।।

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव ।
देहस्य जीवसंज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ।।६७।।

यत्किल बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य संज्ञाः सूत्रे जीवसंज्ञात्वेनोक्ताः अप्रयोजनार्थः परप्रसिद्धया घृतघटवद्व्यवहारः। यथा हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैकघृतकुंभस्य तदितरकुंभानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घतकुंभः स मृण्मयो, न घृतमय इति तत्प्रसिद्धया

अब यह कहते हैं कि इस ज्ञानघन आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ है, उसे जीव कहना सो सब व्यवहारमात्र है :–

पर्याप्त अनपर्याप्त जो, हैं सूक्ष्म अरु बादर सभी ।
व्यवहार से कही जीवसंज्ञा, देह को शास्त्रन मही ।।६७।।

गाथार्थ :– [**ये**] जो [**पर्याप्तापर्याप्ताः**] पर्याप्त-अपर्याप्त [**सूक्ष्माः बादराः च**] सूक्ष्म और बादर आदि [**ये च एव**] जितनी [**देहस्य**] शरीरों की [**जीवसंज्ञाः**] जीवसंज्ञा कही हैं, वे सब [**सूत्रे**] सूत्र में [**व्यवहारतः**] व्यवहार से [**उक्ताः**] कही हैं।

टीका :– बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त – इन शरीर की संज्ञाओं को (नामों को) सूत्र में जीवसंज्ञारूप से कहा है, वह पर की प्रसिद्धि के कारण 'घी के घड़े' की भाँति व्यवहार है – जो व्यवहार अप्रयोजनार्थ है। (अर्थात् उसमें प्रयोजनभूत वस्तु नहीं है।) इसी बात को स्पष्ट कहते हैं :–

जैसे किसी पुरुष को जन्म से लेकर मात्र 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) हो, उसके अतिरिक्त वह दूसरे घड़े को न जानता हो – उसे समझाने के लिये 'जो यह घी का घड़ा है सो मिट्टीमय है, घीमय नहीं' – इसप्रकार (समझानेवाले के द्वारा) घड़े में घी के घड़े का व्यवहार किया जाता है, क्योंकि उस पुरुष को 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है।

कुंभे घृतकुंभव्यवहारः, तथास्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो, न वर्णादिमय इति तत्प्रसिद्धया जीवे वर्णादिमद्व्यवहारः ।

इसीप्रकार इस अज्ञानी लोक को अनादि संसार से लेकर 'अशुद्ध-जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है, वह शुद्धजीव को नहीं जानता, उसे समझाने के लिये (शुद्धजीव का ज्ञान कराने के लिये, 'जो यह वर्णादिमान जीव है सो ज्ञानमय है, वर्णादिमान नहीं' – इसप्रकार (सूत्र में) जीव में वर्णादिमयपने का व्यवहार किया गया है, क्योंकि अज्ञानी लोक को 'वर्णादिमान जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है ।

गाथा ६७ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

आत्मा तो विज्ञानघन अर्थात् ज्ञान का घनपिण्ड है । इस ज्ञानघन के अतिरिक्त वर्ण, गन्ध, शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, दया, दान आदि भावों को जीव का कहना व्यवहारमात्र है ।

जीव को जो बादर-सूक्ष्म-एकेन्द्रियादि कहा है, वह व्यवहार से कहा है; क्योंकि बादर-सूक्ष्म आदि तो देह की संज्ञायें हैं । इसकारण सूत्र में जहाँ एकेन्द्रियादि को जीव नाम से कहा गया है, वह असद्भूत-व्यवहारनय से कहा है – ऐसा जानना । अनादि से अज्ञानी को पर की ही प्रसिद्धि है । 'पुण्य या राग आत्मा है' – ऐसा ही अनादि से अज्ञानी को प्रसिद्ध है, इसलिए उसी की भाषा में ऐसा समझाया है कि जिस राग को तू आत्मा कहता है, वास्तव में वह राग आत्मा नहीं है । अहाहा ! रागमयभाव आत्मा नहीं है, आत्मा तो ज्ञानमय है । घी के घड़े की भाँति व्यवहार से समझाया है, परन्तु यह व्यवहार अप्रयोजनभूत है । 'राग आत्मा है' – यह कहना अप्रयोजनभूत है, क्योंकि इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । इसीप्रकार गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि में आत्मा तन्मय नहीं है, इसलिए उसको जीव का कहना अप्रयोजनार्थ है, असत्यार्थ है; क्योंकि इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । कलशटीका में ३९वें कलश में कहा है कि – "कोई आशंका करता है कि कहने में तो ऐसा ही कहा जाता है कि एकेन्द्रिय जीव, द्वि-इन्द्रिय जीव इत्यादि; 'देव जीव, मनुष्य जीव' इत्यादि; रागी जीव, द्वेषी जीव इत्यादि । उत्तर इसप्रकार है कि कहने में तो व्यवहार से ऐसा ही कहा जाता है, किन्तु निश्चय से ऐसा कहना झूठा है ।" तथा कलशटीका में ही ४०वें कलश में भी यही दृढ़ किया है कि "आगम में गुणस्थानों का स्वरूप कहा है, वहाँ देव जीव, मनुष्य

जीव, रागी जीव, द्वेषी जीव, इत्यादि बहुत प्रकार से कहा है, सो यह सब ही कथन व्यवहारमात्र से है, द्रव्यस्वरूप देखने पर ऐसा कहना झूठा है।"

राग-द्वेषादि भाव अपने में ही हैं, इसकारण सत्य हैं; परन्तु ये रागादिभाव जीवद्रव्य के स्वभाव में नहीं हैं। दया-दान-व्रत-तप-भक्ति आदि के विकल्प आत्मा हैं – ऐसा व्यवहार से कहा गया है। इसकारण तुझे भ्रम हो गया है। व्यवहार द्वारा निश्चय की पहचान कराई है अर्थात् राग द्वारा आत्मा की पहचान कराई है, किन्तु अज्ञानी राग में ही अटक जाता है। भाई! आत्मा तो त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकमूर्ति विज्ञानघन प्रभु भगवान है, यह कथन भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ है। ऐसा ध्रुव आत्मा ही दृष्टि का विषय है तथा इसमें दृष्टि करने पर ही सम्यग्दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त जीव को दया, दान आदि अनेक विकल्पवाला कहना व्यवहार है, असत्यार्थ है; क्योंकि जीव उन विकल्पों से तन्मय नहीं है।

प्रश्न :– प्रवचनसार की गाथा १८९ में ऐसा आता है कि निश्चय से आत्मा शुभाशुभभावों का, पुण्य-पाप के भावों का कर्त्ता और भोक्ता है तथा प्रवचनसार गाथा ८ में ऐसा कहा है कि शुभ, अशुभ या शुद्धरूप से परिणत जीव उन्हीं से तन्मय है? इन कथनों का क्या अभिप्राय है?

उत्तर :– भाई! वहाँ तो पर्याय शुभाशुभभावों से एकरूप है, मात्र इतना बताना है। इसलिए त्रिकाली द्रव्य शुभाशुभभावों में तन्मय नहीं हो गया है। प्रवचनसार के उस प्रकरण में वर्त्तमान पर्याय के बराबर ही वस्तु की स्थिति सिद्ध की है। यहाँ तो अकेले त्रिकाली द्रव्य की सिद्धि करना है। त्रिकाली आत्मद्रव्य तो शुद्ध विज्ञानघन भगवान ही है, वह कभी शुभाशुभभावरूप हुआ ही नहीं है। समयसार की ६वीं गाथा में भी आता है कि ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा कभी भी शुभाशुभभावरूप नहीं हुआ है, तथापि 'शुभाशुभरूप हुआ है' – ऐसा कहना व्यवहार है।

यदि भगवान आत्मा शुभाशुभभाव के स्वभावरूप से परिणमित हो जाय तो वह जड़ – अचेतन हो जाय। भाई! भक्ति व महाव्रतादि के जो शुभभाव हैं, वे जड़ – अचेतन है; क्योंकि इनमें चैतन्य की किरण नहीं है। वहाँ प्रवचनसार में पर्याय की अपेक्षा से आत्मा शुभाशुभभाव से तन्मय है – ऐसा कहा है, परन्तु यहाँ द्रव्य की अपेक्षा से कथन है। द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा शुभाशुभभाव से तन्मय नहीं है – ऐसा सिद्ध किया है।

प्रवचनसार की १८९वीं गाथा में जो ऐसा कहा है कि निश्चय से आत्मा राग का कर्त्ता व भोक्ता है; वहाँ यह अभिप्राय है कि राग आत्मा

की परणति है, आत्मा स्वतः राग का कर्त्ता है तथा स्वतः भोक्ता है। पर की परणति को जीव की कहना व्यवहारनय है तथा जीव की परणति को जीव की कहना निश्चयनय है – इस अपेक्षा से निश्चय से आत्मा राग का कर्त्ता है – ऐसा उक्त कथन का अर्थ है।

प्रश्न :– फिर जीव राग का कर्त्ता है या नहीं – दोनों में सत्य क्या है ?

उत्तर :– अपेक्षा से दोनों ही बातें सत्य हैं। प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन में वस्तु की पर्याय सिद्ध की है, जबकि यहाँ द्रव्य सिद्ध करना है। द्रव्यदृष्टि से देखने पर वस्तु जो ज्ञायकमात्र है, उसमें राग है ही नहीं। ६वीं गाथा की टीका में 'ज्ञायकभाव जड़भावरूप नहीं होता' – ऐसा कोष्टक में स्पष्टीकरण किया है। अहाहा ! ज्ञायक ज्ञायकपने से अचेतनरूप कभी हुआ ही नहीं। भाई ! शुभाशुभभाव अचेतन हैं। यदि ज्ञायकस्वभावी आत्मा शुभाशुभभावरूप परिणमे तो वह अचेतन हो जाये। भाई ! वीतराग सर्वज्ञ का मार्ग बहुत गम्भीर है, परन्तु फलदायक भी बहुत है।

व्यवहार के रसिकजनों को तो यह बात ऐसी लगती है कि इससे तो मानो सर्व व्यवहार का लोप हो जायगा; परन्तु भाई ! जीव को शुभाशुभ-भाववाला कहना तो असद्भूतव्यवहारनय का कथन है। इसी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं :–

जैसे किसी पुरुष ने जन्म से 'घी का घड़ा' ही जाना है, सुना है। घी से भिन्न घड़ा जिसने कभी देखा-जाना ही नहीं है – ऐसे पुरुष को समझाया जाता है कि 'जो यह घी का घड़ा है; वह माटीमय है, घीमय नहीं'। अहाहा ! भाषा तो देखो ! 'जो यह घी का घड़ा है; वह माटीमय है; घीमय नहीं।' व्यवहार तो 'घी का घड़ा' – ऐसा किया है, जबकि बताना यह है कि घड़ा माटीमय है, क्योंकि घीरहित – खाली घड़ा जिसने कभी नहीं देखा, उसे समझाने के लिए ऐसा ही कहा जाता है कि 'यह जो घी का घड़ा है न ? वह माटीमय है, घीमय नहीं।'

इसीप्रकार इस अज्ञानी जगत को अनादि संसार से अब तक राग-वाला जीव, पुण्यवाला जीव, भेदवाला जीव – इसप्रकार 'अशुद्ध जीव' का ही परिचय है। रागरहित, भेदरहित भगवान आत्मा को अज्ञानी जीव जानते ही नहीं हैं; इसलिए अब ऐसे अज्ञानियों को समझाने के लिए, शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए 'जो यह वर्णादिमान जीव है; वह ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं है' – ऐसा कहते हैं। 'जो यह रागवाला जीव है, वह ज्ञानमय है' – ऐसा कहकर यह निषेध किया है कि 'जीव रागमय नहीं है।' अज्ञानी

को रागरहित जीव से परिचय नहीं है, इसकारण उसे रागवाला जीव कहकर तो केवल पहचान कराई है कि जिसे तू रागवाला मानता है; वह रागवाला नहीं, ज्ञानमय है। अज्ञानी को अनादि से अशुद्धता है, अतः प्रसिद्ध है; इसकारण ऐसा समझाया है। इसमें 'रागवाला' – कहकर व्यवहार बताया है तथा 'ज्ञानमय' – कहकर निश्चय दर्शाया है अर्थात् जीव निश्चय से ज्ञानमय ही है तथा व्यवहार से रागवाला कहा जाता है। व्यवहार तो 'रागवाला जीव' – ऐसा है, परन्तु बताना यह है कि जीव ज्ञानमय ही है।

प्रश्न :– शुभभाव को निश्चय का साधक कहा है न ?

उत्तर :– भाई ! शुभभाव को जो साधक कहा है, वह तो आरोपित कथन है। यदि राग निश्चय से साधक हो तो इस गाथा के कथन के साथ विरोध आयेगा। आत्मा रागवाला है ही नहीं – ऐसा यहाँ कहा है। जब आत्मा रागवाला है ही नहीं, तो फिर वह स्वानुभव में मदद क्या करेगा ?

प्रश्न :– पंचास्तिकाय में व्यवहार – शुभराग निश्चय का साधक है – ऐसा कहा है ?

उत्तर :– भाई ! यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि राग निश्चय से जीव नहीं है और जो जीव नहीं है, वह जीव को लाभ नहीं करता। आत्मा शुद्ध चैतन्यमय चिदानन्द भगवान प्रभु है। स्वभाव के लक्ष्य से उत्पन्न हुई निर्मल परिणति से ही आत्मा साध्य है व स्वभाव से प्राप्त जो निर्मल परिणति है, वह साधक है। भाई ! राग को तो केवल सहकारी जानकर उसमें साधकपने का आरोप किया है। अहाहा ! शास्त्रों का अर्थ समझना बहुत कठिन है।

प्रश्न :– एक ओर कहते हैं कि आत्मा के साथ राग तन्मय है और फिर यहाँ कहते हैं कि आत्मा इनसे तन्मय नहीं है – यह कैसे ?

उत्तर :– भाई ! पर्याय की अपेक्षा से शुभराग के साथ आत्मा तन्मय है – ऐसा प्रवचनसार गाथा ८ में कहा है। जबकि यहाँ त्रिकाली शुद्धद्रव्य की अपेक्षा से शुभराग आत्मा के साथ तन्मय नहीं है – ऐसा कहा है। पंचास्तिकाय में व्यवहार को साधक कहा है – यह आरोपित कथन है। जबकि यहाँ कहा है कि राग निश्चय से जीव नहीं है, तो फिर वह साधन कैसे हो सकता है ?

शंका :– कोई कहे कि हमने तो गुरु का सहारा लिया है, बस वही अब हमको तार देगा, अब हमको कुछ नहीं करना है। स्वमत या परमत – इसकी भी परीक्षा अब हमको नहीं करना। क्या यह ठीक है ?

समाधान :– भाई ! कौन किसका गुरु ? प्रथम तो स्वयं ही स्वयं का गुरु है। शुद्धचैतन्यमय निज आत्मा को पकड़ेगा, इसका आश्रय करेगा – तब ही तिरेगा; परन्तु गुरु तार देंगे – ये सब तो व्यवहार की बातें हैं। चारित्र-पाहुड़ की १४वीं गाथा में आता है कि वेदान्तादि अन्यमत को माननेवालों के प्रति उत्साह रखना, भावना होना, उन्हीं की प्रशंसा करना तथा उन्हीं की श्रद्धा करना – ये सब मिथ्यात्व के लक्षण हैं। जरा कठोर बात है, भाई ! परन्तु यही तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग है। जिनके चरणों को इन्द्र तथा गणधर भी चूमते हैं, उनका यह मार्ग है। जिसे आत्मा का अनुभव करना हो, उसे इस मार्ग में अवश्य आना पड़ेगा।

अहाहा ! शैली तो देखो ! कहते हैं कि अज्ञानियों को अनादि से अशुद्ध जीव ही प्रसिद्ध है, उसका ही परिचय है। इसकारण उसे 'जो यह अशुद्ध रागवाला जीव है; वह ज्ञानमय है, रागमय नहीं है' – ऐसा समझाया है। अहाहा ! ज्ञानमय है – ऐसा कहकर अशुद्धता उड़ा दी है। अरे ! अभी जिसके श्रद्धान का भी ठिकाना नहीं है, उसके आचरण की तो बात ही क्या है ? कदाचित् वह व्यवहार का पालन करे, तथापि वह सर्व संसार का ही कारण है; क्योंकि राग संसार में ही प्रवेश कराने वाला है। यहाँ स्पष्ट कहते हैं कि जो व्यवहारवाला या रागवाला जीव है, वह भी निश्चयमय – ज्ञानमय ही है, व्यवहारमय – रागमय नहीं है।

वस्तु अनादि-अनंत शुद्ध विज्ञानघन ध्रुव प्रवाहरूप है। भगवान आत्मा ध्रुव····ध्रुव····ध्रुव प्रवाहरूप से शुद्ध चैतन्यमय है, उसमें राग का सम्बन्ध मात्र एकसमय का है। जिसने रागरहित जीव को नहीं देखा, ऐसे अज्ञानी जीव को समझाने के लिये व्यवहारनय से कहा है कि राग के सम्बन्धवाला जीव है, परन्तु निश्चय से एकसमय का राग वस्तु के स्वभाव में नहीं है। राग का – संसार का सम्बन्ध मात्र एकसमय का है। अहाहा ! बात को किसतरह सिद्ध किया है। 'यह दया के भाववाला जीव' – ऐसा व्यवहार से कहा, पश्चात् जीव दया के भावमय नहीं है, परन्तु ज्ञानमय ही है – ऐसा कहते हैं। अहा ! कैसी शैली है ! व्यवहारनय समझाने के लिए आता है, किन्तु वह निश्चय की अपेक्षा से असत्यार्थ है। समझाने का दूसरा कोई उपाय नहीं है, इसकारण व्यवहार से समझाया जाता है।

इसीप्रकार सूत्र में भी जीव में वर्णादिमानपने का व्यवहार कहने में आया है, क्योंकि अज्ञानी जीवों को रंग-रागवाला जीव ही प्रसिद्ध है। पर्यायबुद्धिवाले जीवों को रागवाले जीव का ही परिचय है। एकसमय की पर्याय के पीछे अन्दर परिपूर्ण वस्तु का चैतन्यदल पड़ा है, परन्तु पर्याय की

एकत्वबुद्धि में जीव को राग ही ज्ञात होता है, इसी से तो वे पर्यायबुद्धि वाले हैं। उन्हें समझाते हुए कहते हैं कि 'पर्याय में जो रागवाला जीव है; वह ज्ञानमय है, रागमय नहीं है।' पर्याय के पीछे तो सम्पूर्ण चैतन्यदल पड़ा है न! शक्ति व स्वभाव का पिण्ड प्रभु विज्ञानघन है। इसमें वर्त्तमान पर्याय का प्रवेश नहीं है। अरे! उसमें तो निर्मल पर्याय का भी प्रवेश नहीं है – ऐसा यह घनतत्त्व है। अहा! निर्मल पर्याय भी विज्ञानघन आत्मा के ऊपर ही तैरती है।

यहाँ अज्ञानी से कहते हैं कि प्रभु! तू शुद्ध आत्मा को जानता नहीं है, इसलिए जानी हुई वस्तु से अर्थात् परिचित राग के माध्यम से तुझे रागरहित आत्मा की पहचान कराई है। 'रागवाला जीव' – इतना कहकर 'वह रागमय है' – यह नहीं कहा; बल्कि जिसे तू रागवाला जानता है, वह ज्ञानमय है' – यह कहा है। 'यह रागवाला जीव' – ऐसा तुझे ख्याल में है; परन्तु वह जीव रागमय नहीं, ज्ञानमय है – यह कहा जा रहा है; अतः अब तक जिसे रागमय मानते रहे, उसे अब ज्ञानमय जानो!

प्रश्न :– इसमें करने के लिए क्या आया?

उत्तर :– भाई! सत्य समझकर सच्चा श्रद्धान करना। अहाहा! आत्मा शुद्ध चैतन्यघन वस्तु है – उस ओर ढलना, झुकना तथा उसी में रमना – यह क्या कुछ करना नहीं है? अरे! वास्तव में तो मात्र यही करना है, बाकी कुछ करना ही नहीं है।

८वीं गाथा में कहा है कि चाहे जितना होशियार जीव हो, तथापि आत्मा को समझाना हो तो व्यवहार द्वारा ही समझाया जा सकता है। 'जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा है' – ऐसे वहाँ भेदरूप व्यवहार द्वारा समझाया है। जबकि यहाँ 'रागवाला जीव' – ऐसा कहकर पश्चात् 'वह ज्ञानमय है, रागमय नहीं है' – ऐसा कहा है। 'जो अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् निर्मल पर्याय को प्राप्त करे, वह आत्मा है।' ऐसा समझने के लिए व्यवहार से कहा, परन्तु यह व्यवहार कहनेवाले तथा सुननेवाले को अनुसरण करने योग्य नहीं है। भाई! यह तो उसे समझ में आ सकती है, जिसे वास्तव में आत्मानुभव करना हो।

अब इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(अनुष्टुभ्)

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥४०॥

श्लोकार्थ :– [**चेत्**] यदि [**घृतकुम्भाभिधाने अपि**] 'घी का घड़ा' – ऐसा कहने पर भी [**कुम्भः घृतमयः न**] घड़ा है, वह घीमय नहीं है; (मिट्टी-मय ही है) [**वर्णादिमत्जीवजल्पने अपि**] तो इसीप्रकार 'वर्णादिमान जीव' ऐसा कहने पर भी [**जीवः न तन्मयः**] जीव है, वह वर्णादिमय नहीं है। (ज्ञानघन ही है।)

भावार्थ :–घी से भरे हुए घड़े को व्यवहार से 'घी का घड़ा' कहा जाता है, तथापि निश्चय से घड़ा घी-स्वरूप नहीं है; घी घी-स्वरूप है, घड़ा मिट्टी-स्वरूप है। इसीप्रकार वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियों इत्यादि के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धवाले जीव को सूत्र में व्यवहार से पंचेन्द्रिय जीव, पर्याप्त जीव, बादर जीव, देव जीव, मनुष्य जीव' इत्यादि कहा गया है; तथापि निश्चय से जीव उसस्वरूप नहीं है; वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियाँ इत्यादि पुद्गलस्वरूप हैं, जीव ज्ञानस्वरूप है।

कलश ४० पर प्रवचन

जिसतरह घी का घड़ा कहने पर भी घड़ा घीमय नहीं, बल्कि माटी-मय ही है। घी तो संयोगी वस्तु है। घी के साथ तो माटी का घड़ा संयोग-सम्बन्ध से रह रहा है। उसीप्रकार भगवान आत्मा शुद्ध विज्ञानघनस्वरूप है और इसका पर्याय में राग के साथ एकसमय मात्र का संयोग-सम्बन्ध है, किन्तु यह सम्बन्ध त्रिकाली द्रव्य में नहीं है। घी का घड़ा कहने पर जैसे घड़ा घीमय नहीं है, माटीमय ही है; उसीप्रकार वर्णादिवाला जीव, रंग-रागवाला जीव – ऐसा कहने पर भी जीव वर्णादिमय नहीं है, रंग-रागमय नहीं है; किन्तु ज्ञानमय ही है। जैसे घड़ा व घी – दोनों एक नहीं हैं, बल्कि सर्वथा जुदे-जुदे हैं; उसीप्रकार राग व भगवान आत्मा सर्वथा भिन्न हैं। रंग-गन्ध आदि जो २६ बोल कहे हैं, उन सभी में जीव तन्मय नहीं है।

प्रवचनसार में पर्याय के परिणमन की बात है और यहाँ द्रव्य-स्वभाव की बात है। दोनों की अपेक्षा जुदी-जुदी है। प्रवचनसार में यह बताने का प्रयोजन है कि राग पर्याय में होता है, वह कहीं अन्यत्र या अधर में (आकाश में) नहीं होता; अपनी ही पर्याय में होता है। तथा यहाँ शुद्धस्वरूप का ज्ञान कराना है, जीव को अजीव से भिन्न बताना है।

जैसे घड़ा माटीमय ही है। 'माटीवाला' – ऐसा भी नहीं, बल्कि माटीमय ही है। उसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञानमय – ज्ञानघन ही है। आत्मा जिसप्रकार ज्ञाता-दृष्टास्वभाव से तन्मय है, एकमेक है, राग से तन्मय नहीं है; उसीप्रकार जीव जीवस्थान, मार्गणास्थान, संयमलब्धि-

स्थान आदि भेदों से तन्मय नहीं है। अहाहा ! गजब बात है ! इस अधिकार की अन्तिम ६८वीं गाथा में कहेंगे कि आत्मा गुणस्थान से भी तन्मय नहीं है। अभेदवस्तु में भेद का अंश तन्मय होता ही नहीं है। कषाय की मन्दता – विशुद्धिस्थान के असंख्यप्रकार हैं। भगवान आत्मा उन प्रशस्त शुभराग के स्थानों से तन्मय नहीं है। अज्ञानी ने शुभरागरहित आत्मा कभी जाना ही नहीं है, अतः कहते हैं कि 'जो यह शुभरागवाला जीव है, वह ज्ञानमय है" – ऐसा कहकर जीव की यथार्थ पहचान कराई है। जैसे घडा माटीमय है, उसीतरह जीव शुद्ध ज्ञानघन ही है।

कलश ४० के भावार्थ पर प्रवचन

घी से भरे हुये मिट्टी के घड़े को व्यवहार से घी का घड़ा कहा जाता है, तथापि निश्चय से घड़ा घी-स्वरूप नहीं है। व्यवहार से जो कहा जाता है, वह तो कथनमात्र है। व्यवहार से कहा – इसकारण घड़ा कहीं घीमय नहीं हो जाता। घड़ा तो माटीमय ही रहता है। अहा ! जिसतरह घी घीरूप है और घड़ा माटीमय है; उसीप्रकार वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियाँ इत्यादि के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धवाले जीव को सूत्र में व्यवहार से 'पंचेन्द्रियजीव, पर्याप्तजीव, बादरजीव, देवजीव, मनुष्य-जीव, इत्यादिरूप से कहा गया है; तथापि निश्चय से जीव उनस्वरूप नहीं है। वस्तुतः जीव देवस्वरूप, मनुष्यस्वरूप नहीं है।

देवगति या जो उदयभाव हैं, वे जीव हैं – ऐसा व्यवहार से कहा है, क्योंकि अज्ञानी का उससे परिचय है; परन्तु 'यह जो देवजीव है; वह ज्ञानमय है, देवमय नहीं है' – ऐसा कहकर यहाँ अज्ञानी को समझाते हैं। यह देव, मनुष्य आदि गति की अर्थात् उदयभाव की बात है, शरीर की नहीं। देव, मनुष्य आदि के शरीर के साथ तो जीव का कोई सम्बन्ध नहीं है, ये तो प्रत्यक्ष जड़ हैं; इनकी बात नहीं है। अन्दर जो देव, मनुष्यादि गति की योग्यता है, उसे व्यवहार से यह देवजीव, मनुष्यजीव, एकेन्द्रिय-जीव, दो-इन्द्रियजीव, पर्याप्तजीव, अपर्याप्तजीव इत्यादि जीवरूप से कहा जाता है; तथापि निश्चय से जीव उस-स्वरूप भी नहीं है। अरे, संयमलब्धिस्थान के भेद भी ज्ञायक में नहीं हैं। यदि वह ज्ञायक आत्मा लब्धिस्थान के भेद से तन्मय हो जाये तो कभी भी इनसे भिन्न नहीं हो सकेगा; परन्तु आत्मानुभूति में तो ये भेद आते नहीं हैं, भिन्न ही रह जाते हैं; इसलिए जीव राग या भेदस्वरूप नहीं है, वह एकमात्र विज्ञानघन ही है।

प्रश्न :– यह तो बहुत ऊँची बात है ?

उत्तर :– बापू ! तेरी महानता के आगे यह कोई ऊँची बात नहीं है। भाई ! तेरी महानता की क्या बात कहें ? सर्वज्ञदेव की वाणी में भी तेरा पूरा स्वरूप नहीं आ सकता, ऐसा तू स्वयं महिमावंत पदार्थ है। तू अनन्तज्ञानमय, दर्शनमय, आनन्दमय, वीतरागतामय, स्वच्छतामय, प्रभुतामय भगवान आत्मा है। तुझे वर्णादि भेदवाला कहना – यह तो व्यवहार है, असत्यार्थदृष्टि है। अहा ! एकसमय के लिए भेदादिरूप पर्याय जानने में आती है, तथापि त्रिकाली शुद्धद्रव्य भेदादिरूप हुआ ही नहीं है। आत्मा त्रिकाली ज्ञानमय भूतार्थवस्तु है, वह कभी भी राग से तन्मय नहीं होता। राग से सदैव भिन्न ही है, इसलिए 'रागवाला जीव' ऐसा कहकर पश्चात् उसे ज्ञानमय बताया है। ये जो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के विकल्प – राग हैं, इनमें चैतन्यपना नहीं है तथा ये पुद्गल के साथ हुये भाव हैं, इसकारण इन्हें पुद्गल की जाति का कहा है।

भाई ! रागादि हुये तो अपनी ही पर्याय में हैं व अपने ही उल्टे पुरुषार्थ से हुए हैं; परन्तु वे स्वभाव में नहीं हैं तथा निमित्त के लक्ष्य से हुये हैं, इसलिए उन्हें निमित्त के खाते में डाला है। निमित्त भी व्यवहार है तथा रागादि अशुद्धता भी व्यवहार है। इसकारण दोनों को एक मानकर निमित्त कारण है व अशुद्धता कार्य है – ऐसा कहा है। यह बात यथार्थ नहीं समझेगा तो सत्य कैसे प्राप्त होगा ? भाई ! जीव तो उसे कहते हैं, जो त्रिकाल ध्रुव चैतन्यघन ज्ञानस्वरूप ही है, अन्य स्वरूप नहीं। ●

निराबाध चेतन अलख

खांडो कहिये कनक कौं, कनक-म्यान संयोग।
न्यारौ निरखत म्यान सौं, लोह कहैं सब लोग ।। ७ ।।
वरनादिक पुद्गल-दसा, धरै जीव बहु रूप।
वस्तु विचारत करम सौं, भिन्न एक चिद्रूप ।। ८ ।।
ज्यौं घट कहिये घीव कौ, घट कौ रूप न घीव।
त्यौं वरनादिक नाम सौं, जड़ता लहै न जीव ।। ९ ।।
निराबाध चेतन अलख, जानै सहज स्वकीव।
अचल अनादि अनंत नित, प्रगट जगत मैं जीव ।।१०।।

– समयसार नाटक, अजीवद्वार

एतदपि स्थितमेव यद्रागादयो भावा न जीवा इति –

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥६८॥

मोहनकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि ।
तानि कथं भवंति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ॥६८॥

मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा, यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन पुद्गल एव, न तु जीवः । गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चैतन्यस्वभावव्याप्तस्यात्मनोऽतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वाच्च प्रसाध्यम् ।

अब कहते हैं कि (जैसे वर्णादिभाव जीव नहीं हैं – यह सिद्ध हुआ, उसीप्रकार) यह भी सिद्ध हुआ कि रागादि भाव भी जीव नहीं हैं :–

मोहनकरम के उदय से, गुणस्थान जो ये वर्णये ।
वे क्यों बने आत्मा निरंतर, जो अचेतन जिन कहे ॥६८॥

गाथार्थ :– [यानि इमानि] जो यह [गुणस्थानानि] गुणस्थान हैं, वे [मोहनकर्मणः उदयात् तु] मोहकर्म के उदय से होते हैं [वर्णितानि] – ऐसा (सर्वज्ञ के आगम में) वर्णन किया गया है; [तानि] वे [जीवाः] जीव [कथं] कैसे [भवंति] हो सकते हैं [यानि] कि जो [नित्यं] सदा [अचेतनानि] अचेतन [उक्तानि] कहे गये हैं ?

टीका :– ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से 'कारण जैसा ही कार्य होता है' – ऐसा समझकर (निश्चयकर) 'जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं' – इसी न्याय से वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं । और गुणस्थानों का सदा ही अचेतनत्व तो आगम से सिद्ध होता है तथा चैतन्य-स्वभाव से व्याप्त जो आत्मा उससे भिन्नपने से वे गुणस्थान भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हैं, इसलिये भी उनका सदा ही अचेतनत्व सिद्ध होता है ।

एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थान-योगास्थान बंधस्थानोदयस्थान मार्गणास्थान स्थितिबंधस्थान संक्लेश स्थान - विशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति, नित्यम-चेतनत्वात् पुद्गल एव, न तु जीव इति स्वयमायातम्। ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धम्।

इसीप्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं; जीव नहीं — ऐसा स्वतः सिद्ध हो गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादि भाव जीव नहीं हैं।

भावार्थ :— शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में चैतन्य अभेद है और उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन हैं। परनिमित्त से होने-वाले चैतन्य के विकार यद्यपि चैतन्य जैसे दिखाई देते हैं, तथापि चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक न होने से चैतन्यशून्य हैं, जड़ हैं और आगम में भी उन्हें अचेतन कहा है। भेदज्ञानी भी उन्हें चैतन्य से भिन्नरूप अनुभव करते है; इसलिये भी वे अचेतन हैं, चेतन नहीं।

प्रश्न :— यदि वे चेतन नहीं हैं तो क्या हैं? पुद्गल हैं या कुछ और?

उत्तर :— वे पुद्गलकर्मपूर्वक होते हैं, इसलिये निश्चय से पुद्गल ही हैं, क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है।

इसप्रकार यह सिद्ध किया कि पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार भी जीव नहीं, पुद्गल हैं।

गाथा ६८ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब यह कहते हैं कि जिसतरह वर्णादि भाव जीव नहीं हैं, उसीतरह यह भी सिद्ध हुआ कि रागादि भाव भी जीव नहीं हैं।

अहाहा! ये सभी (चौदह) गुणस्थान भी अजीव हैं, इनमें शुद्ध चैतन्य का रूप नहीं है। यदि ये आत्मा की जाति के हों तो इन गुणस्थानों को सिद्धदशा में भी होना चाहिए। विज्ञानघन आत्मा की अपेक्षा से गुणस्थानों को पुद्गल का परिणाम कहा है, क्योंकि ये मिथ्यात्वादि गुणस्थान जड़ — पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते हैं।

प्रश्न :– कर्म के उदयरूप निमित्त के अनुसार जीव को डिग्री टू डिग्री विकार करना पड़ता है न ?

उत्तर :– प्रभु ! कर्म का उदय तो जड़ की पर्याय है और जीव की पर्याय में जो विकारी भाव होता है, वह तो उसे छूता भी नहीं है; क्योंकि उनमें परस्पर अन्योन्याभाव है। भाई ! यहाँ तो यह दूसरी बात कहनी है कि ये विकारी भाव निमित्त के लक्ष्य से हुए हैं तथा जीवद्रव्य के स्वभाव में नहीं है, अतः उसे पुद्गल का कार्य मानकर जीव से निकाल देना है।

प्रवचनसार की गाथा १८६ में ऐसा आता है कि शुद्धनय से आत्मा विकार का कर्त्ता स्वतः है। पंचास्तिकाय की गाथा ६२ में भी कहा है कि आत्मा की विकारी पर्याय का परिणमन अपने षट्कारकों से स्वतः है तथा अन्य कारकों से निरपेक्ष है। अर्थात् जीव की पर्याय में जो विकार का परिणमन होता है, उसे कर्म के उदय की अपेक्षा नहीं है। परन्तु यहाँ अपेक्षा भिन्न है। यहाँ तो यह कहते हैं कि पर्याय में जो विकार होता है, वह द्रव्य-स्वभाव में नहीं है। अतः पर्याय के विकार और जड़कर्म – दोनों को एक मानकर विकार कर्मप्रकृति के उदयपूर्वक होता है – ऐसा कहा है। प्रकृति जड़ – अचेतन है, इसकारण विकार भी अचेतन है – ऐसा कहा है।

जैसा कर्म का उदय आता है, उसी के अनुपात में डिग्री टू डिग्री विकार करना पड़ता है – यह तो दो द्रव्यों की एकता की बात है, जो कि सर्वथा मिथ्या है। प्रवचनसार गाथा ४५ की श्री जयसेनाचार्यकृत टीका में तो ऐसा कहा है कि मोहकर्म का उदय होने पर भी जीव यदि स्वयं शुद्धपने परिणमे तो वह कर्म उदय में आकर खिर जाता है। 'कर्म का उदय आता है, इसकारण जीव को विकार करना ही पड़ता है' – ऐसा बिल्कुल नहीं है। अपने वर्तमान पुरुषार्थ की जितनी योग्यता हो, उतना विकाररूप परिणमन होता है। कर्म का उदय होने पर भी विकाररूप न परिणमे – यह स्वयं जीव की परिणति की स्वतन्त्रता है। किन्तु यहाँ तो अपेक्षा ही दूसरी है। यहाँ तो यह कहा है कि अपनी परिणति में जो विकार होता है, वह कर्म के आधीन होकर होता है; अतः कर्मकृत है।

गाथा ६५-६६ में पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर, सूक्ष्म आदि भेद नामकर्म की प्रकृतियों के कारण हुये हैं – ऐसा कहा था। यहाँ मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थान मोहकर्म की प्रकृति के उदय से हुए हैं – ऐसा कहा है। आचार्य श्री जयसेनाचार्य की टीका में 'मोहजोगभवा' – ऐसा श्री गोम्मटसार का वचन उद्धृत है कि मोह और योग के निमित्त से गुणस्थान होते हैं।

पहले से लेकर चौदहवें गुणस्थानपर्यन्त सभी मिथ्यात्वादि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते हैं, इसकारण नित्य अचेतन हैं। इसीप्रकार विशुद्धि के स्थान अर्थात् असंख्यप्रकार के प्रशस्त शुभराग के भाव भी मोहकर्म की प्रकृति के विपाकपूर्वक होते हैं, इसकारण अचेतन – पुद्गल हैं। ये जो दया-दान-व्रत-तप-भक्ति आदि के शुभभाव या विशुद्धभाव हैं, वे भी पुद्गलकर्म के विपाकपूर्वक हुये हैं; इसलिए अचेतन – पुद्गल हैं।

प्रश्न :– राग को आत्मा की पर्याय कहा है न ? राग का परिणमन पर्याय में है और उसमें आत्मा तन्मय है – ऐसा कहा है न ?

उत्तर :– भाई ! यह तो पर्याय की अपेक्षा से कथन है। पर्याय में राग है – यह बात ठीक है, परन्तु यहाँ तो वस्तु का स्वभाव सिद्ध करना है। यहाँ तो त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि कराना है और वस्तु के स्वभाव में तो राग है ही नहीं। अहाहा ! यह व्यवहार-मोक्षमार्ग का जो शुभराग है, वह पुद्गल के विपाकपूर्वक होने से पुद्गल है और नित्य अचेतन है। कारण जैसा ही कार्य होता है, अतः जब पुद्गलमय मोहकर्म कारण है तो गुणस्थानादि कार्य भी नियम से पुद्गल ही होंगे।

प्रश्न :– शास्त्रों में आता है कि उपादान सदृश ही कार्य होता है ?

उत्तर :– वह तो पर्याय सिद्ध करने की अपेक्षा से कहा है। वह अपेक्षा यहाँ नहीं ली है, यहाँ तो कर्मविपाक के कारणपूर्वक होने से शुभपरिणामों तथा गुणस्थानों को पुद्गल का कहा है, अचेतन कहा है।

अब उदाहरण देकर समझाते हैं कि 'जौ' पूर्वक जो 'जौ' होता है वह 'जौ' ही है – इस न्याय से पुद्गल के विपाक से उत्पन्न हुये शुभराग तथा गुणस्थान आदि भेद पुद्गल ही हैं, जीव नहीं।

प्रश्न :– तत्त्वार्थसूत्र में तो ऐसा आता है कि राग, गुणस्थान आदि जो औदयिकभाव हैं, वे जीवतत्त्व हैं ?

उत्तर :– वहाँ तो जीव की पर्याय सिद्ध करना है, इसलिए वह बात बराबर है, सही है; परन्तु यहाँ तो स्वभाव सिद्ध करना है न ?

आगे कर्त्ता-कर्म अधिकार प्रारम्भ करना है, उसका यह उपोद्घात है। है तो यह जीव-अजीव अधिकार, किन्तु इस अन्तिम गाथा के पश्चात् कर्त्ता-कर्म अधिकार प्रारम्भ होता है। इसकारण यहाँ से भूमिका के रूप में कहा है कि पुद्गल कारण है, इसलिए इसका कार्य भी पुद्गल ही है। आगे १०९ से ११२ चार गाथाओं में तेरह गुणस्थानों को पुद्गल कहेंगे, क्योंकि वे

कर्मोदयरूप पुद्गल – कर्त्ता के कार्य (कर्म) हैं। पौद्गलिक तेरह गुणस्थान कारण हैं एवं नवीन कर्मबन्ध तेरह गुणस्थानों का कार्य है। पुराना कर्म व्यापक होकर तेरह गुणस्थानरूप व्याप्य को उत्पन्न करता है। पुराना कर्मोदय व्यापक (कर्त्ता) है और तेरह गुणस्थानरूप कार्य उस व्यापक (कर्त्ता) का व्याप्य (कर्म) है। तथा तेरह गुणस्थान व्यापक होकर नवीन कर्मबन्धरूप व्याप्य को करता है। इसतरह पुद्गलमय तेरह गुणस्थान व्यापक एवं नवीन कर्मबन्ध उनका व्याप्य है।

प्रश्न :– स्वद्रव्य व्यापक तथा उसकी पर्याय व्याप्य – ऐसा व्याप्य-व्यापकपना स्वद्रव्य में ही होता है न ?

उत्तर :– भाई ! वहाँ (१०९ से ११२ गाथा में) तो कर्त्ता-कर्मपना बताना है। इसकारण जो गुणस्थान है, वह कर्त्ता है तथा जो नवीन कर्म का बन्धन हुआ, वह उस कर्त्ता का कर्म है। गुणस्थान व्यापक (कर्त्ता) है तथा उसके कारण जो नवीन कर्मबन्ध हुआ, वह उसका व्याप्य (कर्म) है। जो पौद्गलिक तेरह गुणस्थान हैं, वे व्यापक होकर नये कर्मों की अवस्था (व्याप्य) को करते हैं। अहाहा ! तेरह गुणस्थानों का जड़ के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध बताया है। व्याप्य-व्यापकपना तो स्वद्रव्य में ही होता है, पर के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होता ही नहीं है। स्वभाव की दृष्टि कराने के प्रयोजन से यहाँ कहा है कि विकारभाव या शुभभाव कर्त्ता – व्यापक है तथा जो नया कर्म बँधा, वह उसका कर्म – व्याप्य है। अहाहा ! ऐसे कितने ही भंग-भेद (वचनों में अपेक्षा के भेद) पड़ते हैं।

आचार्य कहते हैं कि पुद्गल के विपाकपूर्वक होने से ये गुणस्थान आदि पुद्गल ही हैं, तथा ये पुद्गलभाव (गुणस्थान आदि) व्यापक होकर जो नवीन कर्मों को बाँधते हैं, वे नवीन कर्म इनके व्याप्य हैं। अहाहा ! स्वभाव तो शुद्ध चैतन्यमय है, इसकारण स्वभाव कर्त्ता तथा विकार इसका कर्म – ऐसा कैसे बन सकता है? पुराने कर्म का उदय कारण – व्यापक है व विकार – गुणस्थान आदि भेद उसका कर्म – व्याप्य है। विकार या गुणस्थान आदि का भेद कारण – व्यापक है तो नवीन कर्म की अवस्था इसका कार्य – व्याप्य है। इसप्रकार गुणस्थान आदि भेद व कर्म के बीच व्याप्य-व्यापकपने को स्थापित किया गया है, क्योंकि कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध बताना है न ?

पुद्गल के साथ गुणस्थानों का कर्त्ता-कर्मपना युक्ति, आगम और अनुभव से इसप्रकार सिद्ध किया जाता है :–

(१) जिसप्रकार 'जौ' पूर्वक जो 'जौ' होता है, वह 'जौ' ही है; उसीप्रकार पुद्गल के विपाकपूर्वक होने से गुणस्थानादि पुद्गल ही हैं—यह युक्ति है।

(२) गुणस्थानों का नित्य अचेतनपना आगम से सिद्ध है। निश्चय से आगम अर्थात् परमागम का यह सिद्धान्त है कि गुणस्थान अचेतन हैं, पुद्गल हैं; क्योंकि वे मोह व योग के निमित्त से होते हैं।

(३) भेदज्ञानियों द्वारा भी चैतन्यस्वभावी आत्मा से गुणस्थानों का भिन्नपना स्वयं उपलभ्यमान है। ४४वीं गाथा में भी यह बात आ गई है। भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त चिदानन्दघन प्रभु है। उसका अनुभव करनेवाले भेदज्ञानियों द्वारा गुणस्थान आदि भेद आत्मा से भिन्नपने स्वयं उपलभ्यमान हैं। अहाहा! ज्ञान की जो वर्त्तमान पर्याय अन्तरंग में झुकती है, उस पर्याय द्वारा ये गुणस्थान आदि आत्मा से भिन्न हैं—ऐसा स्वयं उपलभ्यमान होता है।

इसप्रकार युक्ति, आगम और अनुभव से ऐसा सिद्ध होता है कि गुणस्थान आदि भावों से चिदानन्द आत्मा भिन्न ही है।

इसीप्रकार विशुद्धिस्थान अर्थात् असंख्य प्रकार के जो प्रशस्त शुभभाव हैं, वे पुद्गल के विपाकपूर्वक होने से पुद्गल ही हैं। आगम भी शुभभाव को पुद्गल ही कहता है। तथा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त भगवान आत्मा का अनुभव करनेवालों को भी शुभभाव स्वयं से भिन्न ही भासित होते हैं अर्थात् ज्ञानी की अनुभूति में ये शुभभाव नहीं आते, भिन्न ही रह जाते हैं; इसलिए शुभभाव पुद्गल ही हैं—ऐसा सिद्ध होता है। अहाहा! आचार्यों ने थोड़े में भी बहुत कह दिया है। अहो! श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव तथा श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने जैनधर्म का मर्म खोलकर रख दिया है। वे कहते हैं कि शुभभाव का राग कोई जैनधर्म नहीं, जैनधर्म तो एक वीतरागभाव ही है; परन्तु वीतरागी परिणति के साथ धर्मी को जो शुभभाव का राग आता है, वह पुद्गल है, क्योंकि वह पुद्गल के विपाकपूर्वक होता है। आत्मवस्तु तो स्वभाव से शुद्ध चैतन्यमय है, इसमें राग है ही नहीं।

इसप्रकार गुणस्थान आदि का नित्य अचेतनपना सिद्ध होता है। चैतन्यस्वभाव से व्याप्त भगवान आत्मा का अनुभव करने पर वे गुणस्थान आदि भिन्न रह जाते हैं, अनुभूति में नहीं आते; इसलिए वे नित्य अचेतन ही हैं—ऐसा सिद्ध होता है। अनुभव शुद्ध ज्ञान-दर्शन का परिणाम है। अनुभव में ये भगवान की स्तुति-वन्दना-भक्ति एवं प्रभावना इत्यादि के राग कुछ भी नहीं आते, परन्तु भिन्न ही रह जाते हैं।

प्रश्न :– तो फिर जगत में धर्म का प्रचार करना या नहीं ? तत्व-प्रचार करना या नहीं ?

उत्तर :– बापू ! धर्म क्या बाहर रखा है ? धर्म की पर्याय तो चैतन्यस्वभाव से व्याप्त है और चिदानन्द भगवान की ओर ढलने पर प्रगट होती है, तब शुभराग तो भिन्न ही रह जाता है। भाई ! जिसको धर्म की पर्याय या आत्मानुभूति प्रगट होती है; उस धर्मी को तो यह राग की पर्याय स्वयं से भिन्न ही भासित होती है, अनुभव में राग नहीं आता। अहाहा ! शुभराग होता तो अवश्य है, परन्तु यह तो स्व से भिन्न है– ऐसा धर्मी जीव जानते हैं। गजब बात है, भाई ! युक्ति, आगम व अनुभव – तीनों प्रकार से रागादि पुद्‌गल ही हैं – ऐसा सिद्ध किया है।

यहाँ राग को 'पर' सिद्ध करना है। चैतन्य-स्वभाव में राग नहीं है, यह सिद्ध करना है। आत्मा व्यापक है व राग उसका व्याप्य है – ऐसा जो जिनवाणी में कथन आता है, वहाँ दूसरी अपेक्षा है। वहाँ तो राग की पर्याय द्रव्य की है, 'पर' के कारण राग की उत्पत्ति नहीं हुई – ऐसा सिद्ध करना है। जबकि यहाँ चैतन्यस्वभाव से व्याप्त चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के अनुभव में राग भिन्न रह जाता है; इसलिए वह चैतन्य से भिन्न अचेतन है – ऐसा सिद्ध करते हैं।

प्रश्न :– तो फिर दोनों अपेक्षाओं में से सच क्या है ?

उत्तर :– अपेक्षा से दोनों ही बातें सच्ची हैं। पर्याय का ज्ञान भी लक्ष्य में होना चाहिए। उसको भी ज्ञानी यथार्थ जानता है। इस शास्त्र की १४वीं गाथा के भावार्थ में कहा है कि 'सर्व नयों का कथंचित् रीति से सत्यार्थपने का श्रद्धान करने से ही सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है।' इसका अर्थ यह हुआ कि पर्याय में राग है – यह सत्य है। पर्याय अपेक्षा से विकार क्षणिक सत् है, परन्तु चैतन्यस्वभाव से व्याप्त त्रिकाली शुद्ध भगवान आत्मा में एकसमय का वह विकार व्याप्त नहीं है।

भाई ! राग पर्याय में है और वह स्वयं से है – ऐसा ज्ञान में लेकर द्रव्यस्वभाव में – चैतन्यस्वभाव से व्याप्त प्रभु आत्मा में राग नहीं है अर्थात् द्रव्यस्वभाव निर्विकार शुद्ध चैतन्यमय है – ऐसा श्रद्धान करना।

कर्त्ता-कर्म अधिकार का प्रारम्भ करना है, इसलिए यहाँ यह बात ली है। पहली गाथा में आया है कि परिभाषण प्रारम्भ करते हैं अर्थात् यह समयसार परिभाषा सूत्र हैं। जहाँ-जहाँ जो-जो होना चाहिए, वह-वह गाथा यथास्थान आवे – इसी को परिभाषा सूत्र कहते हैं। समयसार की ऐसी ही

शैली है। अमृतचन्द्राचार्यदेव ने भी जो बात भविष्य में आनेवाली हो, उसे पहले ही भूमिका के रूप में कह दिया है। जैसे बन्ध-अधिकार की गाथा २७२ में जो बात आनेवाली है, वही बात आचार्य अमृतचन्द्र ने भूमिका के रूप में पहले ही कलश १७३ में कह दी है।

अहाहा! 'पर से नहीं हुआ' फिर भी वह कार्य 'पर' का है, स्व का नहीं। कैसी विचित्र बात है! यहाँ राग का कार्य अपनी पर्याय में हुआ है – यह सिद्ध करने के लिए 'पर से नहीं हुआ' – यह वाक्य कहा है, इसप्रकार पर्याय की अपेक्षा से पर्याय की बात की है; परन्तु वस्तु के स्वभाव को देखें तो वह रागपर्यायरूप कार्य 'पर' है – ऐसा भासित होता है, क्योंकि त्रिकाली शुद्ध चैतन्यमय वस्तु का अनुभव करने पर अर्थात् निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान के परिणाम से द्रव्य का अनुभव करने पर इस परिणाम में राग का वेदन नहीं आता। अतः राग पर का कार्य है। भाई! यह समयसार है। ऊपर-ऊपर से (उथलेपन से) पढ़ लेने से यह समझ में नहीं आ सकता, इसकी एक-एक पंक्ति में बहुत गंभीर भाव भरा है।

अहाहा! क्या वस्तुस्थिति बताई है? भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त शुद्ध चिदानंदमय वस्तु है। वह अनन्त शक्ति-गुण-स्वभाव से मण्डित अभेद एकाकार वस्तु है। इसमें ऐसा कोई गुण-शक्ति व स्वभाव नहीं है, जो विकार को उत्पन्न करे; तथापि पर्याय में जो विकार होता है, वह विकार का स्वतः परिणमन है। उसे निमित्त के कारकों की भी अपेक्षा नहीं है। अब कहते हैं कि चैतन्यस्वभाव से व्याप्त शुद्ध आत्मा का अनुभव करने पर इसकी निर्मल अनुभूति में विकार – राग नहीं आता, भिन्न रह जाता है। यदि यह चैतन्यस्वरूपमय हो तो चैतन्य की अनुभूति में आना चाहिये, परन्तु ऐसा होता नहीं; इसलिए राग अचेतन है।

अहाहा! आत्मा शुद्ध चैतन्यमय वस्तु है। जब ज्ञान परिणाम अन्दर शुद्ध चैतन्यवस्तु में निमग्न हुआ, तब राग स्वयं आत्मा से भिन्नपने ज्ञात होता है; इसलिए राग जीव का परिणाम नहीं है। अहाहा! चैतन्य-स्वभावी आत्मवस्तु में ढला हुआ जो श्रद्धा-ज्ञान का निर्मल परिणाम है, वह जीव का है; किन्तु इन निर्मल परिणामों के साथ राग नहीं आता। अहाहा! ज्ञान के परिणाम से राग भिन्न रहता है। राग का ज्ञान ज्ञान के परिणाममय है, रागमय नहीं है। राग स्वयं से भिन्न है – ऐसा ज्ञान होता है। आचार्य कहते है कि भगवान! तू चैतन्यस्वभाव से व्याप्त आत्मा है। भाई! 'आत्मा व्यापक व राग व्याप्य' – ऐसा जहाँ कहा है, वहाँ आत्मा को पर से भिन्न सिद्ध करने के लिए कहा है। कलशटीका में

भी आता है कि राग का व्याप्य-व्यापकपना आत्मा के साथ है, पर के साथ नहीं। भाई ! वहाँ पर से भिन्न अपनी पर्याय सिद्ध की है। यहाँ तो शुद्ध चैतन्यमय आत्मा के अन्दर ढलता हुआ जो ज्ञान-दर्शन या जानने-देखने का परिणाम होता है, उसमें राग नहीं आता; परन्तु अपने से भिन्नपने ज्ञात होता है, इसलिए राग अचेतन – पुद्गल का है, यह कहा है।

यह बात रूखी (अरुचिकर) लगती है, इसलिए अज्ञानी जीव भगवान की स्तुति-भक्ति एवं दानादि करके सन्तोष कर लेता है। व्यवहार से निश्चय होता है अथवा व्यवहार साधक है व निश्चय साध्य है – ऐसा जो मानता है, उसका तो शास्त्रज्ञान भी सच्चा नहीं है। आगम की वास्तविक शैली क्या है ? इसकी भी उसे खबर नहीं है। जहाँ व्यवहार को साधक कहा है, वह तो आरोपित कथन है। साधक का कथन दो प्रकार से है, साधक दो प्रकार के नही हैं। जैसे मोक्षमार्ग का कथन दो प्रकार से है, मोक्षमार्ग कहीं दो प्रकार का नहीं है। यदि मोक्षमार्ग दो प्रकार का हो तो व्यवहार-मोक्षमार्ग से व्यवहार-मोक्ष तथा निश्चय-मोक्षमार्ग से निश्चय-मोक्ष होगा, किन्तु ऐसा तो है नहीं। भाई ! व्यवहार-मोक्षमार्ग तो बन्धन का कारण है, परन्तु उसे आरोप से मोक्षमार्ग कहा है।

जैसे गुणस्थान के बारे में कहा, उसीप्रकार राग-द्वेष आदि दूसरे सभी बोलों पर घटा लेना चाहिये। जैसे राग को ही लें। राग पुद्गल के विपाकपूर्वक होने से पुद्गल है, क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है। आगम भी राग को पुद्गल ही कहता है। तथा भेदज्ञानियों द्वारा भी राग आत्मा से भिन्नपने उपलभ्यमान है, इसलिए वह राग पुद्गल ही है। इसीप्रकार द्वेषादि प्रत्येक बोल में घटा लेना चाहिए।

द्वेष का परिणाम पुद्गल के विपाक से हुआ होने से पुद्गल ही है। आगम भी उसे पुद्गल कहता है। तथा भेदज्ञानियों द्वारा अनुभव में भी वह भिन्नपने उपलभ्यमान है, इसलिए द्वेष पुद्गल ही है। यहाँ आगम अर्थात् निश्चयनय अर्थात् अध्यात्मरूप आगम लिया है। इसका स्पष्टीकरण पहले गाथा ४६ के संदर्भ में आ गया है। अध्यवसानादि भावों को व्यवहार से जीव कहा है, परन्तु परमार्थदृष्टि से वे जीव के नहीं हैं। भाई ! अपनी मान्यता को सिद्धान्त के अनुसार पलटना चाहिए, दृष्टि या मान्यता के अनुसार सिद्धान्त में फेरबदल नहीं करना चाहिए।

इसीप्रकार मोह – मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग; इन पाँचों पर घटा लेना। ये पाँचों ही प्रत्यय पुद्गलपूर्वक होने से पुद्गल

हैं। आगम भी इन्हें पुद्‌गल ही कहता है। तथा आत्मा के अनुभव में भी आस्रव स्व से भिन्नपने ही ज्ञात होते हैं। अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा के अनुभव में आस्रव नहीं आते, इसलिए वे पुद्‌गल ही हैं।

इसीप्रकार कर्म – द्रव्यकर्म, नोकर्म – शरीर-मन-वाणी आदि, वर्ग-वर्गणा-स्पर्द्धक आदि सब तो प्रत्यक्ष से जड़ – पुद्‌गल ही हैं।

अब कहते हैं कि अध्यवसानस्थान पुद्‌गलपूर्वक होने से पुद्‌गल हैं। आगम भी इन्हें पुद्‌गल कहता है। तथा भेदज्ञानियों द्वारा भी चैतन्य-स्वभाव से व्याप्त भगवान आत्मा का अनुभव करने पर भिन्न रह जाते हैं, अनुभव में नहीं आते; इसलिए वे पुद्‌गल हैं।

इसीप्रकार अनुभागस्थान अर्थात् पर्याय में होनेवाले अनभागरस के भाग, योगस्थान अर्थात् कम्पन के स्थान, बन्धस्थान अर्थात् विकारी पर्याय के बन्ध के प्रकार, उदयस्थान तथा मार्गणास्थान – ये सर्व पुद्‌गलपूर्वक होने से पुद्‌गल ही हैं। आगम भी उनको पुद्‌गल ही कहता है। तथा भेदज्ञानियों द्वारा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त आत्मा का अनुभव करने पर भी वे भिन्न ही रह जाते हैं, इसलिए वे पुद्‌गल ही हैं।

इसीप्रकार स्थितिबंधस्थान अर्थात् कर्म की स्थिति के प्रकार से उत्पन्न हुई आत्मा की क्षयोपममजन्य योग्यता भी पुद्‌गल ही है तथा संक्लेशस्थान अर्थात् अशुभभाव के सभी प्रकार – हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अशुभभाव भी पुद्‌गलपूर्वक होने से पुद्‌गल ही हैं। आगम में भी इन्हें पुद्‌गल कहा है। भेदज्ञानियों द्वारा चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव करने पर ये अनुभूति से भिन्न रह जाते हैं; इसलिए ये पुद्‌गल ही हैं।

विशुद्धिस्थान अर्थात् जो असंख्यात प्रकार के प्रशस्त शुभभाव हैं, वे पुद्‌गलपूर्वक होने से पुद्‌गल ही हैं। आगम में भी उन्हें पुद्‌गल कहा है। भेदज्ञानियों द्वारा शुद्ध आत्मा का अनुभव करने पर भी वे अनुभव में नहीं आते, भिन्न ही रह जाते हैं; इसलिए वे पुद्‌गल ही हैं। लोगों को यह बात कठिन पड़ती है, परन्तु भाई! चाहे जैसा शुभभाव हो, भले ही तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति बंधे – ऐसा सोलहकारण भावना का शुभ-भाव हो; सभी शुभभाव पुद्‌गलपूर्वक होने से पुद्‌गल ही हैं, वे चैतन्य के भाव नहीं हैं। भगवान चैतन्यदेव का कार्य तो आनन्द व वीतरागी शान्ति का अंकुर फूटे – ऐसा चैतन्यमय ही होता है। इसमें विशुद्धिस्थान नहीं आते, इसलिए वे पुद्‌गल ही हैं। इसीप्रकार संयमलब्धिस्थान भी पुद्‌गल-

कर्मपूर्वक होने से नित्य अचेतन – पुद्गल हैं। आगम भी उन्हें पुद्गल कहता है। तथा आत्मानुभूति में भी ये भेद नहीं समाते। इसकारण वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं – ऐसा स्वतः सिद्ध हो जाता है।

यहाँ मूल में तो त्रिकाली शुद्धचैतन्यस्वभाव से व्याप्त ध्रुव भगवान आत्मा सिद्ध करना है। जो चैतन्यस्वभाव से व्याप्त है, वह जीव है। इसकारण चैतन्य से भिन्न – राग व भेद आदि सभी भाव चैतन्यमय नहीं हैं, इसलिए अचेतन हैं – ऐसा कहा है। तथा ये सभी भाव पुद्गल के विपाकपूर्वक होने से पुद्गल ही हैं, जीव नहीं। जिसप्रकार पहले गुणस्थान आदि जीव नहीं हैं – यह सिद्ध किया था, उसीतरह ये रागादि सभी भाव जीव नहीं है – यह स्वतः सिद्ध हो गया।

गाथा ६८ के भावार्थ पर प्रवचन

शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में चैतन्य अभेद है। आत्मा त्रिकाल ध्रुवद्रव्य है – ऐसे त्रिकाली शुद्ध भगवान आत्मा का ही जिसमें प्रयोजन है, ऐसे नय से देखने पर चैतन्य अभेद है। इसमें दया-दान आदि राग या संयमलब्धिस्थान आदि के भेद नहीं हैं। भाई ! परमात्मा त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित मुक्तिमार्ग सन्तों ने जगत के जीवों के हितार्थ प्रकाशित किया है। वे कहते हैं कि प्रभु तू शुद्ध द्रव्यदृष्टि से अभेद है, इसलिए तू उसी पर दृष्टि स्थिर कर !

शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से चैतन्य अभेद है और इसका परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन है। अहाहा ! ज्ञाता-दृष्टा के आनन्द का परिणाम ही चैतन्य का परिणाम है; परन्तु दया-दान-व्रत-तप-भक्ति आदि का जो परिणाम होता है, वह चैतन्य का परिणाम नहीं है। अहो ! ऐसी बात सुनने की लोगों को फुरसत नहीं मिलती। सारा दिन व्यापार-धंधा, खाना-कमाना, स्त्री-बच्चों के पालन-पोषण आदि पाप के कार्यों में चला जाता है। कदाचित् सुनने जायें भी तो भक्ति करो, उपवास करो, यात्रा करो, दान दो – इससे ही भला हो जायेगा। बस, यही सुनने को मिलता है। भाई ! ये सब तो राग हैं और राग को यहाँ पुद्गल का परिणाम कहा है। परन्तु क्या करें ? दुनिया तो इसी में धर्म माने बैठी है।

भगवान आत्मा चैतन्यस्वभावी जागती ज्योतिस्वरूप अभेद एकरूप शुद्ध वस्तु है। इस अभेद के आश्रय से जो निर्मल ज्ञान-दर्शन का परिणाम होता है, वह जीव का परिणाम है। तथा आत्मा की पर्याय में जो दया-दान-काम-क्रोध आदि राग-द्वेष के विकल्प होते हैं; वे चैतन्य के विकार हैं,

चैतन्य के स्वभावभाव नहीं हैं। विकार उत्पन्न करे – ऐसी चैतन्य में कोई शक्ति व गुण ही नहीं है। जो आत्मा में विकृत पर्याय होती है, वह पर के लक्ष्य से होती है। वस्तुतः होती तो स्वयं से ही है और स्वयं में ही होती है, किन्तु निमित्त के या पर के लक्ष्य से होती है, अतः निमित्त से हुई – ऐसा कहा जाता है। निमित्त के लक्ष्य से उत्पन्न हुए चिद्विकार चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक नहीं होने से चैतन्यशून्य हैं, जड़ हैं। भगवान आत्मा अनादि-अनन्त त्रिकाल है, उसकी अनादि-अनंत सर्व अवस्थाओं में ये विकार नहीं रहते। ये पुण्य-पापरूप शुभाशुभभाव तथा गुणस्थान आदि भेदभाव चैतन्य की प्रत्येक अवस्था में व्यापक नहीं हैं, इसलिए ये विकार चैतन्य से शून्य हैं अर्थात् जड़ हैं। भाई! सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन तथा उसका विषय समझने की जरूरत है।

सम्यग्दर्शन धर्म का प्रथम सोपान है और इसका विषय त्रिकाली शुद्ध अभेद चैतन्यस्वभावी वस्तु है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय कहो या सम्यग्दर्शन का विषय कहो – दोनों का विषय त्रिकाली शुद्धचैतन्यमय भगवान आत्मा है। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि इसके परिणाम होने से जीव हैं। जबकि रागादि व गुणस्थान आदि भेद के भाव स्वभावपूर्वक नहीं होने से तथा निमित्त – पुद्गलकर्म के विपाकपूर्वक होने से सदा ही अचेतन – पुद्गल ही हैं। जो कोई दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के भावों से धर्म हुआ मानता है; वह मूढ़ – मिथ्यादृष्टि है, उसे जैनधर्म की खबर नहीं है। भाई! सुखी होना हो तो सच्ची समझ करनी पड़ेगी।

दया-दान-भक्ति आदि के भाव पुण्यभाव हैं तथा धन्धा-व्यापार, स्त्री-पुत्र-परिवार आदि संभालने के हिंसादि भाव पापभाव हैं। ये पुण्य-पाप के भाव हैं तो जीव की ही विकारी अवस्थायें, परन्तु चैतन्यभाव से शून्य हैं; अतः जड़ – अचेतन हैं। पुद्गलकर्मपूर्वक होने से पुद्गल ही हैं, यह युक्ति है। आगम में भी इन्हें अचेतन कहा है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से आगम में भी उन्हें अचेतन कहा है। भेदज्ञानियों को ये भी सभी भाव चैतन्य से भिन्न अनुभव में आते हैं। इसप्रकार युक्ति, आगम व अनुभव – तीनों ही प्रकार से ये चिद्विकार व भेदभाव पुद्गल ही हैं – यह सिद्ध हुआ। लोगों को एकान्त लगता है, परन्तु भाई! यह तो न्याय से भगवान के आगम में भेदज्ञानियों के अनुभव से सिद्ध हुई बात है। भाई! राग तथा भेद से भिन्न अभेद भगवान आत्मा का अनुभव करने पर इसमें राग व भेद नहीं आते; इसकारण वे अचेतन हैं, पुद्गल हैं; जीव नहीं हैं।

लोग तो परजीव की दया पालने को अहिंसा कहते हैं और उसे ही सर्व सिद्धान्त का सार परमधर्म मानते हैं। उनसे कहते हैं कि भाई ! तुम्हें वस्तु की खबर नहीं है, तुमने सत्य को सुना ही नहीं है। भगवान ! एकबार सुन तो सही कि तेरा स्वभाव क्या है ? तू तो चैतन्यस्वभावी अभेदवस्तु है न ? नाथ ! इसमें विकार है ही कहाँ, जो उत्पन्न हो ? तू पर की दया तो पाल ही नहीं सकता; परन्तु दया का जो शुभभाव तुझमें होता है – वह भी चैतन्यमय नहीं है, किन्तु पुद्‌गलकर्मपूर्वक होने से पुद्‌गल ही है। अहाहा ! क्या न्याय है ? न्याय से समझना पड़ेगा न ? भाई ! यह जीवन चला जा रहा है। हमें ऐसा मनुष्यभव मिला, इसमें भी देवाधिदेव जिनेश्वरदेव द्वारा कहा हुआ आत्मा का स्वरूप नहीं समझ सके तो मनुष्यभव निष्फल चला जायेगा। अहाहा ! ज्ञानानन्द का सागर भगवान आत्मा ध्रुव चैतन्यमय वस्तु है, वह अभेद एकरूप निर्मल है। इसमें विकार कहाँ है, जो होवे; इसमें तो ज्ञान-आनन्द का निर्मल परिणाम होता है; यही चैतन्य का परिणाम है।

प्रश्न :– फिर पर्याय में जो विकार होता है, वह क्या है ?

उत्तर :– भाई ! पर्याय में जो विकार होता है, वह चैतन्य का परिणाम नहीं है; पुद्‌गलकर्मपूर्वक होने से अचेतन – पुद्‌गल है। यदि वह जीव का भाव हो तो जीव से कभी पृथक् नहीं हो सकता तथा सदैव चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में रहेगा, किन्तु यह तो निकल जाता है व सिद्धों में सर्वथा नहीं है। भेदज्ञानियों की निर्मल अनुभूति में भी यह नहीं आता, भिन्न ही रह जाता है। यदि राग व भेद जीव के हों तो स्वानुभव में आना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिए ये अचेतन हैं। परमागम भी यही कहता है, इसलिए रागादिभाव जीव नहीं हैं, पुद्‌गल ही हैं – यह सिद्ध हुआ।

अहो ! तत्त्व की गंभीर बात सुनकर अज्ञानी को ऐसा लगता है कि ये क्या कहते हैं ? यह कैसा धर्म ? व्रत करना, तप करना, उपवास करना, भगवान की भक्ति-पूजा-स्तुति करना, यात्रा करना, मन्दिर बनवाना, रथयात्रा वगैरह निकालना – ये सब कहाँ गये ? क्या ये सब धर्म नहीं हैं ? अतः उससे कहते हैं कि धैर्य से सुन ! जिसे तू धर्म मानता है, ये सब राग की क्रियायें हैं और तू तो चैतन्यस्वरूप है। भगवान ! राग तो अचेतन है तथा पुद्‌गलकर्म के विपाकपूर्वक होता है, इसलिए इसे तो भगवान ने निश्चय से पुद्‌गल का कार्य कहा है। गजब बात है ! विकार व भेद से रहित अभेद एकरूप चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा है, राग की

आड़ में यदि इसकी दृष्टि नहीं की तो कहाँ जायेगा। भव बदलकर कहीं न कहीं तो जायेगा ही। स्वरूप को समझे बिना नरक-निगोद में अनन्त दुःख पायेगा। यहाँ विचार करने और समझने का अवसर प्राप्त हुआ है। अतः धर्म क्या है ? इस बात का यथार्थ निर्णय कर लेना चाहिए।

गाथा ४९ की टीका में आया है कि 'जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है' – इसका अर्थ यह है कि ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का जो अनुभव करते हैं – उन भेदज्ञानी जीवों के अनुभव में अतीन्द्रियज्ञान, आनन्द, शान्ति का स्वाद आता है; राग व भेद अनुभव में नहीं आते। तात्पर्य यह है कि चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा से राग व भेद भिन्न हैं। राग व भेद के भाव चैतन्यमय नहीं हैं, अचेतन ही हैं। भाई ! लोगों को कठिन लगता है, पर बात ऐसी ही है।

इस कथन से कोई ऐसा मान ले कि कर्म के कारण राग होता है, सो एकान्तरूप से ऐसा नहीं है। भाई ! तू यथार्थ बात को नहीं समझा। 'कर्म है, इसलिए राग होता है' – ऐसा है ही नहीं। जीवद्रव्य की पर्याय में जो विकार – अपराध होता है, वह स्वयं से ही होता है। वह अपराध स्वयं का ही है; परन्तु वह 'स्वभाव' का कार्य नहीं है – ऐसा यहाँ कहते हैं। भगवान आत्मा तो त्रिकाल निरपराधस्वरूप निराकुल आनन्दमय निर्मलानन्द प्रभु चैतन्यस्वभावी वस्तु है। इसका कार्य अपराध – विकार कैसे हो ? निरपराधस्वभाव में से अपराध – विकार का जन्म कहाँ से हो ? विकार होता तो है ? जीव की पर्याय में विकार होता तो स्वयं से ही है; विकाररूप पर्याय का जन्मक्षण है, इसकारण विकार होता है; परन्तु पुद्गलकर्म का – निमित्त का लक्ष्य होने पर होता है। इसकारण वह विकार पुद्गल का है – ऐसा कहा है। भाई ! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, इसे धैर्य से व न्याय से समझना चाहिए।

दृष्टि का विषय त्रिकाल अभेद आत्मा है। अभेद की दृष्टि में अभेद चैतन्यस्वभाव ही ज्ञात होता है। पर्याय में जो रागादि हैं, वे अभेद-दृष्टि में नहीं आते; इसलिए वे अचेतन हैं। रागादि पुद्गलकर्मपूर्वक होते हैं; इसलिए वे पुद्गल हैं, जीव नहीं हैं। भाई !'जौ में से जौ ही होता है' क्या जौ में से बाजरा हो सकता है ? जौ कारण तथा बाजरा कार्य – ऐसा कैसे हो सकता है ? जौ के बीज से बाजरा का पौधा उग ही नहीं सकता। उसीप्रकार पुद्गलकर्म के विपाकपूर्वक हुआ विकाररूप कार्य भी पुद्गल ही है, इसलिए रागादि पुद्गल ही हैं, जीव नहीं – ऐसा सिद्ध हुआ। इसप्रकार स्वभाव से विभाव का भेदज्ञान कराया।

अन्तस्तत्त्व चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा परमात्मस्वरूप है, वह अभी भी परमात्मस्वरूप से ही विराजमान है। इस परमात्मस्वरूप का कार्य क्या राग हो सकता है ? राग है तो जीव की ही पर्याय और वह स्वयं का ही अपराध है, परन्तु वह चैतन्यस्वभाव से उत्पन्न हुआ कार्य नहीं है। इसकारण द्रव्य-गुण के आश्रय बिना पर्याय में अधर से उत्पन्न हुये राग को पुद्गल का कहा है। पुद्गलकर्म राग नहीं कराता, उसके कारण राग होता भी नहीं है, परन्तु कर्मरूप निमित्त के लक्ष्य से राग होता है; इसलिए पुद्गल का कार्य कहा है। ये रागादिभाव स्वभाव के ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं और पुद्गलकर्म के निमित्त के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं; इसलिए वे निश्चय से पुद्गल के ही हैं – ऐसा निश्चित होता है। अरेरे ! जो ऐसी बात सुनने की भी फ़ुरसत नहीं निकाले, वह अनुभव तो कब करे ?

इसप्रकार यह सिद्धि की कि पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से हुआ चैतन्य का विकार भी जीव नहीं है, पुद्गल है। भाई ! कर्म, शरीर, मन, वाणी इत्यादि जड़पदार्थ तो जड़ हैं ही; यहाँ तो विकारी भाव भी स्वभाव के कार्य नहीं हैं, किन्तु पुद्गल के आश्रय से होते हैं; अतः पुद्गल के कार्य हैं – ऐसा कहा है। विकार परकारकों से निरपेक्ष अपनी पर्याय में अपने षट्कारकों से स्वयं उत्पन्न होता है। यद्यपि आत्मा के द्रव्य-गुण में तो विकार है ही नहीं; तथापि पर्याय में जो विकार होता है, वह अपने षट्कारकों से उत्पन्न होता है। द्रव्य-गुण विकार के कारण नहीं हैं, क्योंकि द्रव्य-गुण में विकार नहीं है। परनिमित भी विकार का कारण नहीं है, क्योंकि पर को विकार की पर्याय स्पर्श ही नहीं करती अर्थात् विकार की पर्याय का पर में अभाव है तथा परनिमित्त का विकार में अभाव है। अहा ! पंचास्तिकाय की गाथा ६२ में जीवास्तिकाय सिद्ध करना है। इसकारण जीव की पर्याय में विकार स्वयं से है – ऐसा कहा है।

'शुभ-आचरण से जीव को धर्म होता है' – यह बात अज्ञानी के मन में दृढ़ता से जम गई है। अतः वह कहता है कि शुभभाव में धर्म नहीं है तो क्या खाने-पीने और मौज-मस्ती करने में धर्म है ? उससे कहते हैं कि अरे प्रभु ! तू क्या कहता है ? यहाँ यह बात कहाँ से आई ? खाने-पीने में जो शरीरादि की क्रिया है; वह तो जड़ की क्रिया है, इसे तो तू कर ही नहीं सकता तथा खाने-पीने का जो राग है, यह अशुभभाव है – इससे भी धर्म कैसे होगा ? परन्तु जो व्रत-तप-उपवासादि का भाव है, वह भी शुभ-राग है। शुभ और अशुभ – दोनों प्रकार के राग चैतन्य के विकार हैं। स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे चैतन्य से भिन्न ज्ञात होते हैं।

अहाहा ! त्रिकाली ध्रुव भगवान ज्ञायकस्वरूप आत्मा में दृष्टि देने पर ये दोनों शुभाशुभराग अनुभूति से भिन्न रह जाते हैं। ये शुभाशुभराग कर्म के उदयपूर्वक होते हैं, इसकारण वे निश्चय से कर्म – पुद्गल के ही हैं, ऐसा सिद्ध होता है। भाई ! इसप्रकार स्वभाव-विभाव का भेदज्ञान करके, त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि करके, विभाव को नष्ट करने की यही रीति है तथा इसीप्रकार अनुसरण करने पर धर्म होता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादिक और रागादिक जीव नहीं हैं तो जीव कौन है ? उसके उत्तररूप श्लोक कहते हैं :–

तर्हि को जीव इति चेत् –

(अनुष्टुभ्)

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥४१॥

श्लोकार्थ :– [**अनादि**] जो अनादि है, [**अनन्तम्**] अनन्त है, [**अचलं**] अचल है, [**स्वसंवेद्यम्**] स्वसंवेद्य है [**तु**] और [**स्फुटम्**] प्रगट है – ऐसा जो [**इदं चैतन्यम्**] यह चैतन्य [**उच्चैः**] अत्यन्त [**चकचकायते**] चकचकित – प्रकाशित हो रहा है, [**स्वयं जीव**] वह स्वयं ही जीव है।

भावार्थ :– वर्णादिक और रागादिक भाव जीव नहीं हैं; किन्तु जैसा ऊपर कहा, वैसा चैतन्यभाव ही जीव है।

कलश ४१ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

जिनमें उक्त २९ बोल समाहित हैं – ऐसे रंग, राग तथा भेद के भाव तो अजीव – पुद्गल हैं तो फिर यह भगवान आत्मा कौन है और कैसा है ? – ऐसा प्रश्न उत्पन्न होने पर आचार्य कहते हैं कि आत्मा चैतन्य-स्वभावी वस्तु अनादि-अनन्त एवं अचल है। अनादि है अर्थात् यह किसी काल में उत्पन्न नहीं हुई तथा अनन्त है अर्थात् इसका कभी नाश नहीं होगा। अचल है अर्थात् कभी भी चैतन्यपने से अन्यरूप नहीं होती। कम्प-रहित ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा कभी रंग, राग व भेदरूप नहीं होता। तथा वह आत्मा स्वसंवेद्य है, स्वयं को स्वयं से ही ज्ञात होता है। आत्मा रंग-राग-भेद से नहीं, किन्तु स्वभाव की निर्मल परिणति से ही ज्ञात होता है। अहाहा ! चैतन्यप्रकाश की मूर्ति भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव से ही पर्याय में जाना जाता है।

चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा अनादि है, अनन्तकाल तक रहेगा तथा कभी भी अन्यरूप नहीं होगा – ऐसा चलाचलतारहित अचल है, परन्तु वह किसप्रकार जाना जा सके ? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होने पर आचार्य समझाते हैं कि वह स्वसंवेद्य है अर्थात् वह ज्ञान व आनन्द की निर्मल पर्याय द्वारा ही जाना जा सकता है।

जो कोई ऐसा कहते हैं कि यह आत्मा व्यवहार-रत्नत्रय से जाना जाता है; उनका यह मानना ठीक नहीं है, क्योंकि व्यवहार-रत्नत्रय तो राग है, एवं राग पुद्गल है; पुद्गलरूप व्यवहार-रत्नत्रय से चैतन्यमय जीव कैसे जाना जा सकता है ? यह तो चैतन्य की निर्मल प्रतीति-ज्ञान-रमणता द्वारा ही जाना जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य करोड़ों क्रियाकाण्ड करे, किन्तु उनसे आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता।

व्यवहार-रत्नत्रय का राग, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग तथा पंचमहाव्रत के परिणाम इत्यादि सब तो राग में – पुद्गल में जाते हैं। 'मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ' – यह भजन पण्डित हुकमचन्दजी ने बनाया है न ? उसमें रंग, राग तथा भेद से भिन्न – ऐसे तीन बोल लिए हैं। अर्थात् भगवान आत्मा रंग, राग तथा भेद के भावों से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी चैतन्य से स्वयं परिपूर्ण वस्तु है; वह रंग, राग व भेद के भावों से कैसे जाना जा सकता है ? अतः नहीं जानी जा सकती।

प्रश्न :– पं० दीपचन्दजी ने आत्मावलोकन में शुभभाव परम्परा से साधक है – इसप्रकार तो कहा है ?

उत्तर :– भाई ! शुद्धचैतन्य स्वयं की निर्मल परिणति से ही ज्ञात होता है, क्योंकि वह स्वसंवेद्य है। परन्तु जिस अन्तिम शुभभाव को टालकर शुद्धपरिणति होती है, उस शुभभाव को आरोप से परम्परासाधक कहा है।

अहाहा ! इस श्लोक में कितना गम्भीर भाव भरा है ? कहते हैं कि चैतन्यस्वभावमय आत्मा अनादिकाल का है व अनन्तकाल तक रहेगा, वह चलाचलतारहित अकम्प ध्रुव भगवान है। वह वर्त्तमान में किसप्रकार जाना जा सकता है ? तो कहते हैं कि आत्मा स्वयं स्वयं से ही जाना जाता है। निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति से ही जाना जाता है।

कलशटीका में प्रश्न उठाया है कि :– तुम तो ऐसा कहते हो कि आत्मा दर्शन-ज्ञान से जाना जाता है, परन्तु मोक्षमार्ग तो दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय है, तो वहाँ मोक्षमार्ग किसप्रकार बनता है ? मिथ्यात्व जाने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ है, चारित्र तो हुआ नहीं, तो वहाँ मोक्षमार्ग

किसप्रकार कहा जा सकता है ? वहाँ इस प्रश्न का स्पष्टीकरण किया है कि :– भाई ! दर्शन-ज्ञान होने पर उसमें चारित्र भी आ जाता है । चैतन्य-स्वभाव से आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान होने पर इसकी ओर की प्रतीति, इसकी सन्मुखता का ज्ञान तथा इसकी सन्मुखता की स्थिरता – ये तीनों ही सम्मिलित हैं। अहाहा ! भगवान आत्मा स्वसंवेद्य है, इसमें ये तीनों ही आ जाते हैं । अर्थात् निर्विकल्प सम्यक्-प्रतीति से, रागरहित ज्ञान से तथा अस्थिरतारहित स्थिरता के अंश से – इसप्रकार एकसाथ तीनों से ही भगवान आत्मा ज्ञात होता है ।

अब कहते हैं कि भगवान आत्मा स्फुट है, प्रगट है अर्थात् छिपा नहीं है । समयसार में अलिंगग्रहण की ४९वीं गाथा में उसे अव्यक्त कहा है, जबकि यहाँ स्फुट – प्रगट या व्यक्त कहते हैं । चैतन्यज्योति चकचकित – जगमगाती हुई प्रगट है, व्यक्त है । पर्याय की अपेक्षा आत्मा गुप्त है, अव्यक्त है; किन्तु स्वभाव की अपेक्षा से तो यह व्यक्त – प्रगट ही है । पर्याय को जब व्यक्त कहते हैं, तब द्रव्य को अव्यक्त कहते हैं; क्योंकि पर्याय में त्रिकाली द्रव्य नहीं आता । जब द्रव्य को ही कहना हो, तब चैतन्य-स्वभावमय द्रव्य-वस्तु जगमगाती हुई वर्त्तमान में अपनी सत्ता से मौजूद प्रगट ही है – ऐसा कहा जाता है । अहाहा ! भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव-स्वरूप शाश्वत जाज्वल्यमान ज्योति प्रगट है; परन्तु जिसने ऐसे आत्म-स्वभाव को जाना, अनुभव में लिया – उसे ही यह आत्मा प्रगट है, सबके लिए नहीं। भाई ! यह तो त्रिलोकीनाथ वीतराग परमेश्वर की वाणी है । सन्त तो इसे जगत के समक्ष प्रगट करते हैं, हमारा परम हित करते है ।

आचार्य कहते हैं कि आत्मा तो वस्तुरूप से प्रगट, है; परन्तु पर्याय-बुद्धि में वह अप्रसिद्ध – ढँका हुआ है, इसकारण अज्ञानी को तो वह है ही नहीं । वर्त्तमान अंश तथा राग के वश होकर अज्ञानी ने चैतन्यस्वभावी आत्मा को मरणतुल्य कर डाला है, परन्तु अपनी निर्मलपरिणति द्वारा जब वह जानने में आता है, तब वह जीवती-ज्योति प्रगट ही है – ऐसा कहते हैं । अहो ! जैनदर्शन अलौकिक है । जैनधर्म अनुभूतिस्वरूप या वीतरागस्वरूप है । अहाहा ! जैन उसे कहते हैं, जिसने मोह-राग को जीता तथा पर्याय में वीतरागता प्रगट की है । जैनधर्म है तो ऐसा, परन्तु बनियों के हाथ पड़ गया है । बनिये व्यापार में कुशल हैं इसलिए बस, धन्धे में ही फंस गये हैं । तत्त्व को समझने की फुरसत नहीं है, अतः बाहर की क्रियाओं में अटक गये हैं; परन्तु भाई ! यह सब तो अज्ञान की होली है ।

रंग, राग तथा भेद के भाव तो पुद्गल हैं। इन सबसे भिन्न प्रगट चैतन्यस्वभावमय आत्मा है। अहाहा ! भगवान आत्मा मात्र चैतन्यस्वभाव से भरा है अर्थात् चैतन्यस्वभाव ही आत्मा है। इस ६८वीं गाथा की टीका में आता है कि आत्मा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त है। 'आत्मा में चैतन्य-स्वभाव व्याप्त है' – ऐसा न कहकर 'चैतन्यस्वभाव से व्याप्त आत्मा' – ऐसा कहकर यह सिद्ध करना है कि चैतन्यस्वभाव त्रिकाल कायम रहने-वाला है; तथा चैतन्यस्वभाव व्यापक है व आत्मा इसका व्याप्य है। मोक्ष अधिकार की गाथा २९८–२९९ की टीका में भी आता है कि चेतना से व्याप्त आत्मा है अर्थात् चेतना व्यापक तथा आत्मा इसका व्याप्य है; इसप्रकार चैतन्यस्वभाव कायमी (स्थिर) है, यह सिद्ध किया है।

आत्मा रंग-राग-भेद से व्याप्त नहीं है, भिन्न है। आत्मा चैतन्य-स्वभाव से व्याप्त है – ऐसा चैतन्यस्वभाव सदैव प्रगट है, स्फुट है, प्रत्यक्ष है। अहाहा ! शुद्ध चैतन्य की परिणति से ज्ञात होने योग्य आत्मा वर्त्तमान में प्रत्यक्ष है। मति-श्रुतज्ञान की पर्याय में जाना जा सके – ऐसा वह आत्मा वर्त्तमान में प्रत्यक्ष है, प्रगटपने विराजमान है। राग की अपेक्षा से वह चैतन्यस्वरूप आत्मा गुप्त है, क्योंकि वह राग में नहीं आता; परन्तु निर्मल परिणति द्वारा वह स्फुट – प्रगट ही है, छिपा हुआ नहीं है। दया-दान-व्रत-तप-भक्ति आदि के विकल्पकाल में वस्तु प्रसिद्ध नहीं होती है, गुप्त रहती है; क्योंकि इन विकल्पों में वस्तु नहीं आती, वस्तु तो निर्विकल्प चैतन्यमय शुद्ध है तथा वह शुद्ध परिणति की अपेक्षा से प्रगट प्रत्यक्ष ही है। अहा ! शैली तो देखो ! कितनी स्पष्ट बात है।

देखो, यह आत्मा चैतन्य की निर्मल परिणति द्वारा जाना जाता है। जब वह जाना जाता है, तब प्रत्यक्ष – प्रगट है; इसप्रकार ज्ञात होता है। वह परोक्ष है, अप्रगट है – यह कथन तो उसकी अपेक्षा है, जो राग को रमत (प्रेम) में बैठा है। जो व्यवहार-रत्नत्रय को रमत (प्रेम) में पड़ा है; उसे तो भगवान आत्मा अप्रत्यक्ष – गुप्त है, क्योंकि वह उसको जानता ही नहीं है। वास्तव में तो जब स्वसंवेदनज्ञान की निर्मल परिणति द्वारा आत्मा जाना जाता है, तब ही आत्मा प्रत्यक्ष है।

प्रश्न :– ऐसा आत्मा तो जिनदेव का होगा ?

उत्तर :– भाई ! जिनदेव का अर्थात् जिनस्वरूपी इसी भगवान आत्मा का ऐसा स्वरूप है। अहाहा ! सभी आत्मायें निश्चय से ऐसी ही हैं। समयसार नाटक की अन्तिम प्रशस्ति के ३१वें छन्द में कहा है कि :–

घट-घट अन्तर जिन बसे घट-घट अन्तर जैन ।
मत-मदिरा के पान सौं, मतवाला समुझै न ।।

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का ऐसा स्वरूप है कि वह प्रगट है, ढका हुआ नहीं है। अज्ञानदशा में वह गुप्त था, परन्तु अब ज्ञानदशा में प्रगट हो गया है – ऐसा कहते हैं। दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के राग की परिणति में तो वह चैतन्यवस्तु गुप्त थी, परन्तु अब स्व-परिणति के वेदन से वह प्रत्यक्ष – प्रगट हुई है। बहुत संक्षिप्त शब्दों में आत्मा को प्रसिद्ध किया है। टीका का नाम भी आत्मख्याति है न ! भगवान आत्मा चैतन्य स्वभावमय वस्तु है – वह स्वसंवेद्य है, वह रागादि द्वारा नहीं जानी जाती; क्योंकि रागादि भी आत्मा के नहीं हैं, किन्तु पुद्गल के हैं। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग हो तो भी उसमें चैतन्य का अंश नहीं है। राग कुजाति यानी भिन्न जाति का है, पुद्गलमय है; इसकारण उसके द्वारा आत्मा नहीं जाना जाता। चैतन्यस्वभाव तो त्रिकाल जैसा है, वैसा ही है। राग के काल में भी वैसा ही है, परन्तु जानने के काल में – स्वसंवेदन के काल में वह जैसा है, वैसा प्रत्यक्ष प्रगट होता है – ऐसा कहते हैं।

अरे भाई ! जरा पुरुषार्थ करके मति-श्रुतज्ञान के उपयोग को सूक्ष्म कर ! ज्ञान का उपयोग निज चैतन्य में जोड़ना ही सूक्ष्म उपयोग है। इस सूक्ष्म उपयोग से 'वस्तु प्रगट है' – ऐसा भान होता है। स्थूल राग के उपयोग से चैतन्यवस्तु नहीं मिलती, क्योंकि यह स्थूल उपयोग की पर्याय पुद्गल की है। अहाहा ! ऐसी बात लोगों को एकान्त जैसी लगती है; परन्तु बापू ! यह सम्यक्-एकान्त है, मिथ्या-एकान्त नहीं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि 'अनेकान्त भी सम्यक्-एकान्त – ऐसे निजपद की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।' जब सम्यक्-एकान्त का भान होता है, तब पर्याय व राग का ज्ञान भी होता है और उसको ही अनेकान्त का सच्चा ज्ञान कहते हैं। जीव जब सम्यक्-एकान्त की ओर ढलता है; तब उसको जो ज्ञान होता है, वह 'स्व' का है और उसी काल में जो राग बाकी है, उस पर्याय का भी ज्ञान होता है – यही सच्चा अनेकान्त है। सम्यक्-एकान्त (शुद्धचैतन्यमय वस्तु) का ज्ञान रखकर जो पर्याय का ज्ञान होता है – वही अनेकान्त है।

जिससमय त्रिकाली शुद्धद्रव्य का – सम्यक्-एकान्त का ज्ञान होता है, उससमय पर्याय तथा राग को भी जानना – प्रमाणज्ञान है। वह प्रमाणज्ञान भी वस्तुतः तो सद्भूतव्यवहारनय का विषय है, क्योंकि इसमें दोनों (द्रव्य

व पर्याय) आ गये। जिसमें पर्याय का निषेध नहीं आता – ऐसा प्रमाणज्ञान पूज्य नहीं है। निश्चयनय में पर्याय का निषेध आता है, अतः निश्चयनय पूज्य है – ऐसा कहा है। प्रमाणज्ञान के अन्तर्गत भी निश्चय से द्रव्य अभेद है – ऐसा ज्ञान रखकर राग का व पर्याय का ज्ञान सम्मिलित किया है। निश्चय के ज्ञान को उड़ा दें तो वह प्रमाणज्ञान ही नहीं है। 'द्रव्य शुद्ध है' – ऐसा निश्चय का ज्ञान सम्यक्-एकान्त है। इस निश्चय के ज्ञान को उड़ाकर जो राग का ज्ञान हो तो वह प्रमाणज्ञान ही नहीं है।

अहाहा! अनादि-अनन्त चलाचलतारहित स्वसंवेद्य प्रगटवस्तु चैतन्य-स्वभावभावमय है। आत्मा वीतराग-सर्वज्ञस्वरूप चैतन्यस्वभावभाव है तथा वह चैतन्य की निर्मल परिणति द्वारा जाना जाए – ऐसा प्रत्यक्ष है। तीन लोक के नाथ वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा समवशरण सभा में इन्द्रों से ऐसा कहते थे कि प्रभु! जैसे हम वीतराग-सर्वज्ञ हैं, वैसे ही तुम भी वीतराग-सर्वज्ञस्वरूप हो। हम वीतरागस्वभाव में से ही वीतराग-सर्वज्ञ हुये हैं। इसलिए कहते हैं कि वीतराग चैतन्यस्वरूप आत्मा वीतराग परिणति द्वारा जाना जा सके – ऐसा प्रत्यक्ष है। अहाहा! वीतरागदेव ने वस्तु को वीतराग 'ज्ञ' स्वरूप कही है तथा इसको जाननेवाली परिणति भी वीतरागतामय ही कही है। प्रभु! यदि तू जिनस्वरूप न हो तो जिनपना पर्याय में कहाँ से प्रगट होगा? अहा! तू चैतन्यस्वभावी आत्मा जिनस्वरूप ही है और तुझे जाननेवाली पर्याय वीतराग परिणति ही है। यही वीतराग परिणति धर्म है। लोगों को यह तत्त्व समझने की तो फुरसत नहीं मिलती और सामायिक, प्रतिक्रमण आदि क्रियाकाण्ड करके धर्म मानते हैं। बापू! इन सब राग के प्रकारों से चैतन्यस्वरूप तो आत्मा नहीं जाना जाता।

अब आगे कहते हैं कि जैसे सूर्य जाज्वल्यमान प्रकाशित होता है, उसीप्रकार यह भगवान आत्मा चैतन्य के प्रकाश द्वारा अतिशयरूप से प्रकाशित हो रहा है; किन्तु भाई! राग के अंधेरे में यह तुझे दिखाई नहीं देता। राग का अन्धकार तो अचेतन है। दया-दान-व्रत-भक्ति इत्यादि के जो राग हैं, वे तो अंधेरे हैं; इस अंधेरे में चैतन्य आत्मा कैसे दीखे? यह तो चकचकित ज्ञानस्वभाव की वीतरागी परिणति द्वारा जाना जाता है और तब व्यवहार – राग का भी ज्ञान हो जाता है। ऐसा वीतराग का मार्ग यथार्थ समझे बिना बेचारे – अज्ञानीजन कुछ का कुछ मानकर, अन्यथा क्रियायें करके जीवन निष्फल कर रहे हैं और अनन्तकाल से संसार की रखड़पट्टी में दुःखी हो रहे हैं।

अब कहते हैं कि जगमगाती ज्योतिस्वरूप चैतन्य आत्मा स्वयं जीव है। जैसे रंग, राग व भेद को पुद्गल सिद्ध किया है; उसीप्रकार अब अतिशयरूप से प्रकाशित होता हुआ यह चैतन्य आत्मा ही स्वयं जीव है – यह सिद्ध करते हैं। यहाँ अकेला चैतन्यस्वभाव सिद्ध नहीं करना है, जीव सिद्ध करना है; इसलिए कहते हैं कि अनादि-अनन्त चलाचलतारहित स्वसंवेद्य प्रगट चैतन्यस्वभावमय वस्तु स्वयं जीव है।

लोग तो ऐसा मानते हैं कि जो चले-फिरे, वह त्रसजीव तथा जो स्थिर रहे, वह स्थावरजीव। अरे, भगवान ! जीव की यह व्याख्या ही खोटी है। प्रभु ! तू त्रस भी नहीं तथा स्थावर भी नहीं। तू रागी भी नहीं तथा द्वेषी भी नहीं। तू पुण्य-पाप-कर्म-शरीरवाला भी नहीं। अरे ! तू तो चैतन्यस्वभावी जीव है। जिसको ऐसी प्रतीति आवे तथा यही ज्ञान में ज्ञात हो, उसने ही जीव का सही स्वरूप समझा व आत्मा का यथार्थज्ञान किया, यह कहा जायेगा। नवतत्त्वों में भिन्नरूप से रहते हुये आत्मा को तभी यथार्थ जाना व माना कहा जा सकता है।

नवतत्त्व में अजीवतत्त्व तो भिन्न है। पुण्य-पाप-आस्रव-बन्धतत्त्व भी भिन्न हैं। जब जीव दूसरे तत्त्वों से भिन्न है तो वह कैसा है ? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होने पर कहते हैं कि यह तो चैतन्यस्वभावमय स्वयं जीव है। यह शुद्धजीव ही सम्यग्दर्शन का विषय है। ऐसा चैतन्यस्वभावी जीव जब स्वसंवेदनज्ञान में जाना जाता है, तब रागादिभाव व्यवहार से जाने हुए प्रयोजनवान हैं – यह बात इस शास्त्र की १२वीं गाथा में ली है।

यह अतिशयरूप से चकचकित प्रकाशमान वस्तु स्वयं जीव है। जैसे जगत का सूर्य स्वयं प्रकाशित होता है तथा अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है; उसीतरह आत्मा स्वयं प्रकाशमान ज्योति अन्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि को भी 'है' पने तथा रागादि को भी 'है' पने प्रकाशित करता है। इसप्रकार भगवान चैतन्यस्वभाव 'है' पने सबको जानता है। जिसने भगवान आत्मा को जाना है, वह जानता है कि ये सब अन्य वस्तुएँ हैं; परन्तु वह अन्य सर्व को परज्ञेयरूप से जानता है, रागादि को भी परज्ञेयरूप से ही जानता है।

यह शास्त्रज्ञान भी परज्ञेय है। जो मात्र शास्त्रज्ञान में ही निमग्न हैं, वे परज्ञेय में निमग्न हैं। और जो परज्ञेय में निमग्न हैं, वे स्वज्ञेय (चैतन्यस्वभावमय शुद्धात्मा) का अनादर करते हैं। आत्मज्ञान से शून्य क्षयोपशमज्ञानी पण्डितों को ऐसा लगता है कि 'मैं इतना बड़ा पण्डित हूँ,

इतने सारे शास्त्रों का ज्ञाता हूँ, क्या यह सब कुछ नहीं है ? क्या इतनी सब मेहनत बेकार हुई ?' उनसे कहते हैं कि हाँ, भाई ! जरा सुन ! शास्त्रज्ञान को तो बन्ध अधिकार में 'शब्दज्ञान' कहा है – शब्दज्ञान कोई आत्मज्ञान नहीं है। शब्दज्ञान कहो या परज्ञेय कहो–एक ही बात है। ज्ञानी शास्त्रज्ञान या क्षयोपशमज्ञान को भी परज्ञेयपने जानते हैं।

इसप्रकार वर्णादिभाव तथा रागादिभाव जीव नहीं हैं, किन्तु चैतन्यभाव ही जीव है। इसप्रकार जीव ज्ञान की पर्याय में इन भावों को ज्ञेय बनाता हुआ चैतन्यस्वभावमय प्रत्यक्ष – प्रगट है।

अब काव्य द्वारा यह समझाते हैं कि चेतनत्व ही जीव का योग्य लक्षण है :–

(शार्दूलविक्रीड़ित)

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंब्यताम् ।।४२।।

श्लोकार्थ :– [**यतः अजीवः अस्ति द्वेधा**] अजीव दो प्रकार के हैं – [**वर्णाद्यैः सहितः**] वर्णादिसहित [**तथा विरहितः**] और वर्णादिरहित; [**ततः**] इसलिये [**अमूर्तत्वम् उपास्य**] अमूर्तत्व का आश्रय लेकर भी (अर्थात् अमूर्तत्व को जीव का लक्षण मानकर भी) [**जीवस्य तत्त्वं**] जीव के यथार्थस्वरूप को [**जगत् न पश्यति**] जगत् नहीं देख सकता – [**इति आलोच्य**] इसप्रकार परीक्षा करके [**विवेचकैः**] भेदज्ञानी पुरुषों ने [**न अव्यापि अतिव्यापि वा**] अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दूषणों से रहित [**चैतन्यम्**] चेतनत्व को जीव का लक्षण कहा है, [**समुचितं**]वह योग्य है। [**व्यक्तं**] वह चैतन्यलक्षण प्रगट है, [**व्यञ्जित-जीव-तत्त्वम्**] उसने जीव के यथार्थस्वरूप को प्रगट किया है और [**अचलं**] वह अचल है – चलाचलतारहित सदा विद्यमान है। [**आलम्ब्यताम्**] हे जगत् ! उसी का अवलम्बन करो ! (उससे यथार्थ जीव का ग्रहण होता है।)

भावार्थ :– निश्चय से वर्णादिभाव – वर्णादिभाव में रागादिभाव अन्तर्हित हैं – जीव में कभी व्याप्त नहीं होते, इसलिये वे निश्चय से जीव के लक्षण हैं ही नहीं; उन्हें व्यवहार से जीव का लक्षण मानने पर भी अव्याप्ति नामक दोष आता है, क्योंकि सिद्धजीवों में वे भाव व्यवहार से

भी व्याप्त नहीं होते। इसलिये वर्णादिभावों का आश्रय लेने से जीव का यथार्थस्वरूप जाना ही नहीं जाता।

यद्यपि अमूर्तत्व सर्व जीवों में व्याप्त है, तथापि उसे जीव का लक्षण मानने पर अतिव्याप्ति नामक दोष आता है, कारण कि पाँच अजीवद्रव्यों में से एक पुद्गलद्रव्य के अतिरिक्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल – ये चार द्रव्य अमूर्त होने से जैसे अमूर्तत्व जीव में व्यापता है, वैसे ही चार अजीवद्रव्यों में भी व्यापता है; इसप्रकार अतिव्याप्ति दोष आता है। इसलिये अमूर्तत्व का आश्रय लेने से भी जीव का यथार्थस्वरूप ग्रहण नहीं होता।

चैतन्यलक्षण सर्व जीवों में व्यापता होने से अव्याप्ति दोष से रहित है और जीव के अतिरिक्त किसी अन्यद्रव्य में व्यापता न होने से अति-व्याप्ति दोष से भी रहित है और वह प्रगट है; इसलिये उसी का आश्रय ग्रहण करने से जीव के यथार्थस्वरूप का ग्रहण हो सकता है।

कलश ४२ पर प्रवचन

यहाँ आचार्य कहते हैं कि अजीव दो प्रकार के हैं। (१) वर्णादि-सहित तथा (२) वर्णादिरहित। वर्णादिरहित अमूर्तपने को जीव का लक्षण मानकर भी जगत जीवद्रव्य के यथार्थस्वरूप को नहीं समझ सकता। यह चैतन्यस्वभावी जीव तो ज्ञानलक्षण से लक्षित है। राग या अमूर्तपने के लक्षण से नहीं पहचाना जा सकता, क्योंकि अमूर्त तो अन्यद्रव्य भी हैं।

हिंसा-झूठ आदि अशुभभावों से तो आत्मा जाना ही नहीं जाता, किन्तु दया-दान-व्रत-भक्ति आदि शुभभावों से भी आत्मा नहीं जाना जाता; क्योंकि शुभाशुभभाव तो आत्मा के विकार हैं। वे अचेतन हैं, क्योंकि शुद्धचैतन्य में वे व्याप्त नहीं होते। रागादिभाव चेतन के लक्षण नहीं हैं कि जिनसे आत्मा की पहचान हो सके। तथा अमूर्तपना आत्मा के अतिरिक्त अन्यद्रव्यों में भी है, इसकारण अमूर्तपने द्वारा भी आत्मा को अन्यद्रव्यों से भिन्न नहीं जाना जा सकता। आत्मा को अन्यद्रव्यों से भिन्न जानना हो तो एक चैतन्यलक्षण से ही जान सकते हैं। परद्रव्य से भिन्न निजस्वरूप का अनुभव चैतन्यलक्षण से ही होता है।

इसप्रकार परीक्षा करके भेदज्ञानी पुरुषों ने अव्याप्ति तथा अति-व्याप्ति दोष से रहित चैतन्यपने को जीव का लक्षण कहा है। रागादि भाव जीव की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते, इसलिए रागादि को जीव का लक्षण मानने पर अव्याप्ति दोष आता है। तथा अमूर्तपना अन्यद्रव्यों में भी है, अतः उसे जीव का लक्षण मानने पर अतिव्याप्ति दोष आता है।

यह बात तो लोगों को सुनने के लिए भी नहीं मिलती; इसलिए व्रत-उपवास-दया-दान आदि क्रियाओं में धर्म मान लेते हैं, इन्हीं से आत्म-लाभ होगा – ऐसा मान बैठे हैं। भाई! ये सब तो राग की क्रियायें हैं, जड़ हैं, अचेतन हैं, इन जड़क्रियाओं से चेतन आत्मा को लाभ कैसे हो? अमूर्तपने द्वारा भी आत्मा नहीं जान सकते; क्योंकि अमूर्तपना तो धर्म, अधर्म, आकाश व काल – इन अन्यद्रव्यों में भी है। अतः ऐसा जानकर धर्मी जीवों ने चैतन्य को जीव का निर्दोष लक्षण कहा है।

जानना····जानना····जानना – यह जानना ही चैतन्यतत्त्व का लक्षण है अर्थात् ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा का लक्ष्य करने पर उसका अनुभव हो सकता है। अहाहा! ज्ञानलक्षण से लक्ष्य – आत्मा को ग्रहण करने पर आत्मानुभव होता है। दया-दानादि से आत्मा का ग्रहण नहीं होता; क्योंकि ये आत्मा के लक्षण नहीं हैं, ये तो सब राग हैं। राग की आत्मा में अव्याप्ति है। राग आत्मा की सम्पूर्ण अवस्थाओं में व्याप्त होकर नहीं रहता। कथंचित् संसारावस्था में व्याप्त हो, परन्तु मोक्षदशा में तो सर्वथा ही नहीं है। अतः कैसा भी मन्दराग हो, तथापि राग से आत्मा नहीं जाना जा सकता। इसीतरह अमूर्तपने से भी आत्मा का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि अमूर्तपने द्वारा आत्मा को जानने में अतिव्याप्ति दोष आता है। ऐसा विचारकर भेदज्ञानी जीवों ने चैतन्यपने को जीव का लक्षण कहा है। अहाहा! ज्ञान के परिणमन की जो दशा है, वह लक्षण है; उसके द्वारा ही आत्मा जाना जाता है। त्रिकाली चैतन्यतत्त्व को लक्ष्य करके ज्ञान का जो परिणमन होता है, उस परिणमन की दशा में भगवान आत्मा जाना जाता है। यह ज्ञान के परिणमन की क्रिया ही धर्म है।

अब कहते हैं कि चैतन्यपने को जीव का लक्षण मानना ही योग्य है, **क्योंकि यह लक्षण अव्याप्ति व अतिव्याप्ति** आदि दोषों से रहित है। **अहाहा! किसप्रकार न्याय व युक्ति से बात की है।**

भगवान **आत्मा में से अनन्त-अनन्त** केवलज्ञानपर्यायें प्रगट होती हैं, तथापि **कुछ भी कमी नहीं होती** – ऐसा यह ज्ञान का रसकंद है। यह तो ज्ञान का मूल है। इसमें से ज्ञान अटूटपने निकलता ही रहता है – ऐसा आत्मा वर्तमान ज्ञान की पर्याय द्वारा जाना जाता है अर्थात् वर्तमान ज्ञान की पर्याय जब ज्ञायकस्वभावी आत्मा का लक्ष्य करे, तब 'यह ज्ञायकबिम्ब है' – इसप्रकार आत्मा जान लिया जाता है, इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। यह ज्ञान की क्रिया ही धर्म की क्रिया है। इसप्रकार ज्ञानलक्षण आत्मा का समुचित अर्थात् योग्य लक्षण है।

आगे कहते हैं कि आत्मा का वह चैतन्यलक्षण प्रगट है। चैतन्य को जाननेवाली पर्याय प्रगट है, इसलिए चैतन्यलक्षण प्रगट है। इस प्रगट चैतन्यलक्षण द्वारा आत्मा ज्ञानस्वरूप त्रिकाल है – ऐसा जान सकते हैं। अहाहा ! आत्मा तो गुणों का 'अजायबघर' है। वह अनन्तगुणरूप आश्चर्यों से भरपूर है। वर्त्तमान ज्ञान की पर्याय उसको जानती है। जो ज्ञात होता है, वह आत्मा तो अनन्त व अमाप है। ऐसा आत्मा तो लोगों के हाथ आता नहीं, अतः बेचारे क्या करें, व्रत-तप आदि में जुट जाते हैं। भाई ! तू ये क्रियायें तो अनन्तकाल से करता आ रहा है, ये आत्मा के लक्षण नहीं हैं।

धर्म की विधि बताते हुए आचार्य कहते हैं कि इन्द्रियों को बन्द कर, उनके विषयों पर से लक्ष्य हटाकर तथा मन में उठनेवाले विकल्पों का भी लक्ष्य छोड़कर, अन्दर चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा को चैतन्यलक्षण द्वारा अनुभवना ही सम्यग्दर्शनरूपी धर्म प्राप्त करने की रीति है। आत्मा चैतन्यबिम्ब है। चैतन्य की प्रगट ज्ञानदशा इसका लक्षण है।

प्रभु ! इस लक्षण द्वारा अन्दर आत्मा में जा ! उसे देख ! तो तुझे उसका अनुभव होगा। अहाहा ! ज्ञान की पर्याय अन्तर्मुख होकर स्व को जानती है, तब अद्‌भुत अनन्तगुण का चैतन्य-गोला ज्ञान में आ जाता है। तथा उसमें जो अनन्तगुण भरे हैं, उन्हें भी ज्ञान देख लेता है।

भाई ! तू अपने आत्मा को पकड़कर कब अनुभव कर सकता है ? जबकि तू अपनी ज्ञान की पर्याय को – लक्षण को पकड़कर स्व में ले जाये, तब ही तू स्वरूप का अनुभव कर सकता है। इसके अलावा चाहे जितनी मन्दराग की क्रिया करे, उनसे आत्मा नहीं जाना जा सकता। यद्यपि राग की मन्दता, दान देने आदि के भाव ज्ञानी को भी आते हैं; परन्तु उनसे आत्मा नहीं जाना जा सकता – सम्यग्दर्शन नहीं होता। आत्मा तो चैतन्यलक्षण प्रगट ज्ञान की पर्याय को अंदर में ढालने से पकड़ा जा सकता है।

अब कहते हैं कि जीव का चैतन्यलक्षण व्यक्त – प्रगट है तथा उसने जीव के यथार्थस्वरूप को प्रगट किया है। जानने की जो दशा है – वह लक्षण है, प्रगट है और उसने सम्पूर्ण ज्ञायक को प्रगट किया है। अहाहा ! ज्ञान की पर्याय को ज्ञायकभाव की ओर झुकाकर चैतन्यलक्षण ने ज्ञायक को प्रगट किया है। वर्त्तमान ज्ञान की पर्याय को अन्तर में झुकाने पर शुद्ध चैतन्यस्वभावमय जीव का अनुभव होता है तथा उस अनुभव के द्वारा जीव का यथार्थस्वरूप प्रगट होता है।

प्रश्न :– परन्तु ऐसा आत्मा दिखाई तो नहीं देता ?

उत्तर :– भाई ! तू इस आत्मा को देखने के लिए अन्दर जाता ही कब है ? यदि देखने का प्रयत्न करे तो क्यों नहीं दीखेगा ? अवश्य दीखेगा। ज्ञान-नेत्र उघाड़कर अन्दर देखो तो दिखाई देगा। भाई ! 'आत्मा दिखाई नहीं देता' और 'मैं मुझको ही नहीं दीखता' – ये सब कहनेवाला कौन है ? यह निर्णय किसने किया है कि मुझे आत्मा दिखाई नहीं देता है। अरे, जिसने यह कहा या निर्णय किया, वही तो स्वयं आत्मा है। 'नहीं दीखता' – ऐसा नकारात्मक ज्ञान दीख गया न ? वह जिसे दीख गया, वही आत्मा है। यह निर्णय स्वयं ज्ञान की पर्याय में हुआ है तथा ज्ञान ने किया है। जिसमें उक्त निर्णय हुआ व जिसने यह निर्णय किया, वह 'ज्ञान' ही स्वयं आत्मा है। तू उस पर्याय को ग्रहण करके अन्दर जा ! तो वह आनन्द का नाथ भगवान जरूर दिखाई देगा।

भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है तथा उसकी वर्त्तमान पर्याय में भी ज्ञान का अंश प्रगट है। जो ज्ञान का अंश प्रगट है, उस ज्ञानलक्षण द्वारा त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को पकड़ ! तथा उसी का अनुभव कर ! ! यह आत्मा ज्ञानलक्षण से अनुभव में आ सकता है, क्योंकि वही ज्ञायक का वास्तविक लक्षण है। जाननेवाली पर्याय वर्त्तमान में प्रगट है। यदि प्रगट न हो तो 'यह शरीर है, राग है' – ऐसा कौन जानेगा ? अतः पर्याय प्रगट है। यद्यपि ज्ञानपर्याय पर को जानती है; तथापि वह पर का लक्षण नहीं है, ज्ञानपर्याय तो स्वद्रव्य का ही लक्षण है। इसको अन्तर में झुकाकर देख ! तुझे आत्मा अवश्य दिखाई देगा और सम्यग्दर्शन होगा। यह मार्ग तो कभी सुना नहीं। अरे, तू **'अहिंसा परमो धर्म'** का अर्थ भी गलत समझता है। किसी जीव को नहीं मारना, उनकी दया पालना – बस, यही धर्म है और यही सब धर्मों का सार है – ऐसी प्ररूपणा करता है और बाह्यक्रिया के आचरण में ही धर्म मानता है।

प्रश्न : – **'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष'** – ऐसा कहा है न ?

उत्तर :– परन्तु भाई ! उसका अर्थ क्या है ? आत्मा जो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है – उसका ज्ञान करना तथा उसी ज्ञानस्वरूप में ठहरना – ये ही 'ज्ञान और क्रिया' हैं। यहाँ तो सन्त जाहिर करते है कि प्रभु ! तू ज्ञान की पर्याय से ज्ञात हो – ऐसा तेरा स्वरूप है। लाख बात की बात या करोड़ों ग्रन्थों का यही सार है। जो ज्ञान की पर्याय पर को जानने का काम करे, वह भी पर का लक्षण नहीं है; इसलिए जाननेवाली पर्याय को ज्ञायकस्वभाव में ढाल ! इससे ही तुझे ज्ञायक का स्वरूप प्रगट होगा।

यहाँ दो बातें कही हैं। प्रथम बात तो यह है कि जीवतत्त्व को चैतन्यलक्षण से जानना, क्योंकि चैतन्यपने को जीव का लक्षण कहा है। दूसरी बात यह है कि वह लक्षण प्रगट है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जाननेवाली जो पर्याय प्रगट है – उस पर्याय से आत्मा जाना जाता है और जो जानने में आता है, वह आत्मा तो त्रिकाल प्रगट है।

प्रश्न :– वह आत्मा हमें समझ में क्यों नहीं आता ?

उत्तर :– उसको जानने के लिए जितनी आवश्यकता महसूस होनी चाहिये, उतनी तुम्हें महसूस कहाँ होती है ? जिस सूक्ष्म उपयोग से वह पकड़ में आता है, वैसा सूक्ष्म उपयोग तुमने प्रगट ही कहाँ किया है ? आत्मा स्थूल उपयोग से पकड़ में नहीं आता, किन्तु सूक्ष्म उपयोग से उसका ग्रहण होता है। अज्ञानी उपयोग को सूक्ष्म नहीं करता है, इसकारण उसे आत्मा का ग्रहण नहीं होता। ज्ञायक की ओर झुकी हुई मति-श्रुतज्ञान की पर्याय ही सूक्ष्म उपयोग है। इसके द्वारा ही ज्ञायक आत्मा का ग्रहण होता है।

अहा ! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव का फरमान है कि तेरा चैतन्य-लक्षण तो तुझे प्रगट है। प्रभु ! यदि लक्षण बिल्कुल प्रगट ही न हो तो लक्ष्य को पकड़ना कठिन पड़ेगा, परन्तु ऐसा नहीं है। चैतन्यलक्षण तो प्रगट ही है; इसलिए प्रगट ज्ञानलक्षण से लक्ष्य ज्ञायक को पकड़ ! इसी से गुप्त ज्ञायकवस्तु प्रगट होगी। अहाहा ! क्या श्लोक है ? ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है। यहाँ ज्ञान की पर्याय में सम्पूर्ण ज्ञायकवस्तु आ जाती है – ऐसा अर्थ नहीं है; परन्तु ज्ञान की पर्याय में ज्ञायकवस्तु का सामर्थ्य कितना है, यह भासित हो जाता है। ज्ञायकद्रव्य यदि पर्याय में आ जाये तो पर्याय का नाश होते ही, द्रव्य का भी नाश हो जायेगा। द्रव्य तो ध्रुव है और पर्याय उसका एक अंश है। इसकारण पर्याय में सम्पूर्ण द्रव्य कैसे आ सकता है ? ज्ञायकवस्तु तो त्रिकाल जैसी है, वैसी ही है – इसकी दृष्टि करने पर ज्ञान-पर्याय में ऐसा भासित होता है कि वस्तु ज्ञायकभावपने सदाकाल है। प्रगट पर्याय जब ज्ञायक में झुकती है, तब वह प्रगट दिखाई देती है।

अब कहते हैं कि आत्मा अचल है। चैतन्यलक्षण चलाचलतारहित है तथा सदा मौजूद है। वह चैतन्यलक्षण स्व में से हटकर जड़ में या राग में नहीं जाता। त्रिकाली ज्ञानलक्षण तो ध्रुव है। इसलिए कहते हैं कि हे जगत के जीवो ! तुम उस ध्रुवतत्त्व का ही अवलम्बन करो ! तथा निमित्त व राग का अवलम्बन छोड़ो ! – क्योंकि राग या पर के अवलम्बन से कल्याण नहीं होता है।

कलश ४२ के भावार्थ पर प्रवचन

निश्चय से जीव में वर्णादि व रागादि भाव – व्यापते नहीं हैं। वे एकसमय की पर्याय में हैं, भगवान ज्ञानस्वरूपी आत्मा में रंग-रागादि कहाँ हैं? इसलिए वे निश्चय से जीव के लक्षण नहीं हैं।

व्यवहार से रागादिभाव आत्मा में हैं। ऐसा मानने पर भी दोष आता है, क्योंकि सिद्धों में तो ये भाव व्यवहार से भी नहीं हैं। अतः अव्याप्ति दोष आता है। यदि वर्णादिभाव जीव के हों तो सदैव जीव में रहने चाहिए। जीव का लक्षण अमूर्तत्व मानने में भी अतिव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि जीव के सिवाय अन्यद्रव्यों में भी अमूर्तत्व पाया जाता है चैतन्यलक्षण सर्व जीवों में व्याप्त होने से यही यथार्थ – सच्चा – निर्दोष लक्षण है, इसीलिए इसी का आश्रय करना चाहिए। क्योंकि वर्णादिभावों का आश्रय करने से यथार्थस्वरूप की पहचान नहीं होती।

शंका :– व्यवहार व निश्चय – दोनों के ही आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा मानो; अन्यथा एकान्त हो जायेगा?

समाधान :– भाई! ऐसा नहीं है। जबतक पूर्णवीतरागता न हो, तब तक व्यवहार होता है; परन्तु व्यवहार से निश्चय नहीं होता। सम्यग्ज्ञान व चारित्र में अल्पता है, इसकारण साधक को व्यवहार होता है; परन्तु राग साधन नहीं है। मन्दराग भी राग ही है। मन्दराग से पुण्यबन्ध भले हो, किन्तु उससे अबन्धस्वभावी आत्मा हाथ नहीं आता।

भाई! यह मनुष्य जीवन व्यर्थ चला जायेगा। अधिकांश जीव (आर्यक्षेत्र के) तो मरकर तिर्यञ्च ही होते हैं; क्योंकि आर्य मांस, शराब आदि का सेवन तो करते नहीं हैं; अतः नरक में तो जाते नहीं हैं तथा धर्म का स्वरूप जाना नहीं है, जिससे उत्कृष्ट पुण्य बँधे; सत्शास्त्रों को पढ़ने की भी फुरसत नहीं है, सारे दिन संसार में पाप की प्रवृत्ति करते हैं। इसप्रकार ऐसी स्थिति में ही देह छूट जाती है, अतः मरकर पशु होते हैं। तिर्यञ्चों की संख्या भी अधिक है। ऐसा अवसर मिला और फिर भी यदि तत्त्व नहीं समझा और व्यवहार में ही अटक गया तो अवसर तो चला जायगा। अरे रे! धर्म के नाम पर लोग कुधर्म का ही सेवन करते हैं।

प्रश्न :– देश का भला तो करें कि नहीं?

उत्तर :– अरे भाई! देश का भला कौन कर सकता है? 'मैं देश का भला कर सकता हूँ' – यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। किसका देश?

क्या यह देश तेरा है ? यह तो परक्षेत्र है। तेरा देश तो असंख्यातप्रदेशी चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा है।

प्रश्न :– यह देश व्यवहार से तो हमारा है न ?

उत्तर :– भाई ! व्यवहार तो कहने मात्र का है। यह तेरा देश नहीं है। अरे, जब राग ही तेरा नहीं है तो देश तेरा कहाँ से होगा ? राग तो संयोगीभाव है, स्वभावभाव तो चैतन्यलक्षण है।

यहाँ आनन्द को जीव का लक्षण नहीं कहा, क्योंकि वह प्रगट नहीं है; चैतन्य की पर्याय प्रगट है, इसकारण चैतन्य को जीवलक्षण कहा है।

'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' लक्षण तो वस्तु को सिद्ध करने के लिए कहा है। जहाँ **'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'** – ऐसा कहा है, वहाँ विकारी उत्पाद को जीव का लक्षण कहा है; परन्तु यह भिन्न बात है, इस लक्षण द्वारा तो वस्तु की स्थिति सिद्ध करना है। यहाँ तो चैतन्यस्वभाव ज्ञान की पर्याय से ही जाना जाता है, इसलिए ज्ञान को ही आत्मा का लक्षण कहा है।

अब 'जबकि ऐसे लक्षण से जीव प्रगट है, तब भी अज्ञानीजनों को उसका अज्ञान क्यों रहता है ?' – इसप्रकार आचार्यदेव आश्चर्य तथा खेद प्रगट करते हैं :–

(वसन्ततिलका)

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतम्।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ।।४३।।

श्लोकार्थ :– **[इति लक्षणतः]** यों पूर्वोक्त भिन्न लक्षण के कारण **[जीवात् अजीवम् विभिन्नं]** जीव से अजीव भिन्न है **[स्वयम् उल्लसन्तम्]** उसे (अजीव को) अपने आप ही (स्वतंत्रपने, जीव से भिन्नपने) विलसित होता हुआ – परिणमित होता हुआ **[ज्ञानी जनः]** ज्ञानीजन **[अनुभवति]** अनुभव करते हैं; **[तत्]** तथापि **[अज्ञानिनः]** अज्ञानी को **[निरवधि-प्रविजृम्भितः अयं मोहः तु]** अमर्यादरूप से फैला हुआ यह मोह (अर्थात् स्व-पर के एकत्व की भ्रान्ति) **[कथम् नानटीति]** क्यों नाचता है ? **[अहो बत]** – यह हमें महा आश्चर्य और खेद है !

कलश ४३ पर प्रवचन

इसप्रकार ज्ञानी पूर्वोक्त लक्षण से जीव से अजीव को भिन्न करके राग को आत्मा के चैतन्यस्वभाव से भिन्न अनुभव करते हैं। अनुभव में

राग नहीं आता, बल्कि भिन्न ही रह जाता है। राग अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र की भेदरूप श्रद्धा, शास्त्रों को पढ़ने का विकल्प तथा पंचमहाव्रत का भाव इत्यादि। धर्मात्माजीवज्ञानलक्षण से लक्षित आत्मा का अनुभव होने पर, राग को ज्ञान के अनुभव से भिन्न जानते हैं। अनुभव के बिना राग जुदा है – ऐसा कोई कहे उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो स्वानुभव की ज्ञान-परिणति में राग नहीं आता – इसकी बात है।

दया-दान-व्रत आदि के विकल्प अजीव हैं, क्योंकि चैतन्यलक्षण से आत्मा का अनुभव करने पर ज्ञान के वेदन में आनन्द का वेदन आता है, राग का वेदन नहीं आता; किन्तु वह भिन्न रह जाता है; इसलिए वे दया-दान आदि के विकल्प अजीव हैं, जीव से भिन्न हैं। आचार्य आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अज्ञानी को अनादि से अमर्यादरूप से फैला हुआ – यह मोह क्यों नाचता है ? अर्थात् ज्ञान व राग – इन दोनों में एकपने की भ्रान्ति क्यों होती है ? तू तो ज्ञायकस्वभावी भगवान है न ? अरे यह राग तो अचेतन है। प्रभु ! तुझे इन दोनों में एकपने की भ्रान्ति कैसे हो गई है ? अहाहा ! आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी वस्तु है। ज्ञानलक्षण से उसका अनुभव करने पर राग अनुभव से भिन्न रह जाता है, इसलिए राग मुर्दा है, उसमें चेतनता नहीं है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव कलश में **'अहो बत नानटीति'** – ऐसा कहकर प्रशस्त खेद व आश्चर्य व्यक्त करते हैं।

भाई ! शास्त्र बाँचने से ज्ञान नहीं होता। शास्त्र पढ़ने के काल में जो ज्ञानपर्याय होती है, वह तो उस पर्याय का जन्मक्षण है; इसकारण ज्ञान-पर्याय हुई है। यह परलक्ष्यी ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। सम्यग्ज्ञान तो ज्ञान-लक्षण द्वारा ज्ञायक का अनुभव करने पर उत्पन्न हुए ज्ञान का नाम है। जैसा ज्ञान (आत्मा) का स्वरूप है, उसीप्रकार ज्ञान का जो नमूना पर्याय में प्रगट होता है उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। अहाहा ! आत्मा तो विज्ञानघन है, इसमें अन्य किसी का प्रवेश नहीं है। भगवान आत्मा तो ज्ञान व आनन्द से भरा हुआ पूर्ण प्रभु है, उसमें जरा भी अवकाश नहीं है। हीरा-माणिक में तो अन्दर आकाशप्रदेश का अवकाश होता है, किन्तु भगवान आत्मा ज्ञान व आनन्द का घनपिण्ड है, इसमें तो किंचित भी अवकाश नहीं है। ऐसा होते हुए भी आचार्य आश्चर्य व्यक्त करते हैं कि 'आत्मा को राग-सहित माननेरूप अमर्याद फैला हुआ यह मोह अर्थात् स्व-पर के एकत्वरूप भ्रान्ति क्यों नाचती है ? आचार्य स्वयं धर्मात्मा सन्त हैं; अल्पकाल में मोक्ष जानेवाले हैं, किन्तु अभी विकल्प है न ? इसकारण वे आश्चर्य के साथ खेद प्रगट करते हैं।

अब पुनः मोह का प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि 'यदि मोह नाचता है तो नाचो ? तथापि ऐसा ही है' :–

(वसन्ततिलका)

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्य-
धातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥४४॥

श्लोकार्थ :– [अस्मिन् अनादिनि महति अविवेकनाट्ये] इस अनादिकालीन महा अविवेक के नाटक में अथवा नाच में **[वर्णादिमान् पुद्गलः एव नटति]** वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, **[न अन्यः]** अन्य कोई नहीं; (अभेदज्ञान में पुद्गल ही अनेक प्रकार का दिखाई देता है, जीव अनेक प्रकार का नहीं है;) **[च]** और **[अयं जीवः]** यह जीव तो **[रागादि-पुद्गल-विकार-विरुद्ध-शुद्ध-चैतन्यधातुमय-मूर्तिः]** रागादिक पुद्गलविकारों से विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है ।

भावार्थ :– रागादिक चिद्विकार को (चैतन्य विकारों को) देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना कि ये भी चैतन्य ही हैं, क्योंकि यदि ये चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त हों तो चैतन्य के कहलायें । रागादि विकार सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते – मोक्ष-अवस्था में उनका अभाव है और उनका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है । इसलिये वे चेतन नहीं, जड़ हैं । चैतन्यका अनुभव निराकुल है, वही जीव का स्वभाव है – ऐसा जानना ।

कलश ४४ पर प्रवचन

आचार्य पुनः मोह का प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि अज्ञानी की मान्यता में स्व-पर की एकताबुद्धि से जो मोह नाचता है तो नाचो; भगवान ज्ञायक तो फिर भी ज्ञायकस्वरूप ही है, वस्तु तो वस्तु ही है ।

इस अनादिकालीन बड़े भारी अविवेक के नाटक में वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है । 'राग व आत्मा एक हैं' – यह मान्यता ही अविवेक का बड़ा नाटक है । अविवेक का नाटक अर्थात् स्व-पर की एकता का नाटक ! चैतन्य ब्रह्मप्रभु आनन्दनाथ आत्मा के साथ राग के एकत्व का भाव अविवेक का नाटक है और इसमें पुद्गल ही नाचता है ।

वस्तु तो त्रिकाल ज्ञायकस्वभावी ही है, परन्तु ये रंग-रागादिभाव व निगोद से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जो भाव हैं, उन सबमें पुद्गल ही नाचता

है। भगवान आत्मा तो एक ज्ञायकपने से ही रहता है, रंग-रागादि में वह नहीं पसरता। अहाहा! अनन्तकाल में जितने भी शुभाशुभभाव एवं उनके फल में जो स्वर्गादि हुये – वे सब पुद्गल के ही परिणाम हैं। इसप्रकार रागादि के परिणमन में सर्वत्र पुद्गल ही नाच रहा है।

ये पुण्य-पाप के भाव, इनके चारगतिरूप फल एवं शरीर-मन-वाणी-इन्द्रिय इत्यादि का संयोग – इन सब में पुद्गल ही नाचता है।

प्रश्न :– राग की परिणति तो जीव की है न ?

उत्तर :– राग जीव की एकसमय की पर्याय में है। इसकारण उसे व्यवहार से जीव की कही है, तथापि निश्चय से वह चैतन्यस्वभावमय नहीं है। रागादि में चैतन्य पसरता नहीं है, इसलिए वह अचेतन – पुद्गलमय है। भाई! जिस भाव से तीर्थंकरप्रकृति बंधती है, वह भाव भी अचेतन – पुद्गल है; क्योंकि वह चैतन्य की जाति का नहीं है।

जैसे नाटक में पर्दा होता है, उसीप्रकार पुण्य-पाप के फलरूप में स्वर्ग से तिर्यञ्च, तिर्यञ्च से नरक – इसतरह चार गति में परिभ्रमण करना, आदि अनेक रूपवाले पर्दे में पुद्गल का ही ठाठ है, शुद्धचैतन्यमय जीव इनमें नहीं है, वह कभी भी शुभाशुभभावरूप हुआ ही नहीं। छट्ठी गाथा की टीका में भी आता है कि भगवान आत्मा शुभाशुभभाव के स्वभावरूप कभी हुआ ही नहीं है। यदि उसरूप हो जाय तो जड़ हो जायेगा, क्योंकि शुभाशुभभाव तो जड़स्वभावी हैं।

अब कहते हैं कि जीव-पुद्गल के अभेदज्ञान में अन्य कोई नहीं, पुद्गल ही अनेक प्रकार से दिखाई देता है, क्योंकि आत्मा तो अनेक प्रकार का है नहीं। भगवान आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध एक अभेद चैतन्यस्वभावी है। अहाहा! सदा ही पवित्र चैतन्यस्वभावमय एक वस्तु में अनेकपना नहीं है। अर्थात् शुभाशुभभाव तथा उनके फलरूप संयोग का अनेकपना – आत्मा में नहीं है। राजा-रंक-नारकी-देव-तिर्यञ्च-कीड़ी-कबूतर-कौआ आदि कोई भी हो, इन सब में पुद्गल का ही नाच विद्यमान है।

प्रश्न :– पाप-पुण्य आदि भाव पुद्गल से हुये हैं – ऐसा कहते हैं। फिर भी निमित्त से नहीं हुये – ऐसा क्यों कहते हो ?

उत्तर :– भाई! जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे बराबर समझना चाहिये। राग पुद्गल का आश्रय करके हुआ है – इसकारण वह पुद्गल की जाति का है – ऐसा कहा है। राग है तो जीव की ही पर्याय, परन्तु वह निमित्त के

वश होने पर हुई है और निमित्त पुद्गल है, इसलिए पुद्गल के वश से हुये भाव को पुद्गल में डाला है, क्योंकि वह चैतन्यस्वभावमय नहीं है।

यहाँ त्रिकाली स्वभाव का आश्रय कराने का प्रयोजन है। इसकारण 'विकार होते हों तो हों – ये तो पुद्गलमय हैं' – ऐसा स्वच्छन्दपने प्रवर्तन नहीं करना। राग अपनी पर्याय में हुआ है – वह अशुद्ध-उपादान से हुआ है। इस अशुद्ध-उपादान तथा कर्मरूप निमित्त – दोनों को एक-सा व्यवहार मानकर जीव में से निकाल दिया है।

अब कहते हैं कि यह जीव तो रागादि पुद्गल विकारों से विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है। अहाहा! भगवान ज्ञायकस्वरूप तो अकेला चैतन्य का दल है। इसमें विकल्पों का प्रवेश होने के लिए अवकाश ही नहीं है। दया-दान-व्रत आदि पुद्गल विकारों का इसमें प्रवेश ही नहीं होता – ऐसी शुद्ध चैतन्यस्वरूप मूर्ति ज्ञायक है। वह ज्ञायक तो सदा ज्ञायक है।

कलश ४४ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा में दया-दान-व्रत-भक्ति आदि रूप चैतन्य के विकारों को देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए कि ये चैतन्य ही हैं या चैतन्यमय आत्मा के हैं। अर्थात् जिस व्यवहार या राग को चैतन्यस्वभाव का साधन कहा है, वह वास्तव में साधन नहीं है; उसे साधन मानने का भ्रम नहीं करना। राग तो बन्ध का ही कारण है, वह स्वभाव का साधन कैसे हो सकता है। चैतन्यस्वभाव का साधन तो निराकुल अनुभव करना है। अहाहा! स्वानुभव का कार्य चैतन्य परमात्मा का साधन है।

प्रश्न :– जिनवाणी में तो व्यवहार को साधन कहा है न?

उत्तर :– भाई! इसकी अत्यधिक स्पष्टता पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में की है, जो इसप्रकार है :–

"सो मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाय सो 'निश्चय मोक्षमार्ग' है, और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाय सो 'व्यवहार मोक्षमार्ग' है; क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है।"

रागादि चैतन्य ही हैं – ऐसा नहीं मानना, क्योंकि जो चैतन्य की सब अवस्थाओं में व्याप्त होकर रहता है, उसे ही चैतन्य का कहा जाता है। ज्ञान चैतन्य की सम्पूर्ण अवस्थाओं में व्याप्त होकर रहता है, अतः ज्ञान

चैतन्य का लक्षण व स्वरूप है। अरे, अज्ञानी को सच्चा स्वरूप ज्ञात नहीं है, इसकारण वह व्रत-तप आदि क्रियाकाण्ड को साधन मानता है; परन्तु भाई ! वीतराग मार्ग में यह अनीति नहीं चलती। वीतराग मार्ग में तो वीतराग परिणति से ही धर्म होता है, राग से नहीं। राग का अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है। देखो ! चैतन्य में राग नहीं है – यह सिद्ध करने के लिए यह न्याय (तर्क) दिया है। दया-दान-व्रत-भक्ति-तप आदि विकल्प भी आकुलतामय दुःखरूप हैं – यह बात सुनने में तो जरा कठोर सी लगती है, परन्तु तीर्थंकर-प्रकृति को बांधनेवाला भाव भी आकुलतामय ही है।

जिसने तीर्थंकर-प्रकृति का बंध किया है, उसकी दशा ही ऐसी होती है कि वह आगे जाकर केवलज्ञान प्राप्त करता है। तीर्थंकर के जीव को अप्रतिहत सम्यक्त्व होता है। भले ही वह कदाचित् क्षयोपशमभावरूप हो तो भी वह सम्यक्त्व अप्रतिहत ही होता है। श्रेणिक राजा के क्षायिक सम्यक्त्व है। जो जीव तीसरे नरक से आता है, उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है, तथापि वह छूटता नहीं है। हाँ, जब वह तीसरे नरक जाता है, तब मात्र एकक्षण के लिए छूट जाता है – यह जुदी बात है, तो भी यह क्षयोपशम सम्यक्त्व क्षायिकपने को ही प्राप्त करता है। यही स्थिति तीर्थंकरों की होती है। अपने स्वभाव के उग्र पुरुषार्थ करके वे क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं। तीर्थंकर को क्षायिक सम्यक्त्व होने में श्रुतकेवली या अन्य तीर्थंकरों का निमित्त नहीं होता। जबकि अन्यजीवों को जब क्षायिक सम्यक्त्व होता है, तब श्रुतकेवली या तीर्थंकर की उपस्थिति अवश्य होती है। तथापि तीर्थंकर या श्रुतकेवली की उपस्थिति के कारण क्षायिक सम्यक्त्व होता है – ऐसा नहीं है, क्योंकि यदि निमित्त से क्षायिक सम्यक्त्व होता हो तो क्षयोपशमसम्यक्त्वी जीव तो समवशरणादि में बहुत बैठे रहते हैं, परन्तु उन सबको क्षायिक सम्यक्त्व क्यों नहीं हो जाता ? अतः निमित्त हो भले, परन्तु निमित्त से सम्यक्त्व होता है – ऐसा नहीं है।

यहाँ यह कहते हैं कि राग का अनुभव दुःखरूप है। व्यवहार-रत्नत्रय का अनुभव दुःखरूप है। जो दुःखरूप है, वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? मोक्ष तो परमानन्दमय पूर्णदशा है, इसलिए उसका कारण भी अनाकुल आनन्दभावरूप अनुभव की दशा है। रागादि का अनुभव दुःख-रूप है, इसलिए ये चैतन्य नहीं हैं। देखो, वाणी में कितनी स्पष्टता है।

यहाँ बहुत सरस बात कही है कि राग का अनुभव तो आकुलतामय है, दुखःरूप है; इसलिए वह चैतन्य ही नहीं है। पाँच महाव्रत के परिणाम व दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम राग हैं और वे दुःख के अनुभव की

दशायें हैं; इसलिए वे चेतन नहीं, जड़ हैं। दुःख का अनुभव जड़ है। अहाहा! कैसा तर्क प्रस्तुत किया है? देव-शास्त्र-गुरु की भेदरूप श्रद्धा का राग या नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा का राग – सभी दुःखरूप है, इसलिए वह अचेतन है; क्योंकि वह चैतन्य की जाति में से नहीं आता। अनाकुल आनन्द का जो अनुभव आता है, वह मोक्षमार्ग है। जब तक वह पूर्ण न हो, तब तक व्यवहार-रत्नत्रय का राग आता है, परन्तु वह दुःखरूप है; अतः जड़ है।

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि को तो दुःख का वेदन होता ही नहीं है – ऐसा कहा है, उसका क्या अर्थ है?

उत्तर :– अरे! वेदन कैसे नहीं होता? ज्ञानी को दुःख ही नहीं – ऐसा एकान्त से मानना तो मिथ्या है। हाँ, जब सम्यग्दर्शन व स्वभाव की बात चलती है, तब (स्वभाव की दृष्टि में) ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानी को दुःख का वेदन नहीं है। परन्तु उससमय साथ में जो ज्ञान है, वह जानता है कि दुःख का वेदन है। छट्ठे गुणस्थान में गणधर को भी जितना राग है, उतना दुःख है – ऐसा वे जानते हैं। भाई! शुभराग भी दुःखरूप है।

विषयों की वासना, कमाने का भाव तथा अनुकूलता-प्रतिकूलता में हर्ष-विषाद का भाव – ये सब तो तीव्र दुःख ही हैं, परन्तु यहाँ तो यह कहते हैं कि राग की मंदता का भाव या गुण-गुणी के भेद का विकल्प सर्व दुःखरूप हैं। तथा इनमें आकुलता का ही अनुभव होता है। भाई! मार्ग तो ऐसा ही है, उसे जैसा है वैसा मान! अहो, सत्स्वरूप वस्तु को सत् की रीति से देखें! अन्यथा अज्ञानदशा में रखड़पट्टी ही करना पड़ेगा।

चैतन्य का अनुभव निराकुल है। परमानन्दस्वरूप 'ज्ञ' स्वभावी – सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय लेने पर जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होती है; वह अनाकुलदशा है, शान्तरस के अनुभव की दशा है – यह स्वभावपर्याय की बात है। भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द की मूर्त्ति है, उसके सन्मुख होकर उसमें एकाग्र होने पर निराकुल आनन्द की दशा – उपशमरस की दशा प्रगट होती है, वही धर्म है।

जैसे ऊपर की लाल छाल के अतिरिक्त शकरकन्द सम्पूर्ण शक्कर का कन्द है, मिठास का पिण्ड है तथा उसकी मिठास का जो स्वाद आता है, वह शकरकन्द है। उसीप्रकार यह आत्मा पुण्य-पाप के विकल्प की छाल के अतिरिक्त सम्पूर्ण अनाकुल आनन्द का कन्द है, उसके अतीन्द्रिय आनन्द का जो अनुभव आता है, वह आत्मा है। पुण्य-पाप के विकल्प तो छाल जैसे हैं, दुःखरूप हैं; वे निराकुल चैतन्य नहीं हैं। यह शरीर की

चमड़ी भिन्न है, जड़कर्म भिन्न है, तथा पुण्य-पाप की लाल छाल भी भिन्न है – इनसे भिन्न भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। वह सत् यानी शाश्वत चित् यानी ज्ञान तथा आनन्दस्वरूप है, उसका प्रत्यक्ष स्वाद – अनुभव ही मोक्ष का मार्ग है।

अहो ! यहाँ तो एक ही चोट में दो टुकड़े करने की बात है। व्यवहार-रत्नत्रय का भाव आकुलतामय होने से चैतन्य नहीं है, किन्तु जड़ – अचेतन है। वह वर्त्तमान में दुःखरूप है व भविष्य के दुःख का कारण है। समयसार की ७४वीं गाथा में भी आता है कि शुभभाव वर्त्तमान में दुःखरूप है, उससे जो पुण्य बंधेगा, उनसे संयोग मिलेंगे, फिर उन संयोगों पर लक्ष्य जायगा तो भी राग – दुःख ही होगा। अहाहा ! वीतरागी-सर्वज्ञ की बात गजब है ! वीतरागी कहते हैं कि मेरे सन्मुख देखने से या मेरी वाणी सुनने से तुझे राग ही होगा, दुःख ही होगा; इसलिए तू स्वयं को देख ! आत्मानुभव कर ! ! क्योंकि चैतन्य का अनुभव निराकुल है। स्वाश्रय को छोड़कर जितना भी पराश्रय का भाव है, वह राग है और राग दुःखरूप है; जबकि चैतन्य का अनुभव निराकुल है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणाम निराकुल आनन्दमय है।

प्रश्न :– परन्तु चारित्र तो **'लोहे के चने चबाने'** जैसा कठिन है न ?

उत्तर :– अरे प्रभु ! ऐसा मत कह ! चारित्र की ऐसी व्याख्या मत कर ! ! भाई, चारित्र तो आनन्ददाता है। अहा ! स्वरूप का श्रद्धान, इसी का ज्ञान और इसी में शान्तिरूप स्थिरता तो अतीन्द्रिय आनन्द देनेवाले हैं। अहा ! शुद्धरत्नत्रय का अनुभव तो अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव है। व्यवहारमात्र दुःखरूप है, जबकि भगवान आत्मा का अनुभव आनन्द-रूप है। भाई ! यहाँ थोड़ा कहा, बहुत जानना ! बारह अङ्ग में भी यही कहा है। आनन्द का सागर प्रभु आत्मा जब राग से निकलकर स्वभाव में आता है, तब उसे आनन्द ही होता है। ऐसी चारित्र की दशा आनन्दमय है; तथापि जो उसे कष्टदायक मानता है, उसे धर्म की श्रद्धा ही नहीं है। छहढाला में भी आता है :–

आतम हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखे आपको कष्टदान

अज्ञानी त्याग – वैराग्य को दुःखरूप जानता है। सुख के कारण को कष्टदायक जानता है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि चैतन्य का अनुभव निराकुल है तथा वही जीव का स्वभाव है – ऐसा जानना।

अब भेदज्ञान की प्रवृत्ति के द्वारा यह ज्ञाताद्रव्य स्वयं प्रगट होता है, इसप्रकार कलश में महिमा प्रगट करके अधिकार पूर्ण करते हैं :–

(मन्दाक्रान्ता)

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा,
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या ।
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ।।४५।।

श्लोकार्थ :– [**इत्थं**] इसप्रकार [**ज्ञान-क्रकच-कलना-पाटनं**] ज्ञानरूपी करवत का जो बारम्बार अभ्यास है; उसे [**नाटयित्वा**] नचाकार [**यावत्**] जहाँ [**जीवाजीवौ**] जीव और अजीव – दोनों [**स्फुट-विघटनं न एव प्रयातः**] प्रगटरूप से अलग नहीं हुए, [**तावत्**] वहाँ तो [**ज्ञातृद्रव्यं**] ज्ञाताद्रव्य [**प्रसभ-विकसत्-व्यक्त-चिन्मात्रशक्त्या**] अत्यन्त विकासरूप होती हुई, अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्ति से [**विश्वंव्याप्य**] विश्व को व्याप्त करके, [**स्वयम्**] अपने आप ही [**अतिरसात्**] अतिवेग से [**उच्चैः**] उग्रतया अर्थात् आत्यन्तिकरूप से [**चकाशे**] प्रकाशित हो उठा ।

भावार्थ :– इस कलश का आशय दो प्रकार का है :–

(१) उपरोक्त ज्ञान का अभ्यास करते-करते जहाँ जीव और अजीव – दोनों स्पष्ट भिन्न समझ में आये कि तत्काल ही आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ । (सम्यग्दृष्टि आत्मा श्रुतज्ञान से विश्व के समस्त भावों को संक्षेप से अथवा विस्तार से जानता है और निश्चय से विश्व को प्रत्यक्ष जानने का उसका स्वभाव है, इसलिए यह कहा कि वह विश्व को जानता है ।) एक आशय तो इसप्रकार है ।

(२) दूसरा आशय इसप्रकार से है :– जीव-अजीव का अनादिकालीन संयोग केवल अलग-अलग होने से पूर्व अर्थात् जीव का मोक्ष होने से पूर्व, भेदज्ञान के भाते-भाते अमुकदशा होने पर निर्विकल्पधारा जमी – जिसमें केवल आत्मा का अनुभव रहा और वह श्रेणि अत्यन्तवेग से आगे बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान प्रगट हुआ और फिर अघातियाकर्मों का नाश होने पर जीवद्रव्य अजीव से केवल (पूर्णतया) भिन्न हुआ । जीव-अजीव के भिन्न होने की यही रीति है ।

कलश ४५ पर प्रवचन

इस ४५वें कलश में भेदज्ञान की प्रवृत्ति द्वारा यह ज्ञाताद्रव्य स्वयं प्रगट होता है, ऐसी महिमा करते हुए जीवाजीवाधिकार पूर्ण करते हैं ।

इसप्रकार ज्ञानरूपी करोंत को जो बारम्बार अभ्यास करके चलाता है अर्थात् ज्ञान की एकाग्रता के अनुभव का अभ्यास करता है, उसका राग आत्मा से भिन्न हो जाता है। अभ्यास कहो या अनुभव कहो – एक ही बात है। भगवान आत्मा आनन्द का नाथ शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। इसकी दृष्टि करके, इसमें एकाग्र होने पर राग भिन्न हो जाता है, दुःख की दशा भिन्न हो जाती है और आनन्द की दशा प्रगट हो जाती है। ज्ञान ही आत्मा है – ऐसा अभ्यास अर्थात् अन्तर में अनुभव करना ही ज्ञानरूपी करोंत है।

जैसे करोंत दो टुकड़े कर देती है; उसीप्रकार अन्तर का अनुभव – ज्ञान व राग के दो टुकड़े कर देता है। अहा ! आठ-आठ वर्ष की उम्र में जो बालक केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वे कैसे होंगे ? भले आठ वर्ष का बालक हो, परन्तु अन्तर में एकाग्र अनुभव द्वारा आत्मा के आनन्द का जो स्वाद उसे आया है, वह उसका बारम्बार अभ्यास करता है व एकाग्र स्थिर होकर अन्तर्मुहूर्त में परमात्मा हो जाता है। आत्मा ज्ञान व आनन्द की उत्कृष्ट लक्ष्मी का निधान त्रिकाल परमात्मस्वरूप पदार्थ है। ऐसे आत्मा को राग से भिन्न करके स्वरूप में एकाग्र होने का बारम्बार अभ्यास करना चाहिए – ऐसा यहाँ कहते हैं। जब तक जीव व अजीव – दोनों प्रगटरूप से भिन्न न हो जावें, तब तक निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। भावार्थ में इसका दो प्रकार से अर्थ करेंगे। जिसप्रकार संकुचित गुलाब की कली विकासरूप होती है; उसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन-आनन्द की शक्तिरूप अन्तर में खिलता है, विकसित होता है।

प्रभु ! तुझे तेरे ही बड़प्पन की खबर नहीं है। अहाहा ! तू अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ सच्चिदानन्दरूप भगवान है, इसमें अन्तर्मुख होने का अभ्यास कर ! अन्दर चिन्मात्रशक्तिरूप से भगवान आत्मा है, उसका जहाँ अनुभव किया, वहाँ ज्ञाताद्रव्य अत्यन्त विकास को प्राप्त करता हुआ, अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्ति से विश्वव्यापी होकर अर्थात् लोकालोक को जानकर अपनी ही शक्ति से – अतिवेग से प्रगट होता है। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा अनन्त शक्तियों से भरा परिपूर्ण प्रभु है। उसका पूर्ण अनुभव करने पर केवलज्ञान होता है, तब वह समस्त लोकालोक को एकसमय में प्रत्यक्ष जानता है।

यहाँ कहते हैं कि ऐसे भगवान आत्मा का जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ चित्शक्ति की प्रगटता होती है – और प्रगट हुई यह ज्ञान की पर्याय सम्पूर्ण लोकालोक को जान सकती है। श्रुतज्ञान की पर्याय में भी लोकालोक को जानने की ताकत है। भले वह प्रत्यक्ष न जाने, परन्तु उस पर्याय की सामर्थ्य

परोक्षरूप से लोकालोक को जान सके – ऐसी विश्वव्यापी तो अवश्य है। अहा ! स्वानुभव होने पर प्रगट हुई ज्ञानपर्याय लोकालोक जो जानती हुई, अपनी शक्ति से ही अतिवेग से प्रगट होती है। जैसे समुद्र में बाढ़ आती है, उसीतरह स्वानुभव करने पर अन्तर चित्शक्ति में से ज्ञानपर्याय में भी बड़ी भारी बाढ़ आती है।

प्रश्न :– यह किस जाति का धर्म है ? क्या यह सोनगढ़ से नया धर्म निकला है ?

उत्तर :– भाई ! नया धर्म नहीं है। बापू ! यह तो अनादि का धर्म है। जिसने कभी सुना नहीं हो, उसे नया लगता है। अनादि से अनन्त तीर्थंकरों, केवलियों तथा दिगम्बर सन्तों ने यही पुकार-पुकार कर कहा है।

प्रश्न :– क्या यह धर्म विदेहक्षेत्र से आया है ?

उतर :– नहीं, यह तो आत्मा में से आया है। यहाँ कहते हैं कि चित्शक्ति का अनुभव करने पर वह स्वयं ही अतिवेग से प्रगट होता है और वह जगत को अत्यन्त उग्ररूप से प्रकाशित करता है अर्थात् सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान होने पर प्रकाशित करता है – ऐसे दो अर्थ हैं।

कलश ४५ के भावार्थ पर प्रवचन

इस कलश का आशय दो प्रकार से है।

आत्मप्रभु प्रज्ञा-ब्रह्मस्वरूप है। प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान तथा ब्रह्म अर्थात् आनन्द। आत्मा स्वयं ही ज्ञान-आनन्दस्वरूप है। अज्ञानी उसे बाहर में खोजता है। ऐसे ज्ञानस्वरूप चैतन्यब्रह्म आत्मा का बारम्बार अभ्यास करने पर जीव चैतन्यस्वरूप है तथा रागादि अजीव हैं, इसप्रकार जीव व अजीव – दोनों का ज्ञान होता है और उसी कारण तुरन्त ही आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होता है। यह निर्विकल्प अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

ज्ञानस्वभावी आनन्दघन प्रभु आत्मा का अभ्यास करने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। कोई बाह्य निमित्तों या विकल्पों से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। लोग तो रथयात्रा निकालने में, गजरथ चलाने में धर्म मानते हैं; परन्तु बापू ! ये कोई धर्म नहीं हैं। सच्चा गजरथ तो अन्दर आनन्द के नाथ का चक्र (परिणति) पलटने में है।

सम्यग्दृष्टि की पर्याय में विश्व को जानने की ताकत है। चाहे तिर्यञ्च हो या आठ वर्ष का बालक हो, परन्तु जिसको शुद्ध चैतन्यस्वरूप

आत्मा के अभ्यास से निर्मल समकित हुआ है, उसकी श्रुतज्ञान की पर्याय में विश्व को जानने की ताकत है।

अरे ! अज्ञानी को आत्मा की महानता का पता नहीं है, इसकारण वह स्वयं को एकसमय की पर्याय बराबर या रागादिवाला पामर मानता है। ऐसा मानकर उसने पूर्णानन्दस्वभाव का अनादर किया है अर्थात् पूर्णानन्द-स्वभाव के अस्तित्व से इन्कार किया है और पुण्य के अस्तित्व को आत्मा माना है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा के अन्तर में झुक कर, उसी का अभ्यास करने पर, ज्ञान राग से भिन्न हो जाता है और तब ही सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के साथ हुआ ज्ञान विश्व के नाथ (आत्मा) को जानता है। तथा जिसने अपनी पर्याय में विश्व के नाथ भगवान आत्मा को जान लिया है, उसे लोकालोक जानने में क्या कठिनाई हो सकती है ? भाई ! जिनवाणी अमूल्यवाणी है, उसका रस भी मीठा है; किन्तु इसकी महिमा तथा स्वाद उन्हें ही आता है, जिन्हें उस वाणी का यथार्थ भान हुआ है। इसप्रकार एक आशय तो यह है।

तथा दूसरा आशय यह है कि जीव-अजीव का जो अनादि से संयोग है, वह सर्वथा अलग-अलग होने के पूर्व अर्थात् मोक्षदशा प्रगट होने के पहले भेदज्ञान की भावना से वीतरागता प्रगट होती है अर्थात् अन्तर में स्वभाव की एकाग्रता होने पर ऐसी निर्मल धारा या वीतरागता की धारा फूटती है कि जिसमें केवल आत्मा का ही अनुभव रहता है और वह अन्तर एकाग्रता की धारा वेग से आगे बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान प्रगट करती है। बाद में अघातियाकर्मों का नाश होने पर जीव व अजीव सर्वथा भिन्न हो जाते हैं। जीव-अजीव को सर्वथा भिन्न करने की यही रीति है। निर्मल शुद्ध चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता का अभ्यास करना ही अजीव – शरीर से भिन्न होने का मार्ग है। राग की मदद से, राग से भिन्नता नहीं हो सकती। जिसे भिन्न करना हो, उसी की मदद उसे भिन्न करने में कैसे हो सकती है ? राग अजीव है और उसे ही जीव से भिन्न करना है। अतः राग की सहायता से राग भिन्न कैसे किया सकता है ? अर्थात् नहीं किया जा सकता।

इसप्रकार जीव-अजीव भिन्न-भिन्न होकर रङ्गभूमि से बाहर निकल गये अर्थात् जीव जीवरूप और अजीव अजीवरूप रह गये।

जीवाजीवाधिकार का उपसंहार

इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ जीवाजीवप्ररूपकः प्रथमोऽङ्कः ।

टीका :– इसप्रकार जीव और अजीव अलग-अलग होकर (रङ्गभूमि में से) बाहर निकल गये ।

भावार्थ :– जीवाजीवाधिकार में पहले रङ्गभूमिस्थल कहकर उसके बाद टीकाकार आचार्य ने ऐसा कहा था कि नृत्य के अखाड़े में जीव-अजीव दोनों एक होकर प्रवेश करते हैं और दोनों ने एकत्व का स्वाँग रचा है। वहाँ भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष ने सम्यग्ज्ञान से उन जीव-अजीव दोनों की उनके लक्षणभेद से परीक्षा करके दोनों को पृथक् जाना, इसलिये स्वाँग पूरा हुआ और दोनों अलग-अलग होकर अखाड़े से बाहर निकल गये। इसप्रकार अलङ्कारपूर्वक वर्णन किया है ।

जीव-अजीव अनादि संयोग मिलै लखि मूढ़ न आतम पावैं,
सम्यक् भेदविज्ञान भये बुध भिन्न गहे निजभाव सुदावैं ।
श्रीगुरु के उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावैं,
ते जगमाँहि महन्त कहाय वसैं शिव जाय सुखी नित थावैं ।।

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में प्रथम जीवाजीवाधिकार समाप्त हुआ ।

जीवाजीवाधिकार के उपसंहार पर प्रवचन

यहाँ जीव तथा रागादि – अजीव दोनों की बात है। जैसे नाटक में नट स्वाँग लेकर आता है, उसीतरह ज्ञायक चैतन्यस्वरूप जीव और राग का रूप धारण करके अजीव – दोनों अखाड़े में प्रवेश करते हैं। इन दोनों ने एक-पने का स्वाँग रचा है। आत्मा (जीव) ने राग (अजीव) का स्वांग बनाया है और राग (अजीव) ने आत्मा (जीव) का, परन्तु भेदज्ञानियों ने भेदज्ञान द्वारा जीव व अजीव – दोनों को उनके लक्षण-भेद से भिन्न-भिन्न पहचान लिया। धर्मी जीव दोनों की लक्षण-भेद से परीक्षा करता है कि यह जानने-

वाला मैं हूँ तथा अपने अनुभव से भिन्न रहनेवाला राग—अचेतन है। राग मैं नहीं हूँ — इसप्रकार दोनों को जब जुदा-जदा जान लिया, तब स्वाँग समाप्त हो जाता है और दोनों पृथक्-पृथक् होकर रङ्गभूमि से बाहर निकल जाते हैं। आत्मा आत्मा में आनन्दरूप रह जाता है तथा राग रागरूप से निकल जाता है। इसप्रकार यहाँ अलंकाररूप में वर्णन किया है।

जीव व अजीव — दोनों का अनादि से संयोग है। संयोगीदृष्टिवाले अज्ञानी संयोगीभावों को अपने मानकर, उनसे भिन्न आत्मा के चैतन्यस्वरूप को नहीं पाते; परन्तु जब भेदज्ञान होता है, तब ज्ञानी ज्ञान को अपना लक्षण जानकर राग को भिन्न कर देते हैं। 'आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है और वह मैं हूँ, ये रागादिभाव मैं नहीं' — ऐसा ज्ञानलक्षण से ज्ञायक को ग्रहण करने पर राग भिन्न रह जाता है और आत्मा को आनन्द का अनुभव होता है। अहाहा ! सद्गुरु का उपदेश सुनकर काललब्धि आने पर आत्मा का अज्ञान दूर हो जाता है तथा वह मोक्ष प्राप्त करके सदा ही निज आनन्दरूप से रहता है।

यहाँ सद्गुरु के उपदेश सुनने की बात कहकर निमित्त का ज्ञान कराया है — ऐसा समझना। निमित्त से ज्ञान हुआ — ऐसा नहीं मान लेना।

प्रश्न :— प्रत्येक कार्य में दो कारण होते हैं न ?

उत्तर :— भाई ! इस गाथा में दो कारण नहीं लिए हैं। निमित्त कारण को तो उपचार से आरोप करके ज्ञान कराने के लिए कहा है।

निश्चय के समान व्यवहार-मोक्षमार्ग भी ध्यान में ही प्रगट होता है, इसलिए व्यवहार से निश्चय-मोक्षमार्ग होता है — यह बात ही नहीं रहती। द्रव्यसंग्रह की गाथा ४७ में कहा है कि **'दुविहंपि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि मुणी णियमा'** अर्थात् दोनों प्रकार के मोक्ष के कारण (मोक्षमार्ग) ध्यान में प्रगट होते हैं। निज चैतन्य का आश्रय करने पर जब निश्चय-मोक्षमार्ग प्रगट होता है; उसीसमय जो राग बाकी है, उसको आरोप करके व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा जाता है। इसकारण व्यवहार-मोक्षमार्ग से निश्चय-मोक्षमार्ग प्रगट होता है — ऐसा नहीं है, क्योंकि दोनों एकसाथ प्रगट होते हैं। आनन्द के नाथ भगवान आत्मा को ध्येय बनाकर ध्यान करने पर निश्चय-मोक्षमार्ग प्रगट होता है; उसी काल में जो राग शेष रहता है, उसे व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा जाता है। इसकारण निश्चय-व्यवहार आगे-पीछे नहीं हैं और व्यवहार से निश्चय भी नहीं होता है।

शंका :– यहाँ तो यह लिखा है न कि **'श्री गुरु के उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावै'** अर्थात् श्री गुरु के द्वारा देशनालब्धि मिलने पर अज्ञान दूर होता है। क्या यह ठीक नहीं है ?

समाधान :– भाई ! यह तो निमित्त का ज्ञान कराने की बात है। सम्यग्दर्शन होने के पहले देशनालब्धि होती है, बस, इतना ज्ञान कराने के लिए कहा है; देशनालब्धि से सम्यग्दर्शन नहीं होता। पर का लक्ष्य छोड़ कर जब स्व में जाता है, तब ही गुरु के उपदेश को निमित्त कहा जाता है।

प्रश्न :– निमित्त मददरूप सहायक तो होता है न ?

उत्तर :– भाई ! मदद का अर्थ क्या ? आत्मा जब स्वयं गतिरूप परिणमे, तब धर्मास्तिकाय निमित्त है। जब धर्मास्तिकाय वैसा का वैसा ही है, तो उसने किया क्या ? निमित्त को देखकर ऐसा कहा जाता है कि उसके कारण गति हुई, वास्तव में वह गति कराता नहीं है। यदि गति करावे तो वह तो सदा मौजूद है, अतः सदैव गति होनी चाहिए; परन्तु ऐसा तो होता नहीं है।

प्रश्न :– काललब्धि का क्या अर्थ है ?

उत्तर :– प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय का स्वकाल में होना ही काललब्धि है। उससमय भले ही निमित्त हो, पर निमित्त ने पर्याय उत्पन्न नहीं की। इसीप्रकार व्यवहार से निश्चय नहीं होता। व्यवहार तो निमित्त है। जैसे निमित्त कुछ नहीं करता, वैसे ही व्यवहार से निश्चय नहीं होता।

जब निश्चय-मोक्षमार्ग होता है, तब साथ में व्यवहार भी होता है। यद्यपि निश्चय के साथ जो कषाय की मन्दता व देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग होता है, वह व्यवहार-समकित कहा जाता है; तथापि व्यवहार से निश्चय नहीं होता। इसीतरह निमित्त से उपादान में कार्य का होना भी तीनकाल में सम्भव नहीं है। गाथा ३७२ में आया है कि 'सर्वद्रव्य निमित्त-भूत अन्यद्रव्यों के स्वभाव को स्पर्श नहीं करते।' अहाहा ! जब अवा में घड़ा पकता है, तब भी अवा की अग्नि घड़े को स्पर्श नहीं करती। पानी को अग्नि छूती ही नहीं है और पानी गर्म हो जाता है। भाई ! गजब बात है !

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन तो दो प्रकार का है – निसर्गज और अधिगमज !

उत्तर :– भाई ! अधिगमज सम्यग्दर्शन हुआ तो स्वयं से ही है, परन्तु निमित्त की उससमय उपस्थिति होती है – इसकारण ऐसा कहा जाता है कि अधिगम से सम्यग्दर्शन हुआ है। निमित्त से सम्यग्दर्शन की

उत्पत्ति कभी भी नहीं होती। निमित्त कार्य को उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि निमित्त में कार्य उत्पन्न करने की शक्ति ही नहीं है। तथा उत्पन्न होनेवाली पर्याय भी निमित्त की अपेक्षा रखती ही नहीं है। गाथा ३०८ से ३११ तथा ३७२ में भी यही बात की है।

'श्रीगुरु के उपदेश सुने' ऐसा जो कहा है, वह निमित्त से कथन किया है। वस्तुतः अज्ञान तो स्व के आश्रय से ही नष्ट होता है; इसलिए व्यवहार से निश्चय नहीं होता, निमित्त से पर में उत्पाद नहीं होता – ऐसा यथार्थ निश्चय करना चाहिए। व्यवहार आता है, होता है, वह उसकी आने की योग्यता हो तो आता है; परन्तु इससे निश्चय प्रगट नहीं होता।

प्रश्न :– सुनने से ज्ञान तो होता है न ?

उत्तर – भाई ! भाषा तो जड़ है, इससे ज्ञान कैसे हो ? वाणी की पर्याय उत्पादक तथा ज्ञान की पर्याय उत्पाद्य – ऐसा नहीं है। ये तो अपने-अपने काल में और अपने-अपने कारण से ज्ञान तथा वाणी की पर्याय हुई हैं, एक दूसरे के कारण नहीं हुईं। भाई ! वीतराग-सर्वज्ञ का मार्ग बहुत सूक्ष्म एवं हितकारी है। भाई ! वीतराग की वाणी कहती है कि जिनवाणी सुनने से ज्ञान नहीं होता, क्योंकि एकद्रव्य की पर्याय से अन्यद्रव्य की पर्याय का उत्पाद नहीं होता। दो द्रव्यों के बीच उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध ही नहीं है। वस्तु स्वतंत्र है, इसकारण जिससमय जिसद्रव्य की जो पर्याय होती है, वह उसका जन्मक्षण – निजक्षण है। उससमय पर्याय की उत्पत्ति अपने से ही होती है, निमित्त से कभी भी नहीं होती।

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा अपने आश्रय से अन्दर में जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान की पर्याय उत्पन्न करता है, तब वह धर्म की उत्पत्ति होने का प्रथमक्षण है; परन्तु उससमय राग – व्यवहार था, इसीलिए उस राग – व्यवहार से धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई। राग–व्यवहार की उपस्थिति भले हो, पर उससे धर्म की परणति नहीं होती।

जिसने आनन्द के नाथ भगवान चैतन्यदेव का अन्दर में आश्रय किया है, अनुभव किया है; वह निर्मल परिणति निश्चय-मोक्षमार्ग है। तथा उससमय जो राग शेष है, उसे आरोप करके व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा है। वास्तव में राग बन्ध का ही कारण है, किन्तु स्वाश्रय से प्रगट हुई निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की निर्मल परणति के साथ राग की मन्दता की उपस्थिति है, अतः उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। व्यवहार-समकित

वस्तुत: समकित ही नहीं है; क्योंकि वह व्यवहार-श्रद्धा सम्यक्त्वगुण की पर्याय नहीं है, वह तो राग की पर्याय है। निश्चय के साथ देखकर उसमें व्यवहार-समकित का उपचार किया है।

प्रभु ! तेरी महिमा अपार है। तुझे अपनी महानता प्रगट करने के लिए राग की हीनदशा का आलम्बन लेने की जरूरत नहीं है। यह धर्म की पर्याय तो निमित्त की अपेक्षा रखे बिना ही प्रगट होती है। अहाहा ! व्यवहार की अपेक्षा रखे बिना ही अपने स्वभाव की उत्पत्ति अपने कारण स्वकाल में स्वाश्रित पुरुषार्थ द्वारा होती है। यद्यपि राग को व्यवहार-सम्यक्त्व एवं निमित्त को कारण भी कहा है, तथापि न तो राग सच्चा सम्यक्त्व है और न निमित्त सच्चा कारण। बात तो ऐसी ही है, परन्तु दुनिया के साथ मिलान होना कठिन है; क्योंकि **'विभिन्नमतयोर्हि लोकः'** लोक तो भिन्न-भिन्न अभिप्रायवाले हैं। यदि किसी का अभिप्राय उल्टा है तो क्या उससे तत्त्व बदल जायगा ? नहीं भाई ! जिसे सत् प्राप्त करना हो; उसे अपना ही अभिप्राय बदलना होगा।

चिन्मूरति नाटक देखनहारौ

या घट में भ्रमरूप अनादि, विसाल महा अविवेक अखारौ।
तामहि और स्वरूप न दीसत, पुग्गल नृत्य करै अति भारौ॥
फेरत भेख दिखावत कौतुक, सौंजि लियैं वरनादि पसारौ।
मोह सौं भिन्न जुदौ जड़ सौं, चिन्मूरति नाटक देखनहारौ॥१३॥

जैसैं करवत एक काठ बीच खंड करै,
जैसैं राजहंस निरवारै दूध जल कौं।
तैसैं भेदग्यान निज भेदक-सकति सेती,
भिन्न-भिन्न करै चिदानन्द पुग्गल कौं॥
अवधि कौं धावै मनपर्यै की अवस्था पावै,
उमगि कैं आवै परमावधि के थल कौं।
याही भांति पूरन सरूप कौ उदोत धरै,
करै प्रतिविंवित पदारथ सकल कौं॥१४॥

– समयसार नाटक, अजीवद्वार